श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत

कवितावली

(सिद्धान्त-तिलक)

लेखक और प्रकाशक

श्री श्रीकान्तशरण

समस्त तुलसी साहित्य पर विशद व्याख्या

(सिद्धान्त तिलक) कार

श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट,

श्रीअयोध्याजी

प्रथमावृत्ति १०००]   सम्वत् २०१५   [मूल्य ३॥)

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत

कवितावली

सिद्धान्त-तिलक

तिलककार

श्री श्रीकान्तशरण

त तुलसी साहित्य पर विषद व्याख्या-
(सिद्धान्त-तिलक) कार
श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट,
श्रीअयोध्याजी

पुस्तक-भंडार, पटना ४

संवत् २०१४ [निछावर ३॥)

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

श्रीमते भगवते रामानन्दाचार्यायनमः, ॐ नमो गुरुभ्यः

प्रस्तावना

कवितावली का परिचय

प्रातः स्मरणीय जगद्गुरु श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी के सर्वमान्य द्वादश ग्रन्थों में इस 'कवितावली रामायण' का एक प्रमुख स्थान है। इसमें कुल मिलाकर ३२५ छन्द हैं। इसके छः काण्डों में १४२ और केवल उत्तरकाण्ड में १८३ छन्द हैं। इसमें सवैया, मनहरण, छप्पय और झूलना – इन छन्दों में ही कविताएँ हैं। सवैयों में मत्तगयन्द दुर्मिल और कहीं-कहीं उपजाति भी हैं। ये समय-समय के स्फुट काव्य हैं, पीछे से संग्रह किये हैं, ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं किया गया है और यज्ञ-रक्षण, अहल्योद्धार तथा पुष्पवाटिका आदि बहुत प्रसंग बालकाण्ड ही में नहीं हैं। अन्यत्र छः काण्डों में भी ऐसे ही कुछ-कुछ प्रसंग छूट गये हैं।

[१०]

मयन-महन पुरदहन गहन जानि,,
आनि कै सबै को सार धनुष गढ़ायो है।
जनक सदसि जहाँ भले-भले भूमिपाल,
कियो बलहीन, बल आपनो बढ़ायो है॥
कुलिस कठोर कूर्मपीठि ते कठिन अति,
हठि न पिनाक काहू चपरि चढ़ायो है।
तुलसी सो राम के सरोजपानि परसत,
टूट्यो मानो बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है॥

शब्दार्थ—मयन-महन (मदन-मथन)=कामदेव का दलन। पुर-दहनः (त्रिपुर-दहन)=त्रिपुरासुर का नाश। गहन=कठिन, दुर्भेद्य।

अर्थ—त्रिपुरासुर का नाश करना अत्यन्त कठिन जानकर कामदेव का नाश करने वाले श्रीशिवजी ने समस्त (कठोर पदार्थों) का सार मँगा कर उससे यह पिनाक धनुष बनवाया है। उसने श्रीजनकजी की सभा में जहाँ अच्छे-अच्छे (वीर) राजा आये थे, उन सबको बलहीन कर अपना बल बढ़ा रक्खा था। वज्र से भी कठोर और कछुए की पीठ से भी अत्यन्त कठिन दुर्भेद्य) उस धनुष को किसी राजा ने बलात् शीघ्रतापूर्वक नहीं चढ़ाया था। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वही धनुष श्रीरामजी के कमलवत् हाथों के स्पर्श मात्र से टूट गया, मानो महादेवजी ने उसे बालपन से ही पढ़ा रक्खा था (कि श्रीरामजी के छूते ही तुम टूट जाना)।

विशेष—'मयन-महन पुर दहन···जानि···'—इसी पिनाक धनुष से शिवजी ने त्रिपुर का नाश किया था; यथा—"अनुसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे। त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया॥" (वाल्मी० १।७५।१२); अर्थात् (विश्वकर्मा के बनाये हुए दो धनुष थे) उनमें से एक धनुष युद्धार्थी महादेवजी को देवताओं ने दिया था। काकुत्स्थ, जिस धनुष को आपने तोड़ा है, उसी से महादेवजी ने त्रिपुर का नाश किया था।

'कुलिस कठोर कूर्म पीठि ते कठिन अति'; यथा—"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा॥" (मा० बा० २५७); "कमठ पीठि पवि कूट कठोरा।

नृप समाज महँ सिव धनु तोरा ॥" (मा० बा० ३५६); 'हठि न पिनाक काहू…'; यथा—"घोर कठोर पुरारि सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु। जो दस-कंठ दियो बाँवों, जेहि हरि-गिरि कियो है मनाकु ॥ भूमिभाल भ्राजत न चलत सो ज्यों बिरंचि को आँकु।" (गी० बा० ८७); "देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा ॥…कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न संकर चाप चढ़ावा ॥" (मा० बा० २५०–२५१)।

'तुलसी सो राम के…'; यथा—"छुवत टूट रघुपतिहु न दोषू।" (मा० बा० २७१); "छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना ॥" (मा० बा० २८२)। कमलवत् हाथों से बज्रवत् कठोर धनुष अनायास ही टूट गया, यह कैसे ? इस पर अनुमान है कि मानों शिवजी ने ही इस अपने पिनाक धनुष को बालपन में ही ऐसा सिखा रक्खा था। बचपन का पढ़ा हुआ पाठ नहीं भूलता। इससे श्रीरामजी के छूते ही टूट गया। तथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप, सबहि बिषाद बढ़ायो। सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो ॥" (गी० बा० ९१)।

कमल-सरीखे कोमल हाथ के स्पर्शमात्र से धनुष टूटने में श्रीरामजी का प्रताप है; यथा—"कोउ कहै तेज-प्रताप पुंज चितए नहिं जात, भिया रे। छुअत सरासन सलभ जरै गो ये दिनकरबंस-दिया रे ॥" (गी० बा० ६६)। 'जहाँ' के स्थान पर आधुनिक प्रतियों में 'जेते' पाठ है।

अलङ्कार—'रूपक'—'सरोजपानि' पद में। 'उत्प्रेक्षा'-'मानो' इस वाचक से। 'विभावना द्वितीय' क्योंकि 'सरोजपानि पर्सत टूट्यो' इसमें अपूर्ण हेतु रूप कोमल हाथ से छूते ही कठोर धनुष टूटा है !

छप्पय [११]

डिगति उर्बि अति गुर्बि, सर्ब पब्बय समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल बिकल दिगपाल चराचर ॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।
सुरबिमान हिमभानु, भानु संघटित परस्पर ॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यो ॥

शब्दार्थ—उर्वि = पृथिवी । गुर्वि=भारी । पब्बय=पर्वत । हिमभानु=चन्द्रमा । संघटित=टकरा गये ।

अर्थ—जब श्रीरामजी ने श्रीशिवजी का धनुष तोड़ा है, तब उसका प्रचण्ड शब्द ब्रह्माण्ड को फोड़ कर पार कर गया और उस शब्द के आघात से उस समय सारे पर्वतों, समुद्रों और तालाबों के साथ अत्यन्त भारी पृथिवी डगमगाने लगी । (पाताल वासी) सर्प बहिरे हो गये । चराचर (जड़ चेतन) जगत् के साथ इन्द्र आदि आठो दिक्पाल व्याकुल हो उठे । दिग्गज लड़खड़ाने लगे । रावण मुख के बल गिरने लगा । देवताओं के विमान, चन्द्रमा और सूर्य आकाश में परस्पर टकराने लगे । शिवजी के साथ ब्रह्माजी चौंक पड़े और वाराह, कच्छप एवं शेषजी भी कलमला उठे ।

विशेष—'डिगति उर्वि···'—इस चरण में पृथिवी पर श्रीरामजी के धनुष तोड़ने का प्रभाव पड़ा । 'ब्याल बधिर···दिग्गयंद···' इन चरणों में पाताल की और चराचर के भार के साथ दिग्गजों की व्यवस्था है ।

'सुर विमान ···'—इस चरण में अन्तरिक्ष पर आतङ्क-प्रकट किया गया है।

'चौंके विरंचि ···'—ब्रह्मलोक के ब्रह्माजी, भूलोक पर कैलासवासी शिवजी तथा पाताल के विष्णु-विग्रह वाराह और कमठ आदि कहे गये इन पर भी धनुर्भङ्ग का प्रभाव इस प्रकार पड़ा; तथा—"भयो कठिन कोदंड-कोलाहल प्रलय-पयोद समान । चौंके सिव, बिरंचि दिसिनायक रहे मूँदि कर कान ।।" (गी० बा० ८८) । "भरे भुवन घोर कठोर रबि बाजि तजि मारग चले । चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ।। सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं । कोदंड खंड्यो राम तुलसी जयति बचन उचारहीं ।।" (मा० बा० २६०) ।

इस छन्द में भी श्रीरामजी का प्रताप कहा गया है । कि तीनों लोकों में आपके बलपूर्वक धनुर्भङ्ग का यश फैल गया; यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा । रामबरी सिय भंजेउ चापा ।।" (मा० बा० २६४)।

कवित्त [१२]

लोचनाभिराम घनस्याम रामरूप सिसु,
सखी कहैं सखी सों तू प्रेमपय पालि, री ।

बालक नृपालजू के ख्याल ही पिनाक तोर्‌यो,
मंडलीक-मंडली-प्रताप-दाप दालि री ॥
जनक को, सीय को, हमारो तेरो तुलसी को,
सबको भावती ह्वै है मैं जो कह्यो कालि री ।
कौसिला की कोखि परतोषि तन वारिये री,
राय दसरत्थ की बलैया लीजै आलि री ॥

अर्थ—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि अरी सखी ! श्रीरामजी के इस नेत्र सुखदायक मेघवत् श्याम रूप रूपी शिशु का तू प्रेम रूपी दूध से पालन कर । यहाँ पर आये हुए मंडलीक (१२ राजाओं के अधिपति) समूह के प्रताप और गर्व को चूर्ण कर इस महाराजा दशरथजी के बालक ने क्रीड़ा रूप में एवं संकल्पमात्र से ही पिनाक धनुष तोड़ डाला है । मैंने जो तुझसे कल कहा था कि अब श्रीजनक महाराज का, श्रीसीताजी का, हमारा, तेरा और तुलसीदास का—सब का मनमाना होगा (वही हुआ, एवं हो रहा है) । अरी आली ! अब श्रीकौसल्याजी की कोख पर सन्तुष्ट होकर अपना शरीर न्योछावर कर दो और महाराज दशरथजी की भी बलैया लो ।

विशेष—इस पद में श्रीरामजी पर वात्सल्य-निष्ठा वाली सखी के वचन हैं, यह इनके रूप रूपी शिशु को प्रेम रूपी दूध से पोषने की भावना करती है । श्रीजानकीजी की शोभा पर भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"सखि सरद-बिमल-बिधुबदनि बधूटी···तुलसी निरखि सिय प्रेम बस कहैं तिय, लोचन-सिसुन्ह देहु अमिअ घूटी ॥" (गी० अ० २१) ।

'बालक नृपाल जू के···'; यथा—" उठे राम रघुकुल-कल-केहरि गुरु-अनुसासन पाए ॥ कौतुक ही कोदंड खंडि प्रभु, जय अरु जानकि पाई ।" (गी० बा० ८६); "बान जातुधानपति भूप दीप सातहूँ के, लोकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है । जोति लिंग कथा सुनि जाको अंत पाए बिनु आए बिधि हरि हारि सोई हाल भई है ॥" (गी० बा० ८४) ।

'जनक को, सीय को'···'—श्रीजनकजी की भावना थी कि ये मेरे जामाता हों; यथा—"मुनि तव चरन देखि कह राऊ । कहि न सकौं निज पुन्यप्रभाऊ ॥" (मा० बा० २१६); इस वचन में मुनि-प्रभाव से एवं श्रीरामजी के दिव्य विग्रह

से प्रतिज्ञापूर्त्ति होने और श्रीरामजी के जामातृ भाव से मिलने की आशा गर्भित है। 'सीय को'—श्रीजानकीजी ने पुष्प-वाटिका में ही श्रीरामजी को हृदय से वरण कर लिया था कि ये ही मेरे पति हों, गिरिजा ने स्पष्ट कर दिया था; यथा—"मन जाहि राँचो मिलिहि सो वर सहज सुन्दर साँवरो॥" (मा० बा० २३६)। 'हमारो, तेरो'—पुर-नारियों की भावना यह थी कि ये श्रीजानकीजी के पति होकर व्याहे जायँ और हम इस नाते का विविध सुख पावें; यथा—"सखि हमरे आरति अति ताते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥" (मा० बा० २२१); "पुरनारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावही। ब्याहिअहु चारिउ भाइ यहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥" (मा० बा० ३१०); 'तुलसी-को'-श्रीगोस्वामीजी की भी अपनी युगल-उपासना पूर्त्ति भावना थी। वह धनुष तोड़ कर व्याह होने पर ही पूर्ण हो सकती है।

'कौसिला की कोखि ··'—इन रानी और राजा ने बहुत पुण्य एवं तपस्या करके श्रीरामजी को प्राप्त किया है, जिनसे हम सबके मनोरथ पूरे हो रहे हैं। अतएव इन पर निछावर होना एवं इनकी बलैया लेना कृतज्ञता है। कहा भी है; यथा—"जनक सुकृतमूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही॥" (मा० बा० ३०६); "परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम-प्रयाग। तुलसी फल ताके चारयो मनि मरकत पंकज राग॥" (गी० बा० २६)। कौसल्याजी की कोख पर शरीर निछावर कर उसे अत्यन्त अधिक महत्त्व दिया है। राजा की बलैया लेने का तात्पर्य यह कि उनकी विघ्न-बाधा मैं अपने ऊपर ले लूँ, वे सदा सुख से रहें।

अलङ्कार—'तुलसी को' इसमें भाविक 'अलङ्कार' है क्योंकि ग्रन्थकार ने त्रेतायुग के भक्तों के मुखसे भविष्य के अपने सम्बन्ध की पुष्टि की है।

[१३]

दूब दधि रोचन कनकथार भरि-भरि,
आरति सँवारि वर नारि चलीं गावतीं।
लीन्हें जयमाल कर कंज सोहैं जानकी के,
"पहिरावो राघो जू को" सखियाँ सिखावतीं॥

तुलसी मुदित मन जनक नगर जन,
झाँकती झरोखे लागीं सोभा रानी पावतीं।
मनहुँ चकोरी चारु बैठीं निज-निज नीड,
चंद की किरन पीवें, पलकैं न लावतीं॥

अर्थ—श्रेष्ठ (सौभाग्यवती) स्त्रियाँ सोने के थालों में दूब, दही और रोली भर-भरकर आरती सजाकर गाती हुई चलीं। श्रीजानकीजी के कर-कमल जयमाला लिये हुए शोभा दे रहे हैं; उन्हें सखियाँ सिखाती हैं कि श्रीरघुनाथजी को पहना दो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जनक नगर के रहनेवाले मन में प्रसन्न हैं, राजा जनक की रानियाँ झरोखों में लगकर झाँकती हुई शोभा पा रही हैं। मानों सुन्दर चकोरियाँ अपने-अपने घोसलों में बैठी हुई निमेष-रहित नेत्रों से चन्द्रमा की किरण पी रही हैं।

विशेष—'दूब दधि रोचन···'; यथा—"दधि दुर्वा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगलमूला॥ भरि-भरि हेमथार भामिनी। गावत चलीं सिंधुर-गामिनी॥" (मा० उ० २); "दल फल फूल दूब दधि रोचन जुवतिन्ह भरि-भरि थार लये। गावत चलीं···" (गी० बा० ३)।

'लीन्हें जयमाल कर कंज···'; यथा—"जयमाल जानकी जलज कर लई है। सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु, मानहु मदनमाली आपु निरमई है।···" (गी० बा० ९४); "सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला॥" (मा० बा० २६३)।

'पहिरावो राघोजी को···'; यथा—"चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥" (मा० बा० २६३)।

'तुलसी मुदित मन···'; यथा—"पुरजन परिजन रानी राउ प्रमुदित, मनसा अनूप रामरूपरंग रई है॥" (गी० बा० ९४)।

'मनहुँ चकोरी···'—यहाँ श्रीरामजी का मुखचन्द्र और छवि किरणें हैं। घोसलों के समान झरोखे हैं।

अलङ्कार—'कर कंज' इसमें 'रूपक' है और 'मनहुँ चकोरी···' इस चरण में 'अनुक्तास्पदावस्तूत्प्रेक्षा' है; क्योंकि 'चन्द की किरन' रूपी 'मुख छबि' नहीं कही गई।

[१४]

नगर निसान बर बाजैं, ब्योम दुंदुभी,
बिमान चढ़ि गान कैकै सुर नारि नाचहीं।
जय-जय तिहुँ पुर, जयमाल राम उर,
बरषैं सुमन सुर, रूरे रूप राचहीं॥
जनक को पन जयो, सब को भावतो भयो,
तुलसी मुदित रोम-रोम मोद माचहीं।
साँवरो किसोर, गोरी सोभा पर त्रिन तोरी,
"जोरी जियो जुग-जुग" जुवतिन्ह जाचहीं॥

अर्थ—जनक नगर में श्रेष्ठ निशान और आकाश में दुंदुभियाँ बज रही हैं। देवाङ्गनाएँ विमानों पर चढ़ी हुई गा गाकर नृत्य कर रही हैं। तीनों लोकों में जय-जयकार हो रहा है, श्रीरामजी के हृदय पर जयमाला सुशोभित है, देवगण फूलों की वर्षा कर रहे हैं और श्रीरामजी के सुन्दर रूप पर मुग्ध हो रहे हैं। श्रीजनकजी की प्रतिज्ञा ने विजय पाई (पूरी हुई) और सब लोगों की कामनाएँ पूरी हुईं। अतः, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे सब आनन्दित हैं, उनके रोम-रोम में आनन्द छा गया है। उन श्यामवर्ण किशोर अवस्था वाले श्रीरामजी और गौरवर्णा किशोरी श्रीजानकीजी की शोभा पर तृण तोड़-तोड़ कर युवतियाँ (अपने-अपने इष्टदेवों से) याचना करती हैं कि यह जोड़ी जुग-जुग जीवित रहे।

विशेष—'**नगर निसान**...'—निशान और दुंदुभि नगाड़े के ही भेद हैं नगर में पहले निशान बजना कहा गया; क्योंकि ये लोग समीप हैं, पीछे इनके बाजों को सुनकर देवगणों ने आकाश में बजाया है; यथा—"पुर अरु ब्योम बाजने बाजे।" (मा० बा० २६४)। 'सुर नारि नाचहीं'—देवाङ्गनाओं का ही नाचना कहा गया है, नगर की वेश्याओं का नहीं, यह मर्याद-सँभाल है।

'**जय-जय तिहुँ पुर**...'—जयमाल पड़ने पर तीनों लोकों के निवासियों ने जय-जयकार किया है; यथा—"सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय-जय-जय कहि देहिं असीसा॥ नाचहिं गावहिं बिबुध बधूटी। बार-बार कुसुमांजलि छूटी॥" (मा० बा० २६४)।

'**साँवरो किसोर गोरी सोभा पर तृन तोरी**....'; यथा—"राजति राम

जानकी जोरी। स्याम-सरोज जलज सुंदर वर, दुलहिनि तड़ित-बरन तन गोरी ॥ मुदित जनक रनवास रहसबस, चतुर नारि चितवहिं तृन तोरी ॥" (गी० बा० १०३); तृण तोरती हैं, जिससे दृष्टि दोष (नजरि) न लगे। पुनः जोड़ी के चिर-जीवन की भावना एवं इष्ट से याचना करती हैं, यह वात्सल्य प्रीति की वृत्ति है।

[१५]

भले भूप कहत भले भदेस भूपनि सों,
"लोक लखि बोलिये पुनीत रीति मारिखी"।
जगदंबा जानकी, जगत पितु राम भद्र,
जानि, जिय जोवो, ज्यों न लागै मुँह कारिखी ॥
देखे हैं अनेक ब्याह सुने हैं पुरान बेद,
बूझे हैं सुजान साधु नर नारि पारिखी।
ऐसे सम समधी समाज न बिराजमान,
राम से न बरु दुलही न सीय-सारिखी ॥

शब्दार्थ—मारिखी (आर्षी)=आर्योचित, ऋषियों की स्मृति रीति।

अर्थ—अच्छे राजा लोग भद्दे (भोंड़े) राजाओं से अच्छी भाँति समझा कर कहते हैं कि समाज को देखकर ऋषियों की निर्धारित रीति से बात कीजिये। श्रीजानकीजी को जगत् की माता और कल्याण स्वरूप श्रीरामजी को जगत् के पिता जानकर, हृदय में ऐसा विचार कर देखो, जिससे मुख में (पाप दृष्टि से देखने के कारण) कालिख (स्याही) न लगे। हमने अनेक ब्याह देखे हैं और वेद-पुराण (में अनेक व्याह) सुने हैं तथा उन प्रवीण साधुओं से भी पूछे हैं, जो नर-नारियों के परखने (परीक्षा करने) वाले हैं। परन्तु ऐसे समान समधी और समाज कहीं उपस्थित नहीं हैं और न श्रीरामजी के समान दूल्हा एवं श्रीजानकीजी के समान दुलहिन ही कहीं है।

विशेष—'भले भूप ···'—स्वयंवर में आये हुए साधु राजा कहते हैं कि वहाँ धर्मात्मा राजा जनक का समाज है, यहाँ शिष्ट लोग विराजमान हैं। अतः, मर्यादा से बातें कीजिये। ऋषियों की निर्धारित पवित्र रीति तो यह है कि अत्यन्त तेजस्वी को देखकर उनमें देवबुद्धि करनी चाहिये। इन श्रीराम-जानकी के अलौकिक तेज एवं प्रभाव को देखकर इन्हें जगत् के माता और पिता सम-

झना चाहिये; यथा—"यह सुनि अवर महिप मुसुकाने। धरम सील हरि भगत सयाने॥···सिख हमारि सुनु परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता॥ जगत पिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥ सुंदर सुखद सकल गुनरासी। थे दोउ बंधु संभु उर बासी॥" (मा० बा० २४५)।

'देखे हैं···ऐसे सम समधी···'—ब्रह्मा की सृष्टि में प्रायः सभी सृष्ट पदार्थ अनन्त हैं। परन्तु ये समधी, समाज एवं वर-दुलहिन तो अपने समान स्वयं हैं। अतः, ये जगत् की प्राकृत सृष्टि के नहीं हैं; दिव्य धाम के दिव्य पुरुष हैं; यथा—"एक कहहिं ये सहज सुहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥ जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मनगोचर बरनी॥ देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी॥ इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा॥ कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए॥" (मा० अ० ११६)।

देवताओं ने भी ऐसा ही कहा है; यथा—"जग बिरंचि उपजावा जब तें। देखे सुने ब्याह बहु तब तें॥ सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू॥ देवगिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माची॥" (मा० बा० ३१९)।

किष्किंधा में प्रथम समागम पर श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीराम-लक्ष्मण के दिव्य विग्रह पर ऐसा ही अनुमान किया है। दिव्य मान कर ही विप्र रूप से भी प्रणाम किया है। उस प्रसंग से यह स्पष्ट है।

पुराण-रत्न विष्णुपुराण में महर्षि पराशर ने भी ऐसा ही लिखा है; यथा—"त्वं माता सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता। त्वयैतद्विष्णुनाचाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम्॥" (१।६।१२६); अर्थात् (इन्द्र ने श्रीजी की स्तुति में कहा है—) आप सब लोकों की माता हैं और देव-देव हरि पिता हैं, आप और विष्णु से चराचर जगत् व्याप्त है (श्रीजी श्रीसीताजी से और विष्णु भगवान् श्रीरामजी से अभिन्न हैं, तत्त्वतः एक हैं)।

इस प्रकार साधु राजाओं ने मूर्ख राजाओं को समझाया है।

अलङ्कार—'उपमान-वाचक-धर्म-लुप्तोपमा'—अंतिम चरण में।

[१६]

बानी-बिधि गौरि-हर सेसहू-गनेस कही,
सही भरी लोमस-भुसुंडि बहुबरिखो।
चारि दस भुअन निहारि नर-नारि देखे,
नारद को परदा न नारद सो परिखो॥
तिन्ह कही जग में जगमगत जोरी एक,
दूजो को कहैया औ सुनैया चख-चारिखो।
रमा रमारमन, सुजान हनुमान कही,
"सीय-सी न तीय न पुरुष राम-सारिखो"॥

अर्थ—सरस्वतीजी, ब्रह्माजी, पार्वतीजी, शिवजी, शेषजी और गणेशजी ने कहा है; तथा बहुत बर्षों की आयुवाले चिरञ्जीवी श्रीलोमशजी एवं श्रीकाकभुशुण्डीजी ने भी इसे प्रमाणिक मान लिया है। जिन श्रीनारदजी से कहीं परदा नहीं है और जिनके सामान कोई दूसरा स्त्री-पुरुषों का परखनेवाला नहीं है; उन्होंने भी चौदहो भुवनों के समस्त नर-नारियों को देख कर यही कहा है कि जगत् में एक (श्रीसीता-राम की) ही जोड़ी (सब से अधिक) जगमगा रही है। इन सबसे बढ़कर और कौन चार आँखोंवाला (अधिक विचारवान) कहने सुननेवाला है? श्रीलक्ष्मीजी, श्रीमन्नारायण भगवान् तथा सुजान (तत्वज्ञ) श्रीहनुमान्जी ने कहा है कि श्रीसीताजी के समान स्त्री और श्रीरामजी के समान पुरुष (कहीं) नहीं है।

विशेष—'बानी बिधि.....'—सरस्वती सब की वाणी की प्रकाशिका है। इससे इसे प्रथम कहा गया है। ब्रह्माजी वेदवक्ता हैं, श्रीपार्वतीजी साक्षात् ब्रह्मविद्या स्वरूपा हैं; यथा—"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद् यक्षमिति॥" (केन० ३।१२); अर्थात् वे इन्द्र उसी आकाश देश में (यक्ष के स्थान पर ही) अत्यन्त सुन्दरी देवी हिमाचल पुत्री उमा के पास आ पहुँचे (और) उनसे (आदरपूर्वक) यह बोले (देवि!) यह दिव्य यक्ष कौन था? इस श्रुति में ब्रह्म विद्या ही उमा रूप में कही गई है। शिवजी ज्ञानी हैं, शेषजी कवियों में शिरोमणि हैं और गणेशजी 'विद्या वारिधि बुद्धि विधाता' हैं। इन सबने एक स्वर से कहा है कि सारे जगत्

में एक श्रीसीतारामजी की ही जोड़ी सर्वोपरि जगमगा रही है; यथा—"सुषमा-सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमिअ-मय कियो है दही, री। मथि माखन सियराम सँवारे, सकल भुवन-छबि मनहुँ मही, री॥ तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री। रूप रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति काम लही री॥" (गी० बा० १०४); "राम समान राम निगम कहे।" (मा० ३।६१)। "जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥" (मा० बा० २४६)।

'सही भरी लोमस-भुसुंडि···'—इन बहुत कल्पों की सृष्टि के द्रष्टाओं ने भी उपर्युक्त बात में स्वीकृति दी है, यह प्रत्यक्ष साक्षी के प्रमाण हैं।

'चारि दस भुवन····'—श्रीनारदजी चौदहो भुवनों में विचरा करते हैं, और सर्वज्ञ हैं तथा स्त्री-पुरुषों के लक्षण भी जानते एवं देखते हैं; यथा—"त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि। कहहु सुता के दोष-गुन, मुनिवर हृदय बिचारि॥" (मा० बा० ६६); "आनि देखाई नारदहि, भूपति राजकुमारि। कहहु नाथ गुन-दोष सब, एहि के हृदय बिचारि॥" (मा० बा० १३०); तथा—"सुमिरि सीय नारद बचन, उपजी प्रीति पुनीत।" (मा० बा० २२६); इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्रीनारदजी का किसी के यहाँ परदा है और वे लक्षण-विचार में भी निपुण हैं।

'चख चारिखो'—यह 'चख-चारिको' का रूप है, तुकान्त के लिये 'को' को 'खो' कर दिया गया है।

'रमा रमारमन सुजान···'; यथा—"हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥" (मा० बा० ३१६)। श्रीहनुमान्‌जी को 'सुजान' विशेषण भी दिया गया है; क्योंकि ये इस विषय में सब से अधिक जानते हैं। इन्होंने वाल्मीकीय सुन्दरकाण्ड सर्ग ३५ श्लोक ६-२१ में श्रीरामजी के सर्व-लोकोत्तर श्रेष्ठ लक्षणों का श्रीजानकीजी से वर्णन किया है। श्रीसीताजी के शील आदि का वर्णन भी इन्होंने वाल्मी० ५।१६।२-५ में वैसा ही लोकोत्तर किया है।

'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो';—ऊपर पद १५ के अंत में 'राम से न वर···' इसके विशेष में उदाहरण लिखे गये। तथा—"देवतिर्यङ्-मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः। स्त्रीनाम्नी श्रीश्चविज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्॥"

(वि० पु० १।८।३५)' अर्थात् देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि में पुरुष वाची भगवान् हरि हैं और स्त्रीवाची श्रीजी हैं, इनसे परे और कोई नहीं है ।

परशुराम-पराजय-प्रसंग

[१७] *

भूप मंडली प्रचंड चंडीस कोदंड खंड्यो,
चंड बाहुदंड जाको ताही सों कहतु हौं ।
कठिन कुठार धार धारिबे की धीरताहि,
बीरता बिदित ताकी देखियै चहतु हौं ॥
तुलसी समाज राज तजि सो बिराजो आजु,
गाजो गजराज मृगराज ज्यों गहतु हौं ।
छोनी मैं न छाड़यो छप्यो छोनिप को छौना छोटो,
छोनिप छपन बाँको बिरद बहतु हौं ।

अर्थ—[श्रीपरशुरामजी ने कहा—] राजाओं की मण्डली में जिसने शिवजी का प्रचण्ड धनुष तोड़ा है और जिसके बड़े प्रचण्ड भुज दण्ड हैं, मैं उसीसे कहता हूँ । मैं अपने कठोर कुठार की धार का धारण (सहन) करने की उसकी धीरता और प्रसिद्ध वीरता देखना चाहता हूँ । (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि) वह राजाओं का समाज छोड़कर आज पृथक् विराजमान हो जाय, गर्जते हुए गजराज (हाथी) के समान उसको मैं सिंह के समान अभी पकड़ता हूँ । मैंने पृथिवी पर छिपे हुए राजा के छोटे बच्चे को भी नहीं छोड़ा; मैं राजाओं का नाश करने की उत्कृष्ट विरुद (कीर्त्ति) धारण किए हुए हूँ ।

---

* आधुनिक प्रतियों में इसके पहले 'दूलह श्रीरघुनाथ बने···' यह सवैया १७ वें पद पर है, परन्तु श्रीभागवतदास की प्रामाणिक प्रति में यह नहीं है । और-और प्राचीन प्रतियों में भी यह नहीं है । अतः, क्षेपक है, उसकी रचना भी ग्रन्थकार की-सी नहीं जान पड़ती । उसके बिना धनुर्भङ्ग के साथ ही परशुराम-पराजय-प्रसंग भी रामचरितमानस के समान आ जाता है । इन कारणों से मैंने भी उसे क्षेपक ही माना है ।

विशेष—'भूप मंडली···'—'प्रचंड चंडसि कोदंड'; यथा—"सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राज समाज आज जोइ तोरा॥" (मा० बा० २४६); "कमठ पीठि पवि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा।" (मा० बा० ३५६)।

'चंड बाहु दंड जाको'—प्रचण्ड धनुष का तोड़नेवाला अवश्य प्रचण्ड बाहुदंड वाला होगा; यथा—"भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा॥" (मा० बा० २८२); तथा—"चंड बाहुदंड बल चंडीस-कोदंड खंड्यो···" (पद २१)।

'देखियै चहतु हौं'—यह प्रसंग वाल्मीकीय रामायण के अनुसार है; यथा—"राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम्। धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम् ॥१॥ तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्य परं शुभम् ॥२॥ तदिदं घोरसंकाशं जामदग्न्यं महद्धनुः। पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च ॥३॥ तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽप्यस्य पूरणे। द्वंद्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव ॥४॥" (बाल० सर्ग ७५); अर्थात् हे दशरथ पुत्र राम! हे वीर! तुम्हारा अद्भुत पराक्रम मैंने सुना है और शिव-धनुष तोड़ने का सारा वृत्तान्त भी मैंने सुना है ॥१॥ उस धनुष का तोड़ना अद्भुत और अचिन्त्य है, यही सुनकर तथा दूसरा उत्तम धनुष लेकर मैं आया हूँ ॥२॥ अब मेरे इस महान् भयानक जामदग्न्य धनुष पर बाण-चढ़ाओ और अपना बल दिखाओ ॥३॥ इस धनुष के चढ़ाने पर मैं तुम्हारा बल देखूँगा, तब तुमसे द्वन्द्व युद्ध करूँगा; क्योंकि मैं तुम्हारे बल की प्रशंसा करता हूँ।

'समाज राज तजि सो बिराजै आजु'; यथा—"सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। नत मारे जैहहिं सब राजा॥" (मा० बा० २७०); भाव यह कि वह विशेष पराक्रमी है, साधारण राजाओं के समाज में उसकी शोभा नहीं है। अतः, इस समाज से पृथक् होकर वह विराजमान हो, सब कोई देखें और उसकी प्रशंसा करें। आज वह कुछ क्षण इस कर्म (धनुर्भङ्ग) का यश प्राप्त कर ले, फिर तो मैं—'गाजो गजराज···'।

अथवा, राजसमाज ही उसे छोड़ कर पृथक् विराजमान हो, तभी सब की कुशल है, अन्यथा 'गेहूँ के साथ घुन भी पिसेंगे'। 'बिराजै' इस पद से सूचित करते हैं कि औरों पर मेरा कोप नहीं है। अतः, राजसमाज प्रसन्न होकर रहे।

'आज' पहले का-सा आज कोप नहीं है, आज केवल धनुष तोड़ने वाले पर ही कोप है।

'गाजो गजराज मृगराज ज्यों गहतु हौं'—देखो, अभी मैं उसे वैसे ही दबोच लूँगा, जैसे गर्जते हुए मतवाले गजेन्द्र को सिंह झपट कर मार डालता है। 'गाजो गजराज'—गजेन्द्र का गर्जना सुन कर सिंह को क्रोध होता है, वह दौड़ कर गजेन्द्र को धर दबोचता है। वैसे ही धनुर्भङ्ग का शब्द सुन कर मैं दौड़ा हुआ आया हूँ; यथा—"काल कराल नृपालन के धनुभंग सुने फरसा लिये धाये।" (पद २१); "तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा। आयउ भृगुकुल कमल पतंगा॥" (मा० बा० २६७)। 'मृगराज ज्यों गहतु हौं।' यथा—"जथा मत्त गजगन निरखि, सिंह किसोरहि चोप।" (मा० बा० २६७); "जिमि करिनिकर दलइ मृगराजू।" (मा० अ० २२६)। आधुनिक प्रतियों में "गाज्यो मृगराज गजराज ज्यों गहतु हौं" ऐसा पाठ है। परन्तु भागवतदास की प्राचीन प्रति में 'गाजो गजराज मृगराज ज्यों गहतु हौं' ऐसा पाठ है। मेरे विचार में यही समीचीन है। इस कर्म की पुष्टि के लिये आगे अपनी कीर्ति कहते हैं—

'छोनी मैं न छाड़यो···'; यथा—"भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्हीं। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्हीं॥···गर्भन्ह के अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर॥" (मा० बा० २७१-२७२)। तथा—"त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा। जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे॥ तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति। ब्राह्मणान्क्षत्रिया राजन्सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः॥" (महा० आदि ६४।४-५); अर्थात् पूर्व काल में परशुरामजी इस भूमंडल को इक्कीस बार क्षत्रियों रहित करके महेन्द्र पर्वत पर तप करने लगे। हे राजन्! जब परशुरामजी के द्वारा पृथिवी क्षत्रिय-रहित हो गई, तब क्षत्रियों की स्त्रियाँ सन्तान की इच्छा से ब्राह्मणों की उपासना करने लगीं। (व्रतशील ब्राह्मणों ने उनमें ऋतुकाल में गर्भाधान किया, इससे फिर से क्षत्रिय जाति बढ़ कर पूर्ण हुई, उन्हीं ब्राह्मणों का गोत्र चला)।

'छोनिप छपन बाँको बिरुद···'; यथा—"चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू॥ समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप

भये पसु आई ।। मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हें । समर जग्य जप कोटिक कीन्हें ।। मोर प्रभाउ विदित नहिं तोरे ।'' (मा० बा० २८३); इत्यादि ।

अलङ्कार—'वृत्यानुप्रास'—'छोनी मैं···' इस चरण में । 'रौद्र रस' इस पूरे पद में है ।

[१८]

निपट निदरि बोले बचन कुठार पानि,
मानी त्रास औनिपन मानो मौनता गही ।
रोषे माषे लखन अकनि अनखोही बातैं,
तुलसी बिनीत बानी बिहँसि ऐसी कही ।।
"सुजस तिहारो भरे भुअन भृगुतिलक,
प्रगट प्रताप आप कही सो सबै सही ।
टूट्यो सो न जुरैगो सरासन महेस जू को,
रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही ।।

अर्थ—जब परशुरामजी ने नितान्त निरादरपूर्वक वचन कहे, तब राजा लोगों ने ऐसा भय माना (और चुप हो गये) मानों उन्होंने मौन व्रत धारण कर लिया हो । परन्तु, उनकी क्रोध से भरी बातें सुनकर श्रीलक्ष्मणजी अप्रसन्न हुए और जोश (लड़ाई की उमंग) में भर गये । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उन्होंने हँस कर ऐसे नम्र वचन कहा । "हे भृगुकुल तिलक ! आपके सुयश से (चौदहों) भुवन भरे हुए हैं; आपने जो अपना प्रसिद्ध प्रताप कहा है, वह सब ठीक है । परन्तु, जो शिवजी का धनुष टूट गया; वह तो अब नहीं (ही) जुड़ेगा, (यह तो बताइये) इस पिनाक धनुष में क्या आपका साझा (हिस्सेदारी) था ? (फिर आप व्यर्थ क्रोध क्यों करते हैं ?) ।"

विशेष—'निपटि निदरि बोले···'—धनुष तोड़ने वाले का अत्यन्त निरादर करके बोले थे—'गाजो गजराज मृगराज ज्यों गहतु हौं' यह ऊपर पद में स्पष्ट है । तथा–'छोनी मैं न छाँड़्यो···' इसमें राजवंश मात्र का अत्यन्त निरादर है ।

'मानी त्रास औनिपन···'; यथा—"देखि महीप सकल सकुचाने । बाज झपट जनु लवा लुकाने ।।" (मा० बा० २६७) । "अति डर उतर देत नृप नाहीं ।" (मा० बा० २६६) ।

'रोषे माषे लखन…'—इसमें 'माषे' पद संस्कृत के 'मक्ष' का रूप है, इसका यहाँ अप्रसन्नता अर्थ है। 'रोष' का भी यहाँ जोश अर्थ है। अपने इष्ट श्रीरामजी का अपमान समझ कर श्रीलक्ष्मणजी को अप्रसन्नता और जोश हुआ, तब बिहँस कर परशुराम के क्रोध का निरादर किया; क्योंकि स्वामी के अपमान का प्रतिकार करना था, यथा—"सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने॥" (मा० बा० २७०)। 'बिनीत बानी' गुरु श्रीविश्वमित्रजी एवं इष्ट देव श्रीरामजी के पास हैं, इससे रुष्ट होने पर भी नम्र वचन ही कहा।

'सुजस तिहारो…'—इस प्रसिद्ध प्रताप का मुझे कुछ भय नहीं है। मैं भी जानता हूँ, पर उसकी मुझे चिन्ता नहीं है।

'टूट्यो सो न जुरैगो…'; यथा—"टूट चाप नहिं जुरहि रिसाने। बैठिअ होइहि पाय पिराने॥" (मा० बा० २७७)। भाव यह कि वह तोड़ कर फेंक दिया गया है। क्रोध करने पर नहीं जुड़ाया जायगा। अतः व्यर्थ पाँव न पटकिये, बैठ जाइये। इस प्रकार अपनी निर्भीकता कही।

'रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही।'—यह धनुष शिवजी का है, उन्होंने ही देवरात जनक (वर्त्तमान जनक शीरध्वज के पूर्वज) को दिया था। अतः, यह जनकजी का था, इन्होंने प्रतिज्ञा कर तोड़वा डाला। आपका इसमें कौन-सा भाग है; जिसके लिये यहाँ आकर क्रोध करते और पाँव पटकते हो। शिवजी आपके गुरु हैं और जनकजी के भी गुरु (पूज्य) हैं। गुरुजी ने जो वस्तु जिस शिष्य को दे दी, वह उसकी ही हो गई। उसके लिये लड़ने का आप (दूसरे शिष्य) का कोई अधिकार नहीं है; तथा—"येहि धनु पर ममता केहि हेतू।" (मा० बा० २७०)।

मत्त गयंद-सवैया [१६]

गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको।
सोई हौं बूझत राजसभा 'धनु कै दल्यो'? हौं दलि हौं बल ताको॥
लघु आनन उत्तर देत बड़ो, लरिहै मरिहै करिहै कछु साको।
गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो-सो ढोटो है काको॥

अर्थ—(परशुरामजी ने कहा—) जिसके भयङ्कर कुल्हाड़े की धार गर्भ के बालकों को भी काटने में निपुण है, वही मैं, इस राज-समाज से पूछता हूँ

कि "धनुष किसने तोड़ा है ?" उसके बल का मैं नाश करूँगा। छोटे मुँह से बड़े-बड़े उत्तर देता है, क्या यह लड़ कर और मर कर कुछ स्थायी यश प्राप्त करेगा ? हे कौशिक श्रीविश्वामित्रजी ! यह गोरे वर्ण का घमंड और गर्व से भरा हुआ छोटा-सा लड़का किसका है ?

विशेष—'गर्भ के अर्भक···'; यथा—"गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर।" (मा० बा० २७२)। 'धनु कै दल्यो हौं···'; यथा—"सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ॥ (मा० बा० २७०)।

'उत्तर देत बड़ो'—उपर्युक्त 'रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही' यही बड़ा उत्तर है; क्योंकि इसका प्रति-उत्तर परशुरामजी से नहीं बना। श्रीलक्ष्मणजी ने दो प्रश्न किये थे—१ 'बहु धनुही तोरी···' २ 'एहि धनु पर ममता···' इनमें पहले का उत्तर तो 'धनुहीं सम त्रिपुरारि धनु···का कह कर दिया है, पर दूसरे का नहीं बना। थोड़ी अवस्था का देखकर 'लघु आनन' कहा है।

'लरिहै मरिहै···'—यदि लड़ेगा तो तुरत मरेगा, पर इतने साहस पर भी इसे कुछ यश होगा ही, क्योंकि मेरे सामने कोई राजा देख भी नहीं सकता, यह लड़ने पर बड़ा साहसी गिना जायगा, यह यश पावेगा क्या ? मुनि को इसमें सन्देह है, इससे कहते हैं कि यह बाल-चपलता से ही ऐसा कहता हो, मेरे पराक्रम को न जानता हो तो कौशिक मना कर दें।

'गोरो गरूर-गुमान भरो···'—गौरवर्ण पित्त प्रधान प्रकृति के होते हैं, इससे गरूर-गुमान होना युक्त है। अन्यत्र गरूर और गुमान पर्यायी भी माने जाते हैं, पर यहाँ साथ आए हैं। गरूर अभिमान (घमंड) के अर्थ में है, और गुमान गर्व के अर्थ में है; यथा—"अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा।" (मा० बा० २८२); तथा—"कल्पान्त न नास गुमान असा।" (मा० उ० १०१)।

आगे विश्वामित्रजी का उत्तर है—

कवित्त [२०]

मख राखिबे के काज राजा मेरे संग दिये,
जीते जातु धान, जो जितैया बिबुधेस के।

गौतम की तीयतारी, मेटे अघ भूरि भारी,
लोचन अतिथि भये जनक जनेस के ॥
चंड बाहुदंड बल चंडीस कोदंड खंड्यो,
ब्याही जानकी जीते नरेस देस-देस के ।
साँवरे गोरे सरीर, धीर महाबीर बड़े,
नाम राम—लखन कुमार कौसलेस के ॥

अर्थ—(श्रीविश्वामित्रजी ने कहा—) यज्ञ-रक्षा करने के लिये राजा दशरथजी ने इन्हें मेरे साथ कर दिया था; इन्होंने ऐसे-ऐसे राक्षसों को जीता है जो इन्द्र को भी जीतने वाले थे। इन्होंने गौतम मुनि की स्त्री अहल्या को तार दिया है और उसके बहुत बड़े भारी पाप का नाश कर दिया है। अब राजा जनक के नेत्रों के अतिथि हुए (दर्शन दिये आये) हैं। इन्होंने अपने प्रचण्ड भुजदण्डों के बल से चण्डीपति श्रीशिवजी के धनुष का खण्डन किया है और (इसी सम्बन्ध में) देश-देश के राजाओं को जीत कर श्रीजनकपुत्री सीता को ब्याह लिया है। इन साँवले और गोरे शरीर वाले बड़े धैर्यवान् एवं महावीर (दोनों भाइयों) का नाम राम और लक्ष्मण है, ये अयोध्या-नरेश राजा दशरथ के राजकुमार हैं।

विशेष—'मख राखिबे के काज···'—यहाँ धर्मवीरता और युद्धवीरता कही गई है। छः दिन और रात दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा की है और फिर सरल युद्ध करके भारी-भारी इन्द्र-विजयी राक्षसों का नाश किया है।

'गौतम की तीय तारी····'—इसमें ईश्वरता का प्रभाव प्रकट किया है; चरण धूल स्पर्श करा उसके परपति-संसर्ग के भारी पाप का नाश किया है; यथा—"सखि इन्ह कहँ कोउ-कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाव देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद-पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥" (मा० बा० २२२); "मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥" (मा० बा० ३५६); "सिला छोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह, गुन पेखे पारस के पंकरुह पाय के॥" (गी० बा० ६५)।

'लोचन अतिथि···'—श्रीजनकजी ऐसे महान् विरक्त ने भी इन्हें अपने नेत्रों का अतिथि (प्रिय-पाहुन) बनाया है; इनकी छवि पर मुग्ध होकर उन्होंने

चिर-अभ्यसित ब्रह्मानन्द का भी त्याग कर दिया है; यथा—"देखे राम-लखन निमेषैं विथकित भईं, प्रानहु ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं। ब्रह्मानन्द हृदय दरस सुख लोयननि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।" (गी० बा० ५६)। श्रीजनकजी ने स्वयं कहा है; यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति करि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा॥ सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥ ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥ इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥" (मा० बा० २१५)।

इसमें इन्हें परब्रह्म सूचित किया, आगे के प्रसंग भी ऐसे ही अलौकिकता सूचक हैं।

'चंड बाहुदंड…'—इस पर पूर्व पद १७ के 'प्रचंड चंडीस…' पर प्रमाण लिखे गये। इसमें लोकोत्तर बल कहा गया है; यथा—"तव भुज बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-बिघटन परिपाटी॥" (मा० बा० २३८)।

'ब्याही जानकी…'; यथा—बिस्व बिजय जस जानकी पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥" (मा० बा० ३५६)। देश-देश के राजा जिस धनुष को उठा भी नहीं सके, उसे इन्होंने तोड़ डाला, इससे विश्व विजयी हुए, तथा—"जनक मुदित मन टूटत पिनाक के।……तुलसी महीस देखे दिन रजनीस जैसे, सूने परे सून से मनो मिटाये आँक के॥" (गी० बा० ६२) "श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥" (मा० बा० २६२)।

'साँवरे गोरे…'—इन्द्र विजयी राक्षसों के प्रभाव से घबराये नहीं, इसमें धीरता है और छः दिन-रात रक्षा कर युद्ध में राक्षसों का नाश करने में महान वीरता है; यथा—"निज हित लागि माँगि आने मैं धरमसेतु रखवारे। धीर-बीर बिरुदैत बाँकुरे महाबाहु बल भारे॥ एक तीर तकि हती ताड़का, किए सुरसाधु सुखारे। जज्ञ राखि जग साखि, तोषि ऋषि, निदरि निसाचर मारे॥" (गी०बा० ६६)। भाव यह कि ये परब्रह्म हैं। अतः इनसे विवाद न कर शान्त हो जाओ।

सवैया [२१]

काल कराल नृपालन को धनु भंग सुने फरसा लिए धाए।
लक्खन राम बिलोकि सप्रेम, महारिसि ते फिरि आँखि दिखाए॥

धीर-सिरोमनि, बीर बड़े, बिजयी, बिनयी रघुनाथ सुहाए।
लायक हे भृगुनायक सो धनुसायक सौंपि सुभाय सिधाए॥

अर्थ—शिव-धनुष का टूटना सुनकर राजाओं के भयङ्कर काल के समान श्रीपरशुरामजी अपना कुठार लेकर दौड़े आये। श्रीराम-लक्ष्मण को देखकर पहले प्रेमयुक्त हो गये, फिर महान् क्रोध में भरकर आँखें दिखाने लगे। श्रीरघुनाथजी स्वभाव से ही धीरों में शिरोमणि, बड़े भारी वीर, विजयशील और बड़े विनम्र हैं, इससे, भृगुवंशशिरोमणि परशुरामजी ऐसे बड़े योग्य वीर भी (श्रीरामजी को परब्रह्म समझ कर) धनुष-बाण सौंप कर अपने सहज स्वभाव (कोरे मुनि रूप) से चले गये।

विशेष—'काल कराल'…; यथा—"तेहि अवसर सुनि सिवधनु-भंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा॥ देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥" (मा० बा० २६७)।

'लक्खन राम बिलोकि सप्रेम'; यथा—"बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पद सरोज मेले दोउ भाई॥ राम-लखन दशरथ के ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा॥ रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार-मद-मोचन॥" (मा० बा० २६८)।

'महारिसि ते फिरि आँखि दिखाये'; यथा—"बहुरि बिलोकि बिदेह सन, कहहु काह अति भीर। पूछत जान अजान जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर॥… अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥ बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटौं महि जहँ लगि तव राजू॥" (मा० बा० २६९)।

'धीर सिरोमनि…'—ऐसे कालरूप भयंकर परशुरामजी के समक्ष प्रतिद्वन्द्वी रहते हुए भी निश्शङ्क रहे, इससे 'धीर सिरोमनि' हैं। पहले मारीच आदि राक्षसों से निःशंक संग्राम किया है, तथा बड़े भारी पिनाक धनुष को लीलापूर्वक क्षण भर में तोड़ डाला है। अतः 'बीर बड़े' हैं। इसी धनुष से हारे हुए राजाओं पर धनुभँग से विजय प्राप्त है। अतः 'विजयी' हैं। परशुरामजी के कठोर वचनों को समर्थ होते हुए भी सहते हैं और नम्र वचन ही बोलते हैं, इससे विनयी हैं। यह सब देखकर श्रीरामजी को परब्रह्म जानकर सब प्रकार

योग्य रहते हुए भी परशुरामजी ने अपना आयुध सौंप कर सम्यक् प्रकार से अपनी हार स्वीकार की है।

'सुभाय सिधाये'—ब्रह्म का आवेश अंश श्रीराम ब्रह्म में धनुष सौंपने के साथ ही चला गया, इससे अब मुनि स्वभाव की वृत्ति से चले गए, ऐसा ही जनकपुर के दूतों ने कहा है—"मुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए॥ देखि राम बल निज धनु दीन्हा। करि बहु विनय गवन बन कीन्हा॥" (मा० बा० २९२); इसके अनुसार यहाँ का वर्णन जनकपुर के दूतों का है। 'सुभाय सिधाए' इस पद में यह ध्वनि है कि उन्हें हारने की ग्लानि नहीं हुई; यथा—"न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति। त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः॥" (वाल्मी० १।७६।१९); अर्थात् त्रिलोक के स्वामी, आपने जो मुझे परास्त किया है, उससे हे रामजी! मुझे लज्जा नहीं है।

(इति बालकाण्ड)

—:o:—

अयोध्याकाण्ड

मत्तगयन्द—सवैया [१]

कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई॥
संग सुबंधु पुनीत प्रिया मानो धर्म-क्रिया धरे देह सुहाई।
राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नांई॥

शब्दार्थ—कीर = तोता, सुग्गा। कागर=चिड़ियों के वे रूई के-से कोमल पर जो झड़ जाते हैं–हि० श० सा०। रूख = पेड़, वृक्ष। नाई (न्याय) = समान।

अर्थ—(वनबास के लिये प्रस्थान करते हुए श्रीरामजी के) अङ्गों ने राजोचित वस्त्रों और भूषणों का त्याग कर वही उपमा (शोभा) पाई, (जो वसंत ऋतु में) सुग्गा अपने रूई के समान कोमल परों (पङ्खों) का त्याग करने पर पाता है। (श्रीरामजी ने) अयोध्याजी को मार्ग-निवास (चट्टी) के वृक्ष के समान और वहाँ के स्त्री-पुरुषों को मार्ग के साथियों के समान (खेद रहित) त्याग दिया।

साथ में सुन्दर एवं श्रेष्ठ भाई श्रीलक्ष्मणजी और पवित्र प्रिया (पवित्र स्वभाव की पतिव्रता स्त्री) श्रीजानकीजी शोभा दे रही हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं, मानों धर्म और क्रिया शोभायमान शरीर धारण किये हुए हों। इस प्रकार कमल-नयन श्रीरामजी अपने पिता का राज्य (पैतृक सम्पति) बटोही के समान छोड़कर चल दिये।

विशेष—'कीर के कागर…'–वसन्त ऋतु में पुराने कोमल पत्तों का त्याग कर सुग्गा प्रसन्न होता है, वैसे श्रीरामजी ने प्रसन्नता से भूषण-वस्त्र त्याग दिया। यथा–"पितु आयसु भूषण बसन, तात तजे रघुबीर। बिसमउ हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर॥" (मा० अ० १६५)। वस्त्र और भूषण शरीर के रूप सौन्दर्य को ढके हुए थे। अतः इनका त्याग करने पर रूप की शोभा प्रत्यक्ष हो गई। औरों का शरीर वस्त्राभूषण से युक्त होने पर सुन्दर लगता है, परन्तु श्रीराम जी का दिव्य शरीर इनसे रहित होने पर विशेष सुहावना हो गया। रूप की महत्ता यही है, कहा भी है—"बिनु भूषन भूषित जो तन, रूप अनूपम सोइ।" यही कारण है कि श्रीरामजी के वनवासी रूप पर दण्डकवन के परम विरक्त शान्त तपस्वी भी मोहित हो गये थे; यथा—"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव। आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥" (वाल्मी० ३।१।१३-१४); अर्थात् वनवासी श्रीरामजी का सुडौल शरीर, सुन्दरता, सुकुमारता तथा सुवेषता देखकर वे विस्मित हुए। सब वनवासी ऋषि तथा पशु-पक्षी आदि भी अनिमिष नेत्रों से श्रीजानकीजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी को देखकर नितान्त विस्मित हुए (कि ऐसे सुन्दर और सुकुमार शरीर से ये वन-वन क्यों फिर रहे हैं, फिर ऐसी लू में इनके तन में विवर्णता क्यों नहीं आती। अतः, कोई दिव्य शरीर के जान पड़ते हैं।)

'औध तजि…'—अयोध्या बड़ी समृद्ध राजधानी थी; यथा—"अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥" (मा० अ० ३२३)। ऐसे अयोध्या के वास-स्थान का इस प्रकार त्याग किया, जिस प्रकार कोई मार्ग-निवास के (रूख = रुक्ष, विना फल-फूल के) वृक्ष का ममत्व-रहित होकर त्याग करता है।

'पंथ के साथी ज्यों…'—अयोध्याजी के स्त्री-पुरुष श्रीरामजी में अत्यन्त अनुरक्त थे। घर बार छोड़कर साथ ही वन जाने के लिये प्रस्तुत थे, परन्तु उन्हें

कष्ट समझकर ऐसा मोह-रहित होकर छोड़ भागे, जैसा मार्ग के क्षणिक साथी को लोग मार्ग बदलने में छोड़कर चल देते हैं, उनमें मोह नहीं रहता।

'संग सुबंधु···' —दुःख के समय में साथ रहने से श्रीलक्ष्मणजी को सुबन्धु कहा गया है; यथा —"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़ियहि हाथ असनिहुक घाए॥" (मा० अ० ३०५)। 'पुनीत प्रिया'—पतिव्रता एवं साध्वाचरण वाली स्त्री पुनीत होती है; यथा—"परम पुनीत न जाइ तजि", (मा० बा० ५६); अर्थात् सतीजी पतिव्रता थीं, इसीसे उन्हें परम पुनीत कहा गया है।

'मनो धर्म क्रिया···'—श्रीलक्ष्मणजी धर्म रूप कहे गये हैं; क्योंकि ये जीव मात्र के लिए विशेष धर्म (परम धर्म) की शिक्षा देते हैं कि जीव मात्र का यह धर्म है कि अपने अंशी ईश्वर की अत्यन्त श्रद्धा से सेवा (भक्ति) करे। तथा धर्म में श्रद्धा मुख्य है; यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावै कोई॥" (मा० उ० ८९); तथा—"श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीरा प्रचक्षते॥" (महा० आश्वमेधिक० ३५।४४); अर्थात् श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) को ही धर्म का मुख्य लक्षण पंडित कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी की श्रद्धा-निष्ठा वन यात्रा समय श्रीरामजी के और उनके संवाद में देखने योग्य है। वे श्रीरामजी के बिना मुहूर्त्त भर भी नहीं रह सकते; यथा—"कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीन दीन जनु जल ते काढ़े॥" (मा० अ० ६९)।

श्रीजानकीजी क्रिया स्वरूपा हैं; यथा—"अर्थो विष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः। बोधो विष्णुरियं बुद्धि धर्मोऽसौ सत्क्रियात्वियम्॥" (वि० पु० १।८।१८); अर्थात् श्रीजी वाणी, नीति, बुद्धि और सत्क्रिया स्वरूपा हैं, और विष्णु भगवान् अर्थ, नय, बोध और धर्म स्वरूप हैं। इसमें 'धर्मोऽसौ सत्क्रिया त्वियम्' इस वाक्यखंड से प्रसंगानुसार वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी क्रिया स्वरूप श्रीजानकीजी हैं।

'राजिव लोचन राम चले···'—'राजिव लोचन' विशेषण भक्त-दुःख-हरण के प्रसंगों में आता है; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक भगत-बिपति भंजन सुखदायक॥" (मा० बा० १७); "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥" (मा० सुं० ३२)। यहाँ यह विशेषण देकर त्याग का कारण प्रकट किया गया है कि ऐसे अनुरागी परिजनों को छोड़कर प्रभु क्यों चले गये? संसार के दुःखी लोगों का दुःख दूर करने के लिये, यथा—"अतिसय

प्रीति विनीत बचन सुनि प्रभु कोमल चित चलत न पारे। तुलसिदास जो रहउँ मातु हित को सुर बिप्र-भूमि-भय टारे ?" (गी० अ० २)।

'तजि बाप को राज....'—पिता के धन एवं राज्य पर ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी का स्वत: सिद्ध अधिकार था। पिता ने पहले राज्य देने की घोषणा भी कर दी थी। श्रीरामजी चाहते तो राज्य न छोड़ते, किन्तु आपने पिता को कैकेयी से उऋण कर सद्‌गति देने के लिए एवं जगत् में सामान्य धर्म में पितृ-भक्ति-निष्ठा की स्थापना करने के लिये राज्य-त्याग किया है। साथ ही उपर्युक्त भूमि-भय दूर करने का भी हेतु तो है ही। 'बटाऊ की नाईं'—राही को पड़ाव-स्थान पर एक रात ठहर कर छोड़ने में ममता नहीं रहती, वैसेही निर्मम भाव से राज्य छोड़कर चल दिये, यह शुद्ध त्याग है। यथा—"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले बनवासदु:खत:। मुखाम्बुज श्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥" (मा० अ० मंगलाचरण) तथा—"य सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः। राज्यं श्रियं प्रणयिन: सुहृदो निवासं त्यक्त्वा ययौ बनमसूनिव मुक्तसङ्ग: ॥" (भाग० ९।१०।८); अर्थात् जिन श्रीरामजी ने स्त्री के वशीभूत सत्य के बन्धन में बँधे हुए पिता की आज्ञा का शिरोधार्य किया और स्त्री के साथ उन्होंने इस प्रकार राज्य लक्ष्मी, प्रणयी, मित्र और घर का त्याग कर वन गये, जिस प्रकार (ममत्व-रहित) निर्लिप्त योगी दुस्त्यज प्राणों का त्याग करते हैं।

अलङ्कार—'उपमा' और 'उत्प्रेक्षा' आगे एक छन्द से यही विषय और पुष्ट करते हैं—

[२]

कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तज्यो नीर ज्यों काई।
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई ॥
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं ॥

अर्थ—(वनयात्रा के लिये उत्सुक) श्रीरामजी के लिये भूषण और वस्त्र तोते के पंख के समान (त्याज्य) थे, उनका त्याग करने पर उनका शरीर ऐसा सुशोभित हुआ, जैसे काई त्याग करने (हटाने) पर जल (सुहावना लगता है)। कमल नयन श्रीरामजी माता, पिता और सारे प्यारे लोगों का

स्वभाव से ही उनके स्नेह और सम्बन्ध की दृष्टि से उनका सम्मान कर साथ में सुन्दर स्त्री श्रीजानकीजी और भले भाई श्रीलक्ष्मणजी को ले, अपने पिता का राज्य राही (बटोही) की भाँति त्याग कर (मोह छोड़कर) चल दिये, मानों वे श्रीअयोध्याजी में दो दिन की पहुनाई (मेहमानी) पर (ठहरे हुए) थे।

विशेष—'कागर कीर...'—सुग्गा हर्षपूर्वक पंख झाड़ता है, वैसे आपने हर्ष से भूषण-वस्त्र का त्याग किया और वल्कल वस्त्र धारण किया, यथा—"पितु आयसु भूषन-बसन, तात तजे रघुबीर। बिस्मय हर्ष न हृदय कछु, पहिरे बल्कल चीर॥" (मा० अ० १६५), भूषण-वस्त्र श्रीरामजी के दिव्य शरीर की शोभा को ढके हुए थे, जैसे काई जल को। अतः, जैसे काई दूर कर देने पर जल सुशोभित होता है, वैसे आपका शरीर भूषणादि त्याग से सुशोभित हुआ। इसी पर तो दंडक वन के महान् विरक्त मुनि मोहित हो गये थे, यह ऊपर पद में सप्रमाण लिखा गया।

'मातु पिता प्रिय लोग...संग सुभामिनि...'; यथा—"मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥ चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी॥ सुनतहिं लखन चले उठि साथा। रहहिं न जतन किये रघुनाथा॥" (मा० अ० १६५)। 'सुभामिनि'—उपर्युक्त 'पुनीत प्रिया' का भाव यहाँ भी है, तथा—"प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती। धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्त्तुः सीता हरन्मनः॥" (भाग० ९।१०।५६), अर्थात् भाव को जाननेवाली श्रीसीता देवी, प्रणय से विनम्र भाव युक्त, अनुसरण, सुशीलता एवं लज्जा की बुद्धि से अपने स्वामी को प्रसन्न रखती थीं। 'भाइ भलो', यथा—"लालन जोग लखन लघु लोने। भे न भाइ ऐसे अहहिं न होने॥ पुरजन प्रिय पितु-मातु दुलारे। सिय रघुबीरहिं प्रान-पियारे॥" (मा०अ०१९९)।

अलंकार—'उपमा' और 'उत्प्रेक्षा'।

मनहरण—कवित्त [३]

सिथिल सनेह कहैं कौसिला सुमित्रा जू सों
मैं न लखी सौति, सखी भगिनी ज्यों सेई है।
कहैं मोहिं मैया, कहौं, "मैं न मैया भरत की;
बलैया लैहौं, भैया! तेरी मैया कैकेई है"॥

तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी,
काय मन बानी हूँ न जानी कै मतेई है।
बाम बिधि मेरो सुख सिरस-सुमन सम,
ताको छल-छुरी कोह-कुलिस लै टेई है॥

शब्दार्थ—मतेई (सं० विमातृ) = विमाता, सौतेली माता। सिरस (सं० शिरीष) = शीशम के समान एक प्रकार का लंबा ऊँचा पेड़, सिरसा।

अर्थ—श्रीकौसल्याजी श्रीरामजी के स्नेह से विह्वल होकर श्रीसुमित्राजी से कहती हैं—"हे सखी! मैंने कैकेयीजी को कभी सौत करके नहीं समझा; प्रत्युत् अपनी सगी बहन के समान उसका पालन-पोषण किया है। जब श्रीरामचन्द्रजी मुझे मैया कहते थे, तब मैं यही कहती थी—'मैं तुम्हारी मैया नहीं, भरत की मैया हूँ। हे भैया! मैं तुम्हारी बलैया लेती हूँ, तुम्हारी माता कैकेयीजी ही हैं। [श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—] सीधे स्वभाव वाले रघुनाथ श्रीरामजी ने मन, वचन और कर्म से कैकेयीजी को ही माता माना है, कभी विमाता नहीं समझा। परन्तु, टेढ़े ब्रह्मा ने सिरसा के फूल के समान मेरे सुकुमार सुख (को काटने) के लिये छल रूपी छुरी को क्रोध रूपी वज्र पर टेया (पैनाया) है।"

विशेष—'सिथिल सनेह···'—श्रीकौसल्याजी रानियों में बड़ी हैं। फिर भी कैकेयी पर राजा का प्रेम अधिक जान इन्हें अपनी बहन के बराबर का सम्मान देती थीं; यथा—"तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी। त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्त्तते॥" (वाल्मी० २।७३।१०); अर्थात् मेरी बड़ी माता कौसल्याजी जो (तुम्हारी अपेक्षा) अधिक परिणाम देख सकती हैं, वे भी धर्म पूर्वक बहन के समान तुम्हारे साथ व्यवहार करती हैं (यह भरतजी ने कैकेयी से कहा है)। यहाँ तक कि अपने पुत्र श्रीरामजी को भी कैकेयी का पुत्र बना रक्खा था, वह आगे कहती हैं—

'कहैं मोहिं मैया···तुलसी सरल भाय···'—'भैया' यह सम्बोधन ज्येष्ठ पुत्र के लिये अवध प्रान्त में प्रचलित है, इससे कौसल्याजी भी श्रीरामजी को भैया ही कहती थीं; यथा—"पितु समीप तब जायहु भैया।" (मा० अ० ५२); ज्येष्ठ पुत्र का नाम सामान्य दशा में नहीं लिया जाता, उसे 'भैया' कहा जाता है। कैकेयीजी को माता मानने के लिये बलिहारी जाती थीं। इससे श्रीरामजी

ने भी कैकेयीजी को वैसा ही माना था; यह उसने स्वयं कहा है; यथा—"कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥ मोपर करहिं सनेह बिशेखी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥" (मा० अ० १४); तथा—"न मे विकांक्षा जायते त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम्। यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत्सदा॥" (वाल्मी० २।७३।१८); अर्थात् बुरा निश्चय रखने वाली तुम्हारे त्याग की इच्छा मैं नहीं करता, यदि श्रीरामचन्द्रजी तुमको सदा माता के समान न देखते होते।

'मेरो सुख सिरस सुमन सम'—सिरसा का फूल अत्यन्त सुकुमार होता है; यथा—"कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥···सिरस-सुमन कन बेधिय हीरा।" (मा० बा० २५७); वैसे श्रीकौसल्याजी का पुत्र सुख एवं पति सुख सुकुमार हैं; वीर क्षत्रिय जाति की माता का सुख क्षणभंगुर है, इनके पुत्र श्रीरामजी युद्ध वीर और धर्म वीर हैं, वैसे पति भी धर्म वीर हैं। धर्म वीरता में उन्होंने शरीर छोड़ दिया, इससे पति सुख गया। पुत्र भी धर्म वीरता एवं युद्ध वीरता से मुनिके साथ गये थे, वहाँ भी माता को पछतावा था; यथा—"सिरस-सुमन-सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी। पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनु धारी॥ अति सनेह कातरि माता कहैं, सुनि सखि बचन दुखारी। बादि बीर जननी-जीवन जग, छत्रि जाति गति भारी।" (गी० बा० ९८); किन्तु वहाँ से तो कुशलपूर्वक समृद्धियुक्त आये। इस बार पति की धर्म वीरता में मृत्यु हुई, पुत्र का भी वियोग दुःख है।

माता का भाव यह कि मेरा सुकुमार सुख यों ही अत्यन्त कोमल है, फिर भी टेढ़े ब्रह्मा ने कैकेयी के छल रूपी छुरी को, उसके क्रोध रूपी वज्र पर पैना कर, उससे इसे निर्दयता पूर्वक काटा है। उस छुरी की पैनी धार को फिर किसी गुरु एवं मंत्री आदि ने उपदेश आदि से गोठिल नहीं कर पाया।

बिधि-बामता; यथा—"बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।" (मा० अ० २००); "तात कैकइहि दोष नहि; गई गिरा मति धूति।" (मा० अ० २०६); श्रीभरतजी ने चेष्टा की, पर बिधि बामता से सफल नहीं हो सके; यथा—"प्रभु रुख निरखि निरास भरत भए, जान्यो है सबहि भाँति बिधि बावों॥" (गी० अ० ७२); 'छल छूरी···' यथा—"कपट छुरी उर पाहन

टेई।" (मा० अ० २१); तथा—"जो पय फेन फोर पबि टाँकी।" (मा० अ० २८०)।

अलङ्कार—'मेरो सुख सिरस···' इसमें 'धर्मलुप्तोपमा' और 'छल-छुरी' एवं 'कोह-कुलिस' इनमें 'रूपक' है।

[४]

"कीजै कहा, जीजी जू!" सुमित्रा परि पायँ कहै।
"तुलसी सहावै बिधि, सोई सहियतु है।
रावरो सुभाव रामजन्म ही ते जानियत।
भरत की मातु को कि ऐसो चहियतु है।
जाई राजघर ब्याहि आई राजघर माहँ,
राजपूत पाए हूँ न सुख लहियतु है।
देह सुधागेह ताहि मृग हू मलीन कियो,
ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है"॥

अर्थ - श्रीसुमित्राजी श्रीकौसल्याजी से चरणोंपर पड़ कर कहती हैं,—"बड़ी बहिनजी! क्या किया जाय? [श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—] जो कुछ ब्रह्मा सहाते हैं; वही सहन करना पड़ता है। आपका स्वभाव तो श्रीरामजी के जन्म ही से जाना जाता है (आप साधु-स्वभाव की हैं, तभी तो आपसे श्रीरामजी ऐसे साधु पुत्र हुए हैं,)। श्रीभरत (ऐसे साधु-स्वभाव पुत्र) की माता को क्या ऐसा करना (श्रीरामजी को वनवासी करना) उचित था? (भरत-माता कैकेयी के द्वारा बामविधाने ही सब अनर्थ किये हैं—) आपने राजा के घर जन्म लिया, व्याह करके भी राजा के ही घर में आईं, राज्याधिकारी (ज्येष्ठ पुत्र) पुत्र पाने पर भी आपको सुख नहीं मिल रहा है। जैसे चन्द्रमा का शरीर अमृत का घर है, परन्तु उसे मृग ने मलिन कर रक्खा है, फिर भी उसे बिना बाहु का राहु ग्रहण (ग्रास) करता है"।

विशेष—ऊपर के पद में कौसल्याजी ने कहा था—"बाम बिधि मेरो सुख सिरस सुमन सम···" उसी पर श्रीसुमित्राजी उसका समर्थन करती हैं—

'सहावै बिधि···'; यथा—"सो सब सहिय जो दैव सहावा॥" (मा०

अ० २४५); यदि कहा जाय कि अपने कर्मों का फल है, इसमें ब्रह्मा का क्या दोष ? उस पर कहती हैं—

'रावरो सुभाव रामजन्म ही ते'''—यदि आप पूर्व में ऐसे दुःख सहने के योग्य कर्म किये होतीं, तो वैसा स्वभाव इस जन्म में होता, पर आपका स्वभाव तो बहुत उत्तम है, साधु-स्वभाव श्रीरामजी का-सा है, इससे आपका कर्म-दोष इसमें हेतु नहीं है, ब्रह्मा अपनी वामता से ही ऐसा करता हैं—

'भरत की मातु को'''—भरतजी की माता भी पहले भरत के-से स्वभाव की थीं, तभी तो ऐसा सुशील पुत्र प्राप्त हुआ, पर इस समय सहसा उनकी भी मति ऐसी उग्र हो गई; यह दैव (विधाता) का ही कर्त्तव्य है; यथा—"जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम्। भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ॥ १७ ॥ सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः। उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद्दैवात्समर्थये ॥ १८ ॥ कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथा गुणा। ब्रूयात्सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीड्यं भर्तृसन्निधौ ॥ १९ ॥ यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते। व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥ २० ॥ कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्। यस्य नु ग्रहणं किञ्चित्कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते ॥ २१ ॥ सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २२ ॥" (वाल्मी० २।२२); अर्थात् हे सौम्य लक्ष्मण ! तुम जानते हो कि आज तक कौसल्या और कैकेयी आदि माताओं के विषय में मेरी ओर से कोई भिन्न व्यवहार नहीं हुआ, तथा कैकेयीजी का भी अपने पुत्र भरत और मेरे विषय में समान व्यवहार रहा है। मेरे अभिषेक-निवृत्ति के लिये तथा मुझे वन भेजने के लिये उन्हीं कैकेयीजी ने जो कठोर दुर्वचनों का व्यवहार किया है, उसका कारण दैव के अतिरिक्त मैं दूसरा नहीं समझता। वैसे उत्तम गुण और स्वभाववाली राजपुत्री कैकेयीजी अपने पति के सामने एक साधारण स्त्री की भाँति मुझे दुःख देने वाली बात कैसे कहती ?। जिसके विषय में कुछ सोचा न जा सके, वह दैव है, उसका प्रभाव भूत और उनके स्वामी देवों पर भी पड़ता है, यह निश्चित है कि मेरे और कैकेयीजी के बीच में उसी दैव ने यह उलट-फेर किया है। लक्ष्मण ! कौन मनुष्य दैव से युद्ध कर सकता है, क्योंकि कर्म-फल भोगों के अतिरिक्त उसका तो ज्ञान होता ही नहीं। वह प्रत्यक्ष नहीं है,

प्रत्यक्ष हैं, उसके कार्यों के फल भोग। सुख-दुःख, भय, क्रोध, लाभ-अलाभ उत्पत्ति-विनाश तथा इस प्रकार के और भी अज्ञात हेतुक जो कुछ होते हैं, वे सब दैव के कार्य हैं।

सुमित्राजी ने इस प्रकार उपर्युक्त 'बाम बिधि मेरो सुख···' इसका समर्थन किया; भाव यह कि कैकेयीजी ने दैव प्रेरित अपने स्वभाव-विरुद्ध कार्य कर डाला है। उसको स्वभाव से वैसा करना युक्त नहीं है।

'जाई राजघर, ब्याहि आई···'—आपके सभी सम्बन्ध सुख योग्य ही हैं, पर टेढ़े ब्रह्मा के मारे आप सुख नहीं पा रही हैं। ऐसे सुन्दर साज में उसने कैकेयीजी के द्वारा सुख होने नहीं दिया। रंग में भंग कर दिया। यह उसका नया बर्त्ताव नहीं है, प्रत्युत—

'देह सुधा गेह ताहि····'—चन्द्रमा का शरीर सब अमृतमय है, इसीसे सुधांशु कहाता है; परन्तु विधि-वामता से उसे मृग ने मलिन बना रक्खा है। इसीसे वह 'मृगाङ्क' कहाता है; इसके रहने से शशि के उज्ज्वल रूप में कालिमा दिखती है, इसके अतिरिक्त पर्व पर राहु भी उसका ग्रास कर दुःख देता है। तथा—"बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ निपट निरंकुश निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥" (मा० अ० ११८); "ग्रसै राहु निज संधिहि पाई।" (मा० बा० २३७)।

जिस चन्द्रमा में अमृत भरा है, उसमें ब्रह्मा ने दुःख के संयोग रच दिये हैं, उसी स्वभाव से उसने आपके ऐसे उत्तम साज में कपट और क्रोध का संघट्ट कर दिया है। जिसका निमित्त कैकेयीजी हुई हैं।

जैसे चन्द्रमा सुधा गेह है, वैसे ही आपके भी मातृ-पति एवं पुत्र पक्ष श्रेष्ठ हैं, जैसे उसे मृग ने मलिन किया है और राहु ग्रसता है, वैसे ही आपको पति का दुःख और पुत्र के वियोग का दुःख आ पड़ा है।

इस छन्द के 'जाई राजघर··' इस चरण को कोई-कोई कैकेयी जी में लगाते हैं कि वह राजघर में जन्मी, राजा से ब्याही गईं, राज्य और पुत्र प्राप्त किये, फिर भी वह सुख नहीं पा रही है, इस पर चन्द्रमा के दृष्टान्त से दिखाया कि मृग रूपी कलंक से उसका यश चन्द्र मलिन हुआ और विधवा होना उस पर राहु ग्रास है, पर इस अर्थ में प्रसंग-विरोध जान पड़ता है। यहाँ कौसल्या

जो अपने सुख पर झींख रही हैं। सुमित्राजी को उसी का समर्थन करना उचित है, कैकेयी जी के सुख न पाने के कथन का यहाँ कोई हेतु नहीं दीखता।

अलङ्कार—'दृष्टान्त' है; क्योंकि श्रीकौसल्याजी पर विधि-वामता की समता चन्द्रमा में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से कही गई है।

केवट का पाद-प्रक्षालन

उपजाति-सवैया [५]

नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि मेरु सिलाकन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े॥
तुलसी जेहि के पद पंकज ते प्रगटी तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।
सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े॥

अर्थ—जिनके नाम ने संसार रूपी अपार नदी में डूबते हुए अजामिल सरीखे करोड़ों दुष्टों का उद्धार किया है। जिसका स्मरण करने से सुमेरु पर्वत शिलाकण के समान और बढ़े हुए समुद्र बकरी के खुर के समान (अल्प) हो जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते है कि जिनके चरण कमल से वे नदी (श्रीगङ्गाजी) प्रकट हुईं, जो बड़े भारी पापों का नाश करने वाली हैं। वे परम समर्थ श्रीरामजी उसी नदी (स्वचरण-प्रसूता गंगाजी) का पार करने के लिये किनारे पर खड़े होकर (केवट से) नाव माँग रहे हैं (ऐसे भक्त वत्सल हैं)।

विशेष—'नाम अजामिल से…'; यथा—"अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥" (मा० बा० २५)। 'बूड़त' यह पद 'डूबत' का तद्भव एवं अपभ्रंश है।

अजामिल की कथा

कान्यकुब्ज देश में एक अजामिल नाम का ब्राह्मण था, पहले श्रुतसम्पन्न, सुस्वभाव, सदाचारशील एवं सद्‌गुणों का स्थान था। और भी उसमें बहुत सुलक्षण थे। वह एक दिन पिता की आज्ञा से वन को गया वहाँ से फल-फूल एवं लकड़ी तथा कुश आदि लेकर लौटा, मार्ग में उसने एक कामी शुद्र को मदिरा पिये हुए एक वेश्या से रमण करते देखा, अजामिल सहसा कामवश हो गया।

उसीके ध्यान में निमग्न रहने लगा। उसे अनुकूल करने में इसने पिता की सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी। उसमें आसक्त हो इसने अपनी धर्मपत्नी को छोड़ दिया। उसमें आसक्त हो धन कमा कर उसका एवं उसके परिवार का पालन करता था। शास्त्र विधि का त्याग कर उसीके हाथ का मलरूप भोजन करता था। ऐसे ही करते उसकी आयु समाप्त हो चली, यमदूत उसकी ताक में थे।

उस दासी से इसके दस पुत्र थे। छोटे का नाम नारायण था। इसकी अट्ठासी वर्ष की आयु हो गई। जुआ, चोरी आदि से यह उसके कुटुम्ब का पालन करता था। यह छोटे पुत्र नारायण में अनुरक्त था। सहसा इसका मृत्यु-काल आ गया। उस समय इसका चित्त उसी पुत्र में लग गया था, उसी समय भयंकर यमदूत इसे लेने के लिये आ गए। वे हाथों में पास लिये हुए थे। अजामिल ने उन दूतों को देख कर दूर खेलते हुए अपने पुत्र को ऊँचे स्वर से पुकारा—"नारायण ! नारायण !!"।

मरते हुए इसके मुख से अपने स्वामी का नाम सुनते ही भगवान् विष्णु के पार्षद सहसा आ गये। अजामिल के प्राण निकालते हुए यमदूतों को बलपूर्वक पार्षदों ने रोका। परिचय कर दोनों पक्षों में वाद-विवाद होने लगा। बाद हुआ, अन्त में हरि पार्षदों ने कहा कि इस ब्राह्मण ने अंत में भगवान् का नाम लिया है। अतः, इसके करोड़ों जन्मों के पापों का प्रायश्चित हो गया। हरि पार्षदों ने 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा....' एवं 'पतितस्खलितो भग्नः...' तथा 'अज्ञानादथवा...' आदि श्लोकों से समझाया कि किसी बहाने जान कर और चाहे विना जाने नाम का उच्चारण भी उसी प्रकार पापों को जला डालता है, जैसे ईंधन को अग्नि। विना जाने खाई हुई औषधि भी अपना गुण दिखाती ही है। हरि नाम वैसा ही है।

ऐसा कह कर हरि पार्षदों ने इसे यमपाश से छुड़ा लिया। यमदूतों ने यमराज से जाकर समाचार कहा। इधर अजामिल ने सावधान होकर पार्षदों को प्रणाम किया और बड़ा आनंद माना। पार्षद अन्तर्धान हो गये। (पार्षदों के दर्शन से इनकी कुछ आयु भी बढ़ गई) इन्हें हरिपार्षदों और यमदूतों के संवाद से विवेक हुआ और फिर अपने पूर्व कृत्यों पर पश्चात्ताप हुआ। हरि-भजन करने का दृढ़ निश्चय कर ये हरिद्वार तीर्थ गये। वहाँ हरि-भजन करते हुए कुछ काल रहे। फिर इन्हें सहसा उन्हीं हरि पार्षदों के दर्शन हुए। इन्होंने दण्डवत

प्रणाम किया। उनके दर्शनों के साथ शरीर त्याग कर इन्होंने उनका-सा मनोहर और पवित्र रूप पाया और विमान पर चढ़ हरिधाम गये। इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा है; यथा—"म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्। अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धयागृणन् ॥"—यह कथा भाग० ६।१-२ के अनुसार है।

'अजामिल से खलकोटि:…'; यथा—"अपराध अगाध भए जनते अपने उर आनत नाहिंन जू। गनिका गज गीध अजामिल के गनि पातक पुंज सिराहिं न जू ॥ लिये बारक नाम सुधाम दियो जेहि धाम महामुनि जाहिं न जू। तुलसी भजु दीनदयालुहि रे, रघुनाथ अनाथहि दाहिन जू ॥" (उ० ७)। "नामहि ते गज की, गनिका की, अजामिल की चलिगै चलचूकी ॥…नाम अजामिल से खलतारन, तारन बारन बारबधूको।" (उ० ८६-६०); इत्यादि।

'जो सुमिरे गिरि मेरु सिलाकन होत…'—श्रीरामजी को स्मरण (राम-नाम जप) करने से पाप-पर्वत विदीर्ण होकर शिलाकणवत् हो उनकी कृपा रूपी वायु से उड़ जाता है; यथा—"सोक-संदेह-पाथोद-पटलानिलं, पाप-पर्वत-कठिन-कुलिस रूपं। संतजन-कामधुक-धेनु विश्राम प्रद, नाम-कलिकलुष-भंजन अनूपं ॥" (वि० ४६); "काको नाम धोखेहू सुमिरत पातकपुंज सिराने। बिप्र बधिक, गज, गीध कोटि खल कौन के पेट समाने ॥ मेरु से दोष दूरि करि जन जन के, रेनु से गुन उर आने।" (वि० २३६)।

'होत अजाखुर…'; यथा—"तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं ॥" (वि० १४१); यहाँ बढ़ा हुआ भव-समुद्र गोपद से भी छोटा अजाखुरवत् तर जाता है, यह नाम-स्मरण में विशेषता है; यथा—"भव मग अगम अनंत है बिनु श्रमहिं सिरातो। महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो ॥" (वि० १५१); "नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।" (मा० बा० २४)।

'जेहि के पद पंकज ते…'; यथा—"धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजन पवित्रतया नरेन्द्र। स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥" (भाग० ८।२१।४); अर्थात् वह ब्रह्माजी के कमण्डलु का जल, जिससे ब्रह्माजी ने श्रीवामनजी के चरण को स्नान कराया था; हरिचरण के स्पर्श से पवित्र होकर स्वर्ग की नदी आकाशगंगा हो गया। वह गङ्गाजल अब तक हरि की पवित्र कीर्ति के समान आकाश से भूमि पर

गिर कर त्रिभुवन को पवित्र करता है। तथा—"बिष्नुपद सरोजजासि, ईस सीस पर बिभासि, त्रिपथ गासि, पुन्य पासि, पापछालिका ॥" (वि० १७); अर्थात् विष्णु भगवान् ने जब वामन रूप धारण किया था। तब श्रीब्रह्माजी ने उनके चरण धोकर अपने कमण्डलु में रख लिया। वही ब्रह्मद्रव हुआ। श्रीब्रह्माजी ने महाराज भगीरथ के वर माँगने पर उन्हें दिया, वही श्रीगङ्गा नदी हैं।

श्रीगङ्गाजी की कथा

इक्ष्वाकु वंश में एक बड़े प्रतापी राजा सगर थे। उनके केशिनी और सुमति नाम की दो रानियाँ थीं। केशिनी के पुत्र असमंजस हुए। वे खेलते हुए पुरजनों के बालकों को मार कर श्री सरयू जी में फेंक देते थे। प्रजा को पीड़ा देने के कारण राजा सगर ने असमंजस को घर से निकाल दिया [भाग० ६।८।१८-१९ में कहा गया है कि पिता के द्वारा निकाले जाने पर असमंजस ने पुरजनों के बालकों को योगबल से जिला दिया है, यह देख प्रजाको आश्चर्य और सगर को पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने घर छोड़ कर वन जाने के लिये पहले वैसा किया था, यह जाना गया]।

राजा सगर ने यज्ञ के लिये घोड़ा छोड़ा, इन्द्र ने उस घोड़े को चुराकर कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया। राजा सगर ने अपने साठ हजार पुत्रों को घोड़ा खोजने के लिये भेजा। उन लोगों ने पाताल में कपिल मुनि के पास उस घोड़े को बँधा देखा। मुनि ध्यान में निमग्न थे, इन लोगों ने उन्हें 'चोर-चोर' कहकर हल्ला किया। उस कोलाहल से मुनि की आँखें खुल गईं। अपमान समझ मुनि क्रुद्ध हुए, उसीसे वे समस्त सगर पुत्र भस्म हो गये। पश्चात् राजा सगर ने अपने पौत्र असमंजस के पुत्र अंशुमान को भेजा। इन्होंने आकर गरुड़जी से समाचार जाना। गरुड़जी ने यह भी कहा कि ये सब श्रीगंगाजी के द्वारा सद्गति पायेंगे। अतः, उसका उपाय करना।

घोड़ा लेकर अंशुमान आये और सगर से समाचार कहा। सगर के पीछे अंशुमान राजा हुए। उन्होंने अपने पुत्र दिलीप को राज्य देकर गंगाजी को लाने के लिये ३२०० वर्ष तक तपस्या की और स्वर्ग गये। राजा दिलीप को अपने पितरों को तारने की चिन्ता बनी ही रही, पर कृतकार्य नहीं हो सके।

तब उनके पुत्र भगीरथजी ने विना पुत्र हुए ही मंत्रियों को राज्य सौंपकर तप करना प्रारम्भ किया। १००० वर्ष बीतने पर श्रीब्रह्माजी आये और वर माँगने को कहा। इन्होंने श्रीगंगाजी को माँगा और पुत्र भी। ब्रह्माजी ने वर देकर कहा कि श्रीगंगाजी का धारण करने के लिये श्रीशिवजी को प्रसन्न करो। एक वर्ष की कठिन तपस्या से श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीगंगाजी के आने पर उनका वेग अपने शिर पर धारण किया। श्रीगंगाजी के मन में यह गर्व था कि मैं शिवजी को लेकर अपने वेग से पाताल चली जाऊँगी, इस पर शिवजी क्रुद्ध हुए। गंगाजी को जटाओं में छिपा लिया, बहुत वर्षों तक वे निकल न सकीं। तब फिर भगीरथजी के परमतप पर प्रसन्न होकर शिवजी ने इन्हें अपनी जटा से छोड़ा। महा० भीष्म० ६।३०-३१ में कहा गया है—"तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि। शतं वर्ष सहस्राणां शिरसैव पिनाक धृक्॥" अर्थात् जिनके आघात का पर्वतगण भी नहीं सह सकते थे, उन गंगाजी को पिनाकधारी शिवजी ने एक लाख वर्ष तक शिर पर ही रख छोड़ा था,]। शिवजी ने जब धारा छोड़ी, तब आगे-आगे रथ पर भगीरथ महाराज चले और उनके पीछे पीछे श्रीगंगाजी चलीं। जब सगर पुत्रों की राख पर पहुँचीं, तब इनसे उन सबका उद्धार हुआ। यह कथा वाल्मी० १ ३५-४४ के अनुसार है।

पृथिवी पर यह नदी गंगोत्तरी से निकलती है। अलकनन्दा आदि से मिलती हुई, हरिद्वार के पास पथरीले मैदान में उतरती है। फिर प्रयाग, काशी एवं कलकत्ता होती हुई गंगासागर में समुद्र से मिलती है।

श्रीगंगाजी की कथा महा० वन० १०६-१०८ में भी है, वहाँ यह भी लिखा है कि अगस्त्यजी के समुद्र सोखने पर फिर गंगाजी ने ही आकर उसे अपने जल से भर कर पूर्ण किया है।

'जो हरै अघ गाढ़े'; यथा—"वाङ्मनः कर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह। वीक्ष्य गङ्गां भवेत्पूतो अत्र मे नास्ति संशयः ॥६१॥ सप्तावरान्सप्तपरान् पितृंस्तेभ्यश्च ये परे। पुमांस्तारयते गङ्गां वीक्ष्य स्पृष्ट्वाऽवगाह्य च ॥६२॥ श्रुताऽभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता। गङ्गा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ॥६३॥ दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गङ्गेति कीर्तनात्। पुनात्यपुण्यान्पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः॥" (महा० अनु० २६।६१-६४); अर्थ सरल है। आगे उत्तरकांड १४५-१४७ भी देखिये।

'सो प्रभु स्वै सरिता···'—वे ही प्रभु हैं, जिन्होंने वामन रूप से समस्त लोकों को अपने चरणों से ही थोड़ा बना दिया था, ये गङ्गाजी भी वही हैं, जो आपके चरण से प्रकट हुई हैं; यथा—"जासु नाम सुमिरत यक बारा। उतरहिं नर भव सिंधु अपारा ॥ सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि किय जग तिहुँ पगहु थोरा ॥" (मा० अ० १००); अर्थात् भोले-भाले भक्त केवट पर कृपा है। अतएव उससे निहोरा कर उसे बड़ाई देते हैं और उसे चरणामृत देकर उसका पितरों के साथ उद्धार करेंगे। 'सो प्रभु' इस पद से श्रीरामजी और विष्णु भगवान् एवं वामन भगवान् में अभिन्नता सिद्ध है।

इस सवैया के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण 'मत्तगयंद' के हैं और तृतीय 'सुन्दरी' का है। इससे इसे 'उपजाति-सवैया' जानना चाहिये।

सुन्दरी-सवैया [६]

एहि घाट ते थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिय मोहि, बिना पग धोए हौं नाथ न नाउ चढ़ाइ हौं जू ॥

अर्थ—[केवट कहता है—] इस घाट से थोड़ी ही दूर पर कमर तक जल है, मैं वहाँ चल कर आपको थाह दिखला दूँगा (वहाँ से आप चाहें तो गंगाजी में पैठ कर स्वयं पार चले जायँगे, परन्तु मैं अपनी नाव पर चढ़ा कर आपको पार नहीं ले चल सकता; क्योंकि गौतम मुनि की स्त्री अहल्या के समान) आपकी चरण धूलि का स्पर्श कर मेरी नाव का भी तरण (उद्धार) हो जायगा, तो मैं घर की स्त्री को कैसे समझाऊँगा ? [श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—] मेरे पास [जीविका के लिये) और कुछ सहारा नहीं है, तब मैं अपने बाल-बच्चों का पालन किस प्रकार करूँगा ? अतः, हे नाथ ! बिना चरण धोये मैं आपको नाव पर नहीं चढ़ाऊँगा, चाहे आप मुझे मार डालें।

विशेष—'एहि घाट ते···' श्रीरामजी ने केवट से नाव माँगी, पर वह नाव को कुछ जल के भीतर करके प्रभु से बातें करता है; यथा—"माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरम मैं जाना ॥ चरन कमल रज कहँ सब कहई।

मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥ छुवत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन ते न काठ कठिनाई ॥ तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥ थहि प्रतिपालउँ सब परिवारू । नहिं जानउँ कछु और कबारू ॥ जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू । मोहिं पद पदुम पखारन कहहू ॥'' (मा० अ० ९९) ।

केवट की अभिलाषा चरणामृत लेने की है, उसका कोई हेतु नहीं है, इससे अपनी अज्ञ जाति के स्वभाव से उसने यही हेतु चुना है । कहता है कि इस घाट से थोड़ी ही दूर पर उतार पानी है, मैं वहाँ चलकर थाह स्थल दिखा दूँगा ।

'·रसे पगधूरि···'—उतारने में मुझे अस्वीकार नहीं है, पर करूँ क्या ! आपके चरण की धूलि का स्पर्श होते ही मेरी नाव 'छू मंतर' हो जायगी । फिर हमारी घरवाली बहुत बिगड़ेगी, नीच जाति की स्त्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं, थोड़ी-भी हानि नहीं सह सकतीं, इस नाव की हानि से तो मेरी सर्वस्व हानि है । फिर उसे मैं कैसे समझाऊँगा ? मैं कोई और व्यापार आदि नहीं जानता; यथा—''नहि जानउँ कछु और कबारू ।'' यह ऊपर लिखा ही गया है ।

'अवलब न और कछू···'—बाल-बच्चों को मैं किस वृत्ति से जिलाऊँगा ? आगे छन्द ८ में अन्य उद्यमों की असमर्थता कही है ।

'बरु मारिय मोहिं···' ; यथा—''पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहउँ । मोहिं राम राउरि आन दसरथ-सपथ सब साँची कहउँ ॥ बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं । तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं ॥'' (मा० अ० ९९); अर्थात् केवट की धृष्टता पर श्रीलक्ष्मणजी अप्रसन्न हो गये कि यह कहता है, 'आपकी शपथ और (आपके बाप) दशरथजी की शपथ' इस पर उन्होंने धनुष बाण की ओर संकेत किया, उस पर कहता है कि चाहे आप मुझे मार डालें, पर मैं बिना चरण धोए नाव पर नहीं चढ़ाऊँगा । भाव यह कि मेरे मर जाने पर बाल-बच्चे तो जीते रहेंगे, नाव की हानि पर तो मैं सपरिवार मर जाऊँगा । 'नाथ' 'नाथृ-याचने' इस धातु से नाथ शब्द सिद्ध होता है, इसके अनुसार हाथ जोड़ कर प्रार्थना भी करता है कि आप चरण धुला ही लें ।

अलंकार—यह व्यंग्य से चरण धूलि का महत्त्व कह रहा है । अतः, यहाँ 'व्याज-स्तुति' है ।

उपजाति-सवैया [७]

रावरे दोष न पायन को, पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन ते बन बाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है॥
पावन पाँय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है॥

शब्दार्थ—बन-बाहन (बन=जल, बाहन=सवारी)=जलयान, नाव।

अर्थ—(उपर्युक्त विषय में) आपके चरणों का दोष नहीं है, आपकी चरण-धूलि का ही बहुत बड़ा प्रभाव है (उसके स्पर्श से पत्थर से मुनि की स्त्री हो गई, उससे नाव का स्त्री हो जाना कठिन नहीं है; क्योंकि) पत्थर की अपेक्षा काठ का जलयान अधिक कोमल है, उस पर भी यह बराबर जल खाता रहता है (इससे और भी कोमल हो गया है,)। अतः, (अपनी नाव बचाने के लिये) मैं तो आपके पवित्र चरणों को धोकर ही नाव पर चढ़ाऊँगा; कहिये, क्या आज्ञा होती है?। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि केवट के श्रेष्ठ वचन सुनकर श्रीरामजी श्रीजानकीजी ओर देख कर हहा (ठट्ठा मार) कर हंस पड़े।

विशेष—'पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है'; यथा—"सखि इन्ह कहं कोउ-कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥" (मा० बा० २२२); तथा—"मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। 'कीरति रही भुवन भरि पूरी॥" (मा० बा० ३५६)।

'पाहन ते···'; यथा—"पाहन ते न काठ कठिनाई।" (मा०अ० ६६)।

,पावन पाँय···'—चरण तो बड़े पवित्र ही हैं, उनकी पवित्रता भी धूल धो देने से और ठीक हो जायगी, यह चरणों को लाभ होगा। 'चढ़ाइहौं'—मैं कंधे पर आपको बैठा कर नाव पर चढ़ा दूँगा, जिससे धोने पर फिर दूसरी धूल न लग जाय।

'केवट के बर बैन'; यथा—"सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे। बिहंसे करुना अयन, चितइ जानकी लखन तन॥" (मा० अ० १००)। अटपट ढंग से कहता है, अपनी जाति-स्वभाव से उसके वचन रोचक हैं, भीतर से चरणामृत लेने का प्रेम है। इसके लिये वह प्राण देने को भी प्रस्तुत है

इससे प्रभु उसके हृदय के प्रेम पर प्रसन्न हो गये हैं। कहा भी है—"कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जान जन जी की ॥" (मा० बा० २८); तथा—"अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना ॥" (मा० अर० २६)। 'बैन' यहाँ वचन का बयन हो गया है, उसी को 'बैन' ऐसा लिखा गया।

'जानकि ओर'—श्रीजानकीजी की ओर देखकर हँसने के भाव—(क) आपके पिता ने आपको देकर जिन चरणों को धोया है। उन्हीं को यह गवारू प्रेम से ही धोना चाहता है। (ख) आप भी तो इसी प्रकार के बहाने से मेरे साथ कुछ काल अधिक रहने के लिये चरण-स्पर्श नहीं करती थीं; यथा—"गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि। मन बिहँसे रघुबंसमनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥' (मा० बा० २६५)। (ग) देखिये, वन में भी हमारे कैसे-कैसे प्रेमी हैं, निषादराज ही नहीं, इसकी प्रजा भी वैसी ही है।

'हहा है'—ठठा कर हंसना यहाँ पर गँवार के समक्ष अच्छा है। जंगली लोगों के साथ हिल-मिल कर कैसे बर्त्ताव करना चाहिये, यह भी दिखाते हैं। इसी दक्षता से तो आपने वानर-भालुओं से भी प्रीति कर उन्हें वश में रक्खा है।

मनहरण-कवित्त [८]

पात भरी सहरी सकल सुत बारे-बारे,
केवट की जाति कछू बेद न पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरे याही लागि, राजा जू,
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ? ॥
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वै के बाद न बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम रावरे से साँची कहौं,
बिना पग धोए नाथ नाव न चढ़ाइहौं ॥

अर्थ—घर में एक पत्तल भर सफरी मछली ही है और खाने वाले बच्चे सब छोटे-छोटे हैं (अभी कमाने के योग्य नहीं हैं,)। मेरी केवट की जाति है, इससे (अनधिकारी होने के कारण) इन बच्चों को वेद तो पढ़ाऊँगा नहीं। अतः राजा जी ! सुनिये, मेरा सारा परिवार इसी नाव के आश्रित (जीता) है। मैं दीन और धन हीन हूँ, दूसरी नाव कहाँ से बनाऊँगा ? यदि गौतम मुनि की

स्त्री अहल्या के समान मेरी नाव भी तर जायगी, तो हे प्रभो ! जाति का निषाद होकर मैं आपसे वाद विवाद (झगड़ा) न बढ़ा सकूँगा (कि मुझे उसका मूल्य मिल जाय) । अतः हे नाथ ! हे तुलसीदास के ईश (स्वामी) श्रीरामजी ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, बिना चरण धोये आपको नाव पर नहीं चढ़ाऊँगा ।

विशेष—'पात भरी सहरी…'—हँसने पर प्रभु को प्रसन्न जान कर अपनी जाति की दीनतामयी वृत्ति आगे कर दया उद्दीप्त करा स्वार्थसिद्धि चाहता है । कहता है कि मेरे घर में एक पत्तल मछली के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । छोटे-छोटे बच्चे केवल खाने वाले हैं । ब्राह्मण जाति का होता तो वेद पढ़ाता, उससे घर बैठे जीविका चलती; परन्तु मैं तो नीच केवट हूँ; इससे मेरा सारा परिवार इसी नाव के आश्रित है । 'राजा जू' आप राजा हैं । अतः आपको सभी के भरण-पोषण पर ध्यान रखना चाहिये ।

'घरनी ज्यों तरनी…'—घरनी के समान ही तरनी पद भी है । अतः जैसे वह तर गई, पत्थर से स्त्री हो गई, वैसे वह तरनी भी मुनि की स्त्री हो ही जायगी । मुझ नीच के यहाँ वह भी क्यों रहेगी, वह तो किसी मुनि के यहाँ चली जायगी । आगे कहा है—"तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी, गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै ।" अहल्या शापित थी, कहीं यह लकड़ी भी शापित हो, कौन जाने ?

'प्रभु सों निषाद ह्वै के…'—मैं नीच जाति का होकर आपसे वाद-विवाद नहीं कर सकता कि मुझे इसके प्रति दूसरी नाव मिलनी चाहिये ।

'तुलसी के ईस' इस वाक्य में 'भाविक अलङ्कार' है ।

'राम रावरे से साँची कहौं…'—आप सत्यसंध हैं, मैं आपकी प्रजा हूँ । इससे मैं भी सत्य ही कहता हूँ; यथा—"मोहिं राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं ।" (मा० अ० ६६) ।

[९]

जिन्हको पुनीत बारि सिरसि बहै पुरारि,
त्रिपथगामिनि जस बेद कहै गाइ कै ।
जिन्हको जोगीन्द्र मुनिबृंद देव देह धरि,
करत बिराग जप जोग मन लाइ कै ॥

तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।
तेई पाँय पाइ कै चढ़ाइ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वै हौं न हँसाइ कै॥

शब्दार्थ—पठावनी कै = पार उतार कर। सिरसि=(शिरसि)=शिर पर।

अर्थ—जिन चरणों का (प्रक्षालित) पवित्र जल श्रीशिवजी शिर पर वहन (धारण) करते हैं। जिन त्रिपथगामिनी गंगाजी का यश वेद गा-गा कर (अनुराग पूर्वक) वर्णन करते हैं। जिनकी प्राप्ति के लिये योगीन्द्र, मुनिगण और देह धारण कर देवता भी मन लगा कर अनेक प्रकार योग और जप करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वह केवट कहता है - जिनकी धूलि का स्पर्श पाकर अहल्या तर गई और गौतमजी गवने के समान अपनी स्त्री को लिवा कर अपने घर गये। उन्हीं चरणों को पाकर विना धोये (नाव पर) चढ़ा कर मैं आपको पार उतार कर नाव नहीं खोऊँगा और न अपनी हँसी कराऊँगा।

विशेष—'जिनको पुनीत बारि·····'—यथा—"मकरन्द जिनको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई॥" (मा० बा० ३२३)। "ईस सीस बससि, त्रिपथ लससि नभ-पताल-धरनि।" (वि० २०)। "जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।" (मा० बा० २१०)।

'जिन्ह को जोगीन्द्र···'; यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (मा० लं० २१); 'देव देह धरि'; यथा—"रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान॥" (दोहावली १४२); इस 'देह धरि' के स्थान पर कई प्रतियों में 'देह दमि' और किसी में 'देह भरि' पाठ है, पर भागवत दास की प्राचीन प्रति में 'देह धरि' पाठ है, मुझे यही ठीक समझ पड़ा है।

'जिन्ह की धूरि परसि···'; यथा—"सिला छोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह, गुन पेखे पारस के पंकरुह पाय के। राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए, रावरेहु सतानंद पूत भये माय के॥" (गी० बा० ६५)।

'ख्वैहौं न पठावनी कै···'—इस पूरे चरण का अन्वय—'तेई पायँ पाइ कै धोये बिनु चढ़ाइ पठावनी कै नाव न ख्वैहौं—न हँसाइ कै ह्वै हौं।

'ह्वै हौं न हँसाइ कै'—यदि नाव उड़ गई तो लोग मेरी हँसी उड़ावेंगे

कि यह कैसा मूर्ख है जो जान-सुन कर भी इसने विना चरण धोए चढ़ाकर जीविका नष्ट कर दी।

'गौनो सो लिवाइ कै'—गौने (द्विरागमन) में नवीन वधू जाती है, वैसे अहल्या यद्यपि पहले सतानन्द की माता थी, पर जब से शापित होकर फिर चरण-स्पर्श से प्रकट हुई तो अत्यन्त दिव्य देह की नवीन एवं अधिक शोभा सम्पन्न हो गई; यथा—"परसि पद पंकज ऋषि रवनी। भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि मानो त्रिभुवन-छबि-छवनी॥" (गी० बा० ५६)। वाल्मी० १।४८।३१-३२ में गौतम मुनि ने शाप का अनुग्रह करते हुए कहा है कि श्रीरामजी के आने पर तू पवित्र होगी तथा अभी तू लोभ-मोह युक्त है, इससे भी रहित हो जायगी, फिर तू मेरे पास अपने शरीर से रहेगी।

मनहरण (रूप) कवित्त [१०]

प्रभु रुख पाइ कै बोलाइ बाल घरनिहिँ,
बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि-घेरि।
छोटो-सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजी को,
धोय पाय पीयत पुनीत बारि फेरि-फेरि॥
तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
बरषैं सुमन सब जै-जै कहैं टेरि-टेरि।
बिबिध सनेह-सानी बानी असयानी सुनि,
हँसैं राघौ जानकी लखन तन हेरि-हेरि॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी का (चरण-धुलाने का) रुख पाकर केवट ने अपने लड़कों और स्त्री को बुलाया, वे सब श्रीरामजी के चरणों की वन्दना करके चारो ओर से उन्हें घेर-घेर कर बैठ गये। केवट छोटे-से काठ के कठौता में श्रीगंगाजी का पानी भर लाया, श्रीरामजी के चरण धोकर उस पवित्र जल को (सब) बार-बार पीने लगे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अनुरागपूर्वक देवगण उसके भाग्य की सराहना करते हैं और फूल की वर्षा करते हैं, पुकार-पुकार कर सब जय-जय कहते हैं। उन सब (केवट के बाल-बच्चों एवं परिवार के लोगों) की भाँति-भाँति की स्नेह भरी भोली भाली बातें सुनकर श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर देख-देख कर हँसते हैं।

विशेष—'प्रभु रुख पाइ…'; यथा—"कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥ बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंब उतारहि पारू॥" (मा० अ० १००)।

'छोटो-सो कठौता…'; यथा—"केवट राम-रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लइ आवा॥ अति आनंद उमँगि अनुरागा। पाय पुनीत पखारन लागा॥" (मा० अ० १००)।

'सराहैं ताको भाग…'; यथा—"बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। यहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं॥" (मा० अ० १००)।

'सब जै-जै कहैं…'—भागवतदासजी की प्राचीन प्रति में 'सब' पाठ अधिक है। 'जै जै' को लघु उच्चारण से छन्दगति बन जाती है। शेष प्रतियों में यह नहीं है 'जय-जय' ऐसा पाठ करके वर्ण पूर्त्ति कर ली गई है।

'सब' इस पद से जय-जयकार करना सब लोगों का सिद्ध होता है; यथा—"ते पद पखारत भाग्य-भाजन जनक जय-जय सब कहैं॥" (मा० बा० ३२३); यदि 'टेरि-टेरि' इस पद से दूर ऊँचे पर रहनेवाले देवताओं का ही पुकार-पुकार कर जय-जयकार माना जाय तो 'सब' पद को प्रथमोक्त 'सुर' के साथ सबका अर्थ करना होगा।

'बिबिध सनेह सानी'…—भागवतदासजी की प्रति एवं आधुनिक प्रतियों में भी 'बिबुध' पाठ है। गीता प्रेस की सटीक प्रति में 'बिबिध' पाठ है लाला भगवानदीनजी की टीका में 'विविध' पाठ का ही अर्थ है, पर पाठ 'विबुध' है। बिबुध पद के अनुसार अर्थ करने पर यह अड़चन पड़ती है कि देवताओं ने अचतुरता एवं भोलेपन की कुछ बातें नहीं कीं और न कहीं देवताओं की बात पर प्रभु का हँसना ही कहा गया है। यदि 'जय-जय कहैं' यह कथन उन्हीं का मानें, तब भी इसमें कुछ असबानपना नहीं है। इससे दीनजी और गीता प्रेस वालों के पाठ का 'विविध' यह पद मुझे विशेष संगत जान पड़ा है। उनको किसी प्राचीन प्रति से ही मिला होगा, यह जानकर मैंने यही रक्खा है। केवट के परिवार वाले भी समीप आ गये थे; यथा—"पद पखारि जलपान करि, आपु सहित परिवार।" (मा० अ० १०१); 'परिवार' पद में उसके बाल-बच्चे, स्त्री एवं कुल भर के आ जाते हैं।

ये सब अपनी गँवारी भाषा में अपनी एवं केवट की भाग्य सराहते थे, उसमें स्नेह भरा था, वे भाँति-भाँति के थे, इससे श्रीरामजी के प्रति भी वे सब कृतज्ञता प्रकट करने में भाँति-भाँति के टूटे-फूटे उल्टे-पल्टे गँवारी शब्द बोलते थे, उनके भोले-भाले शब्दों पर आप प्रसन्न हो-होकर श्रीजानकीजी एवं श्रीलक्ष्मणजी को दिखा-दिखाकर हँसते थे, यह उन पर कृपा है; यथा—"बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन ॥ रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा ॥" (मा० अ० १३६); तथा—"जोइ-जोइ मन भावै सोइ लेहीं। मनि मुख मेलिडारि कपि देहीं ॥ हँसे राम श्रीअनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता ॥ मुनि जेहि ध्यान न पावहिं, नेति-नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक बिनोद ॥···नाना जिनिसि देखि प्रभु कीसा। पुनि-पुनि हँसत कोसलाधीस ॥" (क० लं० ११६)। तथा—"सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।" (मा० अ० १००); इसमें भी 'सनेह सानी असयानी बानी' केवट की ही है।

यह रूपक मनहर छन्द है, १६ × १६ वर्ण हैं।

दुर्मिल सवैया [११]

पुर ते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दियो मग ज्यों डग द्वै।
झलकीं भरि भालकनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं "चलनो अब केतिक, पर्न कुटी करिहौ कित ह्वै?"
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी की स्त्री श्रीजानकीजी जब ग्राम से निकलीं तब उन्होंने धैर्य धारण कर मार्ग में दो डग (थोड़ी दूर) गमन किया। इतने ही में (अत्यन्त सुकुमारता के कारण) उनके ललाट भर पर जल (पसीने) के कण (बूँदें) झलकने लगे और मधुर अधर (ओष्ठ) पुट सूख गये। वे फिर पूछने लगीं, हे प्यारे! अब कितना (और) चलना है, कहाँ तक चल कर पर्णकुटी का निर्माण करियेगा ? स्त्री श्रीजानकीजी की (पर्णकुटी पहुँचने की) आतुरता (शीघ्रता) एवं तनकी विवर्णता देख पिय श्रीरामजीकी अत्यन्त सुन्दर आँखें आँसू गिराने लगीं।

विशेष—'पुरते निकसी···'—श्रीरामजी वनयात्रा में श्रृङ्गबेरपुर तक तो

रथ पर ही गये थे। गङ्गाजी के उस पार पहुँच कर स्नान करके नियम आदि करने में किसी ग्राम के पास वृक्ष के नीचे दो पहर हो गया। चैत्रमास की दुपहरी हो आई। धूप के कारण भूमि भी कुछ तप्त हो चुकी थी। प्रभु यह भी समझते थे कि उधर सुमंत्रजी विह्वल होकर पड़े हैं, कोई आकर कह देगा तो चलने में बाधा पड़ सकती है, इससे यहाँ से चल देना ही चाहिये। अतः, चलने का निश्चय जान कर श्रीजानकीजी यह समझ कर कि मैं रघुवीर (त्याग वीर) की वधू हूँ, धैर्य धारण कर मार्ग में 'दो' डग अर्थात् थोड़ी दूर चल पाई थीं—

'झलकी भरि····'—अत्यन्त सुकुमारता से और धूप की गरमी एवं भूमि तप्त होने से पसीने की बूँदें झलकने लगीं। दोनों ओष्ठ पुटों में रुखाई आ गई, इस प्रकार कुछ विवर्णता आ गई।

'फिरि बूझति हैं···'—इस दशा पर भी चलने का उत्साह है अतः कहाँ तक चलना होगा और कहाँ पर्णकुटी की जायगी? ऐसा पूछती हैं।

'तिय की लखि आतुरता···'—प्रिया की अत्यन्त सुकुमारता एवं अल्प श्रम में भी इतनी विवर्णता देख एवं पर्णकुटी पहुँचने की आतुरता पर प्रिय श्रीरामजी के हृदय में अत्यन्त करुणा उद्दीप्त हो आई, इससे उनके अत्यन्त सुन्दर नेत्रों के द्वारा वह अश्रुप्रवाह रूप में बह चली।

'तिय की लखि आतुरता····'—इसका भाव गीतावली अयो० १३ में स्पष्ट है—"कहो सो बिपिन है धौं केतिक दूरि। जहाँ गवन कियो कुँवर कोसलपति, बूझति सिय पिय-पितहि बिसूरि॥ प्राननाथ परदेस पयादेहि चले सुख सकल तजे तृन तूरि। करौं बयारि बिलंबिय बिटप तर, झारौं हौं चरन-सरोरुह-धूरि॥ तुलसिदास प्रभु प्रियावचन सुनि नीरज नयन नीर आये पूरि। कानन कहाँ अबहिं, सुनु, सुंदरि, रघुपति फिरि चितये हित भूरि॥" अर्थात् प्रिया की सुकुमारता और आतुरता पर श्रीरघुनाथजी ने फिर कर अत्यन्त प्रीति से देखा, इससे प्राण-प्रिया का श्रम एवं दुःख दूर हो गया, धैर्य आ गया;—यथा—"मोहिं मग चलत न होइहि हारी। छिन-छिन चरन सरोज निहारी॥ सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥ पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥ श्रम-कन-सहित स्याम तनु देखे। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे॥" (मा० अ० ६६)। इस गी० के पद के अनुसार श्रीकिशोरीजी ने पति-सेवा के

लिये यहाँ अपनी विवशता आदि प्रकट की है, क्योंकि वे कह चुकी हैं—'मोहिं मग चलत न होइहि हारी।'

अलङ्कार—यहाँ श्रीरामजी ने अपनी अवस्था से प्रिया की ओर करुणा दृष्टि से देख कर उन्हें धैर्य एवं उपदेश दिया है, इससे 'निदर्शना का दूसरा भेद' है।

उपजाति-सवैया [१२]

"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ, पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े"॥
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब सों कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥

शब्दार्थ—पसेउ=पसीना। भूभुरि=गर्म राख या धूल, गर्म बालू। डाढ़े [डाढ़ा, सं० दग्ध] = ताप में तप्त।

अर्थ—श्रीजानकीजी कहती हैं—"हे प्रियतम ! लक्ष्मणजी अभी बालक हैं, वे जल लाने के लिये गये हैं। अतः कहीं वृक्ष की छाया में एक घड़ी खड़े हो (ठहर) कर उनकी प्रतीक्षा कीजिये। मैं आपके पसीने पोंछ कर हवा करूँगी और फिर गर्म बालू में तपे हुए चरणों का प्रक्षालन करूँगी"। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्राणप्रिया की थकावट को जानकर श्रीरामजी ने बैठकर बड़ी देर तक चरणों के काँटे निकाले। श्रीजानकीजी ने अपने स्वामी का अपने ऊपर स्नेह देखा, उनका शरीर प्रेम से पुलकित हो गया और नेत्रों में प्रेम से आँसू बढ़ चले।

विशेष—'जल को गये लक्खन····'—प्रिया के वचन मानकर आप केवल ठहर ही नहीं गये, प्रत्युत् श्रीलक्ष्मणजी को ऊँचे पर चढ़ कर पुकारा भी है; यथा—"फिरि फिरि राम सीय तनु हेरत। त्रिषित जानि जल लेन लखन गये, भुज उठाइ ऊँचे चढ़ि टेरत॥" (गी० अ० १४)।

'पोंछि पसेउ···'—ऊपर पद के विशेष में श्रीजानकीजी का सेवा का मनोरथ लिखा गया—"सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं···पाँय पखारि····"। उसी की पूर्त्ति की लालसा है। अपनी थकावट पर ध्यान नहीं है; प्रत्युत सेवा प्राप्ति का वह हेतु है।

'रघुबीर प्रिया श्रम जानिकै···'—आप तो वीर हैं, इससे श्रम का

अनुभव नहीं है, पर प्रिया अमित हो गई हैं, ऐसा अनुमान कर उन्हें विश्राम देने के लिये बड़ी देर के लिये ठहर कर काँटा निकालते रहे।

'जानकी नाह को नेह लख्यो…'—श्रीजानकीजी को श्रमित जानकर बड़ी देर तक काँटा काढ़ने के मिस ठहर गये, अपने विषय में स्वामी का स्नेह देख कर श्रीजानकीजी पुलकित हो गईं और उनके प्रेमाश्रु चल पड़े।

'कंटक काढ़े' इस वाक्य पर यह भाव भी अंतर्भूत कहा जाता है कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजी भी नहीं हैं, एकान्त-स्थल है। श्रीजानकीजी के चरणों के कंटक भी श्रीरामजी ने निकाले हैं, इससे 'बिलंब सों' भी कहा गया है। प्रियतम का ऐसा स्नेह देख कर श्रीजानकीजी के हृदय में अत्यन्त प्रेम हुआ, वह पुलक और प्रेमाश्रु से प्रकट है।

इस पद में प्रिया-प्रीतम में परस्पर प्रीति की अतिशयता कही गई है। श्रीचरणों में कंटक-गड़ने के प्रसंग अन्यत्र भी हैं; यथा—"स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः॥" (भाग० ९। ११।१९); अर्थात् तदनन्तर जिन चरणों में दण्डकवन के काँटे गड़े थे, उन कल्याणकारी चरणों को अपना स्मरण करनेवाले भक्तों के हृदयों में स्थापित कर आप (श्रीरामजी) परमधाम पधारे।

[१३]

ठाढ़े हैं नौद्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे, कर सायक लै।
बिकटी भृकुटी बड़री अखियाँ, अनमोल कपोलन की छबि है॥
तुलसी अस मूरति आनि हिये जड़ डारिहौं प्रान निछावरि कै।
श्रम सीकर साँवरी देह लसै मानो रासि महातम तारक मै॥

अर्थ—श्रीरामजी किसी नवीन वृक्ष की डाल पकड़ कर खड़े हुए हैं; कंधे पर धनुष धारण किये हुए हैं और हाथ में बाण लिये हुए हैं। उनकी भौंहें टेढ़ी हैं, बड़ी-बड़ी आँखें हैं और कपोलों की छवि तो अमूल्य है। पसीने की बूँदों से उनका साँवला शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा है, मानों नक्षत्र मय महान् तमोराशि मय (भादो की अंधेरी रात) हो; श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसी मूर्ति को हृदय में लाकर उस पर, मैं अपने इन जड़ प्राणों को निछावर कर डालूँगा।

विशेष—'ठाढ़े हैं नव द्रुम…'—श्रम निवारणार्थ नवीन वृक्ष की डाल

पकड़ कर उसके सहारे खड़े हैं, उस समय की शोभा का यहाँ वर्णन है। बाएँ कन्धे पर धनुष और दाहिने हाथ में बाण है; यथा—"कर सर धनुष बाम वर काँधे।" (मा० बा० २४३)।

'बिकटी भृकुटी…'—भौंहें कामदेव के धनुष के समान टेढ़ी हैं; यथा—"भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।" (मा० बा० १४६); बड़री अखियाँ; यथा—"नव अंबुज अंबक-छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥" (मा० बा० १४६); "अरुनकंजदल बिसाल लोचन…" (गी० उ० ७); 'अनमोल कपोलन की छबि है'—कपोलों की छवि अमूल्यरत्नादर्श के समान है।

'श्रम सीकर साँवरी देह…'—श्याम शरीर महान् तमोराशि मय (भादौं अमावस्या की घनी अँधेरी रात) के समान है, निर्मल पसीने की बूँदे तारागण के समान चमकती हैं; यथा—"श्रम कन सहित स्याम तन देखे। कहँ दुःख समउ प्रानपति पेखे॥" (मा० अ० ६६)।

'तुलसी असि मूरति…'—ऐसी मूर्ति हृदय में लाकर मैं इन जड़ प्राणों को इन पर निछावर कर दूँगा। प्राणों को जड़ कहा है क्योंकि प्राणों के द्वारा ही इन्द्रियों की विषयों में एवं किसी भी चेष्टा में प्रवृत्ति होती है। इनमें जड़त्व यह है कि इन्हें कितना समझाया जाता है, पर ये समस्त इन्द्रिय वृत्तियों से विषयों में ही लगे रहते हैं, समझते ही नहीं। अब मैं ऐसी मूर्ति को भाग्यवश हृदयस्थल कर पाऊँगा तो इन प्राणों को इनकी समस्त वृत्तियों के साथ इस मूर्ति पर ही निछावर कर दूँगा; यथा—"जानकी जीवन की बलि जैहों। चित कहै राम सीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥ उपजी उर प्रतीति सपनेहु सुख, प्रभु-पद-बिमुख न पैहौं। मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं॥ श्रवननि और कथा नहिं सुनि हौं, रसना और न गैहौं, रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं॥ नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं। यह छर भार ताहि तुली जग जाको दास कहैहौं॥" (वि० १०४)।

यहाँ प्राणों के अर्थ में उनसे नियाम्य इन्द्रियाँ ली गई हैं, इसका प्रमाण छान्दोग्योपनिषद् अ० ५ खंड १ में है, वहाँ चक्षु-श्रोत्र आदि के साथ प्राण से वाद हुआ, उसमें प्राणों के अधीन ही सब इन्द्रियों की प्रवृत्ति सिद्ध हुई। अन्त में कहा गया है—"न वै वाचो न चक्षूँषि न श्रोत्राणि न मनाँसि सीत्याचक्षते

प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ॥" अर्थात् (लोक में समस्त इन्द्रियों को) न वाक् , न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं; परन्तु 'प्राण' ऐसा कहते हैं; क्योंकि ये सब प्राण ही हैं।

अलङ्कार—यहाँ 'श्रम सीकर' और 'साँवरी देह' इन उपमेयों में नक्षत्रों और महातमराशि इन उपमानों की सम्भावना है, इससे 'वस्तूत्प्रेक्षा उक्तास्पदा' है; यथा—"कोकन के बिरहागि की, धूमघटा तम मानु।" (भानु-काव्य प्रभाकर)

कवित्त [१४]

जलज नयन, जलजानन, जटा हैं सिर,
जोवन आगम अंग उदित उदार हैं।
साँवरे-गोरे के बीच भामिनिं सुदामिनि-सी,
मुनि पट धरे, उर फूलनि के हार हैं॥
करनि सरासन सिलीमुख, निषंग कटि,
अतिही अनूप काहू भूप के कुमार हैं।
तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि,
रहैं नर नारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं॥

शब्दार्थ—सिलीमुख = बाण; यथा—"रावन सिर सरोज बनचारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥" (मा० लं० ६०); तथा—"सारंग कर सुंदर निखंग सिलीमुखाकर कटि लस्यौ।" (मा० लं० ८४)। चितेरे=चित्र। उदित=प्रफुल्लित, प्रसन्न। उदार = श्रेष्ठ।

अर्थ—(वनमार्ग के स्त्री-पुरुष श्रीराम-लक्ष्मण और जानकीजी को देखकर कहते हैं—) इनके नेत्र कमल के समान और मुख भी कमल के समान हैं, शिर पर जटाएँ हैं। युवा अवस्था का अभी आगम (प्रारम्भ) हो रहा है, इससे सभी श्रेष्ठ अंग प्रफुल्लित हैं। श्याम वर्ण के (श्रीरामजी) और गौर वर्ण के (श्रीलक्ष्मणजी के) बीच में श्रेष्ठ बिजली के समान कान्तिवाली स्त्री (श्रीजानकीजी) सुशोभित है। ये मुनियों के-से वस्त्र धारण किये हुए हैं और इनके वक्षस्थलों पर फूलों की मालाएँ हैं। इनके हाथों में धनुष और बाण सुशोभित हैं और कमरों में तर्कश विराजमान हैं, इससे जान पड़ते हैं कि किसी राजा के अत्यन्त अनुपम कुमार हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकों

के तिलक रूप इन तीनों को देखकर वे स्त्री-पुरुष (ऐसे स्तब्ध हो गये) मानों चित्रशाला के चित्र हैं।

विशेष—'जोबन आगम···'; यथा—"वय किसोर-सरि-पार मनोहर बयस-सिरोमनि होने।" (गी० अ० २३); यह दोनों भाइयों के लिये कहा गया है, तथा—"सोहैं साँवरे पथिक, पाछे ललना लोनी। दामिनि-बरन गोरी, लखि सखि तृन तोरी, बीती है बय किसोरी, जोबन होनी॥" (गी० अ० २२); "उठति बयस, मसि भीजति, सलोने सुठि, सोभा देखवैया विनु वित्त ही विकै हैं।" (गी० अ० ३७)।

श्रीसीतारामजी एवं श्रीलक्ष्मणजी की नित्य किशोर अवस्था रहती है। किशोर अवस्था ११ वर्ष से १६ तक रहती है। लीलाकाल में भी श्रीरामजी बाल अवस्था से किशोर तक ही बढ़े हैं, फिर वही अवस्था नित्य (पूर्ण आयु) भर रह गई है। इसीसे आप चारो भाइयों के मोछ-दाढ़ी आदि की चर्चा कहीं नहीं है। यही आकृति देखकर यहाँ योवनारम्भ ही कहा गया है; नहीं तो वन-यात्रा के समय इनकी अवस्थाएँ अधिक थीं; यथा—"मम भर्त्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः॥ अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।" (वाल्मी० ३।४७। १०–११); अर्थात् (श्रीजानकीजी ने वनवास यात्रा समय की आयु रावण से कही है—मेरे महातेजस्वी पति की आयु पचीस वर्ष की और मेरी अठारह वर्ष की है।

आधुनिक प्रतियों में 'जोबन आगम' के स्थान पर 'जोवन उमंग' पाठ है। 'जोवन आगम' यह पाठ भागवतदासजी की प्राचीन प्रति का है। उपर्युक्त उदाहरणों के 'वय किसोर सरि पार····' एवं 'जोबन होनी' आदि पदों से 'आगम' का पाठ ही युक्त है।

'भामिनी सुदामिनी-सी'; यथा—"उभय अंतर यक नारि सोही। मनहुँ बारिद विधु बीच ललित अति, राजति तड़ित निज सहज बिछोही॥" (गी० अ० १७); "सोभा को साँचो सँवारि रूप जातरूप ढारि नारि बिरची बिरंचि संग सोही। राजत रुचिर तनु, सुंदर श्रम के कन, चाहे चकाचौंधी लागै, कहा कहौं तोही!।" (गी० अ० २०)।

'भामिनि सुदामिनि-सी' इसमें 'धर्मालुप्तोपमा-अलंकार' है।

'तिलोक के तिलक तीनि'; यथा—"साँवरे गोरे पथिक बीच सोहति अधिक तिहुँ त्रिभुवन-सोभा मनहुँ लुटी।" (गी० अ० २१)।

'रहैं नर नारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं।'; यथा—"साँवरे गोरे किसोर, सुरमुनि चित चोर उभय-अंतर एक नारि सोही।...सखिहि सुसिख दई, प्रेम मगन भई, सुरति बिसरि गई आपनी ओही। तुलसी रही है ठाढ़ी, पाहन गढ़ी-सी काढ़ी; को जानै कहाँते आई, कौन की, कोही।" (गी० अ० १६); "बचन परस्पर कहति किरातिनि पुलकगात, जल नयन बहे, री। तुलसी प्रभुहि बिलोकति एकटक लोचन जनु बिनु पलक लहे, री॥" (गी० अ० ४२)।

अलङ्कार—'दृष्टान्त' है; क्योंकि इस अंतिम चरण में उपमान-उपमेय में साधारण धर्म की समता बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से कही गई है।

[१५]

आगे सोहै साँवरो कुँवर गोरो पाछे-पाछे,
आछे मुनि बेष धरे लाजत अनंग हैं।
बान बिसिषासन, बसन बनही के कटि,
कसे हैं बनाइ नीके राजत निषंग हैं॥
साथ निसिनाथमुखी पाथनाथ नंदिनी-सी,
तुलसी बिलोके चित्त लाइ लेत संग हैं।
आनँद उमंग मन, जोबन उमंग तन,
रूपके उमंग-उमँगत अंग-अंग हैं॥

अर्थ—आगे आगे साँवरे और उनके पीछे-पीछे गोरे राजकुमार उत्तम मुनि वेष धारण किये हुए हैं जिन्हें देखकर कामदेव भी लज्जित होता है। ये दोनों धनुष और बाण लिये हुए हैं तथा वन के बल्कल आदि वस्त्र धारण किये हुए हैं, (उसी वन्य वस्त्र से) कमर में भली भांति बना कर तर्कश कसे हुए हैं, ये अधिक शोभा देते हैं। साथ में सागरसुता श्रीलक्ष्मीजी के समान एक चन्द्रमुखी स्त्री है, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ये तीनों देखने पर (देखने वालों के) मन को अपने साथ लगा लेते हैं। इनके मनों में आनन्द की उमँग है, शरीरो में युवा-अवस्था की उमंग है और रूपके उमंग में तो इनके अंग-अंग उमंग रहे हैं (उल्लसित हो रहे हैं, हुलसित हो रहे हैं)।

विशेष—'आछे मुनिबेष धरे…'–मुनिवेष शान्तरस का उद्दीपक है, वह भी अच्छी प्रकार से धारण किये हैं। उस पर आपके शरीर की स्वाभाविक सुन्दरता पर कामदेव लज्जित होता है; यथा–"आली री! पथिक जे एहि पथ परौं सिधाए। ते तौ राम लखन अवध तें आए॥ संग सिय सब अंग सहज सोहाए। रति, काम, ऋतुपति, कोटिक लजाए॥" (गी० अ० ३६); इसी वेष पर दण्डक-वन के ऋषि मोहित हो गये; यथा–"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव। आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥" (वाल्मी० ३ । १।१३–१४); अर्थात् वनवासी श्रीरामजी का सुडौल शरीर, सुन्दरता, सुकुमारता तथा सुवेषता देखकर वे (ऋषि) विस्मित हुए। वनवासी ऋषि तथा पशुपक्षी आदि भी अनिमिष नेत्रों से रामजी, लक्ष्मणजी और जानकीजी को देखकर विस्मित हुए।

'पाथनाथनंदिनी-सी'—श्रीसीताजी की श्रीलक्ष्मीजी के समान शोभा है; यह वनवासियों का कथन है, वे इत नाही जानते हैं, वास्तविक शोभा का वर्णन; यथा—"जौं छबि-सुधा-पयोनिधि होई। परमरूपमय कच्छप सोई॥ सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि-पंकज निज मारू॥ येहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता-सुख-मूल। तदपि सकोच-समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥" (मा० बा० २४६-२४७)। मन्दोदरी ने भी कहा है; यथा–"सीतां धर्षयता मान्यां त्वया ह्यसदृशं कृतम्। वसुधाया हि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्॥" (वाल्मी० ६ । १११।२१); अर्थात् (रावण!) तुमने अरुन्धती और रोहिणी से भी मान्य एवं श्रेष्ठ श्री सीताजी का अपमान किया है, यह बुरा किया है। ये सीताजी वसुधा की भी वसुधा (धारण करने वाली) है और श्रीलक्ष्मीजी की लक्ष्मी (पूज्या) हैं।

'बिलोके चित्त लाई लेत संग हैं।'; यथा–"खग-मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही॥" (मा० अ० १२२) ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरस नारि नर धाई॥ होहिं सनाथ जनम फल पाई। फिरहिं दुखित मन संग पठाई॥" (मा० अ० १०८)। "रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥" (मा० अ० ११३)। "हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने। तुलसी-प्रभु किधौं प्रभु को प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने॥" (गी० अ० २३)।

[१६]

सुन्दर बदन सरसीरुह सोहाए नैन,
मंजुल प्रसून माथे मुकुट जटनि के।
अंसनि सरासन लसत सुचि सर कर,
तून कटि मुनिपट लूटक पटनि के॥
नारि सुकुमारि संग जाको अंग उबटि कै,
बिधि बिरचे बरूथ बिद्युत-छटनि के।
गोरे को बरन देखे सोनो न सलोनो लागै,
साँवरे बिलोके गर्ब घटत घटनि के॥

शब्दार्थ—अंसनि = कंधों पर। लूटक पटनि के=रेशमी वस्त्रों की शोभा को लूटने या हरने वाले। घटनि=घटाओं। पटनि (सं पट्ट) = पाट रेशम।

अर्थ— उनके मुख सुन्दर हैं, नेत्र कमल के समान सुहावने हैं, और शिर पर जटाओं के मुकुट हैं, उनमें सुन्दर फूल खोंसे हुए हैं। कन्धों पर धनुष और हाथों में पवित्र बाण तथा कमर में तरकश सुशोभित हैं। मुनिवस्त्र (भोजपत्र एवं वलकल आदि) धारण किए हुए हैं, वे वस्त्र अपनी शोभा से रेशमी वस्त्रों की शोभा का अपहरण करने वाले हैं, (मुनिवस्त्र राजसी वस्त्रों से भी अधिक सुन्दर जान पड़ते हैं)। उनके साथ में एक सुकुमारी नारी है, जिसके अंगों में उबटन लगाकर (उसके झड़े हुए मैल से) ब्रह्माजी ने बिजली के प्रकाश समूह बनाये हैं। गौर वर्ण वाले (श्रीलक्ष्मणजी) का रंग देखने पर (उसकी अपेक्षा) सोना सुन्दर नहीं जान पड़ता और श्याम वर्ण वाले (श्रीरामजी) को देखकर श्याम घटाओं का गर्व घट जाता है।

विशेष—'सुंदर बदन'; यथा—"मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा० बा० २३२); 'सरसीरुह सोहाए नैन' यथा—"सोहत सहज सोहाए नैन। खंजन मीन कमल सकुचत तब जब उपमा चाहत कबि देन॥" (गी० बा० ३२); "नव सरोज लोचन रतनारे॥" (मा० बा० २३२); 'मंजुल प्रसून माथे···'; यथा—"सिरनि जटा मुकुट मंजुल सुमनजुत····" (गी० अ० २०)।

'अंसनि सरासन···'; यथा—"बाम अंग लसत चाप, मौलि मंजु जटा

कलाप। सुचि सर कर, मुनि पट कटि तट कसे निषंग।" (गी० अ० १७); बाण को शुचि इससे कहा है कि यहाँ शृंगार रूप में है, प्रहारार्थ नहीं। तथा "अंसनि चाप, तून कटि मुनिपट, जटा मुकुट बिच नूतन पात। फेरत पानि सरोजनि सायक, चोरत चितहि सहज मुसुकात॥" (गी० अ० १५); इत्यादि।

'नारि सुकुमारि···'; यथा—"ऐसी ललना सलोनी न भई, न है, न होनी, रत्यों रची बिधि जो छोलत छबि छूटी॥" (गी० अ० २१)। जिनकी देह की छूटी हुई मैल से बिजली समूह में कान्ति प्राप्त है, तब उनकी कान्ति को क्या कहना है? अर्थात् वह अत्यन्त सुन्दरी हैं।

'गोरे को बरन देखे···'—श्रीलक्ष्मणजी की गोराई के समक्ष सोना फीका पड़ जाता है; यथा—"राजकुंवर दोउ सहज सलोने। इन्हते लहि दुति मरकत सोने॥" (मा० अ० ११५); 'साँवले बिलोके गर्व···'; यथा—"मदन मोर के चंद्र की झलकनि निदरति तनु जोति। नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघुमति होति।" (गी० बा० १६); "नीलकंज जलदपुंज मरकतमनि सरिस स्याम, कामकोटि सोभा अँग अंग उपर बारी॥" (गी० बा० २२)।

अलंकार—'गोरे को···'—इस चरण में उपमेय की अपेक्षा उपमान में लघुता कही गई है, इससे 'प्रतीप का तीसरा भेद' है।

लक्षण—"जहँ बरनत उपमेय ते, हीनो करि उपमान। तीछन नैन कटाक्ष ते, मन्द काम के बान॥" (काव्य प्रभाकर, भानु)।

'सरसीरुह सोहाए नैन' इसमें 'वाचक-धर्म-लुप्तोपमा' है।

[१७]

बल्कल-बसन, धनुबान पानि, तून कटि,
　　　　रूप के निधान, घन-दामिनी-बरन हैं।
तुलसी सुतीय संग सहज सुहाए अंग,
　　　　नवल कँवलहू तें कोमल चरन हैं॥
औरै सो बसंत, औरै रति, औरै रतिपति,
　　　　मूरति बिलोके तन-मन के हरन हैं।
तापस बेषै बनाए, पथिक पथे सोहाए,
　　　　चले लोक लोचननि सुफल करन हैं॥

अर्थ—बल्कल (भोजपत्र आदि) के वस्त्र धारण किये, हाथों में धनुषबान लिए और कटि भाग में तरकश कसे हुए (दोनों श्रीराम-लक्ष्मण) रूप के स्थान (क्रमशः) मेघ और बिजली के रंग के हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि साथ में सुन्दरी स्त्री है, उसके अंग स्वाभाविक ही सुन्दर हैं (उन्हें भूषण आदि की अपेक्षा नहीं है) और चरण तो नवीन कमल से भी अधिक कोमल हैं। श्री-लक्ष्मणजी मानो दूसरे वसंत श्रीसीताजी दूसरी रति और श्रीरामजी दूसरे कामदेव हैं, इन तीनों की मूर्त्तियाँ अवलोकन करने पर तन और मन का हरण करने वाली हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये तीनों-बसन्त, रति और काम—तपस्वियों के-से शोभायमान वेष बनाये हुए पथिक रूप से मार्ग में लोगों की आँखों को सफल करने के लिए चले हैं।

विशेष—'बल्कल बसन…'—भोजपत्र आदि वस्त्र धन-दामिन वर्ण वाले रूप की कान्ति पा रेशमी वस्त्र सरीखे लगते हैं, तापस वेष में विशेष-विशेष अंग खुले होने से रूप-लावण्य निरावरण देख पड़ता है, इससे रूप के निधान भी कहा गया है। उपर्युक्त पद १–२ एवं १६ के 'मुनिपट लूटक पटनि के' इनके विशेषों में भाव लिखे गये ।

'नवल कँवल हू ते…'—ऐसे कोमल चरण इस कठोर भूमि पर चलने योग्य नहीं हैं, यह इसके कथन का भाव है; यथा—"मृदु पद कमल कठिन मग जानी। गहबरि हृदय कहइ बर बानी॥ परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥ जौं जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥" (मा० अ० १२०)।

'औरै सो बसंत…'—कामदेव आदि देव रूप हैं और ये मनुष्य रूप में राजकुमार हैं, परन्तु शोभा में समता है, इससे कहते हैं कि मानों ये वसन्त आदि आज और ही रूप बनाये हुए हैं।

अलङ्कार—इस चरण में तद्रूप सम रूपक' है; क्योंकि विना निषेध उपमान से समता कही गई है।

'मूरति बिलोके तन-मन के हरन हैं'—उपर्युक्त पद १५ के 'त्रिलोके चित्त लाइ लेत संग हैं' इसके विशेष में इसके उदाहरण लिखे गये। इन मूर्त्तियों को देखकर इन पर मुग्ध हो शरीर सारी इन्द्रियों से इनकी सेवा में लग

जाता है और मन स्नेह से आसक्त हो जाता है; तथा—"इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥" (मा० बा० २१५); पद १३ के 'तुलसी असि मूरति···' इसके विशेष में तन के हरण के भाव लिखे गये। तथा—"सुनत न सिख लालची बिलोचन एतेहु पर रुचि रूप लोभाने। तुलसि-दास इहै अधिक कान्ह पहिं, नीके ई लागत मन रहत समाने॥" (कृष्ण गीतावली ३८); "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥" (भाग० १।७।१०); अर्थात् आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनि जन भी श्रीहरि में अहैतुकी भक्ति किया करते हैं, क्योंकि भग-वान् में गुण ही ऐसे हैं; एवं—"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१६); अर्थात् हे भारत! जो मूढ़तारहित पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है, वही सर्वभाव से मुझको भजता है।

'तापस बेषै बनाए···'—यों तो अयोध्या के समीपी ही देख पाते थे। अब तपस्वी बनकर सुहावने वेष से समस्त लोक के वन मार्ग आदि के सभी लोगों को अपनी शोभा दिखा कृतार्थ करने चले हैं। आपके दर्शन से ही नेत्र सफल होते हैं; यथा—"जाइ देखि आवहु नगर, सुख निधान दोउ भाइ। करहु सुफल सब के नयन, सुंदर बदन देखाइ॥ मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन सुखदाता॥" (मा० बा० २१८); "होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव-मोचन॥" (मा० अर० ६); "निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥" (मा० उ० ७४)।

अलंकार—इस चौथे चरण में जनु-मनु आदि वाचक शब्दों के विन उत्प्रेक्षा की गई है, इससे 'गम्योत्प्रेक्षा' है।

[१८]

दुर्मिल-सवैया

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच, बिलोकहु, री सखी! मोहिँ-सी ह्वै।
मग जोग न, कोमल क्यों चलिहैं? सकुचाति मही पद पंकज छ्वै॥
तुलसी सुनि ग्रामबधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥

अर्थ—[वनमार्ग-निवासिनी कोई स्त्री अन्य स्त्रीगण से कहती है—] अरी सखी ! साँवरे और गोरे राजकुमार के बीच में एक स्त्री कैसी बनी (सुशोभित) है, इन्हें मेरे समान (स्नेहमयी दृष्टि) होकर देखो। ये अत्यन्त कोमल हैं, इससे राह चलने के योग्य नहीं हैं, ये कैसे चलेंगे ? इनके चरण कमलों को छूकर पृथ्वी भी (अपनी कठोरता पर) सकुच जाती है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (उस स्त्री की बात) सुनकर सारी ग्राम की स्त्रियाँ शिथिल हो गईं, उनके शरीर पुलकित हो गये और नेत्रों से प्रेमाश्रु गिरने लगे। (फिर सब कहने लगीं, कि) ये दोनों राजा के लड़के सब प्रकार मनोहर, मोहित करनेवाले और अनुपम हैं।

विशेष—'मग जोग न···सकुचाति मही···'—उपर्युक्त पद १७ के 'नवल कँवलहू ते···' इसके विशेष में भाव एवं उदाहरण लिखे गए। इसमें कोमलता का वर्णन है।

'ग्रामबधू बिथकीं···'; यथा—"बहुरि बिलोकिबे कबहुँक, कहत तनु पुलक, नयन जलधार बही। तुलसी प्रभु सुमिरि ग्राम जुवती सिथिल, बिनु प्रयास परी प्रेम सही ॥" (गी० अ० ३८); अर्थात् प्रेम की यही ठीक दशा है।

'सब भाँति मनोहर···'—जो अंग जैसा चाहिये, वैसा ही है, सभी अंग मन का हरण करने वाले हैं। अनुपम मोहन रूप है, इसमें लोकोत्तर सुन्दरता कही गई है।

[१८]

मत्तगयंद सवैया

साँवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मैन लियो है।
बान कमान निषंग कसे, सिर सोहैं जटा, मुनि बेष कियो है॥
संग लिये बिधु बैनी बधू रतिहू जेहि रंचक रूप दियो है।
पाँयन तौ पनही न, पयादेहि क्यों चलिहैं ? सकुचात हियो है॥

अर्थ—ये साँवरे और गोरे (राजकुमार) स्वभाव से ही बड़े सुन्दर हैं, इन्होंने अपनी मनोहरता से कामदेव को भी जीत लिया है। ये दाहिने हाथों में बाण और बाएँ कंधों पर धनुष लिए और कमर में तरकश कसे हुए हैं, इनके शर पर जटाएँ सुशोभित हैं और इन्होंने मुनियों का-सा बेष धारण किया है।

साथ में चन्द्रबदनी (चन्द्रमुखी) स्त्री लिए हुए हैं, जिसने (कामदेव की स्त्री) रति को भी अपने रूप का थोड़ा-सा अंश दे रक्खा है (उसी से उसमें सुन्दरता है,) । इनके चरणों में तो जूते भी नहीं हैं, भला, ये पैदल ही कैसे चलेंगे ? यह विचार कर हृदय सकुच जाता है ।

विशेष—'मनोहरता जिति मैन लियो है'; यथा—"ते तौ राम-लखन अवध तें आए ॥ सँग सिय सब अँग सहज सोहाए । रति, काम, रितुपति कोटिक लजाए ॥" (गी० अ० ३६); "आगे राजिव नैन स्यामतनु सोभा अमित अपार । डारौं वारि अंग-अंगनि पर कोटि कोटि सत मार ।।" (गी० अ० २६) ।

'संग लिये बिधु बैनी बधू'''—'बैनी' यह पद 'बदनी' का तद्भव रूप है । 'रतिहू जेहि'''; यथा—"ऐसी ललना सलोनी न भई, न है, न होनी, रत्यो रची बिधि जो छोलत छबि छूटी ।।" (गी० अ० २१); "सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिअमय कियो है दही री । मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहुँ मही री ।''''''रूप रासि बिरची बिरंचि मनो सिला लवनि रति काम लही री ॥" (गी० बा० १०४) । भाव यह कि रति का रूप इस बधू के समक्ष इसका रत्ती मात्र है ।

'पाँयन तौ पनही न'''—इसका दुःख श्रीभरतजी में देखिये; था; यथा—"सुनि बन गवन कीन्ह रघुनाथा । करि मुनि बेष लखन सिय साथा ।। बिनु पानहिन पयादेहि पाये । संकर साखि रहेउँ एहि घाये ।।" (मा० अ० २६१) । 'क्यों चलिहैं''''; यथा—"एहि बिधि कहि-कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर । किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर ।।" (मा० अ० १२०) । इस पद में लावण्य और सौकुमार्य कहे गये हैं ।

अलंकार—'प्रतीप का तीसरा भेद'–तीसरे चरण में; क्योंकि उपमान की हीनता कही गई है ।

[२०]

रानी मैं जानी अयानी महा, पवि-पाहन हू ते कठोर हियो है ।
राजहु काज-अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जेहि कान कियो है ।।
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है ? ।
आँखिन में, सखि ! राखिबे जोग, इन्हैं किमि कै बनबास दियो है ? ।।

अर्थ—मैंने जान लिया कि रानी कैकेयी महान् बुद्धिहीन है, उसका हृदय वज्र और पत्थर से भी कठोर है (; क्योंकि ऐसे सुकुमारों को वन भेजने में द्रवीभूत नहीं हुआ)। राजा दशरथ ने भी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य नहीं समझा; जिन्होंने स्त्री के कहे हुए (अनर्थमय वचन) पर कान दिया है (सुनकर मान लिया है)। इनकी ऐसी मनोहर मूर्त्ति है। अतः, इनका वियोग होने पर इनके प्रियतम लोग भला कैसे जीते होंगे? हे सखि! ये तो आँखों में रखने के योग्य हैं, इन्हें कैसे वनवास दिया गया है?

विशेष—'रानी मैं जानी अयानी…'; यथा—"सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहु पछितानी॥" (मा० अ० २०६)।

'राजहु काज-अकाज न जान्यो…'; यथा—"एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बर बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥ जो हठि भयउ सकल दुख भाजन। अबला बिबस ज्ञान-गुन गा जनु॥" (मा० अ० ४७)। प्रजा का रञ्जन करना राजा का कार्य है और प्रजा को पीड़ा देना अकार्य है; यथा—"रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते॥" (महा० शान्ति० ५६।१२५); अर्थात् प्रजापुञ्ज के मन को प्रसन्न करना राजा का कार्य है। राजा दशरथ के इस कार्य से प्रजा दुःखी हुई। अतएव उन्हें ऐसा नहीं करना था, स्त्री की बात अपने स्वरूप के विरुद्ध होने से नहीं माननी थी [इन लोगों को यह नहीं ज्ञात है कि राजा ने सहसा राम-शपथ कर ली थी, इससे यदि कैकेयी के वर देने में अन्यथा करते तो श्रीरामजी का ही अकल्याण होता; उससे स्पष्ट विशेष धर्म पर बाधा पड़ती। अतएव भावी वश होकर भी राजा ने उचित ही किया है]।

'ऐसी मनोहर…बिछुरे कैसे…'; तथा—"कैसे पितु मातु प्रिय परिजन भाई। जीवत जीव के जीवन बनहिं पठाई॥" (गी० अ० ४०); "जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु-पितु जीहहिं कैसे।" (मा० अ० ९९)।

'आँखिन में सखि राखिबे जोग…'; यथा—जौं माँगा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहि सखि आँखिन्ह माहीं॥" (मा० अ० १२०); आँख में अत्यन्त कोमल वस्तु ही रक्खी जा सकती है। अतः, इन्हें अत्यन्त कोमल जनाया। इससे ये वनवास के योग्य तो कभी नहीं हो सकते, फिर कैसे इन्हें वनवास दिया गया है।

[२१]

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल तिरीछी-सी भौंहैं।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं॥
सादर बारहिं-बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामबधू सिय सों "कहो साँवरो-से, सखि! रावरो कोहैं?"॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीसीताजी से ग्राम की स्त्रियाँ पूछती हैं—"जिनके शिर पर जटा है, वक्षःस्थल और बाहुएँ लम्बी हैं, नेत्र लाल रंग के हैं और भौंहें तिरछी हैं। जो धनुष और बाण तथा तरकश धारण किये हुए वन के मार्ग में बड़ी शोभा पा रहे हैं। स्वभाव से ही जो आदरपूर्वक बार-बार तुम्हारी ओर देखते हैं, त्यों ही हमारे मन को मोहित कर लेते हैं, हे सखि! कहिये, ये साँवरे-से कुमार आपके कौन होते हैं?

विशेष—'उर बाहु बिसाल'; यथा—"महोरस्को······आजानुबाहुः····" (वाल्मी० १।१।१०); अर्थात् श्रीरामजी की छाती बड़ी चौड़ी है और उनकी बाहुएँ घुटने तक लम्बी हैं। तथा—"पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥" (वाल्मी० १।१।११); अर्थात् उनकी छाती चौड़ी और मोटी है। यहाँ 'बिसाल' पद में चौड़ाई और मोटाई दोनों आ गई हैं। 'तिरीछी-सी भौंहैं'—श्रीरामजी की भौंहें चढ़े हुए धनुष के समान टेढ़ी हैं, जैसे औरों की भौंहें क्रुद्ध होने पर होती हैं; यथा—"मुकुर निरखि मुख राम भ्रू, गनत गुनहिं दै दोष। तुलसी से सठ सेवकनि, लखि जनि परइ सरोष॥" (दोहावली १८७)।

'सादर बारहिं बार सुभाय···'—इनकी स्वाभाविक ही पवित्र दृष्टि है, इससे ये आदरपूर्वक बार-बार दूसरी स्त्रियों की ओर दृष्टि न कर एक आप ही की ओर देखते हैं। इनकी इस पवित्र निष्ठा पर हमारा मन मोहित हो जाता है, आप ही की ओर क्यों देखते हैं, इस आकांक्षा पर हम सब जानना चाहती हैं कि ये आपके कौन लगते हैं? आपने इन्हें कैसे वश कर रक्खा है?

श्रीरामजी एकपत्नी व्रत हैं; यथा—"एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।" (भाग० ९।१०।५५); अर्थात् श्रीरामजी एकपत्नी व्रत-निष्ठा धारण करने वाले हैं और राजर्षियों के-से आचरण करते हैं। एवं—"तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थकम्।" (वाल्मी० ५।२८।१३); अर्थात् श्रीरामजी के एक मैं ही पत्नी हूँ, वे

एकपत्नी व्रत हैं। इस निष्ठा से श्रीरामजी पर स्त्री की ओर नहीं देखते; यथा—"मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥" (मा० बा० २३०); तथा—"न रामः पर दारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति॥" (वाल्मी० २।७२।४८); अर्थात् (शत्रु रूप में बैठी हुई कैकेयी जी श्रीभरतजी के पूछने पर कहती हैं—) श्रीरामजी पर स्त्रियों को तो आँखों से भी नहीं देखते।

शूर्पणखा जब रुचिर रूप धारण कर श्रीरामजी पर मोहित होकर आई, तब उसने अपनी आसक्ति, चेष्टा एवं वचन से प्रकट की, उस समय भी श्रीरामजी ने श्रीसीताजी की ओर दृष्टि रखते हुए ही उसे उत्तर दिया है; यथा—"सीतहि चितय कही प्रभु बाता।" (मा० अर० १६); श्रीसीताजी की पवित्र पातिव्रत्य-निष्ठा पर एवं तदनुसार अपने एकपत्नी व्रत-निष्ठा पर दृष्टि रखते हुए श्रीरामजी का मन श्रीसीताजी से पृथक् नहीं जाता; यथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहिं माहीं॥" (मा० सुं० १४); तथा—"मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। प्रिया तु सीता रामस्य दारा पितृकृता इव॥" (वाल्मी० १।७७।२६); अर्थात् मनस्वी श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजी से बहुत प्रेम करते थे। उन्होंने अपना हृदय उनको दे दिया था। श्रीरामजी को श्रीसीताजी इससे प्यारी थीं, कि पिता ने उनको स्त्री रूप में दिया था।

श्रीरामचरित मानस में भी यह प्रसंग आया है; यथा—"राजकुँवर दोउ सहज सलोने। इन्हते लहि दुति मरकत सोने॥ स्यामल गौर किसोर बर, सुंदर सुषमा अयन। सरद सर्बरीनाथ मुख, सरोरुह नयन॥ कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥" (अ० ११५-११६); इसमें 'कोटि मनोज लजावनि हारे।' इस पद से सूचित किया है कि हम लोग इन पर निछावर हैं, तव भी ये आपकी ही ओर देखते हैं, अन्य स्त्रियों की ओर देखते भी नहीं, इससे हम सब आपका और इनका सम्बन्ध जानना चाहती हैं।

आगे पद में श्रीजानकीजी का प्रति-उत्तर है—

दुर्मिल-सवैया [२२]

सुनि सुंदर बैन सुधारससाने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥

तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिकसीं मनो मंजुल कंज-कली॥

अर्थ—(ग्राम की स्त्रियों के) अमृत रस से सने हुए सुन्दर वचन सुनकर श्रीजानकी जी ने जान लिया कि ये सब अच्छी चतुरा हैं। अतः आँखों को तिरछी कर उन्हें सङ्केत से ही कुछ समझा कर मुसुकरा-चलीं; अर्थात् मुसुकुरा दिया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय नेत्रों के लाभ रूप श्रीसीताजी श्रीरामजी को देखती हुई वे ग्राम-स्त्रियाँ ऐसी शोभित होती हैं; मानो सूर्य का उदय होने पर अनुराग रूपी सरोवर में मनोहर कमलों की कलियाँ खिल गई हों।

विशेष—'सुनि सुंदर बैन सुधारस साने···'—बचन चतुरता एवं हास्य रस युक्त और गूढ़ एवं श्रवण रोचक होने से सुन्दर हैं। स्नेह मय और शृंगार रस से सने होने से अमृत समान हैं। शृंगार रस आस्वादन में मधुर होने से मधुर रस भी कहा जाता है, मधुर एवं प्रिय होने से इसे सुधा समान कहते हैं; यथा—"एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ सीतहिं पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुंदर॥···रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किए श्रुति सुधा समाना॥" (मा० अर० १-२); यहाँ पर श्रीरामजी की शृंगार क्रीड़ा में विघ्न करने पर जयन्त को दंड दे शरण में लिया गया है, तत्पश्चात् उसी शृङ्गार रस के चरित को सुधा समान कहा गया है; तथा—"सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महँ मुसुकानी॥" (मा० अ० ११६)। 'सयानी हैं···'—श्रीजानकीजी ने जान लिया कि ये सब क्रिया-विदग्धता में निपुण हैं। अतः सङ्केत से समझाने पर समझ जायँगी। पति के समीप मे ही पति-सम्बन्धी परिचय की वार्ता कैसे करें? इससे सङ्केत में ही सकझाने लगीं।

'तिरछे करि नैन···'—तिरछे नेत्रों के सङ्केत से कैसे सकझाया, यह प्रसंग श्रीरामचरित मानस के शब्दों में कुछ स्पष्ट किया गया है; यथा—'बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तनु चितइ भौंह करि बाँकी॥ खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि॥" (अ० ११६); अर्थात् तिरछे नेत्रों से पति श्रीरामजी की ओर देख फिर अपने हृदय की ओर सङ्केत कर भौंह एवं नेत्र के द्वारा अपने हृदय का हार सूचित किया। 'भौंह करि बाँकी'

एवं 'तिरीछे नयननि' इन वाक्यों से यह समझाया कि मैं इनकी भौंह रूपी कमान की तिरछी चितवन रूपी बाण से वश हूँ और ये मेरी कटाक्ष के वश हैं। अतः, ये मेरे अनुकूल नायक हैं और मैं स्वाधीनपतिका हूँ। इस प्रकार क्रिया चातुरी से अपना दम्पति सम्बन्ध कहा, इस पर संकोच से मुसुकुरा दिया। इनके दाम्पत्य प्रेम की अनुपम छटा देखकर उन ग्राम बधुओं को अत्यन्त आनन्द हुआ, यह आगे चरण में कहते हैं—

'तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै···'—इन दम्पति के पवित्र सम्बन्ध एवं भाव पर सब मुग्ध हो गईं। दम्पति-आदर्श रूप इनकी झाँकी ही नेत्रों का परम लाभ है, ऐसा मानकर दर्शन करने लगीं; यथा—"भईं मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह राय रासि जनु लूटी ॥" (मा० अ० ११६); अर्थात् जैसे दरिद्र लोग धन की राशि लूटने पर तड़फड़ गिरते हैं, वैसे ही उन सबकी ताबड़तोड़ दृष्टि पड़ रही है; वे सब इस पवित्र आदर्श दाम्पत्य की दरिद्रा थीं, आज उन्हें यह आदर्श रूपी धन की राशि मिल गई, इसे परमलाभ मानकर दृष्टि द्वारा लूट रही हैं, यदि इस आदर्श का किञ्चित अंश भी प्राप्त होगा तो कृतार्थ हो जायँगी।

'अनुराग तड़ाग में भानु···'—यहाँ ग्राम-वधुओं का अनुराग सरोवर के समान है। श्रीरामरूप सूर्य और साथ में श्रीसीताजी सूर्य की पतिव्रता अर्द्धाङ्गी सुवर्चला के समान हैं; यथा—"धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा। तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ (वाल्मी० २।३०।३०); अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीसीताजी से वनयात्रा समय कहा है—हे सुन्दरि ! पतिव्रता के साथ पति के बर्ताव रूपी धर्म का पहले के सज्जनों ने जैसा आचरण किया है, मैं उसका अनुसरण करूँगा। अतः सुवर्चला जिस प्रकार सूर्य का अनुगमन करती है, वैसे ही तुम मेरा अनुगमन करो। अतः 'भानु' पद में श्रीसीताजी का भी भाव है। ग्राम-स्त्रियाँ इन दोनों दम्पति पर मुग्ध हैं। उन स्त्रियों के नेत्र सुन्दर कमलकली के समान विकसित हैं। जैसे खिले हुए सुन्दर कमलों से तालाब सुशोभित होता है, वैसे यकटक प्रीतिपूर्वक अवलोकन से इन स्त्रियों के अनुराग की शोभा है।

अलङ्कार—यहाँ 'उत्प्रेक्षा' के अन्तर्गत 'रूपक' है।

विवरण—यहाँ उपमान-उपमेय में सम कल्पना एवं 'मानो' इस पद के योग से 'उत्प्रेक्षा' है और 'अनुराग तड़ाग' आदि में रूपक है।

[२३]

धरि धीर कहैं "चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं।
कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं॥
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं"।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं॥

अर्थ—(वे ग्राम-बधूटियाँ) धैर्य धारण कर (आपस में) कहती हैं—"हे सजनी ! चलो, जहाँ ये रात को रहेंगे, वहाँ जाकर देखें। इससे संसार हम लोगों को बुरा कहेगा (कि परपुरुष देखने गई) तो इसकी चिन्ता नहीं; नेत्र तो अपना फल पा जायँगे। और फिर, इनकी मधुर बातों को सुनकर कान सुख पायेंगे; (हम सबसे न सही) आपस में तो कुछ अवश्य ही कहेंगे।" श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अत्यन्त प्रेम से उनकी आँखों की पलकें बन्द हो गईं; श्रीरामजी उनके हृदय में हैं, यह देखकर वे पुलकित हो गईं।

विशेष—'धरि धीर कहैं....'—श्रीराम-लक्ष्मण और सीताजी की शोभा देखकर पहले अत्यन्त प्रेम से विह्वल हो गई थीं—उपर्युक्त पद १४ के 'तुलसी विलोकि कै...रहैं नर नारि....' इनके विशेष में उदाहरण लिखे गये। फिर धैर्य धर कर कहने लगीं; यथा—"पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरज धरि स्तुति कीन्हीं।" (मा० कि० १)। 'कहिहै जग पोच न सोच कछू'—जगत् की निन्दा-स्तुति सामान्यधर्म के सम्बन्ध की है और इनके दर्शन विशेष धर्म के अंग हैं। अतः, इसकी चिंता नहीं; यथा—"करइ स्वामि हित सेवक सोई दूषन कोटि देइ किन कोई॥" (मा० अ० १८५)। 'फल लोचन आपन...'—उपर्युक्त पद १७ के 'तापस बेषै बनाइ...' इसके विशेष में इसके उदाहरण लिखे गये।

'सुख पाइहैं कान सुने...'—श्रीरामजी एवं श्रीलक्ष्मणजी के वचन यदि धीरे-धीरे भी होते हैं, तो भी मधुर और गम्भीर एवं श्रवण प्रिय होते हैं; यथा—"भाई सों कहत बात कौसिकहिं सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं॥" (गी० बा० ७१); काक भुशुंडीजी ने इन वचनों का अनुभव करके कहा है; यथा—"प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तन पुलकित मन अति हरषाऊँ॥

सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥ (मा० उ० ८७)। 'कल' यह 'बतियाँ' का विशेषण है, कल का अर्थ मधुर होता है।

'अति प्रेम लगीं पलकें....'—अत्यन्त प्रेम से गाढ़ स्मृति होने से ध्यान लग गया, श्रीरामजी के हृदयस्त होने पर उसे अत्यन्त आनन्द हुआ, इससे पुलकावली हो आई; यथा—"तुलसिदास यहि भाँति मनोरथ करत प्रीति अति बाढ़ी। थकित भई उर आनि राम छवि मनहुँ चित्र लिखि काढ़ी॥" (गी० अ० ५५); "मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥" (मा० अर० ६); "एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥" (मा० अ० ११३)।

सुन्दरी-सवैया [२४]

पद कोमल, स्यामल गौर कलेवर, राजत कोटि मनोज लजाए।
कर बान सरासन, सीस जटा, सरसीरुह लोचन सोन सुहाए॥
जिन्ह देखे, सखी! सतभायहु ते तुलसी तिन्ह तौ मन फेरि न पाए।
येहि मारग आजु किसोर बधू बिधु बैनी समेत सुभाय सिधाए॥

अर्थ –(एक सखी दूसरी से कहती है—) अरी सखी! इस मार्ग से आज एक चन्द्रमुखी स्त्री के साथ दो किशोर अवस्था के (राजकुमार) स्वाभाविक रीति से गये हैं, उनके चरण बड़े कोमल थे, वे श्याम और गौर शरीर वाले करोड़ों कामदेवों को लज्जित करते हुए शोभायमान हो रहे थे। उनके हाथों में बाण और धनुष थे, शिर पर जटाएँ थीं और शोण (लाल) रंग के कमल के समान शोभायमान उनके नेत्र थे। जिन्होंने उन्हें सहज स्वभाव से भी देख लिए थे, (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—) उन्होंने फिर उनकी ओर से अपने मन लौटा नहीं पाये।

विशेष—'पद कोमल, स्यामल...'; यथा—"स्यामल गौर किसोर बर, सुंदर सुखमा अयन। सरद सर्वरी नाथ मुख, सरद सरोरुह नयन॥ कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥" (मा० अ० ११६)।

'सतभायहु ते'—सहज ही, प्रेमपूर्वक नहीं।

'तिन्ह तौ मन फेरि न पाए'—विना प्रेम भी जो उनकी ओर देखता है, उसका मन उनकी ओर आकर्षित हो जाता है, उनके स्वरूप में ऐसा लावण्य

है; यथा—"ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरस नारि-नर धाई ॥ होहिं सनाथ जनम फल पाई। फिरहिं दुखित मन संग पठाई ॥" (मा० अ० १०८)। "रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहि संग लागे ॥" (मा० अ० ११३); तथा—"चन्द्रकान्ताननं राममतीवप्रियदर्शनम् ॥ रूपौदार्यगुणैः पुंसांदृष्टिचित्तापहारिणम् ।" (वाल्मी० २।३।२८-२९); अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाले प्रियदर्शन श्रीरामजी को जो अपनी सुन्दरता से पुरुषों की आँखों का तथा उदारता आदि गुणों से चित्त का हरण करने वाले हैं।

'बिधु बैनी'—इसमें 'बैनी' पद 'बदनी' का तद्भव रूप है। बदनी का बयनी होकर बैनी लिखा गया है, जैसे बीज का बिया, सीता का सीया, दीप का दिया एवं लोचन का लोयन आदि शब्द होते हैं। यहाँ ग्रामीणों के मुख से ऐसे शब्द रोचक लगते हैं।

[२५]

मुख पंकज, कंज बिलोचन मंजु, मनोज-सरासन-सी बनी भौंहें।
कमनीय कलेवर, कोमल, स्यामल गौर किसोर, जटा सिर सोहैं ॥
'तुलसी' कटि तून, धरे धनु बान, अचानक दृष्टि परी तिरछौहैं।
केहि भाँति कहौं, सजनी ! तोहि सों, मृदु मूरति द्वै निवासीं मन मोहैं ॥

अर्थ—उनके मुख कमल के समान और आँखें भी कमल के समान मनोहर थीं तथा कामदेव के धनुष के समान टेढ़ी भौंहें सुशोभित थीं। उनके शरीर अत्यन्त सुन्दर, सुकुमार और किशोर अवस्था वाले श्याम-गौर वर्ण के थे, शिर पर जटाएँ सुशोभित थीं। वे कमर में तरकश कसे हुए थे और हाथों में धनुष-बाण धारण किये हुए थे। जिस समय से उनपर मेरी अचानक तिरछी दृष्टि पड़ गई, हे सखी ! उसी समय से वे दोनों कोमल मूर्त्तियाँ मेरे मन में बस गई हैं, उनका वर्णन मैं तुमसे किस प्रकार करूँ ? ('गिरा अनयन नयन बिनु बानी')।

विशेष—'अचानक दृष्टि परी तिरछौहैं'—लोकलाज के कारण सम्मुख दृष्टि करके नहीं देख सकी। तिरछी दृष्टि भी अचानक जा पड़ी, उससे मेरी जो दशा हो गई, वह कहते नहीं बनती; यथा—"तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम-बिबस सीतापहिं आई ॥ तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलकगात जल नैन।

कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन ॥ देखन बाग कुँवर दुइ आए। वय किसोर सब भाँति सोहाए॥ स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥" (मा० बा० २२८)।

'मृदु मूरति द्वै'—आशक्ति दो ही मूर्त्तियों की सुन्दरता में है, श्रीजानकीजी के रूप पर नहीं; क्योंकि "मोह न नारि नारि के रूपा।" (मा० उ० ११५)।

मृगया क्रीड़ा

मत्त गयंद-सवैया [२६]

प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहि चितै चित दै, चले लै चित चोरे।
लोचन लोल चलैं भृकुटी, कुल काम कमाननि सो तृन तोरे॥
स्याम सरीर पसेउ लसै, हुलसै तुलसी छबि सो मन मोरे।
राजत राम कुरंग के संग, निषंग कसे, धनु सों सर जोरे॥

अर्थ—(श्रीरामजी की मृगया-क्रीड़ा की छबि का वर्णन करते हैं—) प्रेमपूर्वक पीछे श्रीसीताजी की ओर तिरछी दृष्टि से देख कर उन्हें अपना चित्त देकर और उन (श्रीसीताजी) का चित्त स्वयं चुरा कर श्रीरामजी मृगया (शिकार) खेलने चले। उस समय श्रीरामजी के नेत्र चञ्चल थे, इससे उनकी सुन्दर भौंहें चलायमाय हो रही थीं, वे उन पर कामदेव के सुन्दर धनुष भी तृण तोड़ रहे थे (कि कहीं इन पर मेरी नजर न लग जाय)। उनके श्याम शरीर पर (मृगया के श्रम से निकली हुई) पसीने की बूँदें शोभा दे रही थीं, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वह छबि मेरे हृदय को उल्लसित करती है। इस प्रकार श्रीरामजी तरकश बाँधे और धनुष पर बाण चढ़ाये हरिण के साथ (दौड़ते हुए) सुशोभित हो रहे थे।

विशेष—'प्रेम सो पीछे ···' —प्रेमपूर्वक तिरछी दृष्टि से प्रिया की ओर देख कर पहले आपने अपनी चित्त वृत्ति उन्हें दे दी; अर्थात् अपनी आसक्ति प्रकट की, स्वयं मोहित हुए। फिर अपनी शोभा पर प्राण प्रिया की चित्त वृत्ति को भी आकर्षित किया। उनका चित्त चुरा लिया अर्थात् वे आप पर मोहित हुईं। इस प्रकार यहाँ अन्योन्य प्रेमासक्ति प्रकट हुई, इससे 'अन्योन्य अलंकार' है।

'कल काम कमाननि' के स्थान पर भागवतदासजी की प्राचीन प्रति में 'कुल कानि कमाननि' पाठ है, पर शेष सभी में 'कल काम···' ही है। सुन्दर

कामदेव के धनुष भी इन भौंहों की सुन्दरता पर मुग्ध होकर इनपर निछावर हो, इनकी नजर टोना निवारण करने के लिये इन पर तृण तोड़ते थे। अतः भौंहों में अत्यन्त सौन्दर्य है।

'राजत राम कुरंग के संग...'—इस शोभा पर व्यासजी ने भी ऐसी ही आसक्ति प्रकट की है; यथा—"मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥" (भाग० ११।५।३४); अर्थात् प्राणप्रिया की इच्छा पर मायामय कनकमृग का पीछा करने वाले आप महापुरुष के चरणों की मैं वंदना करता हूँ। तथा—"निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सो धावा ॥" (मा० अर० २६)।

'हुलसै तुलसी छबि सो मन मोरे'; यथा—"सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरिन के पाछे। धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे ॥" (गी० अर० ३)।

दुर्मिल-सवैया [२७]

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन-सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै ? ॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है ॥

अर्थ—रामजी वन में शिकार खेलते फिरते हैं, वे सुन्दर सजे हुए चार बाण कमर में बनाकर (सुघरता से) खोंसे हुए हैं और हाथों में धनुष तथा एक बाण लिये हुए हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं किस प्रकार उस छबि का वर्णन करूँ ? उनके उस अपूर्व रूप को देखकर मृगी-मृग चौंक कर चकित हो जाते हैं और फिर ध्यानपूर्वक देखने लगते हैं। वे अपने मन में श्रीरामजी को (चार कमर में और एक हाथ में) पाँच बाण धारण किये हुए कामदेव जानकर न हिलते हैं और न डर कर भागते ही हैं।

विशेष—गीतावली अर० २ में भी इसी छबि का वर्णन है, वहाँ से मिलान करने से कुछ विशेष भाव स्पष्ट हो जायँगे, इससे वह पद लिखा जाता है—

सुभग सरासन-सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे ॥

पीत बसन कटि, चारु चारि सर, चलत कोटि नट सों तृन तोरे ।
स्यामल तनु श्रम-कन राजत ज्यों नव घन सुधा-सरोवर खोरे ॥
ललित कंध, बर भुज, बिसाल उर, लेहिं कंठ रेखैं चित्त चोरे ।
अवलोकत मुख देत परम सुख लेत सरद-ससि की छवि छोरे ॥
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौं हैं तकत सुभौंह सकोरे ।
सोभा अमित समाति न कानन, उमँगि चली चहुँदिसि मिति कोरे ॥
चितवत चकित कुरंग-कुरंगिनि सब भये मगन मदन के भोरे ।
तुलसिदास प्रभु बान न मोचत, सहज सुभाय प्रेम बस थोरे ॥

'न डगैं, न भगैं···'; यथा—"देखत खग-निकर, मृग रवनिन्ह जुत, थकित बिसारि जहाँ-तहाँ की भँवनि ॥" (गी० अ० ५) ।

अलङ्कार—'भ्रान्ति' है; क्योंकि पञ्चबाण एवं रूप की समानता से मृगों को श्रीराम रूप में कामदेव का भ्रम हो गया है ।

[२८]

बिंध्य के बासी उदासी तपो व्रत धारी महा, बिनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि, भे मुनिबृंद सुखारे ॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे ।
कीन्हीं भली रघुनायक जू ! करुना करि कानन को पगु धारे ॥

अर्थ—[श्रीगोस्वामीजी हास्यरस में श्रीरामजी की चरण धूलि का माहात्म्य कहते हैं—] विन्ध्याचल के निवासी महाव्रतधारी तपस्वी, उदासीन विना स्त्री के दुःखी थे। वे मुनिगण इस कथा को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए कि गौतम मुनि की स्त्री अहल्या श्रीरामजी के चरण-रज के स्पर्श से तर गई (पत्थर से सुन्दर दिव्य स्त्री हो गई) । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (उन्होंने कहा—) समस्त शिलाएँ आपके सुन्दर चरण कमल के स्पर्श से चन्द्रमुखी (दिव्य) स्त्रियाँ हो जायँगी। अतः हे रघुनन्दनजी ! आपने अच्छा किया, जो करुणा करके वन को आये हो ।

विशेष—अहल्योद्धार की कथा ग्रन्थकार॰ को बहुत प्रिय है, इसी से केवट संवाद में इसका विशेष वर्णन किया है और फिर यहाँ भी विनोदात्मक रीति से कहा है ।

'बिंध्य के बासी···'—श्रीचित्रकूट गिरि विन्ध्याचल का ही एक अंश है,

वहाँ पर निवास करने वाले महाव्रत धारी अर्थात् वे ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत का धारण करने वाले थे तथा विद्या-अध्ययन रूप तपस्या करते थे और वन में रहने के कारण वे उदासीन वृत्ति से (शत्रु-मित्र भाव रहित = असंग) रहा करते थे। पचीस वर्ष विद्या-अध्ययन हो जाने पर जब उनका वह महाव्रत पूरा हुआ। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का समय आया, तब वे सब दुःखी थे। पहले उदासीन रहने के कारण उनका किसी से सम्बन्ध विशेष नहीं था, अब उनका ब्याह कैसे हो ? इस कारण स्त्री के बिना दुःखी थे।

उन सबने जब यह कथा सुनी कि गौतम की स्त्री श्रीरामजी के चरण-स्पर्श से तर गई। पत्थर से दिव्य देह वाली चन्द्रमुखी स्त्री हो गई और फिर वह मुनि के ही यहाँ रह भी गई। तब उन्होंने बड़ी अभिलाषा से श्रीरामजी के समक्ष जाकर ऐसा कहा—'ह्वै है सिला…'

'कीन्ही भली…'—हम ब्रह्मचारियों पर ही करुणा करके आप इस वन को आये हैं। इस वन के मार्गों में शिलाएँ यों ही बहुत हैं। आपके स्वाभाविक चलने पर भी बहुत-सी स्त्रियाँ होती जायँगी।

(इति अयोध्याकाण्ड)

———

अरण्यकाण्ड

मारीचानुधावन

मत्तगयंद-सवैया [१]

पंचबटी वर पर्णकुटी तर बैठे हैं राम सुभाय सुहाए।
सोहैं प्रिया, प्रिय बंधु लसै, तुलसी सब अंग मनो छबि छाए॥
देखि मृगा मृगनैनी कहे प्रिय बैन, ते प्रीतम के मन भाए।
हेम कुरंग के संग सरासन-सायक लै रघुनायक धाए॥

शब्दार्थ—पंचवटी = रामायण के अनुसार दंडकारण्य के अन्तर्गत नासिक के पास का एक स्थान, जहाँ वनवास में श्रीरामजी ने निवास किया था, श्रीसीताजी का हरण इसी स्थान से हुआ था (सम्भवतः पूर्वकाल में वहाँ पाँच बट के वृक्ष रहे हों,)। पर्नकुटी (पर्णकुटी) = पत्तों की बनी हुई कुटी।

अर्थ—स्वाभाविक ही सुन्दर श्रीरामजी पञ्चवटी में श्रेष्ठ पर्णकुटी के नीचे बैठे हैं, वहाँ पर (साथ में) प्रिया श्रीसीताजी सुशोभित हैं और प्यारे भाई श्रीलक्ष्मण-जी विराजमान हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इनके सब अंग मानो छवि से छाये हुए हैं। उसी समय एक (सोने का) मृगा देखकर मृग के समान नेत्र-वाली श्रीसीताजी ने (उस मृग को लाने के लिये) मीठे वचन कहे, वे वचन प्रिय-तम श्रीरामजी के मन को भी अच्छे लगे। तब रघुनाथजी धनुष-बाण लेकर उस सोने के मृग के साथ (पीछे-पीछे) दौड़ पड़े।

विशेष—'पंचबटी वर···'—यहाँ पर स्वाभाविक बैठे हुए कुछ पवित्र कथा कह रहे थे; यथा—"बैठे हैं राम लखन अरु सीता। पंचबटी बर पर्नकुटी तर कहैं कछु कथा पुनीता ।।" (गी० अर० ३)।

'देखि मृगा मृगनैनी कहे···'; यथा—"कपट–कुरंग कनक-मनि-मय लखि प्रिय सों कहति हँसि बाला। पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला ॥" (गी० अर० ३); तथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग-अंग सुमनोहर बेखा ।। सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुंदर छाला ॥ सत्यसंध प्रभु बधि करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही ॥" (मा० अर० २६)।

'ते प्रीतम के मन भाए। हेम कुरंग ··'; यथा—"प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेम बस गँवहिं चाप सर लीन्हें। चल्यो भाजि फिरि-फिरि चितवत मुनि मख रखवारे चीन्हें ॥" (गी० अर० ३); कैसे भाए ?; यथा—"राघव, भावति मोहि बिपिन की बीथिन्ह धावनि। अरुन कंजबरन चरन सोकहरन, अंकुस कुलिस केतु अंकित अवनि ।। सुंदर स्यामल अंग, बसन पीत सुरंग, कटि निषंग परिकर मेरवनि। कनककुरंग संग साजे कर सर चाप, राजिव नयन इत उत चितवनि ।। सोहत सिर मुकुट जटा पटल, निकर सुमन लता सहित, रची बनवनि। तैसेई श्रम-सीकर रुचिर राजत मुख, तैसिए ललित भृकुटिन्ह की नवनि ।।" (गी० अर० ५); "धाए राम सरासन साजी ।। निगम नेति शिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सो धावा ।।" (मा० अर० २६)।

इति अरण्यकांड

———

किष्किन्धाकाण्ड

समुद्र-उल्लंघन

मनहरण-कवित्त [१]

जब अंगदादिन की मति गति मंद भई,
पवन के पूत को न कूदिबे को पलु गो।
साहसी ह्वै सैल पर सहसा सकेलि आइ,
चितवत चहूँ ओर, औरन को कलु गो॥
तुलसी रसातल को निकसि सलिल आयो,
कोल कलमल्यो, अहि कमठ को बलु गो।
चारिहू चरन के चपेट चाँपे चिपटि गो,
उचके उचकि चारि अंगुल अचलु गो॥

शब्दार्थ—सकेलि=क्रीड़ा के साथ, खेल ही खेल में। कलु (कल)=सुख। रसातल (रसा=पृथिवी, तल=नीचे का भाग)=पृथिवी के नीचे का भाग। कलमल्यो=व्याकुल हुआ। चपेटे=आघात। चाँपे=दबने पर। उचके=उछलने पर।

अर्थ--जब अंगद आदि वानरों की बुद्धि और गमन शक्ति मन्द पड़ गई; अर्थात् सब समुद्र पार जाने में असमर्थ हो गए और उनकी बुद्धि में कोई उपाय वृत्ति न रह गई। तब (श्रीजाम्बवान्‌जी के प्रचारने पर) श्रीहनुमान्‌जी को कूदने में क्षण भर भी विलम्ब न लगा। वे साहसपूर्वक खेल ही खेल में एकाएक पहाड़ पर चढ़कर चारो ओर देखने लगे। (भयङ्कर शरीर श्रीहनुमान्‌जी ने जिनकी ओर देखा, उन) अन्य वर्ग वालों (शत्रुओं) का सुख नष्ट हो गया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (श्रीहनुमान्‌जी के चढ़ने पर उनके चरण-प्रहार से पहाड़ पृथिवी में धँसा, उससे) पृथिवी के नीचे भाग का जल ऊपर निकल आया। वाराह घबरा गये और शेषनाग तथा कच्छपजी का भी बल जाता रहा। श्रीहनुमान्‌जी के चारो चरणों के आघात से दबने पर पहाड़ चिपटा हो गया (; अर्थात् भूमि की तह में बराबर हो गया) फिर उछलने के साथ वह पहाड़ भी चार अंगुल ऊपर को उछल गया (उठ आया)।

विशेष—'जब अंगदादिन की…'; यथा—"निज-निज बल सब काहू

भाखा। पार जाइ कै संसय राखा॥···अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा॥" (मा० कि० २८–२६)। सब वानरों की ह्रासता पर श्रीजाम्बवान् ने श्रीहनुमान्‌जी को उनके बल-पराक्रम का स्मरण करा उत्तेजित किया; यथा—"कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥" से "राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहि भयउ पर्वताकारा॥" (मा० कि० २६); तब—

'पवन के पूत को···'—तुरत वायुवेग से कूदे; यथा—"सुमिरि राम, तकि तरकि तोयनिधि लंक लूक सो आयो॥" (गी० सुं० १); जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चला हनुमाना॥" (मा० सुं० १)।

'तुलसी रसातल को सलिल···'—यहाँ 'रसातल' पद रसातल लोक का तात्पर्य नहीं है, पहाड़ नीचे को धँसा है, तब नीचे का पानी ऊपर निकल आया, यही भाव है।

'कोल कलमल्यो, अहि-कमठ···'—ये बाराह, शेष और कमठ पृथिवी का धारण करनेवाले हैं; यथा—"दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥" (मा० बा० २५६); श्रीहनुमान्‌जीके चरण-आघात से इन सब पर चोट पहुँची। पहले कोलों पर, फिर शेष पर और तब कच्छप पर आघात पहुँचा, वैसे क्रम से लिखा गया है; क्योंकि पृथ्वी कोलों पर है, कोल शेष पर हैं और शेष के आधार कच्छप हैं। इसीसे कोल घबरा गये और शेष एवं कमठ अपने बल से इनका आघात रोक नहीं सके।

'चारिहू चरन के चपेट···'; यथा—"जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥" (मा० सुं० १); इसमें 'पाताल' पद में बहुत नीचे चले जाने का तात्पर्य है। हाँ, पहाड़ नीचे धँसा, पृथिवी के बराबर हो गया, तब उसके नीचे के भाग का भूमिभाग पाताल तक गया, यह भाव हो सकता है।

(इति किष्किन्धाकाण्ड)

———

सुन्दरकाण्ड

अशोक-वाटिका

मनहरण कवित्त [१]

बासव बरुन बिधि बन ते सुहावनो,
दसानन को कानन बसंत को सिँगार सो।
समय पुराने पात परत डरत बात,
पालत लालत रतिमार को बिहार सो।
देखे बर बापिका तड़ाग बाग को बनाव,
रागबस भो बिरागी पवनकुमार सो॥
सीय की दसा बिलोकि बिटप असोकतर,
तुलसी बिलोक्यो सो तिलोक सोकसार सो॥

अर्थ—इन्द्र, वरुण और ब्रह्माजी के वन (उपवन) से भी अधिक शोभायमान रावण का वन (अशोक वन) था, वह मानो वसन्त ऋतु का शृङ्गार ही था । समय आने पर भी पुराने पत्तों के झड़ने पर पवन डरता है (; जब तक नवीन कोपलें न निकल आवें, तब तक पवन पुराने पत्तों को नहीं गिराने पाता,) । (रावण मालियों के द्वारा) उस वन का लालन पालन करता था, इससे वह वन रति और कामदेव के विहार के समान (रमणीक) था। श्रेष्ठ बावली, सरोवर और बाग का सजावट देखने पर पवन नन्दन-सरीखे प्रबल वैराग्यवान भी राग के वश-सरीखे हो गये थे। परन्तु जब उन्होंने उस वन में अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई श्रीजानकीजी की दशा देखी, तब, श्रीतुलसीदास-जी कहते हैं कि उन श्रीहनुमान्जी ने उस अशोक वन को तीनों लोकों के शोक का घर-सरीखा समझा।

विशेष—'बासव बरुन·····'—इन्द्र की वाटिका का नाम नन्दन वन है, वह देवराज की एक श्रेष्ठ विभूति है। वरुण की वाटिका का नाम ऋतुमत् है; यथा—"तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः। उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥" (भाग० ८।२।६) ; अर्थात् उस पहाड़ पर भगवान् महात्मा वरुणदेव का ऋतुमत् (एवं ऋतुमान्) नाम का बाग है, वहाँ देवताओं की

स्त्रियाँ क्रीड़ा किया करती हैं। ब्रह्माजी का लोक इन्द्रादि से बहुत श्रेष्ठ है। अतः उनका क्रीड़ावन भी सर्वश्रेष्ठ ही होगा। रावण का यह उपवन उन सबसे अधिक शोभायमान है, ; यथा—"नीलाञ्जननिभाः केचित्तत्राशोकाः सहस्रशः। नन्दनं विबुधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा॥ अतिवृत्तमिवाचिन्त्यं दिव्यं रम्यश्रिया युतम्।··· शैलेन्द्रमिव गंधाढ्यं द्वितीयं गंधमादनम्।" (वाल्मी० ५।१५।११-१२, १५); अर्थात् कोई अंजन के समान काले, ऐसे सहस्रों प्रकार के वहाँ अशोक वृक्ष थे। देवताओं का नन्दन वन जैसा, आह्लादक है और कुवेर का चित्ररथ वन जैसा विचित्र है, उन दोनों से उत्तम रमणीक शोभा से युक्त अचिन्त्य शोभावाली वह (अशोक) वाटिका थी।··· वह गंध का स्थान द्वितीय गंधमादन पर्वत के समान था।

इस अशोक वन में वन, उपवन, बाग और वाटिका के सभी भेद हैं, इनके उदाहरण (क) "बन असोक सीता रह जहँवा।" (मा० सुं० ७); (ख) "तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोचरत अहई॥" (मा० कि० २७); (ग) "चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा।" (मा० सुं० १७); (घ) "तेहि असोक वाटिका उजारी॥" (मा० सुं० १७)।

इसके मध्य में सरोवर है, उसके चारों ओर वाटिका है, फिर उसके बाहर चारों ओर उपवन (नजर बाग) है, तत्पश्चात् चारों ओर बाग है, और फिर उसके चारों ओर वन है।

अन्य वाटिका आदि की शोभा वसन्त ऋतु से होती थी। पर यह तो वसन्त ऋतु का भी श्रृंगार था; क्योंकि इसमें सदा वसन्त से भी बढ़ कर शोभा रहती थी। वसन्त में और वन आदि के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं, पर इसमें वह अशोभा भी नहीं आने पाती थी, नई कोपलें हो आने पर पवन पुराने पत्तों को गिराते थे—

'समय पुराने पात····'—पवन आदि सभी लोकपाल रावण के अधीन थे; यथा—"सदमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥ कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (मा० सुं० १९); "पावक, पवन, पानी, भानु, हिमवान, जम काल लोकपाल मेरे डर डाँवाँडोल हैं।" (उ० २१)—यह रावण वचन है।

'पालत-लालत····'—इस अशोक वन का लालन-पालन रावण बड़ी तत्परता से करता था, यह अगले पद से स्पष्ट है; यथा—"माली मेघमाल, बनपाल बिकराल भट, नीके सब काल सींचैं सुधासार नीर के। मेघनाद तें दुलारो, प्रान तें पिआरो बाग, अति अनुराग जियँ जातुधान धीर को॥" इन कारणों से यह बाग रति-काम के विहारस्थल के समान रमणीक था।

'देखे बर बापिका तड़ाग बाग को बनाउ····'—श्रीहनुमान्‌जी बड़े भारी वैराग्यवान् हैं; यथा—"प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजन तनय बिषय बन दहनमिव धूमकेतू॥" (वि० ५८)। वे भी इसे देखकर रागवश (प्रेमासक्त) हो गये थे। वाल्मी० ५।१४ में लिखा है कि वहाँ मणि, चाँदी और सोने की भूमि थी, वहाँ अनेक प्रकार के बने हुए तालाब थे, उनमें मणियों की सीढ़ियाँ थीं। वहाँ मोती और मूँगा बालू के समान फैले हुए थे। तालाब की तल भूमि स्फटिक मणि की थी, तीरस्थ सोने के वृक्षों से वे तालाब शोभित थे।···उन सोने के वृक्षों को वायु से हिलते देख और सहस्रों घंटियों से शब्दायमान देखकर हनुमान्‌जी विस्मित हुए।

इस प्रकार अशोकवाटिका की वहाँ बहुत शोभा कही गई है।

'सीय की दसा बिलोकि···'; यथा—"सुवन समीर को धरि धुरीन बीर बड़ोइ। देखि गति सिय मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥ ·· करत कछू न बनत हरि हिय हरष-सोक समोइ। कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोइ॥" (गी० सुं० ५); "जयति भूनंदिनी-सोच-मोचन, बिपिन दलन, घननादबस बिगत संका। लूमलीला-अनल ज्वालमालाकुलित, होलिकाकरन-लंकेस लंका॥" (वि० २५)। 'तिलोक-सोक-सार'—तीनों लोकों के शोक का सार=(शाल=स्थान) घर।

[२]

माली मेघमाल, बनपाल बिकराल भट,
नीके सब काल सींचैं सुधासार नीर को।
मेघनाद ते दुलारो प्रान ते पियारो बाग,
अति अनुराग जिय जातुधान धीर को॥
तुलसी सो जानि सुनि, सीय को दरस पाइ,
पैठो बाटिका बजाइ बल रघुबीर को।

बिद्यमान देखत दसानन को कानन सो,
तहस-नहस कियो साहसी समीर को ॥

अर्थ – उस (अशोक बाटिका) के माली बादलों के समूह थे वे सदा अमृतमय जल से अच्छी प्रकार से उसे सींचते थे, बड़े-बड़े विकराल योद्धा उस (बाग) के रक्षक थे। धैर्यवान् राक्षस रावण के हृदय में उस बाग के प्रति अत्यन्त आसक्ति थी; उसे वह अपने ज्येष्ठ पुत्र मेघनाद से अधिक दुलारा और अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा मानता था। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—श्रीजानकीजी का दर्शन पाकर और उनसे उस बाग की व्यवस्था जान-सुनकर (कि यह बाग रावण को अत्यन्त प्यारा है) श्री हनुमान्‌जी श्रीरामजीके बल का डंका बजा कर (घोषित करके) उसमें घुस पड़े। पराक्रमी पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने रावण के रहते हुए उसके देखते हुए उसके उस वन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया (वह कुछ प्रतिकार नहीं कर सका)।

विशेष—'माली मेघमाल…'—मेघ ही संसार के जीवनदाता हैं; यथा—"होहि जलद जग जीवनदाता।" (मा० बा० ६); वे ही माली की भाँति जहाँ जैसा एवं जितना जल देना चाहिये, वहाँ वैसी सिंचाई किया करते थे। रक्षा का भी भारी प्रबंध था।

'मेघनाद ते दुलारो…'—ज्येष्ठ पुत्र मेघनाद रावण का युवराज था, यह बाग उस रावण को उससे भी अधिक प्यारा एवं दुलारा था। रावण स्वयं युद्ध में बड़ा धैर्यवान् वीर था। अपने अनुराग वाले बाग की रक्षा में भला, वह कैसे चुप रह सकता था? शक्ति भर उसने उठा नहीं रक्खा।

'बिद्यमान देखत दसानन…'—रावण के सावधानतापूर्वक खड़े देखते हुए उसके दसो मुखों की बीसो आँखों के समक्ष वायु के पराक्रमी पुत्र ने श्रीरघुवीर के बल का डंका बजाकर उसके बाग का विध्वंस किया है। 'बजाइ बल रघुबीर को'; यथा—"जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनूमाञ्शत्रु-सैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥ न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्। शिला-भिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः। अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥" (वाल्मी० ५।४२।३३-३६),

अर्थात् [श्रीहनुमान्‌जी ने वाटिका उजाड़ते समय बड़े उच्च स्वर में गरजते हुए ऐसा कहा है—] अत्यन्त बलवान् श्रीरामजी की जय, महाबलवान् श्रीलक्ष्मणजी की जय, श्रीराजी के द्वारा पालित श्रीसुग्रीवजी की जय। अक्लिष्टकर्मा कोसलेन्द्र श्रीरामजी का मैं दास हूँ। शत्रुसेना का नाश करनेवाला मैं वायुपुत्र हनुमान् हूँ। सहस्रों रावण युद्ध में मुझसे बली नहीं हो सकते, जब मैं पर्वतों और वृक्षों से प्रहार करने लगता हूँ। लङ्कापुरी का नाश कर, श्रीजानकीजी को प्रणाम कर और अपना मनोरथ पूर्ण कर समस्त राक्षसों के देखते हुए मैं यहाँ से चला जाऊँगा। आगे वाल्मी० ५।४३।८–११ में फिर ऐसा ही कहा गया है; अर्थात् बार-बार श्रीहनुमान्‌जी ने गरज-गरज कर कहा है, रावण को ललकारते हुए उसका वन विध्वंस किया है। 'तहस-नहस कियो'—नष्ट-भ्रष्ट करने के अर्थ में ऐसा कहने का मुहावरा है।

लंका-दहन

[३]

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर,
खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं।
तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीलो गात कै कै,
लात के अघात सहै जी में कहै कूर हैं॥
बाल किलकारी कै-कै, तारी दै-दै गारी देत,
पाछे लागे बाजत निसान ढोल तूर हैं।
बालधी बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्हीं आगी,
बिंध की दवारि, कै धौं कोटिसत सूर हैं॥

शब्दार्थ—कौतुकी = खेल करने का इच्छुक। गात = शरीर। तूर = तुरही, एक प्रकार का बाजा। बालधी = पूँछ। बिंध (विन्ध्य) = विन्ध्याचल। दवारि = दावाग्नि, वन जलने की आग। सूर = सूर्य।

अर्थ—[अशोक वन के युद्ध में मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र से श्रीहनुमान्‌जी को बाँधा, पुनः स्वतः ब्रह्मास्त्र से छूटे हुए और फिर रस्सी से भी बाँधकर हनुमान्‌जी को वह रावण के समक्ष ले गया, रावण ने इनकी पूँछ में आग लगाने की आज्ञा दे

दी] राक्षस गली-गली से दौड़े हुए आकर वस्त्र बटोर कर और उन्हें तेल में डुबा-डुबा कर जैसे-जैसे श्रीहनुमान्‌जीकी पूँछ में बाँधते हैं, वैसे-वैसे खेल करने के इच्छुक हनुमान्‌जी अपने शरीर को ढीला करके डरते हैं, राक्षसों की लातों के प्रहार सह लेते हैं, परन्तु हृदय में कहते हैं कि ये क्रूर (निष्ठुर) हैं (जो बँधे हुए पर प्रहार करते हैं)। तेलमय वस्त्र लपेट कर जब रावण ने इन्हें नगर में घुमाने की आज्ञा दी, तब) बालक किलकारी मार-मार कर तालियाँ बजा-बजा कर श्रीहनुमान्‌जी को गालियाँ देते हैं और उनके पीछे-पीछे नगाड़े, ढोल और तुरुही बजाए जा रहे हैं। (श्रीहनुमान्‌जी की इच्छा से उनकी) पूँछ बढ़ने लगी (उसमें राक्षसों ने) जहाँ-तहाँ आग लगा दी। इससे वह (जलती हुई पूँछ) ऐसी जान पड़ती थी; मानो विन्ध्य पर्वत की दावाग्नि है अथवा सौ करोड़ सूर्य (एक साथ चमक रहे) हैं।

विशेष—'तैसो कपि कौतुकी····'; यथा—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला। कौतुक कहँ आए पुरबासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥" (मा० सुं० २४)।

'बाल किलकारी कै-कै'; यथा—"बाजहिं ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी॥" (मा० सुं० २४); 'बालधी बढ़न लागी···'—जितना अधिक वस्त्र-तेल आता गया, हनुमान्‌जी उतनी ही पूँछ बढ़ाते गये थे, जब आग लगाई जाने लगी, तब और भी इसलिये बढ़ाई कि जिससे बहुत जगह आग लगाई जाय, तब शीघ्र सब जल उठे, जिससे पूँछ पटक-पटक कर सर्वत्र आग लगाने में बुझे नहीं। वैसा ही हुआ भी, इससे साथ ही कहते हैं—"ठौर-ठौर दीन्हीं आगी।"

'बिंध की दवारि··'—विन्ध्याचल के वनों में गर्मी में प्रायः दावाग्नि लगती है, तब एक-एक मील तक का जंगल एक साथ जलता है, प्रायः पहाड़ की लम्बी श्रेणी में वह दावाग्नि ठीक बड़ी पूँछ के समान दीखती है।

'लात के अघात सहै··'—इसके लिये रावण की आज्ञा भी नहीं थी। यह इनकी क्रूरता है। इसीके परिणाम में इन सबके घर फूँके जायँगे। भागवतापराध कहीं भी व्यर्थ नहीं जाता।

अलङ्कार—'संदेह' (चौथे चरण के उत्तरार्द्ध में)।

[४]

लाइ-लाइ आगि भागे बाल-जाल जहाँ-तहाँ,
लघु ह्वै निबुकि गिरिमेरु ते बिसाल भो।
कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि,
रावन-भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो॥
तुलसी बिराज्यो ब्योम बालधी पसारि भारी,
देखे हहरात भट, काल ते कराल भो।
तेज को निधान मानो कोटिक कृसानु-भानु,
नख बिकराल, मुख तैसो रिस लाल भो॥

शब्दार्थ—बाल-जाल = बालक-समूह। हहरात = भयभीत होते, थर्रा जाते थे।

अर्थ- बालक-समूह (पूँछ में) आग लगा-लगाकर कर जहाँ-तहाँ भग गये। श्रीहनुमान्‌जी छोटा रूप धारण कर बन्धन से निकल कर सुमेरु पहाड़ से भी भारी रूप में हो गये। खेलाड़ी श्रीहनुमान्‌जी कूद कर सोने के कँगूरे पर चढ़ गये; वहाँ से उसी समय रावण के महल पर जा खड़े हुए। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अपनी भारी पूँछ को फैला कर वे आकाश में 'सुशोभित हुए' उस समय वे काल से विशेष भयंकर हो गये, उनको देख कर योद्धा लोग भी भय से थर्रा जाते थे। उनके नख बड़े भयंकर थे और वैसा ही मुख भी क्रोध से लाल रंग का हो गया था। उस समय श्रीहनुमान्‌जी तेज के पुञ्ज से जान पड़ते थे, मानो करोड़ों अग्नि और सूर्य हों।

विशेष—'लघु ह्वै निबुकि...'; यथा—"पावक जरत देखि हनुमंता। भयेउ परम लघु रूप तुरंता॥ निबुकि चढ़यो कपि कनक अटारी।" (मा० सुं० २४); वाल्मी० ५।४८ में लिखा है कि श्रीहनुमान्‌जी को मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र से बाँधा था, ब्रह्मास्त्र को महत्त्व देने के लिये हनुमान्‌जी बँध गये थे, फिर दो घड़ी में स्वतः छूट जाते, परन्तु, परन्तु अनभिज्ञ राक्षसों ने उसके ऊपर से सन के रस्सों से बाँधा, इस पर ब्रह्मास्त्र का अपमान हुआ, इससे वह स्वयं छूट गया था। अतः, हनुमानजी रस्सी मात्र में बँधे थे, यहाँ अवसर देख कर बहुत छोटे रूप में हो गये और बँधन स्वतः बहुत ढीला पड़ गया। तब उससे निकल गये। हाँ, पूँछ वैसी ही रही, क्योंकि बंधन तो शरीर में था, पूछ में नहीं था;

यथा—"ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत् । विमुक्तश्चाभवच्छ्रीमान्पुनः पर्वतसन्निभः ॥" (वाल्मी० ५।५३।३८); अर्थात् (पर्वताकार शरीर से भी) श्रीहनुमान्‌जी बहुत छोटे शरीर वाले हो गये और उन्होंने बन्धन को दूर हटा दिया, फिर वे पर्वताकार हो गये।

'देखे हहरात भट काल ते कराल भो'; यथा—"वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा साक्षाद्यमो वा वरुणोऽनिलो वा। रौद्रोऽग्निरर्को धनदश्च सोमो न वानरोऽयं स्वयमेव कालः ॥" (वाल्मी० ५.५४।३५); अर्थात् राक्षस लोग कहते थे—यह वज्रधारी देवराज इन्द्र है, अथवा साक्षात् यमराज है, या वरुण है, या वायु है। यह रुद्र का अंश है, अग्नि है, सूर्य है, कुबेर है और यह चन्द्रमा है क्या ? यह वानर (मात्र) तो नहीं है, साक्षात काल है।

'तेज को निधान मानो…'; यथा—"प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली व्यराजतादित्य इवार्चिमाली ॥" (वाल्मी० ५।५४।४८); अर्थात् जलती हुई पूँछ की ज्वालाओं से वे (हनुमान्‌जी) किरणों की माला धारण करने वाले सूर्य के समान जान पड़े। तथा आगे पद ५ और ६ भी देखिये।

अलङ्कार—'उत्प्रेक्षा' (चौथे चरण में)

[५]

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-माल मानो,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कै धौं व्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि-सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप, कै धौं दामिनी कलाप,
कै धौं चली मेरु ते कृसानु सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
"कानन उजारयो अब नगर प्रजारी है" ॥

शब्दार्थ—व्योम बीथिका = आकाश की गली, आकाश में तारों की उत्तर दक्षिण में फैली हुई एक श्रेणी, वह धुँधली गली-सी होती है, भूमि से एक श्वेत मार्ग-सी दीखती है, इसे 'आकाश गंगा' एवं 'आकाश जनेऊ' भी कहा

जाता है। धूमकेतु=पुच्छल तारा। जातुधान (यातुधान)=राक्षस। प्रजारी है (प्रजारिहै)=प्रकृष्ट रूप में (विशेष रूप से) जलावेगा।

अर्थ—श्रीहनुमान् की बड़ी भारी पूँछ भयङ्कर ज्वाल-माला (श्रेणी) के साथ ऐसी जान पड़ती है मानों लङ्का को निगलने के लिये काल ने जीभ फैलाई है। अथवा, आकाश गङ्गा में बहुत-से पुच्छल तारे भरे हुए हैं। अथवा योद्धा वीररस ने मानो तलवार म्यान से बाहर निकाल ली है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह इन्द्र-धनुष है, अथवा बिजलियों का समूह है, अथवा सुमेरु पर्वत से बड़ी भारी अग्नि की नदी बह चली है। उसे देखकर समस्त राक्षस और राक्षसियाँ घबरा कर कहती हैं कि पहले इस वानर ने अशोक वन को उजाड़ा है अब लङ्क नगर को भी विशेष रूप से जलावेगा।

विशेष—'भरे हैं भूरि धूमकेतु···'—पुच्छल तारा का जिस देश में उदय होता है, वहाँ दुर्भिक्ष एवं महामारी होती है। जहाँ धूमकेतु भरे हैं, वहाँ तो लंका का नाश ही होगा, यह इस उत्प्रेक्षा से संभवित शङ्का है।

'कै धौं दामिनी कलाप'; यथा—"ततः प्रदीप्तलाङ्गूलः सविद्युदिव तोयदः।" (वाल्मी० ५।५४।६); अर्थात् विद्युत् युक्त मेघ के समान दीप्तपुच्छ श्रीहनुमान्‌जी···।

'मेरु ते कृसानु सरि···'—श्रीहनुमान्‌जी का स्वर्णवर्ण का शरीर सुमेरु पर्वत के समान है; यथा—"कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥" (मा० सुं० १५); उस पर्वताकार शरीर से निकली हुई प्रज्वलित पूँछ मानों अग्नि की नदी बह चली है; पहाड़ से नदियाँ निकलती ही हैं; यथा—"पाप पहार प्रगट भइ सोई।" (मा० अ० ३३)।

'बीर रस बीर···'—श्रीहनुमानजी वीररस के मूर्तिमान स्वरूप हैं, पूँछ उनकी तलवार-सी है; यथा—"बल कैधौं बीर रस, धीरज कै, साहस कै, तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो।" "कह्यो द्रोन-भीषम समीरसुत महावीर वीर रस वारिनिधि जाको बल जल भो।" (हनुमान-बाहुक ४, ५)।

इस चरण में श्रीहनुमान्‌जी में वीर रस की पूर्णता है—बलवान् शत्रु एवं युद्ध-उद्दीपन विभाव, मुख लाल और अंग प्रफुलित अनुभाव, गर्व, उग्रता एवं असूया सञ्चारी तथा लङ्क-विध्वंस का उत्साह वीर रस का स्थायी है।

'देखे जातुधान...'—श्रीहनुमानजी के वीर रस के प्रतिकूल राक्षसों में भयानक रस की पूर्णता है—भयङ्कर रूप श्रीहनुमान्‌जी का देखना उद्दीपन विभाव है, कम्प, रोमाञ्च और प्रस्वेद, अनुभाव, मोह, मूर्च्छा और दीनता सञ्चारी तथा भय भयानक रस का स्थायी है।

अलङ्कार—'उत्प्रेक्षा से पुष्ट संदेह'–(मानो, कैधौं आदि से स्पष्ट हैं)

[६]

जहाँ-तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
"जरत निकेत, धावो-धावो, लागी आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
ढोटा छोटे छोहरा अभागे भोड़े भागि रे॥
हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो, सोवे सो जगाओ जागि-जागि रे।"
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
"बार-बार कह्यों पिय कपि सों न लागि रे"॥

शब्दार्थ—बुबुक=भभक, आग की लपक। बुबुकारी=पुक्का फाड़ कर रोना, ज़ोर-ज़ोर से रोना। बुबुकारी देना=भय से घबरा कर टूटे-फूटे शब्दों में जोर-जोर से रोना। ढोटा=लड़का। छोहरा=छोकड़ा, लड़का। भोड़े=गँवार, मूर्ख। छेरी=बकरी।

अर्थ—(लङ्का-निवासी राक्षस) जहाँ-तहाँ आग की लपटों को देख कर भय से बुबुक-बुबुक कर जोर से चिल्लाते हैं—"अरे घर जल रहा है, दौड़ो, दौड़ो, आग लग गई है। कहाँ पिता-माता हैं, कहाँ भाई-बहन हैं, कहाँ स्त्री है, और कहाँ भौजाई है तथा कहाँ लड़का और छोटा बच्चा है? अरे अभागे! अरे मूर्ख! भाग-भाग। हाथियों को छोड़ दो, घोड़ों को छोड़ दो, भैंसों और बैलों को छोड़ दो। बकरियों को छोड़ दो, अरे! जो सोता है, उसे जगा दो, अरे! जागो, अरे! जागो।" श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह (दुर्दशा) देख कर मन्दोदरी आदि राक्षसियाँ घबरा कर कहती हैं कि मैंने बार-बार (रावण को) समझाया है—प्यारे! इस बानर से मत लगो (छेड़ छाड़ न करो)।

विशेष—'जहाँ-तहाँ बुबुक बिलोकि...'; यथा—"ततस्तु लङ्का सहसा

प्रदग्धा सराक्षसा साश्वरथा सनागा। सपक्षिसङ्घा समृगा सवृक्षा रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम् ॥" (वाल्मी० ५। ५४। ३६); अर्थात् पक्षियों, पशुओं, वृक्षों, हाथियों, घोड़ों और रथों तथा राक्षसों के साथ लङ्का नगरी शीघ्र जल गई, उसके दीन अधिवासी भयानक चीत्कार से रोने लगे।

'कहाँ तात, मात, भ्रात....'; यथा—"हा तात हा ! पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्। रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीतः ॥" (वाल्मी० ५। ५४। ४०); अर्थात् हा तात, हा पुत्र, हा कान्त, हा मित्र और हा जीवितेश, आज समस्त पुण्य नष्ट हो गये, इस प्रकार राक्षसों ने अत्यन्त भयभीत होकर बड़े घोरतर शब्द किये।

[७]

देखि ज्वालाजाल, हाहाकार दसकंध सुनि,
कह्यो 'धरो-धरो' धाए बीर बलवान हैं।
लिये सूल, सेल, पास, परिघ, पचंड दंड,
भाजन सनीर, धीर धरे धनुबान हैं॥
तुलसी समिध सौंज लंक जज्ञ कुंड लखि,
जातु धान पुंगीफल, जव, तिल, धान हैं।
श्रुवा सो लँगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि,
स्वाहा महा हाँकि-हाँकि हुनै हनुमान हैं॥

शब्दार्थ—सूल = त्रिसूल। सेल = बर्छी। पास (पाश) = फाँसी। परिघ = लोहाँगी। समिध (समिधि) = यज्ञकुण्ड में जलाने वाली विहित लकड़ी। सौंज = सामग्री। श्रुवा = एक काठ की आचमनी जिसमें हव्य (हवन-सामग्री) रख कर अग्नि में दी जाती है। बलमूल = बली। प्रतिकूल = शत्रु वर्ग। हुने = हवन करते हैं।

अर्थ—उन आग की लपटों को देख कर और (प्रजा का सर्वत्र से) हाहाकार सुन कर रावण ने कहा—इस वानर को पकड़ो, पकड़ो, ऐसा सुन कर बलवान योद्धा दौड़ पड़े। वे सब त्रिशूल, बर्छी, फाँसी, लोहाँगी, बड़ा दृढ़ दंडा और जल भरे बर्त्तन लिये हुए हैं, कोई धैर्यवान् धनुष-बाण धारण किये हुए हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि लङ्का को यज्ञकुण्ड विचार कर, वहाँ की सामग्रियों

को हवनकुंड में जलने वाली लकड़ी की भाँति उसे प्रज्वलित यज्ञकुण्ड में डालते हैं, फिर उसके अधिक धधकने पर राक्षसों को सुपारी, जव, तिल और धान की भाँति उसमें डालते हैं। पूँछ श्रुवा के समान है, उससे लपेट कर उन बली शत्रु राक्षसों को हवि की भाँति स्वाहा महा मंत्र उच्चारण की नाईं गर्ज-गर्ज पर श्रीहनुमान्जी हवन कर रहे हैं।

विशेष—'जातु धान पुंगीफल...'; यथा—"युगान्तकालानलतुल्यरूपः स मारुतोऽग्निर्ववृधे दिवस्पृक् । विधूमरश्मिर्भवनेषु सक्तो रक्षःशरीराज्यसमर्पितार्चिः ॥" (वाल्मी० ५ । ५४ । ३२); अर्थात् प्रलय काल की आग के समान आकाश छूने वाली वह आग बढ़ने लगी। राक्षसों के घर में लगी हुई उस आग की ज्वाला राक्षस-शरीर रूपी घृत से बढ़ी हुई थी और विना धुएँ की थी। महर्षिजी के इसी रूपक का श्रीगोस्वामीजी ने इस कवित्त में विस्तार किया है।

श्रीहनुमानजी ने पहले सामग्रियों को अग्नि में डाल कर उसे प्रचण्ड किया ही था, जब राक्षस आयुध ले युद्धार्थ सामने आये, तब उन्हें पूँछ से लपेट-लपेट कर उसी अग्नि में छोड़ते जाते हैं। यथा—"लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट, देखो देखो, लखन ! लरनि हनुमान की ॥" (लं० ४०); तथा—"प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड बीर, धाए जातु धान हनुमान लियो घेरि कै। महाबल-पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट, जहाँ-तहाँ पटके लँगूर फेरि-फेरि कै ॥" (लं० ४२)। भटों को पटकते समय गर्जते थे, यही 'स्वाहा' रूप महामंत्र का उच्चारण करना है। राक्षसों को यव-तिल आदि की भाँति हवन करते थे।

अलङ्कार—'यज्ञ विषयक सांगरूपक' है; क्योंकि यहाँ यज्ञकुण्ड, समिधि, श्रुवा, हवि, हवन करना एवं स्वाहोच्चारण, ये सभी यज्ञ के अंग आ गये हैं; तथा—"चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू ॥ समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भए पसु आई ॥ मैं यहि परसु काटि बलि दीन्हें। समर यज्ञ जप कोटिक कीन्हें ॥" (मा० बा० २८२)।

[८]

गाज्यो कपि गाज ज्यों, बिराज्यो ज्वालजालजुत,
भाजे धीर बीर, अकुलाइ उठ्यो रावनो।

'धावो धावो धरो' सुनि धाए जातुधान धारि,
बारि धारा उलदैं जलद ज्यों न सवनो ॥
लपट झपट झहराने, हहराने बात,
भहराने भट परयो प्रबल परावनो ।
ढकनि ढकेलि पेलि सचिव चलै लै ठेलि,
"नाथ न चलै गो बल अनल भयावनो" ॥

शब्दार्थ—उलदैं=उड़ेलते हैं, खुब बरस रहे हैं । झहराना=झर-झर शब्द के साथ गिरना, झल्लाना, खिजलाना, हिलना । हहराना (हरहराना)=शब्द करते हुए बहना, भयभीत करते हुए बहना । भहराना=एकाएक गिरना ।

अर्थ—चारों ओर अग्निज्वाला के बीच में विराजमान श्रीहनुमान्‌जी वज्र के समान गरजे । उस गर्जन को सुन कर बड़े-बड़े धैर्यवान् वीर भग चले, रावण भी व्याकुल हो उठा और कहने लगा – 'दौड़ो, दौड़ो, इस वानर को पकड़ो' । इस, आज्ञा को सुन कर राक्षसों के समूह दौड़ पड़े (किन्तु वे पहले आग बुझाने के लिये पानी की धारा इस प्रकार उड़ेलते हैं, जिस प्रकार मेघ श्रावण के महीने में भी नहीं बरसा पाते । (परन्तु पानी पड़ने पर वे) अग्नि की लपटें और तेजी से झर-झर शब्द करती हुई चलने लगीं तथा शब्द करते हुए पवन चलने लगा । इस पर योद्धा एकाएक गिरने लगे, यह देख कर बड़ी भारी भगदड़ पड़ गई । मंत्री लोग रावण को धक्कों से ढकेल कर और ठेल-ठेल कर हटा ले चले और बोले—"हे नाथ ! आग भयङ्कर है, इस पर बल नहीं चलेगा (अतएव आप भी हट चलिये, इसमें न लगिये)" ।

विशेष—'बिराज्यो ज्वालाजाल जुत'—अग्नि की ज्वाला समूह में भी हनुमान्‌जी को आँच नहीं लग रही है, इसका कारण श्रीगोस्वामीजी ने कहा है; यथा—"ताकर दूत अनल जेहि सिरजा । जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ।।" (मा० सुं० २५); तथा श्रीजानकीजी की कृपा से हनुमान्‌जी को आँज नहीं लगी । जब राक्षसियों ने कहा कि हनुमानजी की पूँछ में आग लगा कर घुमाया जा रहा है, तब श्रीजानकीजी ने अग्नि से हनुमान्‌जी के मंगलार्थ कहा है; यथा—"यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः ।। यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः ।।" (वाल्मी० ५।५३।२६-२७); अर्थात् यदि मैंने पति की सेवा की

है, यदि मैंने तपस्या की है और यदि मैं एक श्रीरामजी की ही पत्नी रही हूँ, तो हे अग्नि ! तुम हनुमान्‌जी के लिये शीतल हो जाओ। इस पर अग्नि शीतल हो गई; यथा—"दह्यमाने च लाङ्गूले चिन्तयामास वानरः। प्रदीप्तोऽग्निरयं कस्मान्न मां दहति सर्वतः॥ दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम्। शिशिरस्येव संपातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः॥" (वाल्मी० ५।५३।२६-३०); अर्थात् पूँछ में आग लगाई जाने पर हनुमान्‌जी विचारने लगे कि यह प्रज्वलित अग्नि मुझे क्यों नहीं जला रही है ? मेरी सब ओर ज्वाला बढ़ी हुई दीखती है, पर इससे मुझे कुछ भी कष्ट नहीं जान पड़ता, जाड़े की आग के समान यह मुझे सुखदाई जान पड़ती है।

'लपट-झपट झहराने···'—पानी पड़ने पर प्रबल प्रज्वलित अग्नि की लपटें और बढ़ीं तथा प्रबल वायु ने भी उसमें सहायता की, इससे वह अत्यन्त भयंकर हो गई; तथा—"तुलसी सुन्यो न कान सलिल सर्पी समान, अति अचरज कियो केसरी कुमार हैं॥" (पद २०); अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी की इच्छा से पानी ने घी का काम किया है।

'नाथ न चलै गो बल···'—अर्थात् रावण ने अपने पुरुषार्थ में कमी नहीं रक्खी, इसी पर तो कालनेमि ने कहा है—"देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा।" (मा० लं० ५४)।

[६]

बड़ो बिकराल बेष देखि, सुनि सिंहनाद,
डर्‌यो मेघनाद सविषाद कहै रावनो।
बेग जित्यो मारुत, प्रताप मारतंड कोटि,
कालऊ करालता बड़ाई जित्यो बावनो॥
तुलसी सयाने जातुधान पछिताने मन,
"जाको ऐसो दूत सो साहेब अबै आवनो"।
काहे को कुसल रोषे राम वामदेवहू को,
बिषम बली सो बादि बैर को बढ़ावनो॥

शब्दार्थ—मारतंड=सूर्य। बामदेव=शिवजी। विषम=बहुत कठिन।

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी का बड़ा भयङ्कर वेष देखकर और उनका सिंहवत्

गर्जन सुनकर मेघनाद डर गया; रावण भी बड़े खेद के साथ कहने लगा—इस वानर ने वेग में वायु को, प्रताप में करोड़ों सूर्यों को, भयङ्करता में काल को भी और बड़ाई (शीघ्र में बढ़कर भारी डीलडौल होने) में वामन भगवान् को जीत लिया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि चतुर राक्षस मन में पछता रहे हैं—"जिसका दूत ऐसा (प्रचण्ड-पराक्रमी) है, वह स्वामी (श्रीरामजी) तो अभी आनेवाले ही हैं (उनके आने पर इस लंका की न जाने कौन दशा होगी ?)।" श्रीरामजी के क्रोध करने पर तो (रावण के इष्ट) शिवजी की भी कुशल कैसे हो सकती है ? तब ऐसे बहुत कठिन बलवान् से वैर बढ़ाना व्यर्थ ही है।

विशेष—'डरयो मेघनाद'—इस स्थान पर आधुनिक प्रतियों में 'उठ्यो मेघनाद' पाठ है, परन्तु भागवतदासजी की पुरानी प्रति में 'डरयो' है, यही प्रसंग से भी समीचीन है; क्योंकि मेघनाद ही पहले इन्हें बाँध लाया था। वह इनका भयंकर वेष और उत्साह पूर्ण सिंहनाद सुनकर डर गया, फिर सामना करने का उसका साहस नहीं हो सका।

'प्रताप मारतंड कोटि…'—उस समय हनुमान्जी की ओर कोई देख भी नहीं सकता था, रावण और मेघनाद भयभीत थे, इससे सूर्य से कोटि गुणा प्रताप कहा, क्योंकि मरुत, सूर्य और काल आदि को तो उसने जीत ही रक्खा था।

'कालऊ करालता…'—इस पर आगे लं० ३६ के 'कालहु काल सों बूझि परैं' इसका विशेष भी देखिये।

'सयाने जातुधान पछताने…'—इनका पछताना चातुर्यपूर्ण है, नीति शास्त्र का मत है कि अपने से प्रबल शत्रु से वैर बढ़ाना नहीं चाहिये, यदि संयोग से वैर हो भी जाय तो साम, दाम एवं भेद नीति से ही काम लेना चाहिये।

'काहे को कुसल रोषे राम वामदेवहू को'—यदि रावण को इस बात का गर्व हो कि शिवजी मेरे इष्ट हैं, उन्होंने मुझे ऐश्वर्य दे रक्खा है। संकट पर रक्षा करेंगे; उस पर कहते हैं कि यदि शिवजी रक्षार्थ खड़े होंगे तो उनकी भी कुशल क्यों कर होगी; यथा—"देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र गंधर्वविद्याधरनागयक्षाः। रामस्य लोकत्रयनायकस्य स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे ॥४३॥ ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य ॥४४॥" (वाल्मी० ५।५१); अर्थात् हे निशाचरेन्द्र !

त्रिलोक के स्वामी श्रीरामजी के समक्ष युद्ध में देवता, दैत्य गंधर्व, विद्याधर, नाग और यक्ष, ये कोई भी नहीं ठहर सकते। ब्रह्मा स्वयंभू चतुरानन, त्रिपुरान्तक त्रिनेत्र रुद्र और सुरनायक महेन्द्र इन्द्र, ये कोई भी युद्ध में श्रीरामजी के समक्ष नहीं ठहर सकते। तथा—"लंकदाह देखे न उछाह रह्यो काहुन को, कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं। "बाँचि है न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के, को है रन रारि को जौं कोसलेस कोपिहैं?" (लं० १)।

'बादि बैर को बढ़ावनो'—अब जो हो गया, उस बैर का ही उन्मूलन होना चाहिये, सीताजी को देकर उनसे प्रीति करनी चाहिये, यह इसका भाव है। इसी पक्ष में प्रहस्त का मत है; यथा—"प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥ नारि पाइ फिरि जाहिं जौं, तौ न बढ़ाइअ रारि। नाहित सनमुख समर महि, तात करिअ हठि मारि॥" (मा० लं० ८-९)।

[१०]

'पानी, पानी, पानी' सब रानी अकुलानी कहैं,
जाति हैं परानी, गति जानी गजचालि है।
बसन बिसारैं, मनि भूषन सँभारत न,
आनन सुखाने कहैं "क्योंहूँ कोऊ पालिहै?"
तुलसी मँदोवे मींजि हाथ, धुनि माथ कहै,
"काहू कान कियो न मैं कह्यो केतो कालि है"।
बापुरो बिभीषन पुकारि बार-बार कह्यो,
"बानर बड़ी बलाइ घने घर घालिहै"॥

अर्थ—रावण की रानियाँ, जिनकी चाल हाथी की-सी चाल से पहचानने में आती है, वे व्याकुल होकर 'पानी, पानी, पानी' चिल्लाती हुई भगी जाती हैं। वे वस्त्र लेना भूल गई हैं और मणिजटित भूषणों को भी नहीं सँभाल सकतीं; उनके मुख सूख रहे हैं (अधीर होकर) कहती हैं—"क्या कोई किसी प्रकार भी हमारी रक्षा करेगा? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मंदोदरी हाथ से हाथ मल कर और शिर पीट कर कहती है—अहो! मैंने कल कितना कहा था, पर किसी ने उस पर कान नहीं दिया (अर्थात् ध्यान नहीं दिया)। बेचारे विभीषण

ने बार-बार पुकार कर कहा था—"वह बानर बड़ी भारी बला (आपत्ति) है, यह बहुत-से घरों को नष्ट कर देगा (उजाड़ देगा)"।

विशेष—'गति जानी गजचालि हैं'—मतवाले हाथी की-सी मन्द चाल से जो गर्वपूर्वक चला करती थीं, वे रावण की रानियाँ व्याकुल होकर पानी-पानी कहती वेग से भगी जाती हैं। वस्त्राभूषण का सँभार नहीं है कि कौन वस्त्र पहने हैं और कौन छूट गया, मणिभूषण गिरते-पड़ते जाते हैं। मुख सुखा गये हैं, इससे उनकी अधीर दशा हो गई है। कहती हैं कि किसी प्रकार भी एवं कोई भी हमारी रक्षा कर दे रावण एवं मेघनाद आदि के रहते हुए इन रानियों की यह अनाथ विधवा की-सी दशा हो गई है। मन्दोदरी ने पीछे रावण से कहा भी है; यथा—"कहे की न लाज पिय ! अजहूँ न आए बाजि, सहित समाज गढ़ राँड़ कै सो भाँड़िगो ॥" (लं० २४); "कंत बीस लोचन बिलोकिए कुमंत फल, ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की-सी झोंपरी ॥" (लं० २७)।

'मँदीवै मींजि हाथ धुनि माथ कहै……'—हाथ मींजने की मुद्रा से प्रकट करती है कि मेरा कुछ उपाय नहीं चलता; क्योंकि हाथ कर्मेन्द्रिय है। माथ के अर्थ में ललाट का तात्पर्य है, ललाट पर भाग्याङ्क लिखा रहता है; यथा—"जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अङ्क निज भाला ॥" (मा० लं० २८); ललाट पीट कर वह अपने भाग्य को झोंखती है कि मेरा भाग्य फूट गया।

'कह्यो केतो कालि है'—जिस दिन प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त्त में रावण श्री-जानकीजी के यहाँ गया था। उनसे बात होने पर वह उन्हें मारने दौड़ा था। उसी समय मंदोदरी ने उसे नीति की दृष्टि से बहुत समझाया है; यथा—"सुनत बचन पुनि मारन धावा। मय तनया कहि नीति बुझावा ॥" (मा० सुं० ६); उसी पर यहाँ लक्ष्य है। उस दिन हनुमान्जी वहाँ अशोक वृक्ष पर ही रह गये थे (रात में अवसर पाकर उन्होंने श्रीजानकीजी से बातें की हैं और फिर दूसरे दिन प्रातःकाल वाटिका उजाड़ कर लंक दहन किया है। अतः, इसने 'कालि' का समझाना कहा है।

'बापुरो बिभीषन पुकारि…'—जब रावण ने हनुमान्जी को वध का ंड सुनाया, तभी विभीषणजी ने जाकर समझाया है, उन्होंने हनुमान्जी की

निर्भीकता एवं अक्ष आदि का वध करना तथा ब्रह्मास्त्र-बंधन से स्वतः छूटना देखकर यह अनुमान किया है कि इसको छेड़ना ठीक नहीं है। मारने के समय यह न जाने क्या कर डाले? बहुत घरों का नाश करेगा। अतएव इस बला को यहाँ से दूर ही करना ठीक है। इसीलिये उन्होंने कहा है कि इसे कुछ और ही थोड़ा दंड देकर हटाइये।

यहाँ के प्रसंग से यह भी सिद्ध होता है कि विभीषणजी ने आपस में यह भी पुकार-पुकार कर कहा है कि वानर बहुत घरों का नाश करेगा, भक्त का अनुमान व्यर्थ कैसे हो? वही हुआ भी; यथा—"बचन तुम्हार न होइ अलीका।" (मा० बा० २२५); तथा—"सेवक बचन सत्य सब जाने॥" (मा० अ० २३४)।

रानियों में यहाँ भयानक रस की पूर्णता है—अग्नि की करालता उद्दीपन-विभाव है, हाथ मींजना और मत्था पीटना आदि अनुभाव हैं, मुख सूखना, अधीरता आदि सञ्चारी हैं और भय इस रस का स्थायी है।

[११]

"कानन उजारयो तौ उजारयो, न बिगारयो कछू,
बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हार सों।
निपट निडर देखि काहू ना लख्यो बिसेषि,
दीन्हों ना छुड़ाइ कहि कुल के कुठार सों॥
छोटे औ बड़ेरे मेरे पूतऊ अनेरे सब,
साँपनि सों खेलैं, मेलैं गरे छुराधार सों"
तुलसी मँदोवै रोइ-रोइ कै बिगोवै आपु,
"बार-बार कह्यौं मैं पुकारि दाढ़ीजार सों"॥

शब्दार्थ—हार=वन, नगर या गाँव से बाहर की भूमि, जहाँ खेत, बाग एवं वन हों। कुल के कुठार=कुल नाशक। अनेरे (सं० अनृत)=१ झूठ, व्यर्थ, २ झूठे, ३ अन्यायी, दुष्ट, ४ निकम्मे। बिगोवै (सं० विगोपन)=१ नष्ट करना, बिगाड़ना, २ छिपाना, ३ तंग करना। दाढ़ीजार=रावण के प्रति गाली है। स्त्रियाँ कुपित होने पर पुरुषों को प्रायः ऐसी गालियाँ—'दाढ़ीजार' 'मुहझौंसा' आदि कहती हैं। इसी 'दाढ़ीजार' शब्द का 'दइमरा' भी हो गया है।

अर्थ—(मन्दोदरी कहती है—) "यदि इस वानर ने अशोक वन उजाड़

दिया था तो उजाड़ दिया था (उसकी उतनी चिन्ता नहीं थी), उससे इसने कुछ नहीं बिगाड़ा था (फल खाना एवं वृक्ष उजाड़ना तो वानरों का स्वभाव ही है, किसी के घर-बार की तो इससे कुछ हानि नहीं हुई थी), बेचारे इस वानर (हनुमान्) को हठात् वन से बाँध कर ले आया गया। इसे नितान्त निर्भय देख कर भी किसी ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया (कि यह वानर मात्र नहीं है, यह कोई असाधारण प्राणी है)। अतः, किसी ने भी कुल-नाशक। रावण से कह कर इसे छुड़ा न दिया। छोटे और बड़े मेरे सब पुत्र भी निकम्मे एवं व्यर्थ हैं, ये साँपों से खेलते हैं और छूरे की धार में अपनी गर्दन डालते (रखते) हैं; अर्थात् अपने प्राणनाश का उपाय रचते हैं"। श्रीतुलसीदासजी कहते कि मन्दोदरी रो-रो कर अपने को ही तंग करती (झींखती) है और कहती है— "मैंने बार-बार पुकार कर इस दाढ़ीजार (रावण) से कहा है (कि ऐसा मत करो, पर इसने नहीं माना, उसी के परिणाम रूप में यह विपत्ति-भोगनी पड़ी है)"।

विशेष—'न बिगारयो कछू'; यथा—"खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाउ ते तोरेउँ रूखा॥ सब के देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहिं कुमारग गामी॥ जिन्ह मोहिं मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँध्यो तनय तुम्हारे॥" (मा० सुं० २१)।

'निपट निडर देखि···'; यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥···देखौं अति असंक सठ तोहीं॥" (मा० सुं० १६–२०)। 'काहू न लख्यो बिसेषि···'–तेज, प्रताप और रूप देख कर बल का अनुमान भी होता है; यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जानकी मंगल ६६); श्रीहनुमान्जी ने उसी समय रावण की सभा को देख कर कह दिया है; यथा—"देखी मैं दसकंठ-सभा सब, मोते कोउ न सबल तो।" (गी० सुं० १३); इसी प्रसंग पर प्रहस्त ने श्रीहनुमान्जी से कहा है; यथा—"नहि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम्।" (वाल्मी० ५।५०।१०); अर्थात् तुम्हारा तेज वानर का नहीं है, तुम केवल रूप से ही वानर हो। अतः, यदि रावण के मंत्री आदि ध्यान पूर्वक विचार करते तो हनुमान्जी के अप्राकृत बल एवं प्रभाव समझ जाते, पर उन्होंने ध्यान

ही नहीं दिया कि यह महातेजस्वी है और निःशंक है, तो अवश्य भारी अनर्थ कर सकता है। अतः, इसे छुड़ा कर भगा देना चाहिये।

'छोटे औ बड़ेरे...'—पति तो अन्याय पथ पर आरूढ़ ही है, पुत्रों के द्वारा भी मैं उसे ठीक मार्ग ला सकती थी, पर क्या करूँ? छोटे और बड़े मेरे समस्त पुत्र भी तो वैसे ही अन्यायी हैं। बड़ा पुत्र मेघनाद है, उसने ही यह अन्याय किया है, उसी ने हठात् इस वानर को बाँधा है। इसके और पुत्र प्रहस्त-अतिकाय आदि हैं। छोटा अक्ष था, वह फल खाते हुए वानर से युद्ध कर मारा ही गया।

'साँपनि सों खेलैं'—हनुमान्‌जी सर्पवत् हैं; जब मेघनाद ने देख लिया था कि इस पर माया नहीं लगती। ब्रह्मास्त्र ने भी इसे छोड़ दिया, तब इसे छोड़ देना था; बला चली जाती। इस अन्यायी ने इस वानर को बाँधा है और पकड़ कर सभा में लाया है, यही इस सर्प के साथ इसका खेलना है। सर्प अवसर पा काट खाता है, वैसे ही इसने पूँछ में वस्त्र-तेल और अग्नि पाकर नगर जला दिया। 'मेलैं गरे छूराधार सों'—पूँछ छूराधार है, उसमें आग लगाना अपना गला रखना है। उसी से सारा नगर भस्म हो गया, यही गला कटना है; क्योंकि इसका अपयश मेघनाद पर ही दिया जाता है! अपयश होना मरने से बढ़कर दुःखद है। छोटा अक्ष पहले ही मर चुका है।

'बार-बार कह्यों मैं...'—मन्दोदरी का रावण से ही बार-बार कहना पाया जाता है। यहाँ छुड़ाने का प्रसंग सभा का ही है; सभा में तो रावण ही छोड़ सकता था। कोई-कोई मेघनाद को गाली देना यहाँ मानते हैं, पर मेरे विचार से रावण ही का अर्थ संगत है। श्रीबैजनाथजी ने भी रावण ही का अर्थ किया है।

[१२]

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं,
सकैं न बिलोकि बेष केसरीकुमार को।
मींजि-मींजि हाथ, धुनैं माथ दसमाथ-तिय,
तुलसी तिलौ न भयो बाहिर अगार को॥
सब असबाब डाढ़ो, मैं न काढ़ो, तैं न काढ़ो,
जिय की परी, सँभारै सहन भँडार को?।

खीझति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद,
"बयो लुनियत सब याही दाढ़ीजार को" ॥

शब्दार्थ—डाढ़त = जलती हुई। तिलौ = तिल भर (थोड़ा) भी। अगार को (सं० आगार) = घर का सामान। जिय की परी (मुहावरा) = सब को अपने-अपने प्राण बचाने की चिन्ता है।

अर्थ—रावण की सब रानियाँ व्याकुल होकर जलती हुई भगी जा रही हैं, केसरी के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी का भयङ्कर वेष नहीं देख सकतीं। रावण की स्त्रियाँ हाथ मींज-मींज कर (पछताती हैं और) शिर पीटती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—(वे रानियाँ कहती हैं कि) घर का सामान थोड़ा-सा भी बाहर नहीं हुआ, सब का सब समान जल गया। (कर्मचारी कहते हैं—बाहर कैसे हो?) न मैंने निकाला, न तुमने निकाला, (अरे भाई!) सब को तो अपने-अपने प्राण बचाने की चिन्ता है; आँगन और भंडार की सँभाल कौन करे? मन्दोदरी मेघनाद को देख कर दुःखपूर्वक क्रुद्ध होती है और कहती है कि इसी दाढ़ीजार का बोया हुआ सब काट रहे हैं; अर्थात् इसने जो इस वानर को बाँध कर हार से सभा में लाने का कर्म किया है, उसी का फल सब को भोगना पड़ रहा है।

विशेष—'रानी अकुलानी…'—रावण ने श्रीरामजी की रानी श्रीजानकीजी के प्रति भाँति-भाँति की धमकी दी है, एक मास में मारने को कहा है और राक्षसियों के द्वारा उन्हें भय दिखलाता है; उसी पर क्रुद्ध होकर श्रीहनुमान्‌जी ने पहले रावणके अन्तःपुर पर ही आग लगाई है और अपना भयंकर रूप भी प्रकट किया है। जिसकी सफलता इन पदों में कही गई है; तथा—"भूमिजा-दुःख-संजात रोषान्तकृत् जातनाजंतु कृत जातुधानी।" (वि० २६) "निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अँटारी। भईं सभीत निसाचर नारी॥" (मा० सुं० २४)। 'बयो लुनियत्त' यह मुहावरा है; अर्थात् जैसा कर्म रूप बीज बोया है, वैसा ही फल रूप भोग मिल रहा है।

आगे के दो पदों में भी इन रानियों की ही दुर्दशा कही गई है।

[१३]

रावन की रानी जातुधानी बिलखानी कहैं,
"हा हा! कोऊ कहै बीसबाहु दसमाथ सों।

काहे मेघनाद, काहे-काहे, रे महोदर! तू,
धीरज न देत, लाइ लेत क्यों न हाथ सों?॥
काहे अतिकाय, काहे-काहे, रे अकंपन!
अभागे तिय त्यागे भोंड़े भागे जात साथ सों?।
'तुलसी' बढ़ाय बादि साल ते बिसाल बाहैं,
याही बल, बालिसो! बिरोध रघुनाथ सों!"॥

शब्दार्थ—बालिसो (सं० बालिश)=मूर्खो, छोकड़ो। भोंड़े = अशिष्ट, बेहूदो। लाइ लेत क्यों न हाथ सो=अपने हाथ का सहारा देकर क्यों नहीं बचाते?

अर्थ—रावण की राक्षसी रानियाँ बिलख-बिलख कर कहती हैं–हाय! हाय!! हमारी यह दुर्दशा कोई बीसबाहु और दस सिरवाले रावण को कह दे। क्यों रे मेघनाद! क्यों रे महोदर! तुम हमको धैर्य क्यों नहीं देते और अपने हाथ का सहारा देकर हमको क्यों नहीं बचाते? (आग की ज्वाला से खींच कर क्यों नहीं निकालते?)। क्यों रे अतिकाय! क्यों रे अकम्पन! अरे अभागे! अरे बेहूदो! हम स्त्रियों को त्यागकर साथ छोड़कर क्यों भागे जाते हो? अरे! तुम लोगों ने व्यर्थ शाल वृक्ष (साखू) के समान बड़ी-बड़ी बाहें बढ़ा रक्खी हैं। अरे मूर्खो! क्या इसी बल पर श्रीरघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी से वैर बढ़ाया है?

विशेष—'बीस बाहु दसमाथ सों'—रावण को अपनी बीसो भुजाओं का बड़ा गर्व था; यथा—"संध्या समय जानि दससीसा। भवन चलेउ निरखत भुजबीसा॥" (मा० लं० ६); तथा—"मम भुजसागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥ बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥" (मा० लं० २७)। एक माथ की अपेक्षा दो माथवाला ही अधिक होता है; यथा—"दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहँ···" (मा० बा० ८३); तथा—"केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा।" (मा० अ० २५)। रावण के तो दस शिर हैं, फिर एक शिरवाले से भी क्यों रक्षा नहीं कर पाता? बीस भुजाओं से भी दो भुजावाले शत्रु से क्यों नहीं रक्षा कर पाता?

'काहे मेघनाद··'—मेघनाद रावण का बेटा और महोदर मंत्री था, इन्हें भी रानियाँ धिक्कारती हुई कहती हैं कि तुम लोगों को बड़ा गर्व था, अब क्यों नहीं पुरुषार्थ दिखाते? अपने कर्त्तव्य से धैर्य क्यों नहीं देते; तथा हाथ का

सहारा दे, इस अग्नि ज्वाला से निकालकर अपने सहारे से बाहर क्यों नहीं करते ?

'काहे अतिकाय...'—अतिकाय मन्दोदरी का पुत्र बड़ा प्रसिद्ध धनुर्धर था, अकम्पन रण में अचल रहने वाला रावण का मंत्री था, ये भी स्त्रियों को छोड़ कर भागे जाते थे, तो रानियाँ इन्हें धिक्कारती हैं।

'तुलसी बढ़ाय बादि...'—तुम्हारी शालवृक्ष-सी बढ़ी हुई बाहें व्यर्थ हैं, घमंड था कि बाहें शाल (साखू) के समान सारमय हैं, पर ये चीड़ के समान सार-रहित हैं; यथा—"बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं।" (गी० बा० ६३)।

'याही बल बालिसो...'—बस, इतना ही बल है न ? अरे मूर्खो ! इस बल से तो तुम रघुनाथजी के दूत का भी सामना नहीं कर पाते हो तो उनसे कैसे लड़ोगे ? इतनी भी समझ नहीं है, तो नष्ट होगे। यहाँ श्रीरामजी का प्रताप दिखा कर रानियों ने राक्षसों का मान मर्दन किया है।

[१४]

हाट, बाट, कोट ओट, अट्टनि, अगार, पौरि,
खोरि-खोरि दौरि-दौरि दीन्ही अति आगि है।
आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू,
ब्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि है॥
बालधी फिरावै बार-बार झहरावै, झरैं,
बूँदिया-सी, लंक पघिलाइ पाग पागि है।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
"चित्रहू के कपि सों निसाचर न लागि है"॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी ने—) बाजारों में, मार्गों में, दुर्ग (किले) की आड़ में, अटारियों में, घरों में, द्वारों (दरवाजों) में और गलियों-गलियों में दौड़-दौड़ कर अत्यन्त आग लगा दी है। सब आर्त्तस्वर से पुकार कर रहे हैं, कोई किसी को नहीं सँभालता, सब लोग व्याकुल हो गये, जो जहाँ हैं, वहीं भग चले हैं श्रीहनुमान्‌जी पूँछ को बार-बार फिरा कर झहराते हैं, उससे जलती हुई तेल की बूँदें बुँदिया की भाँति झड़ती हैं, मानों सोने की लङ्का को पिघला कर उस पाग में (वे बुँदिया) पागी (डुबाई) जाती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि

यह देख कर व्याकुल राक्षसियाँ कहती हैं—"आज से कोई निशाचर चित्र के वानर से भी छेड़-छाड़ नहीं करेगा"।

विशेष—इस पद में श्रीहनुमान्‌जी का प्रताप दिखाया गया है कि प्रत्यक्ष हनुमान्‌जी से लड़ने की बात तो बहुत दूर है, इनके चित्र से एवं इनकी जाति के वानरमात्र के चित्र से भी राक्षस अब न छेड़-छाड़ करेंगे। कहाँ तो राक्षसों को इस प्रकार का गर्व था—"नर कपि भालु अहार हमारा।" और कहाँ अब ऐसा आतंक छा गया। आगे पद १७ तक इसी आतंक की पुष्टि है।

[१५]

'लागि लागि आगि', भागि-भागि चले जहाँ-तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभार हीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध;
कहैं बारे-बूढ़े 'बारि-बारि' बार-बार हीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि-पेलि रौंदि-खौंदि डार हीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
"तात-तात! तौंसियत, झौंसियत झार हीं"॥

शब्दार्थ—धीय = पुत्री। बिललात = बिलखते हैं, दुःखी होते, रोते हैं, अनाथवत् इधर-उधर फिरते हैं। तौंसियत = अधिक गर्मी से संतप्त होते हैं। झौंसियत = झौंसते हैं, (झौंसना–ऊपरी भाग का इस प्रकार अंशतः जल जाना कि उसका रंग काला पड़ जाय)। झारहीं (सं० झाला–ताप) = १ दाह से, जलन से, २ ईर्ष्या, डाह, ३ ज्वाला से।

अर्थ—'आग लग गई', 'आग लग गई' ऐसा पुकारते हुए सब लोग जहाँ-तहाँ भाग-भाग कर चल दिये। न माता लड़की का और न पिता पुत्र का सँभाल करता है। सबके बाल बिखर गये हैं, वस्त्र खुल जाने से अंग उघारे हो गये हैं। धुएँ की धुंधकार से अन्धे-सरीखे होकर बच्चे और बूढ़े सब बार-बार 'पानी-पानी' कह (चिल्ला) रहे हैं। घोड़े हिनहिनाते हुए भागे जाते हैं। हाथी चिक्कार मारते हुए भगे जाते हैं और भारी भीड़ को ठेलते हुए एवं बलात् प्रवेश करते हुए अपने पैरों से रौंदते (कुचलते) हुए खौंदते (घायल

करते) जाते हैं। सब लोग रक्षार्थ रक्षक के नाम ले-ले कर चिल्ला रहे हैं और अत्यन्त व्याकुल होकर बिलखते हुए अनाथवत् इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं और कहते हैं—"हे तात! हे तात!! आग की लपटों से हम अत्यन्त संतप्त होते और झौंसते जाते हैं (अतः, बचाइये)"।

विशेष—'धीय को न साय....'—प्रायः कन्या माता को अधिक प्यारी होती है और पुत्र पिता को अधिक प्यारा होता है।

'छूटे बार...'—स्त्रियों के शिर के केश छूट कर बिखर गये हैं और वस्त्र खुल गये हैं, इससे उघारे अंग भगी जाती हैं।

'कहैं बारे बूढ़े...'—जवान तो किसी प्रकार भग गये, बारे,बूढ़े 'पानी, पानी' चिल्ला रहे हैं, कोई उनका सँभाल नहीं कर पाता।

'हय हिहिनात...'—घोड़े-हाथी बन्धन तोड़-तोड़ कर जलते हुए भागते हैं, इसमें कितने कुचलकर मरते एवं घायल होते हैं।

'नाम लै चिलात...'—यों तो लोग अपनी-अपनी रक्षा में ही व्यस्त हैं, किसी ओर देखते ही नहीं, यदि कोई आर्त्त होकर किसी का नाम लेकर पुकारता है, तब भी वह नहीं देखता। अतः, सब आर्त्त दशा में इधर-उधर अत्यन्त व्याकुल होकर बिललाते हैं; अनाथवत् रोते फिरते हैं।

[१६]

लपट कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे ?
पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,
"परे पाइमाल जात, भ्रात! तू निबाहि रे॥
प्रिया! तू पराहि, नाथ! नाथ! पराहि, बाप!
बाप! तू पराहि, पूत! पूत! तू पराहि रे"।
तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं,
"लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे"॥

शब्दार्थ—दहूँ = दसों। ललाना = ललचना, लालाइत होना, अति इच्छुक होना। पाइमाल (फा० पामाल) = पैर से रौंदा हुआ, पद दलित, तबाह, बरबाद। चाहि = (चाहना = देखना, ताकना) = देख, ताक। चख = चक्षु।

अर्थ—दसो दिशाओं में अग्नि की ज्वाला की सघन श्रेणियाँ और भयङ्कर लपटें फैल गई हैं। सब धुएँ से व्याकुल हो गये हैं, उस धुएँ में कौन किसको पहचाने ? सब पानी के लिये ललचा रहे हैं (परन्तु पाते नहीं, तब) अनाथवत् इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, सब के शरीर जले जा रहे हैं। (अतः, परस्पर कहते हैं—) "इस अग्नि ज्वाला में पड़े हुए हम सब बर्बाद (नष्ट) हो रहे हैं। अतः, अरे भाई ! तू मुझे बचा ले, अरी प्रिया ! तू भाग कर बच, हे नाथ ! हे नाथ ! तुम भागो, हे पिता ! हे पिता ! तुम भागो, अरे बेटा ! अरे बेटा ! तू भाग," । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि लङ्का की ऐसी दुर्दशा देख कर लोग व्याकुल और व्यग्र होकर कहते हैं—"अरे दशशीश रावण ! अब बीसो आखों से (अपनी करतूत का परिणाम) देख ले।"

विशेष—'लपट कराल''धूम अकुलाने'''; यथा—"आदित्यकोटीसदृशः सुतेजा लङ्कां समस्तां परिवार्य तिष्ठन्। शब्दैरनेकैरशनिप्ररूढैर्भिन्दन्निवाण्डं प्रबभौ महाग्निः ॥ तत्राम्बरादग्निरतिप्रवृद्धो रूक्षप्रभः किंशुकपुष्पचूडः। निर्वाणधूमाकुलराजयश्च नीलोत्पलाभाः प्रचकाशिरेऽभ्राः ॥" (वाल्मी० ५।५४।३३–३४); अर्थात् करोड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी, समस्त लंका में फैली हुई, बज्र शब्द के समान भयंकर अनेक प्रकार के शब्द करती हुई, ब्रह्माण्ड को फोड़ती हुई के समान वह महा अग्नि जान पड़ी। आकाश तक फैली हुई, रूखी प्रभा वाली, पलाश पुष्प के समान शिखा वाली अग्नि बहुत बढ़ गई। फैले हुए नीलकमल के समान धूम पंक्तियाँ मेघों के समान शोभा पाने लगीं।

'परे पाइ माल जान''प्रिया तू पराहि'''; यथा—"ततस्तु लङ्का सहसा प्रदग्धा सराक्षसा साश्वरथा सनागा। सपक्षिसङ्घा समृगा सवृक्षा रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम् ॥ हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्। रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीतः ॥" (वाल्मी० ५।५४।३९–४०); अर्थात् पक्षियों, पशुओं, वृक्षों हाथियों, घोड़ों और रथों तथा राक्षसों के साथ लङ्का नगरी शीघ्र जल गई, उसके दीन अधिवासी भयानक चीत्कार से रोने लगे। हा तात, हा पुत्र, हा कान्त, हा मित्र और हा जीवितेश ! आज सारे पुण्य नष्ट हो गये, इस प्रकार राक्षसों ने अत्यन्त डरकर घोरतर अनेक शब्द किये। तथा— "तात मात हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहि उबारा ॥"(मा०सुं० २५)।

'लेहि दससीस...'—व्याकुल और व्यग्र होने से आर्त्त हैं, इससे राजा को भी खरी-खोटी कहते हैं। कहना उचित ही है, रावण भी सुनता है।

[१७]

बीथिका-बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिए।
अध ऊर्ध्व बानर, बिदिसि दिसि बानर है,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए॥
मूँदे आँखि हीय में उघारे आँखि आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ-तहाँ और कोऊ कोकिए।
"लेहु अब लेहु, तब कोऊ न सिखाओ मानै,
सोई सतराइ जाइ जाहि-जाहि रोकिए"॥

शब्दार्थ—कोकिए = पुकारने पर (यह किसी देश की बोली है)। सतराइ जाइ = चिढ़ जाता था।

अर्थ—(पूँछ जलने पर श्रीहनुमान्‌जी इतनी शीघ्रता से लङ्का में सर्वत्र फिर रहे हैं कि) गलियों में, हाटों में, अटारियों में, घरों में, द्वारों में और प्राकारों (चहार दीवारियों) में सर्वत्र वानर ही देख पड़ता है। नीचे वानर है, ऊपर वानर है, विदिशाओं (आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान) में वानर है, दिशाओं (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर) में वानर है, मानों तीनों लोकों में वही वानर भर रहा है। यदि डर से आँख मूँद ली जाती है। तब वही वानर हृदय में दिखलाई देता है और फिर आँख खोलने पर सामने खड़ा दीखता है। यदि जहाँ कहीं और किसी को पुकारा जाता है, तो वह वहाँ भी जा धमकता है। (उनमें कोई-कोई कहते हैं—) "तब हमारा उपदेश कोई नहीं मानता था, जिस-जिसको रोका जाता था, वही चिढ़ उठता था; अब अपनी करतूत का फल लो और लो"।

विशेष—'बीथिका बाजार प्रति...'; यथा—"देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई॥" (मा० सुं २५)। ऐसा ही कुछ लाघव नल-नील का रावण के हाथों पर फिरने में भी है; यथा—"गहे न जाहिं करन्हि पर फिरहीं। जनु जुग मधुप कमल बन चरहीं॥" (मा० लं० ९६)।

'अध ऊर्ध्व बानर'...'—दसो दिसाओं में उन्हें हनुमान्‌जी ही दीखते हैं।

'मूँदे आँखि....'—भाव यह कि किसी प्रकार एवं किसी स्थल पर निर्वाह नहीं है, तब घबरा कर कहते हैं—

'लेहु अब लेहु....' इससे जान पड़ता है कि ये लोग निर्भीक वानर को देखकर दंड-विधान पर रोकते थे कि इस बला को जाने दो।

[१८]

एक करै धौंज, एक कहैं काढ़ो सौंज, एक
औंजि पानी पी कै कहैं 'बनत न आवनो'।
एक परे गाढ़े, एक डाढ़त हीं काढ़े, एक
देखत हैं ठाढ़े, कहैं 'पावक भयावनो'॥
तुलसी कहत एक "नीके हाथ लाये कपि,
अजहूँ न छाँड़ै बाल गाल को बजावनो।
धाओ रे, बुझाओ रे कि बावरे हौ रावरे, या
औरे आगि लागी, न बुझावै सिंधु सावनो"॥

शब्दार्थ—धौंज=दौड़ धूप। सौंज=सामग्री, सामान। औंजि=१ ढाल कर, उँड़ेल कर, २ ऊब कर, घबरा कर, अकुला कर। गाढ़े=विपत्ति में। नीके हाथ लाए कपि (व्यंग-कथन है—)= बड़े अच्छे हाथों से वानर को पकड़ लाये थे। बाल=छोकरा, मूर्ख।

अर्थ—कोई बुझाने के लिये दौड़-धूप करते हैं, कोई कहते हैं—'सामान निकालो' कोई उड़ेलकर पानी पीकर कहते हैं—'आते नहीं बनता'। कोई बड़े संकट में पड़ गये हैं, कोई जलते हुए ही निकाले गये हैं, कोई खड़े होकर देखते हैं और कहते हैं कि आग बड़ी भयङ्कर है'। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कोई (मेघनाद से) कहते हैं—'बड़े अच्छे (कुशल) हाथों से वानर को पकड़ लाये थे न?' (अरे!) यह लड़का अब भी गाल बजाना (डींग हाँकना) नहीं छोड़ता। (कोई कहते हैं—) अरे दौड़ो, अरे बुझाओ, (यह सुन कर दूसरे उत्तर देते हैं—) क्या आप लोग पागल हो गये हैं? यह आग और ही (कुछ विशेष) प्रकार की लगी है, इसे समुद्र और श्रावण के मेघ भी नहीं बुझा सकते।

विशेष—'औरे आग लागी...'—सामान्य आग तो विशेष पानी पड़ने पर अवश्य बुझ जाती है, यह कोई दैवी आग है, इसे तो यदि समुद्र मर्यादा

छोड़ कर उमड़ पड़े और नीचे पानी भर दे तथा ऊपर से सावन की झड़ी लग जाय, तब भी नहीं बुझ सकती।

इस कथन को रावण नहीं सह सका, वह आगे के दो पदों में प्रलय के मेघों के द्वारा बुझाने का उपाय करता है—

अलङ्कार—'चौथे चरण में भेदकातिशयोक्ति' है।

लक्षण—"भेदकातिशयोक्ति बहु, औरै बरनत जात। औरै हँसिबो बोलिबो औरै याकी बात॥" (काव्य-प्रभाकर भानु)।

[१६]

कोपि दसकंध तब प्रलय पयोद बोले,
रावन रजाय धाय आए जूथ जोरि कै।
कह्यो लंकपति "लंक बरत बुताओ बेगि,
बानर बहाइ मारो महाबारि बोरि कै"॥
"भले नाथ!" नाइ माथ चले पाथप्रदनाथ,
बरषैं मुसलधार बार-बार घोरि कै।
जीवन ते जागी आगि, चपरि चौगुनी लागि,
तुलसी भभरि मेघ भागे मुख मोरि कै॥

शब्दार्थ—प्रलय पयोद = प्रलयकारी मेघ, जिनकी वर्षा से प्रलयकाल में संसार डूब जाता है। पाथप्रदनाथ = बादलों के स्वामी बड़े-बड़े बादल। घोरि कै = गरज कर। जीवन = जल। भभरि = डर से घबरा कर।

अर्थ—(जब आग किसी प्रकार नहीं बुझती थी,) तब रावण ने क्रुद्ध हो कर प्रलयकारी मेघों को बुलाया, रावण की आज्ञा सुन कर वे सब झुंड बना कर दौड़े आये। लंकेश्वर रावण ने उनसे कहा—"जलती हुई लंका को शीघ्र बुझाओ और बड़ी भारी वर्षा से इस वानर को बहा कर और गम्भीर जल में डुबा कर मार डालो"। तब उन मेघों के स्वामियों ने 'बहुत अच्छा, महाराज!' ऐसा कहा तथा रावण को प्रणाम कर वे चले और बार-बार गरज-गरज कर मूसलधार वर्षा करने लगे। उस जल से वह आग और भी प्रज्वलित हो उठी, तथा शीघ्र ही वह चौगुनी बढ़ गई। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भय से घबरा कर वे मेघ मुख मोड़ (पीठ दिखा कर) भग चले।

विशेष—'कोपि दसकंध तब....'—जब रावण ने सुना—'औरै आगि लागी न बुझावै सिंधु सावनो।' तब,

'जीवन ते जागी आगि,...'—सामान्य अग्नि विशेष जल से बुझ जाती है; परन्तु जठराग्नि, बज्रपाताग्नि एवं बडवाग्नि नहीं बुझतीं; प्रत्युत् जल को ही जला देती हैं। वैसे ही यह भी और ही अग्नि है, फिर इसमें हरि इच्छा की भी सहायता है; यथा—"हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास। अट्टहास करि गर्जा, कपि बढ़ि लाग अकास॥" (मा० सु० २५); तब इसके समक्ष किसी की क्या चल सकती है? वह अग्नि शीघ्र बढ़ कर चौगुनी हो उठी, जैसे प्रचण्ड अग्नि में जल पड़ने पर अत्यन्त भभक निकलती है, वैसे उस वर्षा से बड़ी प्रचण्ड भभक निकलने लगी, उससे वे प्रलय के मेघ भी जलने लगे, तब वे पीठ दिखा कर भग चले, अपनी हार एवं ग्लानि अगले पद में कहते हैं—

[२०]

इहाँ ज्वाल जरे जात, उहाँ ग्लानि गरे गात,
सूखे सकुचात सब कहत पुकार हैं।
जुग-षट भानु देखे, प्रलय-कृसानु देखे,
सेष मुख अनल बिलोके बार-बार हैं॥
'तुलसी' सुन्यो न कान सलिल सर्पी समान,
अति अचरज कियो केसरीकुमार हैं"।
बारिद बचन सुनि धुनै सीस सचिवन्ह,
कहैं "दसीस-ईस-बामता-बिकार हैं"॥

शब्दार्थ—जुग-षट (सं० युग षट्) = बारह। सर्पी (सं० सर्पिः) = घी।

अर्थ—(मेघ) इधर से तो ज्वाला से जले हुए चले जाते हैं और उधर अपनी असमर्थता की ग्लानि से उनके शरीर गले जाते हैं (कि रावण के सामने हम कौन मुख दिखावेंगे?) सब मेघ सूखे शरीर से सकुचाते हुए पुकार कर कहते हैं—"हम सब ने (प्रलय काल के, द्वादशो आदित्य देखे हैं, प्रलय काल की लोक भस्म करने वाली अग्नि देखी है और बार-बार (प्रलयकारी) शेषनाग के मुख से निकली हुई फुंकार की अग्नि भी देखी हैं; परन्तु ऐसी अग्नि को तो हमने कभी कान से सुनी भी नहीं, जिसमें पड़ने पर जल भी घी के समान

जलता हो। केसरीकुमार श्रीहनुमान्‌जी ने तो यह अत्यन्त आश्चर्य कर्म कर दिखाया है"। मेघों के वचन सुन कर रावण के मन्त्रीगण सिर पीट-पीट कर कहते हैं—"यह आग नहीं है; प्रत्युत् रावण की ईश्वर-विमुखता का विकार (परिणाम) है; अर्थात् ईश्वर-विमुख रावण के प्रति फल रूप में ईश्वर की क्रोधाग्नि है"।

विशेष—'सूखे सकुचात…'—मेघों में वर्षा से बचा हुआ रहा-सहा जल भी अग्नि की भभक से सूख गया, सोच से भी उनका शरीर सूख गया है कि कहीं रावण यह न मान ले कि इन लोगों ने देवों के पक्ष से पुरुषार्थ में कमी की है, तब और दंड देने लग जाय! इसलिये पुकार-पुकार कर अपनी सफाई देते हैं।

'जुग-षट भानु…'—वे सब भिन्न-भिन्न कल्पों के प्रलयकारी विधान हैं। भानु दिवि में विचरने वाले हैं, अग्नि पृथिवी पर रहती है और शेषनाग पाताल-निवासी हैं; इस प्रकार तीनों लोकों की प्रलयकारी आगों का देखना कहा।

'दससीस-ईस-बामता-बिकार हैं'—जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर के हृदय में प्रीत्यात्मिका एवं कोपात्मिका प्रवृत्ति होती है, उसी को ईश्वर का प्रसाद एवं कोप कहा जाता है। चराचर जगत् ईश्वर का शरीर है। जीवों के पारस्परिक कर्मानुसार इन्हीं के द्वारा उस प्रसाद एवं कोप की व्यवस्थाएँ होती हैं। रावण के विषय में भी यही बात है, इसने ईश्वर के चराचर शरीरों में अधिकांश के साथ द्रोह किया था, उसके परिणाम में इसके प्रति ईश्वर का कोप हनुमान्‌जी के द्वारा यह सब करा रहा है; इसी को आगे माल्यवान् ने स्पष्ट कर दिया है; यथा—"रामकोह-पावक, समीर सीय स्वास, कीस-ईस-बामता बिलोकु बानर को ब्याज है।" (पद २२)।

आगे दो पदों में प्रश्नोत्तर रूप में इसी विषय का स्पष्टीकरण है—

[२१]

"पावन, पवन, पानी, भानु, हिमवान, जम,
काल, लोकपाल मेरे डर डाँवाँडोल हैं।
साहिब महेस सदा संकित रमेस मोहिं,
महा तप साहस बिरंचि लीन्हें मोल हैं॥

'तुलसी' तिलोक आजु दूजो न बिराजै राज,
बाजे-बाजे राजनि के बेटा-बेटी ओल हैं।
को है ईस नाम को, जो बाम होत मोहू-सो को ?,
मालवान ! रावरे बावरे के-से बोल हैं" ॥

शब्दार्थ—हिमवान = चन्द्रमा । डाँवाँडोल = कम्पायमान, अस्थिर । ओल= गहन, गिर्वी, शरण, किसी वस्तु या प्राणी का किसी दूसरे के पास जमानत में उस समय तक के लिये रहना, जब तक उस दूसरे व्यक्ति को कुछ रुपये न दिये जायँ, या उसकी कोई शर्त न पूरी की जाय। वह वस्तु या व्यक्ति जो दूसरे के पास इस प्रकार जमानत में रहे ।

अर्थ—(तब रावण ने कहा—) "अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्रमा यम-राज, काल और लोकपाल (सभी दिक्पाल गण) मेरे डर से कम्पायमान रहते हैं। महान् समर्थ शिवजी मेरे स्वामी (रूप में आराधित रह कर अनुकूल) हैं वे भी (इस रावण को देव मात्र से अवध्यत्व प्राप्त है और मैं भी त्रिदेव में हूँ। अतः, उद्धत रावण कहीं मेरा अपमान न कर दे, यह विचार कर) सदा मुझ से शङ्कित रहा करते हैं। लक्ष्मीपति विष्णु मुझसे सदा डरा करते हैं और महान् तपस्या रूपी पराक्रम से मैंने ब्रह्माजी को तो मोल ले रक्खा है; अर्थात् वे मेरे अधीन-सरीखे हैं। तीनों लोकों में आज दूसरा कोई (मेरे समक्ष) राज पर (स्वतंत्र होकर) विराजमान् नहीं है (जिससे मैंने दंड न लिया हो)। यहाँ तक कि किसी-किसी राजा के तो बेटा और बेटी तक मेरे यहाँ 'ओल' में हैं। वह ईश्वर नाम का कौन है ! जो मेरे-सरीखे वीर पर भी टेढ़ा होता है ? हे माल्य-वान् ! तुम्हारे वचन तो बावलों के-से हैं।

विशेष—ऊपर पद में माल्यवान् आदि मंत्रियों ने कहा है— 'दससीस-ईस-बामता-बिकार' है, उसका खंडन करता हुआ रावण कहता है—

'पावक पवन पानी···'; यथा—"दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥ कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥" (मा० सुं० १९); "दिगपालन मैं नीर भरावा। भूप सुजस खल मोहिं सुनावा ॥" (मा० लं० २७); "जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब-जब भिरेउँ जाइ बरियाई ॥ जिन्हके दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव

टूटे ।।” (मा० लं० २४)। ‘जम काल’—दिग्विजय के समय रावण ने यमराज एवं उनके कालदंड से भी सामना किया है। परन्तु ब्रह्माजी ने रावण को इनसे अवध्यत्व दिया था, इससे उनकी आज्ञा मान कर ये भी रावण को नहीं मार सके; तब से यह अपने को काल और यम का भी जीतने वाला मानता है। मन्दोदरी ने कहा भी है; यथा—“बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहु न धीरा।। भुजबल जित्यो काल जम साँईं। आज परेहु अनाथ की नाँईं।। जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई।” (मा० लं० १०२)।

‘साहिब महेस सदा संकित’—रावण सदा शिवजी की पूजा करता था; यथा—“यत्र-यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः। जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ।। बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः। अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः।। ततः सतामार्त्तिहरं परं वरं वरप्रदं चन्द्रमयूषभूषणम्। समर्च-यित्वा स निशाचरो जगौ प्रसार्य हस्तान्प्रणनर्त चाग्रतः।।” (वाल्मी० ७।३१। ४२–४४); अर्थात् रावण जहाँ-तहाँ जाता था, वहाँ-वहाँ सोने का शिवलिंग साथ रखता था। बालू में उस लिङ्ग का स्थापन कर अमृतगंधी पुष्पों और चन्दन से उसने उनकी पूजा की। सज्जनों की पीड़ा हरने वाले, वर देने वाले, चन्द्रकिरणों से भूषित महादेव की पूजा करके वह राक्षस गाने लगा और हाथ फैला कर उनके सामने नाचने लगा।

शिवजी के समक्ष तप करके रावण ने बहुत ऐश्वर्य प्राप्त किये हैं, इससे वह उनकी पूजा किया करता है, परन्तु वर प्रभाव से उन्मत्त होकर अपमान भी कर सकता है, इस भय से वे सदा शंकित रहा करते थे; यथा—“बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवैं।” (उ० २); यही कारण है कि रावण-वध के लिये ब्रह्मा और शिव भी भगवान् के अवतारार्थ प्रार्थना में सम्मिलित थे।

यहाँ पर आगे रावण ने कहा है—‘को है ईस नाम को···’ इससे यहाँ मैंने ‘सदा संकित’ पद को दीप देहली मान कर वैसा अर्थ किया है। वह किसी की भी ईश्वरता को नहीं मान रहा है और उपर्युक्त ‘संभु सभीत····’ यह स्पष्ट वाक्य भी है।

‘सदा संकित रमेस मोहिं’—ब्रह्मा के वरदान के रक्षार्थ विष्णु भगवान्

भी रावण से शंकित रहा करते थे। यह विचार कर कि देवमात्र से यह अवध्य है और मैं भी त्रिदेव में हूँ, कहीं मेरा अपमान न कर दे। रावण विष्णु भगवान् सेभी कई बार भिड़ चुका है; यथा—"की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई॥" (मा० अ० २८); तथा—"ऐरावतविषाणाग्रैरा-पीडनकृतव्रणौ। वज्रोल्लिखित पीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ॥" (वाल्मी० ५।१०।१६); इसमें 'विष्णु चक्रपरिक्षतौ' इस पद में स्पष्ट लिखा है कि रावण की भुजाएँ विष्णु चक्र से घायल हो चुकी हैं।

'बिरंचि लीन्हों मोल है'—ब्रह्माजी ने स्वयं कहा है; यथा—"ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई। जाकरि तैं दासी सो अविनासी हमरउ तोर सहाई॥" (मा० बा० १८३)।

'तिलोक आजु दूजो न...'—रावण ने पृथिवी भर के राजाओं को भी अधीन कर लिया था; यथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्त्ती नर नारी।...राखेसि कोउ न सुतंत्र।"। (मा० बा० १८१-१८२); यद्यपि चक्रवर्त्ती दशरथजी पर इसका प्रभुत्त्व नहीं था, परन्तु इनके पूर्वज अनरण्य को वह पराजित कर चुका था, उन्होंने शाप दिया था कि जो राम तेरा वध करेंगे, वे हमारे ही कुल में होंगे। इससे लोक दिखाव में रावण तो अपने को विजयी मान लिया था, परन्तु एक नर सहस्रार्जुन से बुरी तरह पराजित होने पर वह श्रीदशरथजी एवं जनक आदि तेजस्वी राजाओं से डरता था, इससे इन पर कभी चढ़ाई नहीं करता था।

श्रीदशरथजी आदि भी इसे इन्द्रादि से अवध्य मान कर बाम दे जाते थे कि कहीं हमारा अपमान न कर दे, पृथिवी के एक कोने में दुष्ट पड़ा है, रहे, हरि इच्छा से ही सब की प्रवृत्ति होती है, इससे दोनों ओर से युद्ध प्रवृत्ति रुकी हुई थी।

'को है ईस...'—उपर्युक्त प्रमाणों से जब त्रिदेव भी मुझ पर शासन नहीं कर सकते, तो और कौन ईश्वर नाम धारी है, जो मेरे विरुद्ध कुछ कर सकता है ? अतः, माल्यवान ! तुम्हारे उपर्युक्त वचन 'दससीस-ईस...' ये पागल-प्रलाप हैं।

[२२]

"भूमि भूमिपाल, ब्याल-पालक पताल, नाक-
पाल, लोकपाल जेते सुभट-समाज हैं।

कहै मालवान "जातुधान पति! रावरे को,
मनहुँ अकाज आनै ऐसो कौन आज है ?
रामकोह-पावक, समीर-सीय स्वास, कीस-
ईस-बामता बिलोकु, बानर को ब्याज है।
जारत प्रचारि फेरि-फेरि सो निसंक लंक,
जहाँ बाँको बीर तोसो सूर सिरताज है" ॥

अर्थ—तब माल्यवान् कहता है—हे राक्षसराज रावण! पृथिवी में जितने राजा हैं, पताल में जितने साँपों के राजा हैं, स्वर्ग के स्वामी इन्द्र और जितने लोकपाल हैं तथा और भी जितने अच्छे योद्धाओं के समाज हैं; उनमें से ऐसा कौन आज है जो मन में भी आपका अपकार करना ला सकता है ? अर्थात् कोई भी ऐसा नहीं है। यह श्रीरामचन्द्रजी की क्रोध की आग है जो श्रीसीताजी की विरह की श्वास रूप वायु से अत्यन्त प्रचण्ड हो रही है। ईश्वर की प्रतिकूलता को ही वानर के रूप में देखिये, यह वानर हनुमान् तो व्याजमात्र है। इसीसे तो जहाँ तुम्हारे समान शूरशिरोमणि और बाँका वीर वर्तमान् है, वहीं पर यह निश्शङ्क होकर, घूम-घूम कर और ललकार कर लङ्का को जला रहा है (और तुम उसका कुछ भी प्रतिकार नहीं कर पाते हो)।

विशेष—'भूमि भूमिपाल'—पृथिवी के राजा सुरथ, सुधन्वा एवं वीर मणि आदि उस समय वर्तमान वीर थे। 'व्याल पालक पताल'—पाताल में सर्पों के राजा अनन्त, वासुकी, तक्षक और कर्कोटक आदि थे। 'लोकपाल'; यथा—"रवि ससि पवन वरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥" (मा० बा० १८१); तथा—"इन्द्रो बह्निः पितृपतिनैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुवेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात् ॥" (अमर कोष) अर्थात् इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, वायु, कुवेर और ईश ये क्रम से पूर्व आदि दिशाओं के स्वामी हैं। ये दिशाओं के स्वामी लोकपाल भी कहाते हैं। नाकपाल (इन्द्र) भी लोकपालों में हैं, परन्तु उन्हें पृथक् भी कहा है, क्योंकि इन्द्र से रावण की विशेष वैर वृत्ति है और इधर इन्द्र सबसे प्रबल भी है। 'बानर को ब्याज है'; क्योंकि दैव का शुभाशुभ कर्म किसी को निमित्त बना कर ही होता है, वह दैव अपने को प्रत्यक्ष नहीं करता, उसका दिया हुआ भोग ही देख पड़ता है, इसके प्रमाण अयोध्या कांड पद ४

के 'भरत की मातु...' इस वाक्यखंड के विशेष में लिखे गये। अतः, ईश-वामता को इस वानर के रूप में देख लीजिये।

रावण ने विश्वमात्र को दुःख दिया था, और फिर मुनियों को बहुत दुःख दिया था, इसके प्रति इन सब के शरीरी श्रीरामजी में क्रोधाग्नि उद्दीप्त हुई। तब श्रीरामजी ने राक्षसमात्र का वध करने की प्रतिज्ञा की। फिर उसने श्रीजानकीजी का हरण किया, उनकी विरह भरी श्वास रूपी प्रचण्ड वायु से वह अग्नि प्रचण्ड पड़ी, वही अग्नि लङ्का भस्म कर रही है, वानर तो निमित्त मात्र है। जैसे द्रौपदी की शरणागति पर ही उनके विरोधी अन्यायी कौरवों का संहार भगवान् ने मन से कर लिया था, अर्जुन को दिखाया भी है—"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा" (गीता ११।३३-३४); अर्थात् अर्जुन ! तू निमित्त मात्र हो जा।...मेरे द्वारा ये पहले से मारे हुए (मृत्यु के लिये नियत किये हुए) हैं। अतः, इन्हें तू मार, घबड़ा मत। द्रौपदीजी के प्रतिकार में मैं कौरवों का संहार कराऊँगा; यह भी भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है; यथा—"ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति। यद्गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥" (महा० उद्योग० ५८।२२); अर्थात् मैं दूर द्वारका में था, उस समय द्रौपदीजी ने 'हे गोविंद' ऐसा जोर से पुकारा है, उसका ऋण बढ़ गया है, वह मेरे हृदय से नहीं जाता; भाव यह कि मैं उसी का बदला चुकाते हुए द्रौपदी के विरोधियों का संहार कराऊँगा, फिर वहीं पर यह भी कह दिया है कि अर्जुन सब का संहार करेंगे, भाव यह कि मैं उनको निमित्त बना कर कराऊँगा। इसी प्रकार यहाँ वानर को निमित्त बनाकर ईश फल दे रहा है।

'जारत प्रचारि फेरि-फेरि...'—दैव गति मनुष्य एवं राक्षस आदि के सामर्थ्य से रोकी नहीं जा सकती, यह जो उपर्युक्त अयो० ४ के विशेष के प्रमाण की बात है, वह यहाँ प्रत्यक्ष है। इतना समर्थ रावण है, अपने पूर्ण दल-बल के साथ खड़ा है, पर कुछ कर नहीं पाता। यह आश्चर्य घटना है; यथा—"कहु कपि रावन-पालित लंका। केहि बिधि दहे दुर्ग अति बंका ॥" (मा० लं० ३२); "सत्य बचन कहु निसिचर नाहा। साचेहु कीस कीन्ह पुर दाहा ॥ रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई ॥" (मा० लं० २२); तथा—"त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लङ्कानाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने ॥"

हनुमन्नाटक); अर्थात् लंका का धर्षण देवता भी नहीं कर सकते थे, उसे उस रावण के रहते हुए तुमने कैसे जला डाला और वह तुम्हारा कुछ नहीं कर सका।

हनुमान्‌जी ने गर्ज-गर्ज कर और कई बार घूम-घूमकर नगर जलाया है, फिर भी रावण इनका कुछ नहीं कर सका। श्रीहनुमान्‌जी के इसी आश्चर्य कर्म को देखकर लङ्का-निवासियों का युद्ध-उत्साह टूट गया था और वे जीवन से भी निराश हो गये थे; यथा—"लंक दाह देखे न उछाह रह्यो काहुन को, कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपिहैं॥ 'बाँचिहैं न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के, को हैं रन रारि को जौं कोसलेस कोपिहैं'॥" (लं० १)। इस प्रकार माल्यवान् ने उस ईश का परिचय दिया।

अलङ्कार—'राम कोह पावक समीर सीय स्वास' इसमें 'रूपक' है तथा 'कीस-ईस-बामता-बिलोकु, बानर को व्याज है' इसमें 'कैतवापह्नुति' है।

लक्षण—"कैतवपह्नुति एक कौं, मिस करि बरनत आन। तीछन तीय कटाछ मिस, बरसत मनमथ बान॥" (काव्य प्रभाकर-भानु); यहाँ वानर के कर्म को छिपा कर ईश-वामता का वर्णन व्याज से किया गया है। तथा—"पठै मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोहीं॥" (मा० उ० ६६); "लखी नरेस बात फुरि साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाची॥" (मा०अ०३३)।

[२३]

पान, पकवान बिधि नाना को, सँधानो, सीधो,
बिबिध बिधान धान बरत बखारहीं।
कनक किरीट कोटि, पलँग, पेटारे, पीठ,
काढ़त कहार, सब जरे भरे भारहीं॥
प्रबल पावक बाढ़यो जहाँ काढ़यो तहाँ डाढ़यो,
झपट-लपट भरे भवन भँडारहीं।
तुलसी अगार न पगार न बजार बच्यो,
हाथी हथिसार जरे, घोरे घोरसारहीं॥

शब्दार्थ—पान = पीने की वस्तु, पेय, पानीय। सँधानो (सं० संधनिका)= अचार, चटनी। सीधो = आटा-दाल-चावल आदि। पीठ=काष्ठासन, पीढ़ा, सिंहासन। धान=धान्य।

अर्थ—पेय पदार्थ, नाना भाँति के पक्वान्न, अँचार-चटनी, सीधा और नाना प्रकार के धान्य (अनाज), ये सब बखार (अन्नागार) में ही जल रहे हैं। करोड़ों सोने के मुकुट, पलँग, पेटारे और पीढ़े एवं सिंहासन, इन्हें निकालते हुए कहार भार लिये हुए ही सब जल गये; (क्योंकि) प्रबल अग्नि बढ़ गई, इससे जो वस्तु जहाँ पर निकाल कर रक्खी गई, वहाँ पर भी जल ही गई; क्योंकि घर और भंडार में आग की लपटें झपट कर भर गईं (अर्थात् वायु के द्वारा लपटें झपट कर बाहर रक्खी हुई वस्तुओं में भी लग गईं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि घर, चहारदीवारी, बाजार आदि कुछ नहीं बचा। (यहाँ तक कि—) हाथी हस्तिशाला ही में और घोड़े घुड़शाला में ही जल गये।

विशेष—'पान पकवान···'—मेवा आदि के अरक, ओषधियों के शर्वत और आसव मद्य, तथा दूध आदि पीने के पदार्थ हैं। खाझा, खुरमा, लड्डू, गुलाब जामुन, गुलगुला, जलेबी एवं मालपुआ आदि पक्वान्न हैं।

'बिबिध बिधान धान···'—'धान' पद यहाँ धान्य (अन्न) मात्र के अथ में है, केवल धान (शालि) के ही लिये नहीं है।

पान, पकवान एवं सँवाना और सीधा यह कोठार (भाण्डार) की वस्तुएँ हैं और धान्य (सब प्रकार के अन्न) बखार में रहता है। पर यहाँ पर कोठार और बखार को एक साथ माना गया है। अतः, बखार के ही अन्तर्गत कोठार की व्यवस्था समझनी चाहिये।

'कनक किरीट···'—ये सब राज प्रासाद की वस्तुएँ हैं। सोने के मुकुट मणियों से जटित करोड़ों हैं। रेशम निवार से बुने हुए पलँग हैं और दुशाला आदि वस्त्रों के भरे हुए पेटारे हैं तथा सुवर्ण के सिंहासन एवं पीढ़े आदि हैं।

'हाथी हथिसार जरे···'—किसी में ऐसा भी सामर्थ्य न रहा कि इन्हें बन्धन खोलकर बाहर निकाल देता। मन्दोदरी ने सत्य ही कहा है—"कंत बीस लोचन बिलोकिये कुमंत्र फल ख्याल लंका लाई कपि रांड़ की-सी झोपरी।" (लं० २७)।

[२४]

हाट बाट हाटक पिघिलि चल्यो घी-सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति ताय सों।

नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि-पागि ढेरी कीन्हीं भली-भाँति-भाय-सों ॥
पाहुने कृसानु पवमान सो परोसो, हनुमान,
सनमानि कै जेंवायो चित चाय सों।
तुलसी निहारि अरि नारि दै-दै गारि कहैं,
"बावरे सुरारि बैर कीन्हों राम राय सों" ॥

शब्दार्थ—पवमान = वायु। परोसो = परोसनेवाला।

अर्थ—हाटों (बाजारों) में और मार्गों में सोना पिघल कर बहुत घी के समान बह चला। अग्नि की ताप से सोने की कड़ाही के समान लंका तप रही है। सब बलवान राक्षस अनेक प्रकार के पक्वान्न के समान हैं। (श्रीहनुमान्‌जी ने) उन्हें भली-भाँति प्रेम से पाग (चासनी) में डुबा-डुबाकर ढेर लगा दिया है। अग्नि देव पाहुन (मेहमान) हैं और वायु देवता परोसनेवाले हैं तथा श्रीहनुमानजी ने चित्त के उत्साहपूर्वक सम्मान के साथ भोजन कराया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (उस समय) उक्त घटना देखकर शत्रु रावण आदि की स्त्रियाँ गाली दे-देकर कहती थीं—"पागल रावण ने राजा रामचन्द्रजी से वैर किया है (यह उसी का फल भोगना पड़ रहा है,)।"

विशेष—इस छन्द में श्रीरामजी का प्रताप 'रूपक अलङ्कार' के साथ करते हैं—

'हाट बाट हाटक···'—हाट-बाट के सोने के खम्भे एवं छज्जे आदि के थोड़े सोने अत्यन्त ताप से घी के समान पिघल कर बह चले; परन्तु लंका की नीचे की स्वर्णमयी भूमि अत्यन्त ताप से कड़ाही की भाँति तप्त होकर खौल रही है, नीचे स्थलों में वह घी के समान पिघला सोना खौल रहा है। सोना पिघलने में श्रीराम-प्रताप का स्वल्पांश सोहागा है।

'नाना पकवान····'—बलवान् राक्षस श्रीहनुमान्‌जी पर आक्रमण करते थे, उन्हें आप उन्हीं पिघले सोने के खौलते हुए कुण्डों में डाल देते थे, वे उसमें खौल कर किनारे हो जाते थे, उनका ढेर लग गया, येही नाना प्रकार के जिलेबी एवं गुलाब जामुन आदि पागे हुए पकवानों के ढेर के समान हैं। 'भली भाँति भाय सों'—यहाँ श्रीहनुमान्‌जी में वीररस के गर्व एवं अमर्ष उल्लसित होकर सञ्चारी भाव के रूप में प्राप्त हैं। श्रीहनुमान् के पिता पवन देव के अग्नि

देव मित्र हैं; यथा—"चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी ॥" (मा० बा० १२५); लंक-दहन में स्पष्ट कहा ही है—"हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास ॥" (मा० सुं० २५); इससे अग्नि देव को आराध्य पाहुन जान कर उनको भोजन कराने के लिये वीररस के गर्व एवं अमर्ष पूर्वक शत्रु वीरों को पक्कान्न के समान पाग-पाग कर, ढेर लगा दिया है।

'पाहुन कृसानु...'—पवन देव अपने उनचासो रूपों से चल रहे हैं, अपने प्रबल बवंडर एवं झकोरों से उन पक्कान्न रूप राक्षसों को उड़ा कर प्रचण्ड अग्नियों में डाल देते हैं; क्योंकि उन राक्षसों के शरीर रक्त-मांस जलने से कुछ हलके भी हो गये हैं। प्रचण्ड अग्नि उन्हें जला देती है, यह पवन देव का परोसना और अग्नि देव का भोजन करना है।

'हनुमान सनमानि कै जेवायो...'—'चित चाय' इस पद में वीर रस का स्थायी उत्साह प्रत्यक्ष है। उद्भट योद्धाओं को देख कर चित्त में सहर्ष चाव का जगजगा उठना उत्साह स्थायी है। मेहमान को उत्साह से भोजन कराना ही चाहिये। 'सनमानि कै...'—नाना पकवान परोसकर खिलाना मेहमान का सम्मान है। अग्नि आदि देवता रावण के वन्दी थे, इससे उसकी दुर्दशा पर इन्हें हर्ष है। अतः, इस भोजन में वे अपना अधिक सम्मान मानते हैं। मेहमान को सम्मान पूर्वक जेवाने में स्त्रियाँ गाली भी गाती हैं, उससे वे मेहमान अधिक विलंब तक चाव से भोजन करते हैं; यथा—"गारी मधुर सुर देहिं सुंदरि व्यंग्य बचन सुनावहीं। भोजन करहिं सुर अति बिलंब बिनोद सुनि सचु पावहीं ॥" (मा० बा० ९८); वैसे यहाँ आगे गाली गान भी कहते हैं—

'निहारि अरिनारि दै-दै गारि कहैं....'—शत्रु की नारियाँ रोती हुई रावण को गालियाँ देती हैं। इसे सुन कर अग्नि देव को और भी भोजन करने में चाव होता है, वे अपनी प्रचण्ड लपटों से राक्षसों के शरीरों को भस्म करते हैं। यही गाली गान पर मेहमान की प्रसन्नता है।

यहाँ श्रीहनुमान्जी में वीररस का उत्साह और राक्षसियों में अपने-अपने वीर पतियों एवं पुत्रों का जलना देख कर करुण रस का स्थायी शोक पूर्ण है। इस प्रकार श्रीरामजी के दूत के वीरत्व से ही शत्रु पुर में करुण रस का स्थायी शोक छा रहा है, इसमें श्रीरामजी का प्रताप प्रत्यक्ष है; यथा—"प्रभु प्रताप

बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी ॥ तव रिपु नारि रुदन जल धारा। भरयो बहोरि भयउ तेहि खारा ॥" (मा० लं० १)।

अलङ्कार—'रूपक' है; क्योंकि पूरे पद में विना निषेध के उपमेय और उपमान में समता कही गई है।

[२५]

रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट-उर,
दिन-दिन बिकल, सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न बिसेष, ओत पावै न मनाँक सो॥
राम की रजाय ते रसाइनी समीरसुनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवांक सो।
जातुधान-बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो॥

शब्दार्थ—राज रोग = १—असाध्य रोग, २—क्षय रोग। उपचार=उपाय, ओषधि करना। बिसेष=भेद, अन्तर; यथा—"मति भ्रम मोरि कि आन बिसेषा।" (मा० बा० २००)। ओत=बीमारी में कुछ आराम, चैन। मनाक=थोड़ा। रसाइनी (रसायनी=रासायनिक)=रसायन शास्त्र का ज्ञाता, रस वैद्य। सरवांक (सं० शराब)=सरवा, मिट्टी की परई, दीपक के समान मिट्टी का छोटा पात्र, जिसमें रख कर रस फूँके जाते हैं। बुट=बूटी। पुटपाक=१ पत्ते के दोने में ओषधि रखकर पकाने का विधान (वैद्यक)। २ मुँहबंद बरतन में दवा रखकर उसे गड्ढे के भीतर पकाने का विधान, ३ दवाओं का बना हुआ गोला जो आग में फूँका जाता है। जातरूप=सोना। मृगांक=वैद्यक में एक प्रकार का रस, सोने की भस्म।

अर्थ—विराट् पुरुष के हृदय में रावण रूपी राजरोग बढ़ने लगा, उससे वह दिनोदिन व्याकुल ही होता गया; यहाँ तक कि वह समस्त सुखों से हीन हो गया। देवता, सिद्ध और मुनि लोग अनेक प्रकार की ओषधियाँ कर के हार गये, परन्तु कुछ भी (रोग में) अन्तर नहीं पड़ता था, इससे बीमारी में कुछ भी आराम नहीं मिलता था। तब श्रीरामजी की आज्ञा से रसवैद्य रूप श्रीहनु-

मानूजी ने समुद्र पार उतर कर और (लङ्का रूपी) सरवा को ठीक कर के राक्षस रूपी बूटियों के रस से लङ्का के सोने और रत्नों का पुटपाक बना कर तथा उसे यत्न से फूँक कर मृगाङ्क नाम का रस बना डाला (उसका सेवन कर वह विराट् सुखी होने लगा, एक महीने में नीरोग हो गया,)।

विशेष—'रावन सो राजरोग…'—भगवान् के विराट् रूप का जगत् ही शरीर है, उसमें हृदय की प्रवृत्ति लंका पुरी है, उसमें मोह रूपी रावण भारी रोग है; यथा—"वपुष ब्रह्मांड सो प्रवृत्ति लंका दुर्ग…मोह दसमौलि तद्भ्रात अहँकार…" (वि० ५८); "मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तेहि ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (मा० उ० १२०)। यह रोग बढ़ता ही रहता है। रावण का परिवार के साथ बढ़ना रोग बढ़ना है।

विराट् का उर (उदर) समुद्र भी कहा गया है; यथा—"उदर उदधि…" (मा० लं० १४); उस समुद्र के बीच में लंका पुरी है, उसमें रावण रूपी रोग बढ़ने लगा, यों भी भाव अच्छा है।

'दिन-दिन बिकल…'; यथा—"अतिसय देखि धरम कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥" से "निज संताप सुनाएसि रोई। काहू ते कछु काज न होई॥" (मा० बा० १८३); जैसे-जैसे मोह परिवार बढ़ते हैं, वैसे-वैसे रोग बढ़ने से सुख घटता जाता है, पूर्णता पर सभी सुख नष्ट हो जाते हैं। वैसे रावण के बढ़ने पर अधर्म एवं अनीति से संसार दुःखमय हो गया था। विराट् के नेत्र रूप सूर्य प्रताप रहित हो गये, मन रूप चन्द्रमा मलिन पड़ गया, बाहु रूपी इन्द्र आदि शोक से क्षीण हो गये और सर्वाङ्ग शरीर रूपी सारा संसार तीनों तापों से तप्त हो रहा था, तब देवता युद्ध कर के हार गये, सिद्ध सिद्धाई से हार गये और मुनि जप-तप आदि कर के हार गये। परन्तु विराट् के रोग में कुछ भी अन्तर न पड़ा, कुछ भी उसे विश्राम न मिला। तब सब सुर, मुनि आदि ने श्रीरामजी से पुकार की, उन्होंने अवतार ले, वन जाकर श्रीहनुमानजी को आज्ञा देकर लंका भेजा।

'होत न बिसेष' इसके स्थान पर आधुनिक प्रतियों में 'होत न बिसोक' पाठ है। वह ठीक नहीं, क्योंकि साथ ही 'ओत पावै न…' ऐसा है, तो विशोक की चर्चा कैसी? 'बिसेष' का अर्थ 'भेद, अन्तर' होता है, यही संगत है।

'सोधि सरवांक सो'—श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीजानकीजी की दशा देखकर लंका को त्रिलोक की शोकशाला के समान देखा—पूर्वोक्त पद १ में यह लिखा गया, इसी पर लंक–दहन का निश्चय किया; यथा—"जो हौं प्रभु आयसु लै चलतो। तौ एहि रिस तोहिं सहित दसानन जातुधान दल दलतो॥ रावन सो रस-राज सुभट-रस सहित लंक खल खलतो। करि पुटपाक नाक-नायक हित घने-घने घर घलतो॥" (गी० सु० १३); जब श्रीरामजी की प्रेरणा से रावण ने पूँछ में तेल-वस्त्र लपेट कर आग लगाई, तब इन्होंने रामकृत संयोग पाकर लंक-दहन किया। यहीं लंका को सरवा रूप में ठीक करना है।

मृगाङ्क बनाने की विधि श्रीवैजनाथजी ने इस प्रकार लिखी है—

तेल, कांजी, मट्ठा, त्रिफला, गोमूत्र और कुरथी के काढ़ा आदि में तप्त करके (सोना को) दो बार बुझाना चाहिये। फिर सोना 'बरख' कर उसे खटाइ और शुद्ध पारा समान भाग में ले उसमें घोटना चाहिये। फिर कचनार-रस की एक पुट देकर अग्निछाले के रस की तीन पुटें देनी चाहिये, और फिर करियारी की जड़ के रस की एक पुट देनी चाहिये, तब चौथाई मोती डाल कर उस सोने को घोटना चाहिये। फिर शोधा गन्धक सब को बराबर डाल कर दो दिन तक घोटना चाहिये। तब गोला बना कर सरवा में रख कर, बंद कर उसे कपड़ मिट्टी कर के गजपुट में फूँक देना चाहिये।

यहाँ मेघनाद आदि प्रबल राक्षसों का दर्प पारा है, उनसे सामान्य राक्षसों का दर्प गंधक और सामान्य सैनिक राक्षस करियारी आदि जड़ी हैं। इनका मर्दन करना घोटना है। सोना, मोती एवं रत्न आदि लंका में हैं ही। लंका की भूमि सरवा है। कई बार उलट-पलट कर लंक-दहन फूँकना है।

मृगांक सम्पन्न होने पर कुछ काल उसका सेवन करने पर रोग नष्ट होता है, वैसे हनुमान्‌जी के इस कर्म से रावण का प्रताप कम होने लगा, श्रीजानकी जी को धैर्य हुआ। श्रीविभीषणजी को श्रीराम-प्रताप का ज्ञान हुआ वे लंका त्याग कर श्रीरामजी की शरण हुए, सागर बाँधा गया, युद्ध हुआ, रावण आदि सभी रोग-परिवार का नाश हुआ। विराट् का शरीर रूपी तीनों लोक सुखी हो गया। इस प्रकार क्रमशः रोग नष्ट हो गया; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति

विकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं।।" (गी० उ० १३)।

अलङ्कार—'रूपक'।

संबंध—इस सुन्दर काण्ड के आदि के दो छन्दों में अशोक वन का उजाड़ना कहा गया, फिर ३, ४, ५ में पूछ में तेल-वस्त्र का लपेटा जाना और फिर जलने पर उसकी भीषणता कही गई। तब छन्द ६ से २५ तक लङ्क-दहन का अनोखा वर्णन किया गया है। आगे हनुमान्‌जी का लौटना कहते हैं—

श्रीहनुमान्‌जी का लौटना

[२६]

जारि बारि कै बिधूम, बारिधि बुताई लूम,
नाइ माथो पगनि भो ठाढ़ो कर जोरि कै।
"मातु! कृपा कीजै, सहिदानि दीजै" सुनि सीय,
दीन्हीं है असीस चारु चूड़ामनि छोरि कै॥
"कहा कहौं, तात! देखे जात ज्यों बिहात दिन,
बड़ी अवलंब ही सो चल्यो तुम्ह तोरि कै"।
तुलसी सनीर नैन, नेह सों सिथिल बैन,
बिकल बिलोकि कपि कहत निहोरि कै॥

शब्दार्थ—जारि-बारि=भली-भाँति जलाकर। कै बिधूम=नितान्त राख कर के। सहिदानि=पहचान का चिह्न। अवलंब ही=अवलंब थी।

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी ने लंका को भली-भाँति जला कर नितान्त राख कर दिया और अपनी पूँछ समुद्र में बुझा कर, वे श्रीजानकीजी के चरणों में शिर झुका कर हाथ जोड़ खड़े हो गये, (और कहने लगे—) "हे माता! कृपा कर के कोई चिह्न दीजिये (जिससे वहाँ जाने पर श्रीरामजी विश्वास करें,)" यह सुनकर श्रीजानकीजी ने आशीर्वाद दिया और (वस्त्र में बँधा हुआ) खोल कर सुन्दर चुड़ामणि दिया, (और कहा—) "हे तात! मैं तुम से क्या कहूँ? मेरे दिन जिस प्रकार कट रहे हैं, यह तो तुम देखे ही जाते हो (स्वामी के समक्ष कहना), (तुम्हारे आने पर तुम्हारा मुझे) बड़ा भारी सहारा था, उसे

भी तुम तोड़ कर जा रहे हो"। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (ऐसा कहते-कहते) श्रीसीताजी के नेत्रों में जल भर आया और स्नेह से उनकी वाणी शिथिल पड़ गई। उनको व्याकुल देख कर (उन्हें सान्त्वना देते हुए) श्रीहनुमान्‌जी प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

विशेष—'जारि बारि कै बिधूम'; यथा—"जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा।" (मा० लं० ३४) 'बारिधि बुताई लूम··· छोरि कै'; यथा—"कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी॥ पूँछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि। जनक सुता के आगे, ठाढ़ भयो कर जोरि॥ मातु मोहिं दीजै कछु छीन्हा। जैसे रघुनायक मोहिं दीन्हा॥ चूड़ामनि उतारि तब दयऊ। हरष समेत पवनसुत लयऊ॥" (मा० सुं० २६); तथा—"ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूड़ामणि शुभम्। प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ॥" (वाल्मी० ५।३८।६६); अर्थात् अनन्तर कपड़े में बँधा हुआ दिव्य चूड़ामणि खोलकर श्रीसीताजी ने श्रीहनुमान्‌जी को रामचन्द्रजी को देने के लिये दिया।

'बड़ी अवलंब ही···'; यथा—"कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्ह हूँ तात कहत अब जाना॥ तोहिं देखि सीतल भइ छाती। पुनि मो कहुँ सो दिन सो राती॥" (मा० सुं० २६)।

'सनीर नैन, नेह सों···'; यथा—"कपि के चलत सिय को मन गहवरि आयो। पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो॥ कहन चह्यो सँदेस, नहिं कह्यो, पिय के जियकी जानि हृदय दुसह दुख दुरायो। देखि दसा ब्याकुल हरीस···" (गी० सुं० १५); 'कहत निहोरि कै'—यह समझाना आगे के छन्द में है—

[२७]

"दिवस छ-सात जात जानिबे न, मातु! धरु,
धीर, अरि अंत की अवधि रही थोरि कै।
बारिधि बँधाय सेतु ऐहैं भानुकुल-केतु,
सानुज कुसल कपि-कटक बटोरि कै"॥
बचन बिनीत कहि, सीता को प्रबोध करि;
तुलसी त्रिकूट चढ़ि कहत डफोरि कै।

"जै-जै जानकीस दससीस-करि-केसरी"
कपीस कूद्यो बातघात बारिधि हलोरि कै ॥

शब्दार्थ—डफोरि कै=हाँक देकर; ललकार कर। बातघात=हवा के आघात से। हलोरि कै=लहरें उठा कर।

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी से कहा—) "हे माता! छः-सात दिन अर्थात् थोड़े दिन (और देखना है; इन) के बीतने में। विलम्ब न जान पड़ेगा। अतः, धैर्य धारण कीजिये। अब शत्रु के नष्ट होने की अवधि थोड़ी ही रह गई है। सूर्य वंश के ध्वजा रूप श्रीरामजी भाई के साथ वानर सेना एकत्र कर, समुद्र में पुल बँधा कर यहाँ कुशल पूर्वक (शीघ्र ही) आवेंगे"। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं। इस प्रकार विनम्र वचन कह श्रीसीताजी को समझा (आश्वासन दे) कर श्रीहनुमान्‌जी त्रिकूट पर्वत पर चढ़ कर बड़े ऊँचे स्वर में ललकार कर बोले—"रावण रूप हाथी का नाश करने के लिये सिंह के समान श्रीजानकीजी के स्वामी श्रीरामजी की जय हो, जय हो" (ऐसा कह कर) कपिराज श्रीहनुमान्‌जी अपने वेग की वायु के आघात से समुद्र में लहरें उठाते हुए (समुद्र के इस पार आने के लिये) कूदे।

विशेष—'दिवस छ सात जात''''—छः सात दिन यहाँ अल्पकाल का वाचक है; क्योंकि इसी प्रसंग को अन्यत्र भी कहा है; यथा—"कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित ऐहहिं रघुबीरा॥ निसिचर मारि तोहिं लै जैहहिं। तिहुँ पुर नारदादि जस गैहहिं॥" (मा० सुं० १५); तथा—"तौ लौं, मातु! आपु नीके रहिबो। जौं लौं हौं ल्यावौं रघुवीरहिं, दिन दस और दुसहु दुख सहिबो" (गी० सुं० १४); कहीं 'छ सात' कहीं 'कछुक' और कहीं 'दिन दस' कहा गया है। अतः, थोड़े दिन का अर्थ ही समीचीन है।

'अरि अंत की अवधि···'—श्रीजानकीजी ने कहा था; यथा—"मास दिवस महँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहिं जियत नहिं पावा॥" (मा० सुं० २६); इस पर कहते हैं कि उसने आपके लिये एक महीना की अवधि दी है, परन्तु उसकी अवधि अब थोड़ी ही रह गई है। छ-सात दिन में श्रीरामजी दल-बल के साथ यहाँ आ जायँगे, बस, फिर तो शत्रु नाश में कुछ भी विलम्ब न लगेगा; यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु,

जरे निसाचर जानु ॥ जौं रघुवीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई ॥ राम बान रबि उए जानकी। तम बरूथ कहँ जातु धान की ॥" (मा० सुं० १५); तथा—"सोखि कै, खेत कै, बाँधि सेतु करि, उतरिबो उदधि न बोहित चहिबो। प्रबल दनुज-दल दलि पल आध में, जीवत दुरित-दसानन गहिबो ॥ बैरि बृंद बिधवा बनितनि को, देखिबो बारिबिलोचन बहिबो।" (गी० सुं० १४)।

'बचन बिनीत कहि....'; यथा—"जनक सुतहिं समुझाइ करि, बहु बिधि धीरज दीन्ह। चरन कमल सिर नाइ कपि, गवन राम पहँ कीन्ह ॥ चलत महा-धुनि गर्जेसि भारी। गरभ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी ॥" (मा० सुं० २७); "सानुज सेन समेत स्वामिपद निरखि परम मुदमंगल लहिबो ॥ लंक दाह उर आनि मानिबो साँच राम सेवक को कहिबो। तुलसी प्रभु सुर सुजस गाइ हैं, मिटि जैहैं सबको सोच दव दहिबो ॥" (गी० सुं० १४)।

[२८]

साहसी समीरसूनु नीरनिधि लंघि, लखि
लंक सिद्धिपीठि निसि जागो है। मसान सो।
तुलसी बिलोकि महा साहस प्रसन्न भई,
देवी सिय सारिषी दियो है बरदान सो ॥
बाटिका उजारि, अच्छ धारि मारि, जारि गढ़,
भानुकुल-भानु को प्रताप-भानु भानु सो।
करत बिसोक लोक-कोकनद, कोक-कपि,
कहै जामवंत आयो-आयो हनुमान सो ॥

शब्दार्थ—सिद्धि पीठि = जिस स्थान पर मंत्र सिद्ध हो जाते हों। जागो है मसान = श्मशान जगाना, मुहा० तन्त्रशास्त्र के अनुसार श्मशान पर बैठकर शव की सिद्धि करना, इसकी रीति ऐसी है कि अमावस या पूर्णमासी आदि तंत्रशास्त्र की विहित तिथि में श्मशान में किसी शव को आधा जल में और आधा भूमि पर रखकर उसकी छाती पर बैठ कर कोई मंत्र जपते हैं, इस क्रिया में बहुत विघ्न आते हैं, साहसी साधक यदि विघ्नों को बचा जाय तो श्मशान की देवी इच्छित वरदान देती है। उसी का रूपक यहाँ है।

अर्थ—साहसी श्रीहनुमान्‌जी ने सागर लाँघकर और लङ्कापुरी को सिद्धपीठ

विचार कर उसमें सारी रात मसान-सा जगाया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उनके इस महान् साहस को देखकर श्रीसीता जैसी देवी प्रसन्न हुई और उन्होंने ऐसा वरदान दिया है, जिससे श्रीहनुमान्जी ने रावण की अशोक-वाटिका उजाड़ दी और सेना के साथ अक्षकुमार को मारकर लङ्कगढ़ को जला दिया है। ऐसे हनुमान्जी को आते देखकर श्रीजाम्बवानजी कहने लगे—सूर्यकुल के प्रकाशक सूर्य रूप श्रीरामजी के प्रताप-सूर्य के समान सूर्य रूप वह हनुमान समस्त लोक रूपी कमलों को और वानर रूपी चक्रवाकों को शोकरहित करता हुआ आ गया, आ गया।

विशेष—'साहसी समीर सूनु···'—अत्यन्त साहसी होता है, वह श्मशान जगाने की क्रिया में सिद्धि पाता है। हनुमानजी बड़े साहसी हैं; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥ कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥" (मा० किं० २६)। अतः, योग्य हैं।

'नीरनिधि लंघि'—प्रायः नदी के किनारे रेत के श्मशान में आधी रात में मृतक जगाया जाता है। वैसे ही श्रीहनुमानजी ने समुद्र लाँघकर उस पार की असुर-निवास लंक भूमि को श्मशान भूमि निश्चित किया; क्योंकि वहाँ के असुरों की जठराग्नि में नित्य ही कितने ही जीवों के मांस भस्म होते थे। अतः, तांत्रिक प्रयोग की तामसी सिद्धियों की वह सिद्ध पीठ है। ऐसा समझकर हनुमानजी रात भर लंका में फिरे, फिर अशोक वृक्ष पर बैठे हुए दिन-रात जागते रहे। श्मशानी देवी को काक, उलूक एवं अजा आदि की बली दी जाती है, मदिरा की धार दी जाती है और फिर मंत्र जप किया जाता है, तब पुरश्चरण पूरा होता है। वैसे यहाँ श्रीहनुमानजी ने श्रीसीता देवी को मुद्रिका-प्रदान रूपी बलि दी, सप्रेम वचनों से वार्त्ता की, यही मद की धार देने के समान है और फिर श्रीराम-गुण गण का वर्णन किया, यही मंत्र जप करना है। रात्रि जागने के समय इन्होंने राक्षसियों के नाना प्रकार के भयंकर रूप देखे, यथा—"सीतहिं त्रास दिखावहीं, धरहिं रूप बहु मंद।" पर इन विघ्नों पर ये चुप रहे, इससे विघ्न नहीं हुआ। पुरश्चरण इस प्रकार पूरा हुआ, तब देवी ने प्रसन्न होकर वरदान दिया; यथा—"मन

संतोष सुनत कपि बानी । भगति-प्रताप-तेज-बल-सानी ॥ आसिष दीन्ह राम प्रिय जाना । होहु तात बल-सील-निधाना ॥ अजर-अमर गुननिधि सुत होहू । करहु बहुत रघुनायक छोहू ॥" (मा० सु० १६) ।

इस वरदान से कृतकृत्य होकर श्रीहनुमानजी ने आगे के समस्त कार्य किये हैं—

'बाटिका उजारि···'—रावण के प्राणों से अधिक प्यारा अशोक वन को उजाड़कर उसके प्यारे पुत्र अक्ष को मारा और सारा नगर जला डाला । इससे श्रीरामजी के प्रताप रूपी सूर्य का विकाश हुआ कि जिसके दूत का ऐसा प्रताप है, तो स्वमी का क्या कहना है ? इसी प्रताप को देखकर श्रीविभीषणजी ने निर्भय होकर लंक त्याग किया है । लंका के राक्षसों पर भी पूरा आतंक पड़ा; यथा—"बेग जीत्यो मारुत···तुलसी सयाने जातुधान पछिताने मन, जाको ऐसो दूत सो साहब अबै आवनो ।।" (पद ९)–इसका विशेष भी देखिये । कुम्भकर्ण ने भी कहा है; यथा–"हैं दससीस मनुज रघुनायक । जाके हनूमान से पायक ।।" (मा० लं० ६१) । मंत्रियों ने भी कहा है; यथा—"लंकदाह देखे न उछाह रह्यो काहुन को, कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपिहैं । 'बाँचिहै न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के, को है रन रारि को जौं कौसलेस कोपिहैं ।।" (लं० १); तथा—"समुझि तुलसीस कपि कर्म घर-घर घैरु, बिकल सुनि सकल पाथोधि बाँध्यो । बसत गढ़ लंक लंकेस नायक अछत लंकनहिं खात कोउ भात रांध्यो ।।" (लं०४); इत्यादि । इन कर्मों से हनुमान्जी श्रीरामजी के प्रताप रूप कहे गये हैं ।

'करत बिसोक लोक···'—लोकों के स्वामी इन्द्र, वरुण आदि कमल के समान शोक रूपी रात की निवृत्ति समझ प्रसन्न हुए कि हनुमान्जी ने ही रावण का गर्व तोड़ दिया, अब श्रीरामजी के साथ रहने पर रावण कहाँ ठहर सकता है ? 'कोक-कपि'–वानरों को भी शोक था, अवधि पूरी हो गई थी, यदि हनुमान्जी ने ऐसा पुरुषार्थ न किया होता तो वे सब सुग्रीव के यहाँ प्राणदंड पाते, अब वे भी शोकरहित हुए ।

'कहै जामवंत····'—जाम्बवानजी ने ही विश्वास दिखाकर इन्हें भेजा था, सफलता पर उन्हें बड़ा उत्साह है, इससे पहले उन्होंने ही कहा 'आयो-आयो···' ।

अलङ्कार—'उपमा और रूपक की संसृष्टि' ।

[२६]

गगन निहारि, किलकारी भारी सुनि, हनु-
मान पहिचानि भए सानँद सचेत हैं।
बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाज, मानो
आजु जाये जानि सब अंकमाल देत हैं॥
"जै जै जानकीस, जै जै लखन कपीस" कहि,
कूदैं कपि कौतुकी, नाचत रेत-रेत हैं।
अंगद मयंद नल नील बलसील महा
बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं॥

शब्दार्थ—बूड़त=डूबते हुए ('डूब' पद का उल्टा 'बूड़' हो गया है)। अंकमाल देना=गले लगाना, छाती से लगना, आलिंगन करना। गति=चेष्टा, मुद्रा।

अर्थ—किलकारी के बड़े भारी शब्द को सुनकर (समस्त वानरों और भालुओं ने) आकाश की ओर देखा, तब श्रीहनुमानजी को पहचानकर (वे सब) आनन्दित और प्रसन्न चित्त हो गये। मानों डूबते हुए जहाज का बचा हुआ पथिक-समाज प्रसन्न हुआ हो। 'हम लोगों का आज नया जन्म हुआ है' ऐसा जानकर सब परस्पर अंकमाल देने लगे। "जानकीपति श्रीरामजी की जय हो, जय हो, श्रीलक्ष्मणजी की जय हो, कपीश श्रीसुग्रीवजी की जय हो" ऐसा कहकर कौतुकी वानर (आनन्द से) कूदने लगे और समुद्र तट की रेती पर जगह-जगह नाचने लगे। श्रीअङ्गदजी, श्रीमयंदजी, श्रीनलजी और श्रीनीलजी आदि महा बलवान वानर (आनन्द में निमग्न हो) अपनी-अपनी पूँछें फिराने लगे और मुखों से अनेक प्रकार की (आनंद परक) मुद्राएँ बनाने लगे।

विशेष—'गगन निहारि···बूड़त जहाज···'; यथा—"नाँघि सिंधु एहि पारहिं आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा॥ हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना॥" (मा० सु० २७); तथा—"मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू। भयउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥" (मा० अ० ८५)।

'अंगद मयंद···'—इन महा बलवानों की हासता पर श्रीहनुमानजी गये थे; यथा—"जब अंगदादिन की मति गति पंगु भई पवन के पूत को न कूदिबे को

पलु गो।" (कि० १); इससे सफलता पर इन्हें बहुत आनन्द है। महान बलवान के कार्य पर ये सब मुग्ध हैं।

[३०]

आयो हनुमान प्रानहेतु, अंकमाल देत,
लेत पगधूरि एक चूमत लँगूल हैं।
एक बूझै बार-बार सीय समाचार, कहें,
पवन कुमार भो बिगत श्रमसूल हैं॥
एक भूखे जानि आपै आनि कंद मूल फल,
एक पूजै बाहु बल मूल तोरि फूल हैं।
एक कहैं 'तुलसी' सकल सिद्धि ताके जाके,
कृपा पाथनाथ सीतानाथ सानुकूल हैं॥

शब्दार्थ—प्रान हेतु=(कपियों के) प्राण बचाने के कारण। कृपा-पाथ नाथ=कृपा रूपी जल के स्वामी, कृपा-सागर।

अर्थ—अपने प्राणों की रक्षा करने वाले श्रीहनुमानजी को आया देखकर कोई तो उनसे गले लग कर मिलते हैं, कोई उनके चरणों की धूलि लेते हैं और कोई उनकी पूँछ चूमते हैं। कोई बार-बार श्रीजानकीजी के समाचार पूछते हैं, उन समाचारों को कहने ही से श्रीहनुमानजी की सारी थकावट और पीड़ा जाती रही तथा उनके कहने पर सुनने वालों के श्रम और शूल जाते रहे। कोई श्रीहनुमान्जी को भूखे जान कर स्वयं कंद, मूल और फल लाकर देते हैं और कोई फूल तोड़ कर श्रीहनुमान्जी की बल शालिनी बाहुओं का पूजन करते हैं। कोई कहते हैं कि कृपा सागर श्रीसीतापति जिस पर अनुकूल (प्रसन्न) होते हैं, उसके लिये सारी सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं।

विशेष—'प्रान हेतु'—हम लोगों के प्राण श्रीहनुमान्जी ने ही बचाये हैं; यथा—"नाथ काज कीन्हें हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥" (मा० सुं० २८)। इसलिये कृतज्ञता के रूप में उनसे मिलते हैं ये अंगद आदि बराबर वाले हैं। 'लेत पग धूरि'; क्योंकि इन्हीं चरणों से दौड़ कर श्रीराम कार्य किये हैं। अतः परम पावन हैं। 'एक चूमत लँगूल हैं'; क्योंकि इसी पूँछ

से लंक-दहन सरीखा महान् कार्य हुआ है। पुनः वानरो की पूँछ उन्हें अधिक प्यारी होती है; यथा—"कपि के ममता पूँछि पर, सबहि कह्यो समुझाइ।" (मा० सुं० २४)। अतः, प्यार से उनकी पूँछ चूमते हैं।

'एक बूझैं बार-बार···'—श्रीसीता रामजी के चरित कहने से तथा सुनने से श्रम और शूल दूर होते हैं; यथा—"एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥" (मा० सुं० ७); "राम चन्द्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥" (मा० सुं० १२); 'भो बिगत श्रम सूल हैं' यह वाक्य खंड श्रोता-वक्ता दोनों में लग सकता है। श्रीहनुमान्जी ने स्वयं कहा हैं, यथा—"यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथां ते रघुनन्दन। तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ॥ तच्छ्रुत्वाहं ततो वीर तव चर्यामृतं प्रभो। उत्कण्ठां तां हरिष्यामि मेघलेखामिवानिलः॥" (वाल्मी० ७।४०।१८-१९); अर्थात् हे श्रीरामजी! आपके चरित एवं कथा मुझे अप्सराएँ सुनाया करें, उससे मैं अपनी विरह-उत्कण्ठा दूर किया करूँगा।

श्रीहनुमान्जी के विषय में उनकी मार्ग की थकावट एवं श्रीरामजी का विरह दुःख समझ कर जो दुःख था, वह दूर हुआ; क्योंकि श्रीसीताजी का चरित ही उन्हें श्रेय देगा। सुन कर वानरों के खोजने का श्रम और न मिलने का दुःख दूर हो गया।

'एक भूखे जानि आपै···'—'आपै' इस पद के स्थान पर आधुनिक प्रतियों में 'आगे' पाठ है, परन्तु प्राचीन भागवतदास की प्रति में 'आपै' है, यही विशेष संगत है। स्वयं भूखे जान कर ला कर देते हैं, हनुमान्जी भूखे हैं नहीं! रावण के अशोक वन में फल खा चुके हैं; यथा—"सिय पायँ पूजि आसिषा पाइ। फल अमिअ सरिस खायो अघाइ॥" (गी० सुं० १६)।

'एक पूजै बाहु···'—भारी पुरुषार्थ करने पर वीरों की बाहु पूजी जाती है; यथा—"जे पूजी कौसिक-मख ऋषयनि जनक गनप संकर गिरिजा हैं।" (गी० उ० १३)। जैसे श्रीरामजी का वहाँ यज्ञ-रक्षण में पहला पुरुषार्थ था, तब उनकी बाँह पूजी गई। वैसे श्रीहनुमानजी ने भी यह पहला कार्य किया है, इससे इनकी भी बाहु पूजा हुई।

'बलमूल'—बाहैं बलशालिनी हैं, इन्हीं से लंका के बड़े-बड़े वीरों का नाश

किया है। अन्न का नाश कर मेघनाद से भी बाहु युद्ध किया है। अतः, ये बाहु पूज्य हैं।

'एक कहैं तुलसी.....'; यथा—"जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ! करहु तुम्ह दाया॥ ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥ सोइ बिजई बिनई गुनसागर। तासु सुजस तिहुँ लोक उजागर॥" (मा० सुं० २६); 'सकल सिद्धि.....'—यहाँ 'सकल' विशेषण से समस्त कार्यों की सफलता एवं अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति भी युक्त है। श्रीहनुमान्‌जी को इस प्रसंग (मा० सुं०) में आठो सिद्धियाँ प्राप्त हुईं—

१ अणिमा (छोटा हो जाना)—"भयउ परम लघुरूप तुरंता।"
२ महिमा (बड़ा होना)—"कपि बढ़ि लाग अकास॥"
३ गरिमा (भारी होना)—"जेहि गिरि चरन देइ...चलेउ सो गा पाताल तुरंता।"
४ लघिमा (हलकापन)—"देह बिसाल परम हरुआई॥"
५ प्राप्ति (अलभ्य लाभ)—"पावक जरत देखि....." अग्नि वहाँ अलभ्य थी, वह मिली।
६ प्राकाम्य (कामना पूर्ति)—"उलटि पलटि लंका सब जारी॥"
७ ईशित्व (शासन सामर्थ्य)—"देखि प्रताप न कपि मन संका।..."
८ वशित्व (वश करना)—पाँचों तत्त्वों ने वश होकर सहायता की है—वायु ने उँचासो रूप से आग बढ़ाई, अग्नि ने सोना भी जलाया और हनुमानजी को नहीं, आकाश ने गर्जन शब्द को अवकाश दिया, जल ने पूँछ बुझाई और पृथिवी ने देह में गरुता नहीं आगे दी, इत्यादि, इनके उदाहरण रामचरित मानस सुं० में हैं।

[३१]

सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की,
कहत चले चाय सों, सिरानो पंथ छन में।
कह्यो जुबराज बोलि बानर समाज "आजु,
खाहु फल" सुनि पेलि पैठे मधुवन में॥
मारे बागवान, ते पुकारत देवान गे,
"उजारे बाग अंगद," देखाए घाय तन में।

कहैं कपिराज "करि काज आये कीस, तुल-
सीस की सपथ, महामोद मेरे मन में ॥"

अर्थ—श्रीहनुमान्जी श्रीजानकीजी का स्नेह एवं शील-स्वभाव की कथा तथा लंका की कथा (समस्त घटना) उत्साह पूर्वक कहते हुए चले, सारा मार्ग क्षण में समाप्त हो गया (ऐसा जान पड़ा) । (किष्किन्धा पहुँचने पर) युवराज अंगदजी ने समस्त वानर समाज को बुला कर कहा—"आज आप लोग (इस बाग) के फल खायें" ऐसा सुनकर वे बल पूर्वक मधुवन नामक बाग में पैठ गये । बाग के रक्षकों ने मना किया, तब उन्हें मारा, वे पुकार करते हुए राजा सुग्रीव के देवान (कचहरी, दरबार) में गये । उन्होंने वहाँ कहा—"अंगद ने बाग उजाड़ डाला" फिर अपने शरीरों के घाव भी दिखाये (कि रोकने पर उन्होंने इस प्रकार हम लोगों को मारा भी है,) । तब कपिराज सुग्रीवजी ने कहा—"वानर कार्य कर आये, तुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी की शपथ है (यह अनुमान सत्य है); क्योंकि मेरे मन में महान् आनन्द हो रहा है (अतः, अवश्य कार्य सिद्ध हुआ है) ।"

विशेष—'सीय को सनेह सील कथा'; यथा—"कपि के चलत सिय को मन गहवरि आयो । पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो ॥ कहन चह्यो सँदेस, नहिं कह्यो, पिय के जिय की जानि हृदय दुसह दुख दुरायो । देखि दसा ब्याकुल हरीस, ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो ॥" (गी० सुं० १५); तथा—"अनुरक्ता हि वैदेही रामे सर्वात्मना शुभा । अनन्यचित्ता रामेण पौलामीव पुरन्दरे ॥ तदेकवासः संवीता रजोध्वस्ता तथैव च । सा मया राक्षसी मध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ राक्षसीभिर्विरूपाभिर्दृष्टा हि प्रमदा वने । एक वेणी धरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा ॥" (वाल्मी० ५।५६।२४-२६); अर्थात् श्रीसीताजी सब प्रकार से श्रीराम में अनुरक्त हैं, जैसे शची इन्द्र में, उन्हें श्रीरामजी के अतिरिक्त दूसरी चिन्ता नहीं है । वे एक वस्त्र पहने हुई हैं, धूल में लिपटी हुई हैं, उन सीताजी को मैंने राक्षसियों के बीच में उन्हें उन राक्षसियों से डरवाई जाती हुई देखा है । विरूपा राक्षसियों के द्वारा सतायी जाती हुई सीताजी एक चोटी धारण किये हुई, दीनता पूर्वक पति की चिन्ता कर रही थीं । तथा—"सफलो राघवोद्योगः सुग्रीवस्य च संभ्रमः । शीलमासाद्य सीताया मम च प्रीणितं

मनः ॥ २ ॥ आर्यायाः सदृशं शीलं सीतायाः प्लवगर्षभाः। तपसा धारयेल्लोकान्क्रुद्धा वा निर्दहेदपि ॥ ३ ॥ सर्वथाति प्रकृष्टोऽसौ रावणो राक्षसेश्वरः। यस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ॥ ४ ॥ न तदग्निशिखा कुर्यात्संस्पृष्टा पाणिना सती। जनकस्य सुता कुर्याद्यत्क्रोधकलुषी कृता ॥ ५ ॥" (वाल्मी० ५।५६); अर्थात् (श्रीहनुमान्‌जी ने जाम्बवान् आदि से कहा है—) श्रीरामजी का उद्योग सफल हुआ, श्रीसुग्रीवजी का उत्साह सफल हुआ, श्रीसीताजी का शील देख कर मेरा मन बड़ा प्रसन्न हुआ। आर्या श्रीसीताजी के समान जिस स्त्री का शील हो, वह अपने तपोबल से समस्त लोकों का धारण कर सकती है, अथवा, क्रोध करके जला सकती है। रावण तो बड़ा ही भाग्यवान् है, वह अपनी तपस्या द्वारा बहुत ही बड़ा है, जिससे वह श्रीसीताजी का अंग बलात् छूने पर भी बचा हुआ है, नष्ट नहीं हुआ। हाथ से छूने पर अग्नि शिखा वह काम नहीं कर सकती, जो क्रोध कर के श्रीजानकीजी कर सकती हैं। इत्यादि !

गीतावली सुं० १८, १९ और २० पद भी इस प्रसंग पर देखने योग्य हैं।

'कथा तथा लंक की'—जिस प्रकार श्रीहनुमान्‌जी महेन्द्र पर्वत पर से कूदे थे, उसके आगे के लंक-यात्रा की, लंका में ढूढ़ने की, विभीषण भेंट की, अशोक वन-विध्वंस की एवं लंक-दहन की सारी कथाएँ कहीं। इनमें सुरसा, सिंहिका एवं लंकिनी के संघर्ष-प्रसंग तथा मैनाक का स्वागत आदि तो लंक मार्ग के ही प्रसंग हैं। ढूँढ़ने में लंका की विचित्र रचनाएँ एवं वहाँ भी विभीषण ऐसे भक्तराज का समागम अशोक वन की रचना एवं वहाँ की श्रीजानकीजी की स्थिति तथा लंकादहन के रोमाञ्चकारी चरित सुनते हुए इतना लम्बा मार्ग क्षण भर में समाप्त हो गया, ऐसा जान पड़ा।

'चाय सों'—एक तो ये कथाएँ स्वतः रोचक एवं अद्भुत हैं, पुनः नवीन हैं और इन में सारी बातें अपने पक्ष के श्रेय की ही हैं, इससे अत्यन्त उत्साह से कहते चले।; यथा—"चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा ॥" (मा० सुं० २७)।

'सिरानो पंथ छन में'; यथा—"बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहिं बार" (मा० बा० २०६); तथा—"चले मुदित कौसिक कोसल पुर, सगु-

ननि साथ दियो ॥ करत मनोरथ जात पुलकि, प्रगटत आनंद नयो। तुलसी प्रभु अनुराग उमँगि मग मंगलमूल भयो ॥" (गी० बा० ४५)।

'कह्यो जुबराज बोलि....'; यथा—"तब मधुवन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खायो ॥ रखवारे जब बरिजइ लागे। मुष्टि प्रहार हनत सब भागे। जाइ पुकारे ते सब, बन उजार जुबराज। सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आए प्रभु काज ॥ जौं न होत सीता सुधि पाई। मधुबन के फल सकहिं कि खाई ॥ एहि बिधि मन बिचार कर राजा।" (मा० सुं० २७-२८); तथा—"नाचहिं कूदहिं कपि करि बिनोद। पीवत मधु मधुबन मगन मोद ॥" (गी० सुं० १६)।

'पुकारत दिवान गे....दिखाए घायतन में'—पुकारते हुए गये कि सब देख सुन ले कि अंगद कैसा अन्याय कर रहे हैं। शरीर में घाव दिखाया कि जिससे यह समझा जाय कि इसने शक्ति भर निवारण किया है और सारा दोष अंगद का ही समझा जाय; यथा—"सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावयिष्यामि पार्थिवे। अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान् ॥" (वाल्मी० ५।६२।३०)। अर्थात् सब दोष अंगद पर ही हम लोग डालेंगे। क्रोधी राजा इसके प्रति इन वानरों को मार डालेंगे।

'महामोद मेरे मन में'—श्रीराम-शपथ कर के अपने अनुमान की पुष्टि की और फिर मन में महामोद होना भी उक्त अनुमान की दृढ़ता पर ही है; तथा—"प्रीतिस्फीताक्षौ संप्रहृष्टौ कुमारौ दृष्ट्वा सिद्धार्थौ वानराणां च राजा। अंगैः प्रहृष्टैः कार्यं सिद्धिं विदित्वा बाह्वोरासन्नामतिमात्रं ननन्द ॥" (वाल्मी० ५।६३।३३); अर्थात् (मधुवन-समाचार सुनने पर) राजा सुग्रीव दोनों कुमारों (श्रीराम लक्ष्मण) को प्रेम से विकसित नेत्र प्रसन्न तथा सिद्धमनोरथ के समान देखकर रोमाञ्चित अङ्गों से कार्यसिद्धि को हाथ में आई जान कर प्रसन्न हुए।

'करि काज आये कीस'; यथा—"नैषामकृतकार्याणामीदृशः स्याद्व्यतिक्रमः। वनं यदभिपन्नास्ते साधितं कर्म तद्ध्रुवम् ॥" (वाल्मी० ५।६३।१७); अर्थात् विना कार्य किये इन सब में ऐसा साहस नहीं हो सकता कि मेरे वन को उजाड़ दें। अतएव अवश्य कार्य किया है।

श्रीरामजी की उदारता

[३२]

नगर कुबेर को सुमेरु की बराबरि,
बिरंचि बुद्धि को बिलास लंक निरमान भो ।
ईसहि चढ़ाइ सीस बीस बाहु बीर तहाँ,
रावन सो राजा रज-तेज को निधान भो ॥
तुलसी तिलोक की समृद्धि सौंज संपदा
सकेलि चाकि राखी रासि, जाँगर जहान भो ।
तीसरे उपास बनवास सिंधु पास सो
समाज महाराज जू को एक दिन दान भो ॥

शब्दार्थ—रत तेज को निधान=रजोगुणी पराक्रम की खान । सौंज=सामग्री । समृद्धि=बहुत अधिक सम्पन्नता, अमीरी । चाकि राखी=अन्न की राशि को जैसे किसान गोवर की रेखा से घेरकर रखते हैं (कि चुराने पर पता लग जाय), उसी प्रकार घेर रक्खी थी । जाँगर=अन्न झाड़ा हुआ डंठल । जहान=संसार । समाज=सामग्री ।

अर्थ—लङ्का नगर पहले कुवेर का था (धनेश का नगर था, अतः, धनमय था), स्वर्णमय होने से वह नगर सुमेरु गिरि के बराबर (समान) था । वह नगर इस प्रकार का निर्माण हुआ कि मानों ब्रह्मा की बुद्धि का विनोद रूप था; अर्थात् ब्रह्मा ने अपनी सारी बुद्धि लगाकर इसका निर्माण किया था । रजोगुणी तेज की खान, बीस भुजाओं वाला वीर रावण श्रीशिवजी को अपने शिर (काट-काटकर) चढ़ा (उनके वरदान से अजेय हो कुवेर आदि यक्षों को लङ्का से भगाकर) वहाँ का राजा हुआ । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकों की समृद्धि, सामग्री और सम्पत्ति बटोरकर अपनी लङ्का में उसने चाक रक्खी थी, (उसकी समृद्धि आदि की राशि के समक्ष) सारा संसार (समृद्धि आदि से हीन) जाँगर के समान हो गया था । वही समस्त सामग्री महाराज श्रीरामचन्द्रजी की वनवास के समय समुद्र के किनारे पर तीन दिन निराहार रहने के अवसर पर (विभीषणजी के शरण आने पर) एक दिन के दान की वस्तु हुई ।

विशेष—'नगर कुवेर को···'–इसका प्रसंग इस प्रकार है; यथा—"गिरि

त्रिकूट एक सिंधु मँझारी। विधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥ सोइ मय दानव बहुरि सँवारा। कनक रचित मनि भवन अपारा॥ भोगावति जसि अहिकुल बासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा॥ तिन्ह ते अधिक रम्य अति लंका। जग विख्यात नाम तेहि लंका॥ खाईं सिंधु गँभीर अति, चारिहु दिसि फिरि आव। कनक कोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव॥ हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ, जातुधान पति होइ। सूर प्रतापी अतुल बल, दल समेत बस सोइ॥ रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संहारे॥ अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे॥ दसमुख कतहुँ खबरी असि पाई। सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई॥ देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई॥.... सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥" (मा० बा० १७७-१७८); अर्थात् इसमें पहले कुबेर के गण रहते थे। कुबेर देवताओं के कोषाध्यक्ष हैं। अतएव उसमें पहले से बहुत धन था, उस सम्पन्न नगर को रावण ने जीत लिया। स्वर्ण-मणि मय होने से वह सोने के पर्वत सुमेरु की बराबरी का गौरव रखता था। इस नगर को पहले ब्रह्माजी ने बनाया था, इसकी रचना में मानो उन्होंने अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाया था।

'ईसहि चढ़ाइ सीस...'; यथा—"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दसमाथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुच दीन्हि रघुनाथ॥" (मा० सुं० ४६); "बखसीस ईस जू की खीस होत देखियत" (लं० १०); "ईस बखसीस जनि खीस करु..." (लं० १६); "सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक-एक के कोटिन्ह पाए॥" (मा० लं० ६२); "सिर सरोज निज करन्हि उतारी। पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी॥" (मा० लं० २४)।

'रज तेज को निधान भो'; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास। परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि न सोच न त्रास॥" (मा० लं० १२); "दस मुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥ कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ देखि प्रताप न कपि मन संका।" (मा० सुं० १६); इत्यादि।

'तिलोक की समृद्धि...'—रावण ने दिग्विजय करने में पृथिवी के राजाओं एवं वरुण, कुबेर एवं इन्द्र आदि लोकपालों तथा पाताल वासी नागों एवं दैत्यों

की सभी समृद्धि आदि को जीतकर अपनी लंका नगरी में चाक रक्खा था। चारों ओर समुद्र की खाईं है, यही चाकने की रेखा के समान है, यह समुद्र उसका जल दुर्ग था, इससे कोई उसकी पुरी में प्रवेश कर वहाँ की सम्पत्ति नहीं ले जा सकता था, यही उसका समृद्धि आदि का चाक कर रखना है।

'जाँगर जहान भो'—जैसे अन्न के कटे हुए पौधों का अन्न झाड़ लेने पर डंठल (जाँगर) रह जाता है, वैसे इसने सारे संसार की समृद्धि, सौंज एवं सम्पत्ति झाड़ ली थी। संसार भर की श्री लंका में ही सजा रक्खी थी; यथा—"भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र। मंडलीकमनि रावन, राज करै निजमंत्र॥ देव जच्छ गंधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदर बर नारि॥" (मा० बा० १८२)।

'तीसरे उपास बनवास...'—श्रीरामजी एक तो 'तापस बेष बिसेष उदासी' इस वृत्ति से वनवास में थे। फिर जिस समय श्रीहनुमान्‌जी ने लंका से आकर श्रीसीताजी की दुःखमय दशा कही; यथा—"सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहि कहे भलि दीन दयाला॥ निमिष-निमिष करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति। बेगि चलिय प्रभु आनिय, भुजबल खल दल जीति॥" (मा० सुं० ३०-३१); इस पर श्रीरामजी बड़े अधीर हो गये; यथा—"धरि-धरि धीर बीर कोसलपति किए जतन सके उत्तरु दै न। तुलसिदास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन॥" (गी० सुं० २१); प्राण-प्रिया के विरह में उसी दिन आपने प्रस्थान किया था, समुद्र तट पहुँचने पर प्रिया-वियोग में अत्यन्त दुःखी हुए थे। वाल्मी० ६।५ में उस विरह का वर्णन है। उसी विरह में आपने दो दिन तक फलाहार नहीं ग्रहण किया था। समुद्र तरण पर विचार हो रहा था, तब तक तीसरे दिन विभीषणजी शरण में आये। तब उन्हें श्रीरामजी ने लंका का तिलक किया। जब कि तीन दिन के उपासे थे, समुद्र-तरण की चिन्ता में थे और वनवास-वृत्ति के कारण पास में कुछ रखते भी नहीं थे। ऐसे अनवसर पर भी आपने लंका की उक्त महान् समृद्धि आदि पर ममता नहीं की—अतिथि रूप विभीषण को दान में दे दी; यथा—"बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई। सोइ लंका लखि, अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई॥" (गी० सुं० ३८)। यहाँ श्रीरामजी की अत्यन्त उदारता कही गई;

यथा—"ऐसो को उदार जग माहीं।...जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहिं लीन्हीं। सोइ संपदा विभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥" (वि० १६२)।

जो नगर ब्रह्मा की बुद्धि का विलास रूप था, जिसमें कुवेर की सम्पत्ति थी, जो नगर सुमेरु के समान स्वर्ण-मणिमय था और जहाँ रावण के तपस्यापूर्वक करोड़ों शिर-समर्पण होने पर शिवजी की महती उदारता की विभूति थी। उसी को तीन दिन के उपास पर वनवासी वृत्ति मे और समुद्र-तरण की व्यग्रता में शत्रु पुर से आये हुए एक अतिथि विभीषण को श्रीरामजी ने एक तृणासन के समान अल्पदान समझ कर दिया है, भला, श्रीरामजी की उदारता की थाह कौन पा सकता है, श्रीरामजी की महती दानशीलता पर आगे उ० ११५ भी देखिये। सुन्दरकाण्ड समाप्त।

—:o:—

लङ्का काण्ड

लङ्का पर श्रीरामजी का आतङ्क

[१]

"बड़े बिकराल भालु, बानर बिसाल बड़े,
'तुलसी' बड़े पहार लै पयोधि तोपि हैं।
प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड खंडि,
मंडि मेदिनी को मंडलीक लीक लोपि हैं॥
लंकदाहु देखे न उछाहु रह्यो काहुन को,
कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं।
'बाँचिहैं न पाछे त्रिपुरारि हू मुरारि हू के,
को हैं रन रारि को जौ कोसललेस कोपि हैं' ॥"

शब्दार्थ—तोपि हैं=पाट देंगे, ठसाठस भर देंगे। बरिबंड=बलवान्। पाँव रोपि=प्रण कर के, प्रतिज्ञा कर के (मुहा०)।

अर्थ—(श्रीरामदूत हनुमान्‌जी के द्वारा) लंका का दहन देख कर किसी भी राक्षस का उत्साह नहीं रह गया, रावण के समस्त मंत्री पुकार-पुकार कर

प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—"बड़े भयङ्कर भालू और बड़े विशाल शरीर वाले वानर बड़े-बड़े पहाड़ों को लाकर (लङ्का के जल दुर्ग रूप) समुद्र को पाट देंगे। यदि कोशलेन्द्र श्रीरामजी क्रोध करेंगे तो (रावण की) अत्यन्त प्रतापवान् और बल-शाली बाहुदण्डों का खंडन कर, पृथिवी भर पर फैला कर उनसे पृथिवी को भूषित कर मंडलेश्वर रावण की पृथिवीमंडल जीतने की मर्यादा लुप्त कर (मिटा) देंगे। (रावण) त्रिपुर विजयी शिवजी और मुरदैत्य-विजयी विष्णु भगवान् के पीछे लुकने पर (शरण होने पर) भी नहीं बचेगा। भला, क्रुद्ध श्रीरामजी के समक्ष युद्ध करने को कौन (समर्थ) है ?

विशेष—'लंकदाहु देखे···'—लंका का दाह देख कर किसी राक्षस के हृदय में युद्ध का उत्साह नहीं रह गया; यथा—"तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं, 'चित्रहू के कपि से निसाचर न लागि हैं" (सुं० १४); "समुझि तुलसीस कपिकर्म घर-घर घैरु···" (छन्द ४); "सहमि सुखात बातजात की सुरति करि, लवा ज्यों लुकात तुलसी झपेटे बाज के॥" (छंद ६)।

'बड़े बिकराल भालु...'—ये सब पर्वताकार शरीर से बड़े-बड़े पहाड़ लाकर समुद्र पाट देंगे; यथा—"सेन साजि कपि भालु काल सम कौतुक ही पाथोधि बँधै हैं।" (गी० सुं० ५१)।

'प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड···'—रावण को अपनी प्रचंड एवं अत्यन्त बल शालिनी भुजाओं का बड़ा गर्व है; यथा—"संध्या समय जानि दससीसा। चला भवन निरखत भुज बीसा॥" (मा० लं० ६); "मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥ बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥" (मा० लं० २७); "हरि गिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥" (मा० लं० २७) "निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा॥" (मा० लं० ७६) इन भुजाओं का इस प्रकार खंडन करेंगे कि सारी पृथिवी उनसे भर कर सुशोभित होगी; यथा—"तीस तीर रघुबीर पँवारे। भुजन्हि समेत सीस महि पारे॥ काटत ही पुनि भये नवीने। राम बहोरि भुजा सिर छीने॥ प्रभु बहु बार बाहु सिर हये। कटत झटित पुनि नूतन भये॥ पुनि-पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसला धीसा॥ रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहुँ अमित केतु अरु राहू॥" (मा० लं० ६०); "सर निवारि रिपु

के सिर काटे। ते दिसि बिदिसि गगन महि पाटे" (मा० लं० ६१)। "दस-सीस बाहु प्रचंड खंडन चंड सर मंडन मही।" (मा० अर० ३१); इत्यादि।

'मंडलीक लीक लोपिहैं'; रावण मंडलीकमणि था; यथा—"भुज बल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र। मंडलीकमनि रावन, राज करै निज मंत्र॥" (मा० बा० १८२); उसकी वह विजय-मर्यादा मिटा देंगे।

'बाँचि है न पाछे त्रिपुरारि हू⋯'; यथा—"काहे को कुसल⋯" (सुं० ६)-इसका। विशेष देखिये। तथा—"सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥ संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥" (मा० सुं० २२); यह हनुमान्‌जी ने कहा है। "जौं खल भएसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥" (मा० लं० २६)—यह अंगद-वाक्य है। राम के रोष न राखि सकैं तुलसी बिधि, श्रीपति, संकर सौरे।" (छंद १२)। "सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीत-निहारा॥" (मा० अ० १८८)।

[२]

त्रिजटा कहत बार-बार तुलसीस्वरी सों,
"राघौ बान एक ही समुद्र सातौ सोषि हैं।
सकुल सँघारि जातुधान धारि, जंबुकादि
जोगिनीजमाति कालिकाकलाप तोषि हैं॥
राज दै निवाजिहैं बजाइ कै बिभीषनै,
बजैंगे ब्योम बाजने बिबुध प्रेम पोषि हैं।
कौन दसकंध, कौन मेघनाद बापुरो,
को कुंभकर्न कीट जब राम रन रोषि हैं॥"

अर्थ—श्रीतुलसीदास की ईश्वरी श्रीजानकीजी से बार-बार त्रिजटा कहती है कि श्रीरघुनाथजी अपने एक ही बाण से सातो समुद्र सुखा देंगे और कुल के साथ राक्षस सेना का नाश कर शृंगाल-गृध्र-चील आदि, योगिनियों के झुण्डों और कालिकाओं के समूहों को तृप्त करेंगे। तब डंका बजाकर (बड़े धूमधाम से) विभीषणजी को राज्य दे कर और कृपा कर उसे कृतार्थ करेंगे। इस पर आकाश में बाजे बजेंगे और देवगण प्रेम से पुष्ट हो जायँगे। जब युद्ध में श्रीरामजी

क्रोध करेंगे तब कौन रावण, कौन बेचारा मेघनाद और कौन कीट तुल्य कुम्भ-कर्ण ?; अर्थात् ये कोई उनके सामने न ठहर सकेंगे।

विशेष—'रावौ बान एक ही···'; यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर।" (मा० सुं० ५५); "कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥" (मा० सुं० ४३)। 'समुद्र सातौ'—सातो समुद्रों के नाम—क्षीरोद, लवणोद, इक्षुरसोद, सुरोद, दधिमण्डोद, स्वादूद और घृतोद। इन सातो समुद्रों को श्रीरामजी एक ही बाण से सोख लेंगे। क्योंकि एक बाण के संधान मात्र पर समुद्र की यह दशा हुई है; यथा—"संधानेउ प्रभु बिसिष कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला॥ मकर उरग झखगन अकुलाने। जरत जन्तु जल निधि जब जाने॥ कनक थार भरि मनिगन नाना। बिप्र रूप आयो तजि माना॥" (मा० सुं० ५७)।

'सकुल संहारि जातुधान···'—राक्षसों की सेना बहुत है, उनके कटने-मरने पर जम्बुक आदि की तुष्टि होगी; यथा—"काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं।।····खैंचहि गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए॥ बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥ जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं॥ भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं॥ जंबुक निकर कटक्कटकट्टहि॥" खाहिं हुआहि अघाहिं डपट्टहिं (मा० लं० ८६)। आगे छन्द ४६–५० भी देखिये।

'राज दै निवाजिहैं···'—श्रीरामचरितमानस में विभीषणजी का लंका में राज्य-तिलक होने पर देवताओं का बाजा बजाना एवं प्रेम प्रकट करना नहीं कहा गया है, यहाँ के प्रमाण को वहाँ भी लगा लेना चाहिये कि देवों ने नगाड़े बजाए और प्रेम से पुष्प वर्षा आदि के बर्त्ताव भी किये हैं।

अलङ्कार—'भाविक'—('तुलसीस्वरी' पद में)।

[३]

बिनय सनेह सों कहति सिय त्रिजटा सों
"पाये कछु समाचार आरज सुवन के ?"।
"पाये जू! बँधायो सेतु, उतरे कटक कुलि,
आए देखि-देखि दूत दारुन दुवन के॥

बदन मलीन बल हीन दीन देखि मानो,
मिटे घटे तमीचर-तिमिर भुवन के।
लोकपति सोक कोक, मूँदे कपि कोकनद,
दंड द्वै रहे हैं रघु आदित उवन के"॥

शब्दार्थ—आरज सुवन (सं० आर्य सूनु)=पति श्रीरामजी [श्वसुर को 'आर्य' कहा जाता है, इसी का तद्भव रूप 'आजा' है। अतः पति को स्त्रियाँ 'आर्य पुत्र' कहती हैं,] दुवन (सं० दुर्मनस्)=शत्रु, दुश्मन। लोकपति सोक कोक=सशोक लोकपति चक्रवाक हैं। कोकनद=कमल।

अर्थ—विशेष नम्रता एवं स्नेह से श्रीसीताजी त्रिजटा से कहती हैं कि "क्या आर्यपुत्र के कुछ समाचार प्राप्त हुए हैं ?" त्रिजटा ने कहा—"हाँ जी, पाये हैं; (श्रीरामजी ने) सागर पर सेतु बँधा लिया और सारी सेना के साथ वे इस पार उतर कर आ गये। कठिन, शत्रु रावण के दूत ऐसा देख-देख कर आये हैं। देख कर उन दूतोंके मुख मलिन पड़ गये हैं और वे बलहीन तथा दुखी हो गये, हैं। मानों ये अब मिट चुके (नहीं रह गये) और चौदहो भुवनों के अंधकार रूप राक्षस अब घट (क्षीण हो) गये; क्योंकि अब इन्द्र आदि सशोक लोकपाल रूपी चक्रवाकों की शोक निवृत्ति और वानर सेना रूपी संकुचित कमलों की प्रफुल्लता के लिये रघुनाथ रूपी सूर्य के उदय होने को केवल दो ही दण्ड (बहुत थोड़ा समय) रह गये हैं"।

विशेष—'बदन मलीन…'—श्रीहनुमान्जी के कर्म से ही शंकित थे, वैसे ही असंख्य वानरों को देख कर राक्षसों की ऐसी हीन दशाएँ हो गईं। सेतुबंध की बात सुन कर तो रावण भी घबरा कर सहसा दसों मुखों से बोल उठा है; यथा—"सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥ बाँध्यो बन निधि, नीरनिधि, जलधि सिंधु बारीस। सत्य तोयनिधि कंपति, उदधि पयोधि नदीस॥ निज बिकलता बिचारि बहोरी। बिहँसि गयो गृह करि भय भोरी॥" (मा० लं० ४–५)।

'मिटे घटे तमीचर…'—'मिटे' पद इस चरण के पूर्वार्द्ध के साथ है और 'घटे' पद 'तमीचर-तिमिर' के साथ है। 'रघु-आदित' का रूपक यही 'मानो'

इस वाचक पद से प्रारम्भ है। सूर्य के उदय पर कोकों का शोक निवृत्त होता ही है और मुँदे हुए कमल खिलते ही हैं, इस नियम के आधार पर शोकों की निवृत्ति और कमलों की प्रफुल्लता अध्याहार से ली गई है।

यहाँ 'बदन मलीन' होने में वीर रस का स्थायी उत्साह चला गया। 'बल-हीन' होने में उसके विभाव रूप धैर्य एवं गर्व आदि भी न रह गये। 'दीन' होने में राक्षसों में करुण रस की स्थिति आ गई।

'दंड द्वै रहे हैं...'—सूर्योदय को दो दण्ड रह जाता है, उसी समय से अंधकार घटने लगता है और कोकों की शोक-निवृत्ति का एवं कमलों की प्रफुल्लता का भी क्रमशः आगम होने लगता है। वैसे ही अभी राक्षस क्षीण होने लगे; यथा—"छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती॥" (मा० लं० ७०)। वाल्मीकीय रामायण का दो मास का युद्ध-समय यहाँ दो दण्ड रूप है, श्रीराम-चरित-मानस का एक मास का समय ही अल्प काल बोधक दो दण्ड है। इसी अल्प काल को पूर्व "दिवस छ सात...अरिअंत की अवधि रही थोरि कै" (सुं० २७) कहा गया है। सूर्य उदित हो जाने पर तो तम का लेश भी नहीं रहता, वैसे ही राक्षस न रह जायँगे।

श्रीबैजनाथजी 'द्वै दंड' का रूपक युद्धारम्भ काल के प्रथम के समय में मानते हैं। माघ कृष्ण द्वितीया को सेना पार उतरी, पञ्चमी की यह वार्ता है। माघ शुक्ला द्वितीया को युद्धारम्भ हुआ है। यह १२ दिनों का समय देवताओं का दो दण्ड होता है; क्योंकि देवों का दिन उत्तरायण और रात दक्षिणायन का समय है। अतः दिन-रात के बारह महीने उनके साठ दंड हुए। पाँच दंड एक महीना हुआ। तब ६ दिन का एक दंड हुआ और दो दंड बारह दिन का पड़ा। इन बारह दिनों पर ही लंका में रघुनाथ रूपी सूर्य का उदय हो जायगा। इस रूपक में एक तो यह नहीं खोला गया कि देवों के दंडों की कल्पना त्रिजटा ने क्यों की? दूसरे यह भी अड़चन है कि अभी तो एक महीना राक्षस-नाश में लगना है और सूर्योदय पर तिमिर नहीं रहता।

इन विचारों से उपर्युक्त रूपक विशेष संगत जान पड़ता है।

अलङ्कार—'रूपक' है।

झूलना छन्द

[४]

सुभुज मारीच खर त्रिसिर दूषन बालि,
दलत जेहि दूसरो सर न साँधो।
आनि परभाम बिधिबाम तेहि राम सों,
सकत संग्राम दसकंध काँधो॥
समुझि तुलसीस-कपि-कर्म घर-घर धैरु,
बिकल सुनि सकल पाथोधि बाँधो।
बसत गढ़ बंक, लंकेस नायक अछत,
लंक नहिं खात कोउ भात राँधो॥

शब्दार्थ—काँधो = कंधे पर रखना; अर्थात् स्वीकार करना; यथा—"उठि सुत पितु अनुसासन कांधी।" (मा० बा० १८१) धैरु=निन्दामय चर्चा, गुप्त शिकायत।

अर्थ—जिन श्रीरामजी ने सुबाहु, मारीच, खर, शिरा, दूषण और वाली का संहार करने में दूसरे बाण का संधान नहीं किया; अर्थात् एक-एक बाण से ही इन सब का संहार कर डाला है। विधाता की वामता से पर-स्त्री लाकर उन्हीं श्रीरामजी से रावण लड़ाई करना चाहता है, क्या (यह युद्ध) कर सकता है ?; अर्थात् नहीं कर सकता; क्योंकि तुलसीदास के ईश श्रीरामजी और उनके दूत वानर हनुमान्‌जी के कर्मों का स्मरण करके लङ्का में घर-घर निन्दामय चर्चा हो रही है, फिर समुद्र का बाँधना (पुल बाँधना) सुन कर तो समस्त लोग व्याकुल हो गये हैं। (प्रतापी श्रीरामजी का आतंक इस प्रकार यहाँ छा गया है कि) लङ्का जैसे विकट गढ़ में निवास करते और रावण-सरीखे (त्रिलोक-विजयी) शासक रहते हुए भी लंका में कोई पकाकर रक्खा हुआ भात नहीं खाता; अर्थात् अत्यन्त भय से सब खान-पान भी भूल गये हैं।

विशेष—'सुभुज मारीच···'—इन सबको जब मारना चाहा, तब एक ही बाण से मार डाला है। इनमें खर-दूषण आदि रावण के समान थे; यथा—"खर-दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता॥" (मा० अर० २२); बालि रावण से बहुत अधिक बलवान था; यथा—"एक कहत मोहिं सकुच अति, रहा बालि की काँख।" (मा० लं० २४); तथा—"सो नर

क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" (मा० लं० ३२) जब इन्हें एक-एक बाण से ही मार डाला है, तब रावण कैसे उनसे लड़ सकता है ?

'आनि परभास...'—पराई स्त्री से इस रावण का क्या प्रयोजन था ?, पर इसने उपर्युक्त श्रीराम-प्रभाव को कुछ न समझ कर परस्त्री-हरण किया है। यह इसने विधि-वामता से ही किया है। उसी विधिवामता से यह उन्हीं रामजी से संग्राम भी करना चाहता है; क्योंकि हनुमान्जी के कहने पर और विभीषण-माल्यवान आदि बड़े-बड़े मन्त्रियों के कहने पर भी उनकी स्त्री नहीं सौंपना चाहता। भला, क्या यह उनसे युद्ध कर सकता है ? यह नितान्त विचार शून्य अंधा-सा है; यथा—"तुलसदिास सो स्वामि न सूझ्यो नयन बीस मंदिर के-से मोखे॥" (गी सुं० १२)। आगे के छन्द १८-१६ भी देखिये।

'समुझि तुलसीस-कपि-कर्म...'; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब तें जारि गयउ कपि लंका। निज-निज गृह सब करहि बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई॥" (मा० सुं० ३५)। श्रीरामजी के कर्म आगे छन्द ११ में कुछ हैं।

'बिकल सुनि...'—सेतु-बन्धन पर व्याकुलता के प्रमाण उपर्युक्त छन्द ३ में देखिये।

'बसत गढ़ बंक...'—लंका का दुर्ग बड़ा विकट था; यथा—"तिन्ह ते अधिक रम्य अति बंका। जग विख्यात नाम तेहि लंका॥ खाईं सिंधु गँभीर अति, चारिहु दिसि फिरि आव। कनक कोट मनि खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव॥" (मा० बा० १७८); 'लंकेस नायक अछत'—रावण ने अपना बल स्वयं कहा है; यथा—"सुनु सठ सोइ रावन बल सीला।" से "सोइ रावन जग बिदित प्रतापी॥" (मा० लं० २४) तक। ऐसे रावण के शासक रहते हुए भी।

'लंक नहिं खात को भात राँधो।'—भात खाना बहुत सुगम है, पर इतना भय समा गया है कि किसी के गले के भीतर अन्न घोटने का भी साहस नहीं पड़ता। शत्रु के राष्ट्र में ऐसा भारी आतंक लिख कर श्रीराम-प्रताप की अत्युग्रता प्रकट की है।

यह झूलना छन्द मात्रिक है। इसके प्रत्येक चरण में १०+१०+१०+७=३७ मात्राएँ होती है अन्त में यगण होता है; यथा—"सैंतिस यगंत यति

दोष दस दोष मुनि जानि रचिये, द्वितिय झूलना को।" (काव्य प्रभाकर-भानु)।

मत्तगयंद सवैया [५]

विस्वजयी भृगुनायक से बिन हाथ भये हनि हाथ हजारी।
बातुल मातुल की न सुनी सिख, का तुलसी कपि लंक न जारी॥
काज हुतो रघुराज मिले परि बूझिहैं, को गज कौन गजारी।
कीर्त्ति बड़ो, करतूति बड़ो, जन, बात बड़ो, सो बड़ोई बजारी॥

शब्दार्थ—बिनु हाथ भये=निहत्थे हुए, हथियार सौंप कर (पूर्ण हार मान कर) चले गये। बातुल=पागल, सनकी, बावला। मातुल=मामा मारीच। परि (सं० उपसर्ग)=अच्छी तरह, भली भाँति। बजारी=अशिष्ट; झूठ को सत्य और सत्य को झूठ बना कर कहने (गाल बजाने) वाला, जिसकी बात प्रामाणिक न मानी जाय। डींग हाँकने वाला।

अर्थ—(लंका-निवासी कहते हैं—) सहस्र भुजा वाले (सहस्रार्जुन) को मार कर विश्वविजयी श्रीपरशुरामजी (इन श्रीरामजी के समक्ष) निहत्थे हो हो गये (अर्थात् अपनी पूर्ण हार मान ली,); परन्तु इस बावले रावण ने तो (स्वयं क्या विचारेगा) अपने मामा मारीच की स्पष्ट कही हुई शिक्षा भी नहीं सुनी। (तत्पश्चात्) श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (वे कहते हैं—) कि क्या वानर हनुमान् ने लङ्का नहीं जलाई ? (इससे तो श्रीराम-प्रताप प्रत्यक्ष देखना था कि एक वानर ने सोने और पानी भी घी के समान जलाया है और उसका बाल बांका नहीं हुआ, क्या वानर मात्र में ऐसा प्रभाव हो सकता है ?)। (इन प्रसङ्गों को समझ कर) इसे कर्त्तव्य तो यह था कि रघुराज श्रीरामजी से मिल जाता; अन्यथा भली भाँति समझ पड़ेगा कि कौन हाथी है और कौन सिंह। (यह रावण तपस्या के प्रभाव से) कीर्त्ति में बड़ा है, करनी में बड़ा है, जन समुदाय में बातें बना कर कहने में भी बड़ा है। इन्हीं बातों का वह बड़ा भारी गलबजारी है (इन्हीं गुणों की यह अपनी ही डींग हाँकता है, किसी की नहीं सुनता, तब कुशल कैसे होगी ?)।

विशेष—'विस्व जयी भृगुनायक से...'—जिन्होंने हजार हाथ वाले अर्जुन को मारा था, वे भी जिनके सामने निहत्थे हो गये, हथियार रख दिया, पूरी हार मान ली; यथा—"बिदित बिदेह पुर, नाथ ! भृगुनाथ गति समय सयानी

कीन्हीं जैसी आइ गौं परी ॥" (छन्द २७); अर्थात् परशुरामजी ने अवतार के अनुसार चतुराई ही की है, हथियार देकर श्रीरामजी के शरण हो गये, वैसा ही रावण को भी करना चाहता था, तब हम सब नाश से बच जाते।

परशुरामजी रावण की अपेक्षा कहीं अधिक थे; क्योंकि जिस सहस्राजु'न ने रावण को दुर्दशा करके बाँध रक्खा था, उसका भी जिन्होंने थोड़े ही बल एवं प्रयास में नाश कर डाला—आगे छन्द २५ देखिये, जब वे भी शरण ही हुए हैं, तब रावण के लिये तो यह उचित ही था; फिर भी—

'बातुल मातुल की न सुनी···'—इस बावले ने अपने हितैषी मामा मारीच की शिक्षात्मक बात नहीं सुनी; यथा—"तेहि पुनि कहा सुनहु दस सीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥ तासों तात बैर नहीं कीजै। मारे मरिअ जिआए जीजै॥ मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोंहिं मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ-तहँ मैं देखउ दोउँ भाई॥ जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥ जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर कोदंड। खरदूषन त्रिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड॥ जाहु भवन कुल कुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हेसि बहु गारी॥" (मा० अर० २४–२५)।

यदि यह मारीच की बात मान लिया होता तो हम सब पर यह विपत्ति क्यों आती? मारीच सुन्दोपसुन्द एवं ताटका पुत्र था और रावण का मामा मारीच सुमाली का पुत्र था पर यहाँ 'मातुल' पद में शिक्षा देने वाला मारीच यही कहा जाता है—पाठक विचारें।

'का तुलसी कपि लंक न जारी।'—लंक-दहन की घटना क्या नहीं हुई? अरे, इस पर भी इस अंधे को नहीं सूझता; यथा—"लंक दाह देखे न उछाह रह्यो···" (छन्द १)—इसका विशेष देखिये। तथा—"कानन उजारि, अच्छ मारि, धारि धूरि कीन्हीं, नगर प्रजार्यो सो बिलोक्यो बल कीस को।" (छन्द २२)। लंक-दहन कर कपि ने श्रीरामजी का प्रताप दिखला दिया है।

'काज हुतो रघुराज मिले परि'—यह प्राचीन प्रति भागवतदास वाली का पाठ है, आधुनिक प्रतियों में इसके स्थान पर 'अजहूँ तो भलो रघुनाथ मिले, फिरि' ऐसा पाठ है। प्राचीन पाठ मुझे उत्तम समझ पड़ा है।

'परि बूझिहै को गज कौन गजारी।'—ये बातें आगे प्रत्यक्ष होंगी; यथा—"रजनीचर मत्त गयंद घटा बिघटै मृगराज के साज लरै। झपटै, भट कोटि मही पटकै, गरजै रघुबीर की सौंह करै।...बिरुझो रन मारुत की बिरुदैत, जो कालहु काल सो बूझि परै।" (छंद ३६); "प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड बीर, धाए जातुधान हनुमान लिये घेरि कै। महाबलपुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट जहाँ-तहाँ पटके लँगूर-फेरि-फेरि कै।" (छंद ४२); तथा—"कंपत अकंपन, सुखाय अतिकाय काय, कुंभऊ करन आइ रह्यो पाइ आइ सी। देखे गजराज मृगराज ज्यों गाजि धायो बीर रघुबीर के समीरसुनु साहसी॥" (छन्द ४३); अर्थात् मत्तगजवत् सभी राक्षस योद्धा सिंहवत् श्रीरामजी से मरेंगे, यह भली-भाँति समझ पड़ेगा। यदि उनसे नहीं मिलेगा।

'कीर्त्ति बड़ो, करतूत बड़ो...'—रावण अपनी कीर्त्ति एवं करतूत आदि की बड़ाई बड़-बड़ाया करता है। 'कीर्त्ति बड़ो'; यथा—"दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। भूप सुजस सठ मोहि सुनावा॥" (मा० लं० २७); 'करतूति बड़ो'; यथा—"सुनु सठ सोइ रावन बल सीला। हर गिरि जान जासु भुज लीला॥" से "जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढ़त मत्तगज जिमि लघु तरनी॥ सोइ रावन जग विदित प्रतापी।" (मा० लं० २४) तक। 'जन बात बड़ो'—केवल बातों के आडंबर से मन को रिझाया करता है, किसी की नहीं सुनता; यथा—"तुम्हरे कटक माहिं सुनु अंगद। मोसन भिरिहि कौन जोधा बद॥ तब प्रभु नारि बिरह बल हीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥" से "सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला।" (मा० लं २२) तक। श्रीअंगदजी की प्रामाणिक बातों को भी केवल बातों से उड़ा देता है; यथा—"धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ-तहँ नाचै परि-हरि लाजा॥...प्रभुगुन कस न कहसि यहि भाँती॥ मैं गुन गाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करउँ नहिं काना॥" (मा० लं० २३) इत्यादि।

'सो बड़ोई बजारी'—उपर्युक्त अपनी कीर्त्ति आदि कह-कह कर गल बजारी किया करता है; सुन कर अंगदजी ने कह भी दिया है; यथा—"गाल बजावत तोहिं न लाजा।" (मा० लं० २१); "तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा॥" (मा० लं० २६); मन्दोदरी ने भी कह दिया है; यथा—"अब

पति मृषा गाल जनि मारहु।" (मा० लं० ३४); गाल बजाना, गाल मारना एवं गल बजारी करना ये पर्यायी पद हैं।

पुरजन कहते हैं कि यह बड़ा भारी गलबजारी है, अपनी ही डींग हाँका करता है, किसी की सुनता ही नहीं, इससे हम सब का नाश होना ही है।

दुर्मिल सवैया [६]

जब पाहन भे बन बाहन से, उतरे बनरा 'जै जै राम' रढ़ैं।
तुलसी लिये सैल-सिला सब सोहत, सागर ज्यों बल बारि बढ़ैं॥
करि कोप करैं रघुपत्ति की आयसु, कौतुक ही गढ़ कूदि चढ़ैं।
चतुरंग चमू पल में दलि कै रन रावन राड़ के हाड़ गढ़ैं॥

शब्दार्थ—बन बाहन=जलयान, नाव। रढ़ैं (रढ़ना=रटना)=रटते हैं। चतुरंग चमू=चतुरङ्गिनी सेना—पैदल, रथ, गजारोही और अश्वारोही। राड़ (हिं० राढ़, सं० राटि,)=नीच, निकम्मा, कायर, भगोड़ा। हाड़ गढ़ैं=(हाड़-गढ़ना, मुहा०)=खूब मारेंगे, कचूमर करेंगे।

अर्थ—जब पत्थर भी (प्रतापी श्रीरामजी के लिये) नाव के समान हो गये, (तब उन्हीं का सुदृढ़ पुल बन गया, जिस पर चढ़ कर) सब वानर इस पार उतर आये और यहाँ (लङ्का में) 'श्रीरामजीकी जय हो, श्रीरामजी की जय हो' ऐसी रट लगा रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—वे सब वानर बड़े-बड़े पहाड़ों और शिलाओं को लेकर बल से बढ़े हुए ऐसे शोभा देते हैं जैसे (ज्वार आने पर) जल से समुद्र बढ़ता है। वे क्रोध कर के कहते हैं कि हम सब श्रीरघुनाथजी की आज्ञा का पालन करेंगे, खेल ही में लङ्का गढ़ पर कूद कर चढ़ जायँगे। (शत्रु की) चतुरंगिनी सेना का पल भर में नाश करके लड़ाई में उस नीच एवं कायर रावण को बहुत मारेंगे एवं उसे कचूमर कर देंगे।

विशेष—ऊपर से पुर-नर-नारियों के कथन का प्रसंग था, यहाँ से दो छन्दों में गुप्त रूप में शुक-सारन के देखने का प्रसंग जान पड़ता है; क्योंकि आगे छन्द आठवें में शुक-सारन का रावण के पास जाकर देखी हुई सेना का कहना है। किन्तु स्पष्ट में कवि का वचन है।

'जब पाहन भे....'—पत्थर का जल पर तैरना आश्चर्य रूप है, इसमें श्रीरामजी का प्रताप है; यथा—"श्रीरघुवीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाखान।"

(मा० लं० ३); श्रीरामजी ने बाण का संधान कर समुद्र को खौला दिया, तब उसने डर कर शरणागति की और अपने पर पत्थर तैराने की युक्ति बतलाई और यह भी प्रतिज्ञा की कि मैं भी यथाशक्ति सहायता कर धारण करूँगा।

'उतरे बनरा 'जै जै राम' रढ़ैं'—चंचल वानर पुलमार्ग से उतर आये और प्रतापी श्रीरामजी की जय-जय कार कर रहे हैं; यथा—"जय जयंत जयकर, अनंत सज्जन जन रंजन। जय बिराध बध बिदुष, बिबुध-मुनि गन-भय-भंजन॥ जय निसिचरी-बिरूपकरन रघुबंस बिभूषन। सुभट चतुर्दस-सहस-दलन त्रिसिरा-खर-दूषन॥ जय दंडक बन-पावन-करन तुलसिदास संसय समन। जग बिदित जगत मनि जयति जय जय जय जय जानकिरमन॥" (उ० ११३)।

'सागर ज्यों बल बारि बढ़ैं'—ज्वार आने पर सागर जल से उमड़ कर बढ़ता है, वैसे ही श्रीराम-प्रताप रूपी वायु के द्वारा कपियों में बल बढ़ता है और वे जोश में भर कर लङ्का की ओर बढ़ते हैं; फिर रोक लिये जाते हैं; यथा—"राम कृपा कपि दल बल बाढ़ा। जिमि तृन पाइ लाग अति डाढ़ा॥" (मा० लं० ७०); तथा—"राम प्रताप प्रबल कपि जूथा।" (मा० लं० ४०)।

'करि कोप करैं....'—यहाँ वानरों का हार्दिक जोश कहा गया है। ऐसा करने के लिये वे आज्ञा चाहते हैं; यथा—"परम क्रोध मींजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा॥ सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला। पूरहिं नत भरि कुधर बिसाला॥ मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥ गर्जहि तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहत हहिं लंका॥" (मा० सुं० ५४); आगे छन्द १३-१४ भी देखिये। पर श्रीरामजी आज्ञा नहीं देते, इस प्रकार के कपियों के जोश शुक-सारन देखते और सुनते जाते हैं।

कवित्त [७]

बिपुल बिसाल बिकराल कपि-भालु, मानो
काल बहु बेष धरे, धाये किये करषा।
लिये सिला-सैल, साल ताल औ तमाल तोरि,
तोपैं तोयनिधि, सुर को समाज हरषा॥
डगे दिगकुंजर, कमठ कोल कलमले,
डोले धराधर-धारि, धराधर धरषा।

तुलसी तमकि चलैं, राघौ की सपथ करैं,
को करै अटक कपि-कटक अमरषा ? ॥

शब्दार्थ—करषा (सं० कर्ष=जोश, उबाल)=जोश युक्त हुआ, उबला। धराधर=१ पहाड़, २ शेषजी। धरषा=धर्षित हुआ, दब गया। अटक=रोक। अमरषा =क्रुद्ध हुआ।

अर्थ—बहुत बड़े-बड़े भयङ्कर वानर और भालू इस प्रकार दौड़ते हैं मानों बहुत वेष धारण किये हुए काल जोश किये हुए दौड़ रहा हो। वे सब पाषाण और पहाड़ लेकर तथा साखू, ताड़ एवं तमाल आदि वृक्ष तोड़ कर समुद्र को मानो भर देंगे (ऐसे उत्तेजित हैं), यह देख कर देवों का समाज हर्षित हुआ है। (उनके जोशयुक्त उछल-कूद की धमक से) दिशाओं के हाथी डगमगा उठे, कच्छप और वाराह कुलबुलाने लगे, पहाड़ों की श्रेणियाँ डोलने (काँपने) लगीं और शेषजी दब गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे सब वानर क्रुद्ध होकर चलते हैं और श्रीरामजी की शपथ करते हैं (कि अवश्य हम शत्रु पुर का नाश कर देंगे)—ऐसे क्रुद्ध हुए वानर कटक को कौन रोक सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

विशेष—'बिपुल बिसाल...';—यथा—"धाए बिसाल कराल मर्कट-भालु काल समान ते। मानहु सपच्छ उड़ाहिं भूधर बृंद नाना बान ते॥ नख दसन सैल महाद्रुमायुध सबल संक न मान हीं।" (मा० लं० ७७)। 'तोपै तोयनिधि...' अभी समुद्र तोप (पाट) देने को उद्यत हैं; क्योंकि अभी श्रीरामजी समुद्र के तट पर बैठे हैं। इससे आज्ञा नहीं पा रहे हैं, इनका जोश देख कर देव गण हर्षित हुए।

'डगे दिग कुंजर...'; यथा—"चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे। मन हर्ष दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे॥...सहि सक न भार उदार अहि पति बार-बारहि मोहई। गह दसन पुनि-पुनि कमठ पृष्ठ कठोर सो किमि सोहई॥" (मा० सुं० ३४)।

'को करै अटक...'—एक हनुमान्‌जी का ही रोकना कठिन है; यथा—देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा। तासु पंथ को रोकन पारा॥" (मा० लं० ५४); सारे कटक के आक्रमण पर भला कौन रोक सकता है ?

इन दो छन्दों से सेना का जोश कहा गया, यह सब देखकर रावण के गुप्त चर (शुक-सारन) ने रावण से जैसा कहा है, वह आगे छन्द में कहा गया है—

[८]

आए सुक-सारन बोलाए, ते कहन लागे,
पुलके-सरीर सेना करत फहम ही।
'महाबली बानर बिसाल भालु काल-से
कराल हैं, रहे कहाँ, समाहिंगे कहाँ मही'॥
हँस्यो दससाथ रघुनाथ को प्रताप सुनि,
तुलसी दुरावै मुख सूखत सहम ही।
राम के बिरोधे बुरो बिधि-हरि-हर हू को,
सब को भलो है राजा राम कै रहम ही॥

शब्दार्थ—फहम (अ०)=ज्ञान, समझ। सहम (फा०)=डर, भय। रहम (अ०)=१-करुणा, दया, २—अनुग्रह, अनुकंपा।

अर्थ—(रावण के) बुलाने पर शुक और सारन आये। (रावण के पूछने पर) वे कहने लगे; परन्तु श्रीराम-सेना का ज्ञान (स्मरण) करते ही उनके शरीर पुलकित हो गये, (फिर धैर्य धर कर वे कहने लगे—) 'महा बलवान् और विशाल शरीर वाले वानर-भालू काल के समान भयङ्कर हैं। वे न जाने कहाँ रहते थे? पृथिवी में कहाँ समाएँगे? अर्थात् वे इतने अधिक हैं कि सारी पृथिवी में उनके रहने के लिये पर्याप्त स्थान नहीं है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी का प्रताप सुन कर दशानन (दसो मुखों से) हँसने लगा; इस प्रकार वह अपने भय से सूखे हुए मुख (की विवर्णता) को छिपा रहा है। है। श्रीरामजी से वैर करने पर तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश का भी अनिष्ट ही होता है, सब की भलाई तो श्रीरामजी की दया में ही है।

विशेष—'आए सुक-सारन…'—ये दोनों रावण के मंत्री हैं, गुप्तचर बन कर श्रीरामजी की सेना का भेद लेने गये थे।

'पुलके सरीर…'—रावण के पूछने पर जब इन लोगों ने सेना का स्मरण किया तो उसकी अपारता चित्त में आ गई। ये श्रीराम-स्वभाव पर मुग्ध होकर आये थे, इससे उनके प्रभाव पर इन्हें प्रेम की पुलकावली हो आई। पर

रावण आदि ने इनकी पुलकावली को भय के कारण माना है। पहले सेना का ध्यान कर पीछे उसका वर्णन किया है।

'रहे कहाँ, समाहिं गे कहाँ मही ?'–इतने ही वाक्यों में वाल्मीकीय रामायण और श्रीरामचरितमानस के असंख्य सेना वर्णन का भाव प्रकट कर दिया है।

'महाबली बानर···'—इसमें महाबली और विशाल ये दोनों विशेषण वानर और भालू दोनों में लगाना चाहिये; यथा–"राजन राम अतुल बल जैसे। तेज-निधान लखन पुनि तैसे ॥" (मा० बा० २९२)—इसमें राम-लक्ष्मण दोनों में 'अतुल बल' और 'तेज निधान' विशेषण लगते हैं। अतः सभी वानर-भालू विशाल शरीर और महाबलवान् हैं। सभी काल के समान भयंकर हैं, इस वाक्य से भी दोनों में उक्त दोनों विशेषण युक्त हैं; क्योंकि छोटे शरीरवाला बली भी हो तो वैसा भयङ्कर नहीं जान पड़ता। कहा भी है—"मनहुँ भयानक मूरति भारी।" (मा० बा० २४०)। इस एक ही चरण में "नाना बरन भालु-कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी ॥" से "सहज सूर कपि भालु सब, पुनि सिर पर प्रभु राम। रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिं संग्राम ॥" (मा० सुं० ५३-५५); तक, का भाव आ गया है।

'हँस्यो दसमाथ··'; यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई ॥ भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा ॥" (मा० सुं० ५६); तथा—"ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई।" (मा० अ० २६)। 'हँस्यो' पद के साथ ही 'दसमाथ' पद होने से और भय की व्याकुलता का प्रसंग यहाँ भी होने से दसो मुखों से एक साथ हँसना है; यथा—"सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥ बाँध्यो बननिधि···" (मा० लं० ४-५)। ऊपर से हँसकर शुक द्वारा कहे हुए रामप्रताप का निरादर किया। उसके ऐसे व्यर्थ अभिमान को ग्रन्थकार आगे कहते हैं—

'राम के बिरोधे···'—उपर्युक्त छन्द १ के 'बाँचिहै न पाछे···' इसका विशेष देखिये। तथा—"पिय पूरो आयो अब काहि कहु करि रघुबीर बिरोध ॥" (गी० लं० १); "राम बिरोध न उबरसि' सरन बिष्नु अज ईस।" (मा० सुं० ५६)। "देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका ॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिधि बेष देखे सब देवा ॥" (मा० मा० ५३)।

'सबको भलो है राजा राम के रहम हो'; यथा—"बिधि हरि हर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥" (मा० अ० २५३)।

श्रीअङ्गदजी का दूतत्व

[६]

'आयो आयो आयो सोई बानर बहोरि', भयो
सोर चहूँ ओर, लंका आये जुवराज के।
एक काढ़ै सौज, एक धौज करै कहा ह्वै है,
'पोच भई महा' सोच सुभट समाज के॥
गाज्यो कपिराज रघुराज की सपथ करि,
मूँदे कान जातुधान मानो गाजे गाज के।
सहमि सुखात बातजात की सुरति करि,
लवा ज्यों लुकात तुलसी झपेटे बाज के॥

अर्थ—(श्रीरामजी की आज्ञा से अंगदजी जब रावण-सभा में दूतत्व के लिये गये, तब) लङ्का में युवराज अंगदजी के आने पर चारों ओर कोलाहल होने लगा—वही (लङ्का जलानेवाला) वानर फिर आ गया, वही फिर आ गया, आ गया। कोई तो घर के सामान बाहर निकालने लगे और कोई दौड़ धूप करने लगे कि न जाने अब क्या होगा ? योद्धाओं के समाज में चिन्ता हो गई कि 'यह बड़ा भारी बुरा हुआ'। कपिराज श्रीअङ्गदजी ने श्रीरघुराज श्रीरामजी की शपथ करके गर्जन किया, उससे राक्षस कान मूँद लिये मानो बिजली के गर्जने (कड़कने) पर कान मूँदे हों। पवनपुत्र हनुमान्‌जी का स्मरण कर राक्षस डर से सूख जाते हैं, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे ऐसे छिपने लगे, जैसे बाज के झपटने के डर से लवा (बटेर) छिप जाते हैं।

विशेष—'आयो आयो···'; यथा—"भयो कोलाहल नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी॥" (मा० लं० १७); 'आयो' पद तीन बार आया है, इसमें भय की वीप्सा है।

'कहा ह्वै है'; यथा—"अबधौं काह करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा॥" (मा० लं० १७); 'सहमि सुखात'; यथा—"बिनु पूछे मग देहि दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई॥" (मा० लं० १७): 'लवा ज्यों लुकात…'; यथा—"तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा। आएउ भृगुकुल कमल पतंगा॥ देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥" (मा० लं० २६७)। "तीतर मत्त-तमीचर-सेन समीर को सूनु बड़ो बहरी है।" (छंद २९)। 'गाज्यो कपिराज रघुराज…'; यथा—"झपटै, भट कोटि मही पटकै, गरजै रघुबीर की सौंह करै।" (छंद ३६)।

अलंकार—'उत्प्रेक्षा' और 'उदाहरण'।

[१०]

तुलसीस बल रघुबीर जू के बालि सुत
वाहि न गनत, बात कहत करेरी-सी।
"बखसीस ईस जू की खीस होत देखियत,
रिस काहे लागति, कहत हौं तो तेरी-सी॥
चढ़ि गढ़ मढ़ दृढ़ कोटि के कँगूरे कोपि,
नेकु धका देहैं ढैहैं ढेलन की ढेरी-सी।
सुनु दसमाथ! नाथ-साथ के हमारे कपि
हाथ लंका लाइहैं तो रहेगी हथेरी-सी"॥

शब्दार्थ—बखसीस = १ दान, २ पारितोषिक। खीस=नष्ट। तेरी-सी=तेरे हित की। मढ़ (मठ)=मंदिर। हथेरी-सी=समथल, सपाट।

अर्थ—तुलसीदास के स्वामी श्रीरघुनाथजी के बल पर वाली के पुत्र अङ्गदजी उस (रावण) को कुछ नहीं समझते और कड़ी-कड़ी बातें कहते हैं। (श्रीराम-विरोध से) श्रीशिवजी की दी हुई लङ्का की विभूति नष्ट होती देख पड़ती है (यह देखकर मैं कुछ कहता हूँ तो) तुम्हें क्रोध क्यों लगता है? मैं तो तुम्हारे हित की दृष्टि से ही कहता हूँ। हे रावण! सुनो, स्वामी श्रीरामजी के साथ में जो हमारे वानर हैं, वे जब तुम्हारे दुर्ग पर चढ़कर मन्दिरों और दृढ़ दुर्ग के कँगूरों पर क्रोध करके थोड़ा-सा धक्का दे देंगे तो इन्हें मिट्टी के ढेलों की ढेरी की भाँति ढहा (गिरा) देंगे; वे सब यदि लङ्का में हाथ लगावेंगे तो यह (लंका)

हथेली के समान सपाट (चौपट) हो जायगी, (अतः, अभी भी अवसर है, समझकर सँभल जाओ)।

विशेष—'तुलसीस-बल···बालिसुत···'; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥" "गएउ सभा भन नेकु न मुरा। बालि-तनय अति बल बाँकुरा ॥" (मा० लं० १७,१८); अर्थात् अङ्गदजी को प्रभु के प्रताप का बल है, वे वाली के पुत्र हैं और पिता के समान बलवान् भी हैं। वाली ने रावण को काँख में दबा रक्खा था, फिर ये क्यों डरें ? तथा—"प्रभु-प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल।" (मा० सुं० १६); "यह तनय मम सम बिनय बल कल्यान-प्रद प्रभु लीजिये ॥" (मा० कि० ६)।

'बखसीस ईस की··'—मन्दोदरी ने भी कहा है; यथा—"ईस-बक-सीस जनि खीस करु, ईस ! सुनु, अजहुँ कुल कुसल बैदेहि दीन्हें ॥" (छन्द १६); तथा—"तप बल, भुजबल कै सनेह बल सिव-बिरंचि नीकी विधि तोषे। सो फल राजसमाज सुवन जन, आपु न नास आपने पोषे ॥" (गी० सुं० १२)—यह श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है ! एवं-"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दसमाथ।" (मा० सुं० ४६)। 'रहेगी हथेरी-सी'—हाथ की हथेली की गादी-सी सचिक्कन चिह्न-रहित लंका की सपाट भूमि ही रह जायगी।

[११]

दूषन बिराध खर त्रिसिर कबंध बधे,
तालऊ बिसाल बेधे, कौतुक है कालि को।
एक ही बिसिष बस भयो बीर बाँकुरो जो,
तोहू है बिदित बल महाबली बालि को ॥
'तुलसी' कहत हित, मानत न नेकु संक,
मेरो कहा जैहे, फल पैहे तू कुचालि को।
वीर-करि-केसरी कुठारपानि मानी हारि,
तेरी कहा चली, बिड ! तोसो गनै घालि को ॥

शब्दार्थ—कौतुक है कालि को = थोड़े दिन का ही खेल एवं आश्चर्य घटना है। बिड (विट्) = नीच, खल। घालि = घलुआ, घेलौना।

अर्थ—(श्रीरामजी ने) विराध, खर, दूषण, त्रिशिरा और कबंध को मारा

है और बड़े भारी सात ताड़ वृक्ष का भी (एक ही बाण से) छेदन किया है, ये सब आश्चर्य कर्म उनके अभी थोड़े दिनों के हैं। जिस महाबलवान् वाली का बल तुमको भी ज्ञात है, वह बाँका वीर भी उनके एक बाण के ही वश हो गया (मारा गया)। (श्रीअङ्गदजी कहते हैं—) मैं तेरे हित की बातें कहता हूँ (क्योंकि तू मेरे पिता का मित्र था), परन्तु तू थोड़ा भी (श्रीरामजी का) भय नहीं मानता, मेरा क्या जायगा (बिगड़ेगा) ? तू अपनी कुचाल का फल पावेगा। जिन श्रीरामजी से वीर रूपी गजराजों के लिये सिंह रूप श्रीपरशुरामजी ने हार मान ली, अरे नीच ! उनके सामने तेरी क्या चल सकती है, तेरे-जैसों को (श्रीरामजी के समक्ष) घलुवा भर भी कौन समझता है ? अर्थात् तुझे कोई कुछ नहीं गिनता।

विशेष—'दूषन बिराध…'—विराध एवं खर-दूषण आदि के बध चरित में स्पष्ट हैं, तथा—"खर दूषन त्रिसिरा कबंध रिपु जेहि बाली जमलोक पठायो। ताको दूत…" (गी० लं० २) 'तालऊ बिसाल बेधे'—'तालऊ' ऐसा कहकर इसे अत्यन्त आश्चर्य कर्म प्रकट किया; यथा—"स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः। सालमुद्दिश्य चिक्षेप पूरयन्स रवैर्दिशः ॥२॥ स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः। भित्त्वा तालान्गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह ॥३॥ सायकस्तु मुहूर्त्तेन तालान्भित्त्वा महाजवः। निष्पत्य च पुनस्तूणं तमेव प्रविवेश ह ॥४॥ तान्दृष्ट्वा सप्त निर्भिन्नान्सालान्वानरपुङ्गवः। रामस्य शरवेगेन विस्मयं परमं गतः ॥५॥" (वाल्मी० ४।१२); अर्थात् श्रीरामजी ने अपना विशाल धनुष और एक बाण लेकर शाल वृक्ष पर लक्ष्य करके मारा, उसके शब्द से दिशाएँ गूँज उठीं। बलवान् श्रीरामजी से छोड़ा हुआ वह स्वर्णभूषित बाण साल वृक्षों को भेद कर पर्वत और पृथिवी को फोड़ता हुआ पाताल में चला गया, यह बाण एक ही मूहूर्त्त में उन सातो तालों को भेदकर फिर उनके तर्कश में आ गया। वानर श्रेष्ठ सुग्रीव यह देखकर परम विस्मित हुए। 'कालि को'—यह थोड़े दिन के अर्थ में मुहावरा है।

'एक ही बिसिष'—यह पद दीप देहली है; क्योंकि एक ही बाण से सप्तताल भेदे गये हैं और वाली भी एक ही बाण से मारा गया है। 'तोहू है बिदित'; यथा—"जगत-बिदित अति बीर वालि-बल जानत हौ किधौं अब

बिसरायो ।" (गी० लं० ४); "एक कहत मोहिं सकुच अति, रहा बालि की काँख ।" (मा० लं० २४) ।

'कहत हित'; यथा—"मम जनकहि तोहिं रही मिताई । तव हित कारन आयउँ भाई ॥" (मा० लं० १६); 'फल पैहै तू कुचालि को'; यथा—"पावहु गे निज करम जनित फल, भले ठौर हठि वैर बढ़ायो ॥" (गी० लं० ४); तथा—"बिस्व दवन सुर साधु सतावन रावन कियो आपनो पैहै ।" (गी० सुं०५०) ।

'वीर करि केसरी कुठारपानि मानी हारि'; यथा—"दुसह-रोष-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर-खयकारी । क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी ॥" (गी० बा० १०७); "सहसभुज-मत्त-गजराज-रनकेसरी परसुधर गर्व जेहि देखि बीता ॥" (छंद १७); 'तेरी कहा चली...'–जिस सहस्रार्जुन ने तुझे परास्त कर बाँध लिया था, उसे मार कर जिसने संसार भर के राजाओं का २१ बार नाश किया था, उन परशुरामजी ने भी जिनको देखते ही गर्व रहित हो शस्त्र सौंप कर पूरी हार मान ली, उनके समक्ष तेरी क्या चलेगी ? और तू किस गिनती में है ? जैसे घलुवा की तौल में गिनती नहीं होती, वैसे तू उन वीरों की गिनती में नहीं गिना जायगा ।

मत्त गयंद-सवैया [१२]

तोसों कहौं दसकंधर रे, रघुनाथ-बिरोध न कीजिय बौरे ।
बालि बली, खर-दूषन और अनेक गिरे जे-जे भीत में दौरे ॥
ऐसिय हाल भई तोहि धौं, न तु लै मिलु सीय चहै सुख जौरे ।
राम के रोष न राखि सकैं 'तुलसी' विधि, श्रीपति, संकर सौरे ॥

शब्दार्थ—भीत में दौरे (मुहावरा)=अपनी सामर्थ्य से बाहर, असंभव कार्य किये । धौं=१ न जाने, मालूम नहीं, २ कि, अथवा, ३ तो, ४–विधि आदेश आदि वाक्यों के पहले केवल जोर देने के लिये आने वाला एक शब्द । अवश्य ।

अर्थ—(श्री अङ्गदजी कहते हैं—) अरे बावले रावण ! मैं तुझसे कहता हूँ कि श्रीरामजी से विरोध न कर । महाबलवान् वाली और खर-दूषण आदि वीर जो-जो दीवार पर दौड़े (अपनी सामर्थ्य से बाहर कार्य किये), वे सब गिर गये (नष्ट हो गये) अवश्य, तुम्हारी भी ऐसी ही दशा हुई समझो; नहीं तो, यदि

सुख चाहता है तो श्रीजानकीजी को लेकर उनसे मिल जा। अरे! श्रीराजी के क्रोध करने पर सैकड़ों ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते।

विशेष—'बौरे'—राम-विरोध वाले सभी नष्ट हो गये, ऐसे अनेक प्रमाण देखते हुए भी उनसे वैर करना पागलपन है। 'जे-जे भीत में दौरे'—जिन्होंने ऐसे शक्ति से बाहर कार्य किये हैं, वे वाली आदि सब नष्ट ही हुए हैं, जैसे दीवार पर सहसा दौड़ने वाले गिरते ही हैं।

'न तु लै मिलु सीय···'; यथा—"रे कंत! तृन दंत गहि सरन श्रीराम कहि, अजहुँ एहि भाँति लै सौंपु सीता॥" "ईस-बकसीस जनि खीस करु, ईस! सुनु, अजहुँ कुल कुसल बैदेहि दीन्हें॥" (छंद १७, १९); "चलु मिलु बेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहिं। तुलसिदास प्रभु सरन सबद सुनि अभय करैंगे तोहिं॥" (गी० लं० १)—यह सब मन्दोदरी ने कहा है।

'राम के रोष न राखि सकैं···'—इस पर उपर्युक्त छन्द ८ के 'राम के बिरोधे बुरो···' इसके विशेष में लिखा जा चुका है।

उपजाति सवैया [१३]

तू रजनीचर-नाथ महा, रघुनाथ के सेवक को जन हौं हौं।
बलवान है स्वान गली अपनी, तोहि लाज न गाल बजावत सौहौं॥
बीसभुजा दससीस हरौं, न डरौं प्रभु-आयसु-भंग ते जौं हौं।
खेल में केहरि ज्यों गजराज दलौं दल बालि को बालक तौ हौं॥

शब्दार्थ—गाल बजावत = डींग हाँकते, डींग मारते, बढ़-बढ़ कर बातें करते। सौहौं = सामने। खेत में=रणक्षेत्र में।

अर्थ—हे रावण! तू तो राक्षसों का महाराज है और मैं श्रीरघुनाथजी के सेवक सुग्रीव का सेवक हूँ। जैसे कुत्ता अपनी गली में ही बलवान् रहता है, वैसे ही तू अपने ही घर में बैठा हुआ मेरे सामने डींग मारता है, तुझे लज्जा भी नहीं आती? (स्वामी श्रीरामजी ने तुझे मार डालने की आज्ञा मुझे नहीं दी, इसी से मैं तुझे अभी छोड़ देता हूँ;) यदि मैं प्रभु श्रीरामजी की आज्ञा के भंग होने से न डरता होता तो तेरे बीसो भुजाओं और दसो सिरों को अभी उतार लेता। यदि मैं वाली का पुत्र हूँ तो जैसे सिंह गजराज को मार लेता है, वैसे

रणक्षेत्र में तेरे दल (के बड़े-बड़े योद्धाओं) का नाश करूँगा (तेरा वध तो प्रभु स्वयं करेंगे)।

विशेष--'तू रजनीचर नाथ महा···'—भाव यह कि अपने वर्ग में तू सबसे बड़ा है और मैं अपने वर्ग में छोटा हूँ, फिर भी तेरे लिये मैं पर्याप्त हूँ, बड़ों की आवश्यकता ही क्या ? तथा—"तैं निसिचर पति गर्व बहूता। मैं रघुपति सेवक कर दूता ॥ जौं न राम अपमानहिं डरऊँ। तोहिं देखत अस कौतुक करऊँ ॥ तोहिं पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाउँ। तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनक सुतहि लै जाउँ ॥" (मा० लं० २९-३०)।

'बलवान है स्वान···'—कुत्ता अपनी गली ही में भूँकता है, बलवान् बनता है, पर अन्यत्र डर के मारे पूँछ दबा कर भागता है, वैसे तू अपने घर में बैठा हुआ डींग मारता है। श्रीरामजी के समीप में साहस नहीं पड़ा, यती बन कर सीता की चोरी की है, यही कायरता है, पूँछ दबा कर भागना है। अब यहाँ मेरे सामने शूरता की डींग मारता है, अरे ! तुझे इस पर लज्जा नहीं आती !

'बीस भुजा दससीस हरौं···'—मैं तेरे देश एवं घर में आया हूँ, फिर भी मैं तेरी ही भुजाओं को उखाड़ कर तेरे शिरों के उतारने का साहस रखता हूँ। फिर तू मेरे सामने डींग मारता है। अरे ! इस पर तो तुझे लज्जित होना चाहिये पर तू तो निर्लज्ज है।

'न डरौं प्रभु आयसु भंग ते जौ हौं'; यथा—"तव सोनित की प्यास, त्रिषित राम सायक निकर। तजौं तोहिं तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम ॥ मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहिं न दीन्ह रघुनायक ॥ असि रिस होति दसौ मुख तोरौं। लंका गहि समुद्र महँ बोरौं ॥ गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका ॥ मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा ॥" (मा० लं० ३२)।

'खेत में केहरि ज्यों···'—अभी तो स्वामी ने मुझे बात-चीत करने के लिये ही भेजा है, जब रण क्षेत्र में सामना होगा, तब ऐसा करूँगा। दल को ही मारना कहा, क्योंकि अपनी स्त्री का हरण करनेवाले तुझ रावण को तो श्रीरामजी स्वयं मारेंगे। ऊपर लिखा गया कि रावण के रक्त के प्यासे तो श्रीरामजी के समूह बाण हैं, इसका मुझे डर है। यह अंगदजी ने ही कहा है।

[१४]

कोसलराज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै बारिधि बोरौं।
महाभुजदंड द्वै अंडकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरौं॥
आयसु भंग ते जौं न डरौं सब मींजि सभासद सोनित खोरौं।
बालि को बालक तौ 'तुलसी' दसहू मुख के रन में रद तोरौं॥

शब्दार्थ—अंड कटाह = ब्रह्माण्ड। चपेट = चपाने के आघात से। खोरौं = नहाऊँ।

अर्थ—(श्रीअंगदजी कहते हैं—) यदि मैं श्रीरामजी के आज्ञा उल्लंघन रूप दोष से न डरूँ तो आज श्रीअयोध्या नरेश श्रीरामजी के कार्य के लिये त्रिकूट पर्वत को ही (जिस पर लंका बसी हुई है) उखाड़ लेकर समुद्र में डूबा दूँ। (त्रिकूट की तो बात ही क्या) मैं अपने दोनों महान् (प्रचण्ड) भुज-दण्डों से चपाने के आघात से सारे ब्रह्माण्ड को चटाक से फोड़ दूँ। (अभी) इस सभा के सभासदों को मसलकर इनके रक्त में नहा लूँ। मैं यदि वाली का बालक हूँ तो रणभूमि में तुम्हारे दसो मुखों के दाँत तोड़ डालूँगा।

विशेष—यहाँ वीररस के आवेश में श्रीअंगदजी अपना उत्कर्ष कहते हैं—

'कोसलराज के काज…त्रिकूट उपारि…'; यथा—"राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।…सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहिं लाँघउँ जलनिधि खारा॥ सहित सहाय रावनहिं मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी॥" (मा० कि० २६)।

'महाभुज-दंड द्वै अंडकटाह…'—इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी ने भी कहा है; यथा—"जौं तुम्हारि अनुसासन पावउँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥ काँचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी॥" (मा० बा० २५२)। इसमें 'जौं तुम्हारि…' ऐसा कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मांड के स्वामी श्रीरामजी हैं, उनकी आज्ञा विना उसका नाश कोई नहीं कर सकता, वैसे ही यहाँ अंगदजी ने साथ ही 'आयसु भंग ते…' यह कहा है। ब्रह्माण्ड फोड़ने की विधि भी श्रीलक्ष्मणजी के वचनों से और अंगदजी के वचनों से स्पष्ट हो जाती है कि दोनों हाथों से उसे दबा कर 'चटाक दे' फोड़ देंगे, ऐसा कहा है। अतः, यह शंका नहीं रहती कि कहाँ पटक कर फोड़ेंगे ?

'आयसु भंग ते····सब मींजि···'; यथा—"बार-बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जस बधे सृकाला ॥ मन महँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तोरे ॥ नाहित करि मुख-भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहिं बरजोरा ॥" (मा०लं० २६)। इस पर यदि रावण समझ ले कि अब छुट्टी मिली न श्रीरामजी आज्ञा देंगे और न हमलोगों पर कोई आपत्ति आवेगी, उस पर कहते हैं—

'बालि को बालक···'—रण में तो आज्ञा रहेगी ही। अतः, वहीं मैं तेरे दसो मुखों के दाँत तोड़ूँगा। भाव यह कि अभी जो तू दसो मुखों से अपनी डींग मार कर हँसते हुए दाँत दिखाता है, इन्हें तोड़ दूँगा; अर्थात् यह व्यर्थ की बातों की शूरता न रह जायगी। प्रत्यक्ष भी दसो मुख तोड़ने का कर्म एवं उसकी भुजाओं का खंडन भी कर ही सकते हैं। राम-प्रताप से असम्भव नहीं है।

दुमिल-सवैया [१५]

अतिकोप सों रोप्यो है पाँव सभा, सब लंक ससंकित सोर मचा।
तमके घननाद से बीर प्रचारि कै, हारि निसाचर सेन पचा॥
न टरै पग मेरुहु ते गरु भो, सो मनो महि संग बिरंचि रचा।
तुलसी सब सूर सराहत हैं "जग में बलसालि है बालि बचा"॥

अर्थ—श्रीअंगदजी ने जब अत्यन्त क्रोधपूर्वक सभा में अपना पाँव रोप दिया, तब लङ्का के सारे राक्षस भयभीत होकर कोलाहल मचाने लगे। उस पैर को उठाने के लिये मेघनाद-सरीखे वीर क्रोध से आवेशपूर्वक (तमतमा कर) ललकार कर लगे, परन्तु हारकर बैठ गये, सारी निशाचर-सेना पराक्रम करके पच मरी (हैरान हो गई); तो भी पैर नहीं ही उठा। वह पैर सुमेरु पर्वत से भी भारी हो गया, (वह पैर पृथिवी में ऐसा चिपट गया था, मानो ब्रह्माजी ने उसे पृथिवी के साथ ही रचा हो।)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (यह देख कर) सब शूर वीर प्रशंसा करने लगे कि संसार में एक वाली का बच्चा ही एक-मात्र बलवान् है।

विशेष—'अति कोप सों रोप्यो है पाँव सभा'—श्रीअंगदजी ने अपनी शूरता कही थी। रावण ने उस पर उन्हें लबार (झूठा) कहा; यथा—"बालि कबहुँ गाल अस मारा। मिलि तपसिन्ह तैं भएसि लबारा ॥" इस पर अंगदजी ने श्रीरामजी का अपमान समझा कि श्रीरामजी के सम्बन्ध से ही तो असंभव बातें

भी सिद्ध हो जाती हैं और इसने कहा है कि उनसे मिलने पर ही तुझमें झूठी डींग मारने की बानि आ गई। बस, इष्ट अपमान पर इन्हें अत्यन्त क्रोध हो गया। तब श्रीराम-प्रताप का स्मरण कर वैसी प्रतिज्ञा की, जिससे वह राम-प्रताप देख ले; यथा—"साँचेहु मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा॥ समुझि राम-प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥ जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी॥" (मा० लं० ३२)।

'सब लंक ससंकित…'—प्रतिज्ञा में जो बाजी रक्खी जाती है, उसमें दोनों ओर की हार-जीत के अनुसार कुछ लेन देन रहता है। श्रीअंगदजी की इस प्रतिज्ञा में हारने पर देने की बात स्पष्ट रूप में कही गयी है, उस पर रावण की ओर से पैर उठाने के लिये हर्षपूर्वक योद्धा लग गये। परन्तु यदि वे हारेंगे तो अंगदजी क्या लेंगे; यह स्पष्ट नहीं कहा गया, अंगदजी के कर्म (पाँव रोपने) से ही प्रकट हुआ है कि उनका पाँव लङ्का में जम गया, लङ्का उनकी हो गई; इस अनुमान पर लङ्का में खलबली मच गई; यद्यपि इधर से ऐसी बात नहीं थी; क्योंकि श्रीरामजी का प्रयोजन तो रावण-पक्ष के दुष्ट-राक्षस वध से है, लङ्का को तो जीतकर भी वे विभीषणजी को ही देंगे, यह पहले ही हो चुका है। हाँ, विभीषणजी के विरोधी बहुत यदि रावण पक्ष के होंगे तो उनमें घबराहट होनी भी युक्त ही है।

'तमके घननाद से…'; यथा—"इंद्रजीत आदिक बलवाना। हरषि उठे जहँ-तहँ भट नाना॥ झपटहिं करि बल बिपुल उपाई। पद न टरै बैठहिं सिर नाई॥" से "कपि बल देखि सकल हिय हारे।" (मा० लं० ३२-३३) तक।

'न टरै पग…'—यहाँ राम-प्रताप स्पष्ट है; यथा—"उमा राम की भृकुटि-बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥ तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥" (मा० लं० ३३); भक्त अंगदजी ने विश्वास-पूर्वक जैसा प्रण किया था, उसका निर्वाह श्रीरामजी ने कर दिया; यथा—"तेहि समाज कियो कठिन पन, जेहि तौल्यो कैलास। तुलसी प्रभु-महिमा कहउँ, सेवक को बिस्वास॥" (दोहावली १६७)।

'तुलसी सब सूर…'—भगवान् जीवों को निमित्त बना कर ही सभी काम करते हैं; यहाँ अंगदजी की ही प्रशंसा होती है; यद्यपि इसमें स्पष्ट रूप में श्रीराम-

प्रताप है। यही समझ कर अंगदजी ने पुलक-रोमांच के साथ कृतज्ञता प्रकट की है; यथा—"रिपु बल धरषि हरषि कपि, बालि तनय बल पुंज। पुलक सरीर नयन जल, गहे राम पद कंज॥" (मा० लं० ३४); उन्होंने स्पष्ट कह भी दिया है; यथा—"स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहिं आदर दियेउ।" (मा० लं० १७)। 'बालि बचा'-बालि ने भुजा की काँख में रखकर रावण को पराजित किया था। उसके पुत्र ने पैर से ही उसे हरा दिया, भुजाएँ बल की स्थान रूपा कही जाती हैं। अतः, पैरसे हराने में अंगद में बहुत विशेषता है। पुत्र यदि गुण-वैभव में पिता की अपेक्षा अधिक हो तभी पिता को उससे विशेष हर्ष होता है; यथा—"एकमेव हि लोकेऽस्मिन्नात्मनो गुणवत्तरम्। इच्छन्ति पुरुषाः पुत्रं लोके नाऽन्यं कथञ्चन॥" (महा० द्रोण० १९४।५); अर्थात् यह लोकरीति है कि लोग अपने पुत्र को अपने से भी अधिक गुणवान् देखने की इच्छा रखते हैं, औरों के विषय में नहीं। यहाँ पुत्र के इस कर्म से वाली की आत्मा को परम संतोष होगा कि यह मेरा पुत्र सुपुत्र है। इस भाव को प्रकट करते हुए यहाँ इसे वाली का बच्चा (लाड़ला, दुलारा पुत्र) कहा है।

कवित्त [१९]

रोप्यो पाँव पैज कै बिचारि रघुबीर बल,
लागे भट सिमिटि न नेकु टसकतु है।
तड्यो धीर धरनि, धरनिधर धसकत,
धराधर धीर भार सहि न सकतु है॥
महाबली बालि को, दबत दलकत भूमि,
तुलसी उछरि सिंधु, मेरु मसकतु है।
कमठ कठिन पीठ घट्ठा परो मंदर को,
आयो सोई काम, पै करेजो कसकतु है॥

शब्दार्थ—पैज (प्रतिज्ञा, पइज्या)=प्रतिज्ञा। धरनिधर=पहाड़ (त्रिकूट)। मसकतु=दरकता जाता है, फटता जाता है। कसकतु है=पीड़ा करता है। घट्ठा=शरीर पर वह उभड़ा हुआ कड़ा चिह्न जो किसी वस्तु की रगड़ लगते-लगते पड़ जाता है।

अर्थ—श्रीअङ्गदजी ने श्रीरामजी के बल को समझकर प्रतिज्ञा करके अपना

पैर रोपा, रावण के योद्धा लोग एकत्र हो (एक साथ) उठाने लगे; परन्तु वह (पैर) कुछ भी नहीं खिसकता (टस से मस नहीं होता), यहाँ तक कि पृथिवी तक ने (भार सहन का) धैर्य छोड़ दिया (जो धैर्य धारण एवं भार-वहन करने में प्रसिद्ध हैं), पहाड़ (त्रिकूट) नीचे को धँसने (दबने) लगा, परम धैर्यवान् शेषजी भी उस पैर दबने के भार को नहीं सह सके। महाबलवान् वाली के पुत्र के दबाने से पृथिवी दलक गई (काँप गई)। (पृथिवी के नीचे धसने से) समुद्र का जल उछल पड़ा और सुमेरु पर्वत फटने लगा। कच्छप की कठोर पीठ पर जो (सागर-मंथन समय) मन्दराचल की रगड़ का घट्टा पड़ गया था, वह इस समय काम आया (उसी से पीठ नहीं फटी और न उसमें पीड़ा हुई); परन्तु अत्यन्त भार के कारण उनके कलेजे में पीड़ा तो होने लगी ही।

विशेष—'बिचारि रघुबीर बल'; यथा—"समुझि राम-प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥" (मा० लं० ३२)—प्रतिज्ञा की बातें ऊपर पद में लिखी गईं। 'लागे भट सिमिटि···'; यथा—"कोटिन्ह मेघनाद-सम, सुभट उठे हरषाइ। झपटहिं टरइ न कपि चरन, पुनि बैठहिं सिर नाइ॥" (मा० लं० ३३)।

'महाबली बालि को'—कैलास पर्वत का उठानेवाला रावण जिस बाली की काँख में रहा था, यह उसी का पुत्र है और उसी के समान बलवान् भी है; यथा—"यह तनय मम सम बिनय बल···" (मा० कि० ६), यह वाली का ही वचन है। रावण के ही चलने पर पृथिवी चलायमान हो जाती थी; यथा—"जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढ़त मत्तगज जिमि लघु तरनी॥" (मा०लं०२४)—तब अंगद के बलपूर्वक पदारोपण पर त्रिकूट आदि की ये दशाएँ युक्त ही हैं।

'कमठ कठिन पीठ···'—सामान्य कछुए की भी पीठ कठोर होती है, वे कच्छप तो भगवत् स्वरूप ही हैं, फिर भी उनकी पीठ पर बहुत कालतक मंदराचल की रगड़ का घट्टा भी पड़ा था, इससे वह घाव-रहित बच गई। फिर भी उनके कलेजे में कसक हुई ही। यह सब श्रीराम-प्रताप से अंगदजी के बल का प्रभाव है।

मन्दोदरी का रावण को समझाना

झूलना [१७]

कनक-गिरि-सृंग चढ़ि देखि मर्कट-कटक,

वदति मंदोदरी परम भीता।
सहसभुज - मत्तगजराज - नरकेसरी,
परसुधर गर्व जेहि देखि बीता॥
'दास तुलसी' समर सूर कोसलधनी,
ख्याल ही बालि बलसालि जीता।
रे कंत! तृन दंत गहि 'सरन श्रीराम' कहि,
अजहुँ एहि भाँति लै सौंपु सीता॥

अर्थ—(लङ्का के) स्वर्णपर्वत की चोटी पर चढ़कर और वानरी सेना देख कर अत्यन्त भयभीत हो मन्दोदरी कहती है—सहस्र बाहु रूपी मतवाले गजेन्द्र को मारने के लिये नराकार सिंह रूपी परशुरामजी का गर्व जिनको देखकर ही जाता रहा। वे कोशलेश श्रीरामजी रण में प्रबल योद्धा हैं; जिन्होंने खेल ही में महाबलशाली वाली को जीत लिया है। हे स्वामी! दाँतों में तृण लेकर (अत्यन्त दीनता से) 'हे श्रीरामजी! मैं आपकी शरण हूँ' ऐसा कहकर, अब भी इस प्रकार श्रीसीताजी को ले जाकर उन्हें सौंप दो।

विशेष—'कनक गिरि सृंग···'—लंका त्रिकूट पर्वत पर बसी थी, उसके नीलकूट पर लंका बसी हुई थी, सुन्दर कूट पर अशोक वाटिका आदि उसके विलास-भवन थे और सुवेल कूट पर युद्ध मैदान था। नीलकूट लौह वर्ण, सुवेल कूट श्वेत (रजत) वर्ण और सुन्दर कूट स्वर्ण वर्ण के थे। उनमें सुन्दर कूट के स्वर्ण वर्ण किसी शिखर पर चढ़कर मंदोदरी ने वानरी सेना देखी थी। सुवेल पर तो श्रीरामजी सेना के साथ उतरे ही थे। 'परम भीता' भयभीत तो पहले ही थी; यथा—"दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी॥' (मा० सुं० ३५); जब प्रभु सेतु बाँधकर लंका में आ गये, यह सुनकर वह बहुत डर गई; यथा—"अस कहि नयन नीर भरि, गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात॥" (मा० लं० ७); अब इसने आँखों से सेना देखी, तब 'परम भीता' हो गई। फिर रावण को समझाती हुई कहने लगी।

'सहसभुज-मत्त गजराज···'—मतवाला हाथी प्रमादी होता है, वैसे ही सहस्रबाहु भी प्रमादी था, तब नर रूप में सिंहवत् पराक्रमी परशुरामजी ने उसका वंश के साथ संहार किया था, जैसे हाथी के समूह का नाश सिंह करता है, हाथी

समूह सिंह का कुछ नहीं कर पाता, वैसे ही सहस्रबाहु सेना के साथ उनके प्रति कुछ शूरता नहीं दिखा सका। ऐसे परशुरामजी गर्व में भर कर गये थे, पर उन्हें देखकर ही ठंढे हो गये। श्रीराम-प्रताप के सामने इनका प्रताप-सूर्य अस्त हो गया। तब तुम श्रीरामजी के समक्ष क्या कर सकोगे? तुम तो सहस्रबाहु से ही दुर्दशा पूर्वक परास्त हो चुके हो।

'समर सूर कोसलधनी ख्याल ही....'—परशुरामजी देखकर ही डर गये थे। अतः, उनके उदाहरण से यदि श्रीरामजी की समर शूरता में संदेह हो तो यह दूसरा उदाहरण उनकी युद्ध-वीरता का है कि बालि ऐसा महाबलशाली उनके एक ही बाण का शिकार हुआ। मृगया खेल के रूप में उन्होंने उसे मार डाला है। "आपने व्याध के समान छिप कर मुझे क्यों मारा? बालि के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीरामजी ने मृगया रूप में मारना कहा, फिर वाली ने उसे उचित ही माना है।"—वाल्मी० ४।१८।३६-४०। खेल पद को बैसवारी अवधी भाषा में 'ख्याल' कहते हैं—जैसे 'चोर' को 'च्वार' और 'केर' को 'क्यार' कहा जाता है। 'बालि बलसालि'—बालि के बल को रावण भली-भाँति जानता है; यथा—"तोहू है बिदित बल महाबली बालि को" (छंद ११)–इसका विशेष देखिये। तथा—"अहो बलमहो वीर्यमहो गाम्भीर्यमेव च। येनाहं पशुवद्गृह्य भ्रामितश्चतुरोऽर्णवान्॥ एवमश्रान्तवद्वीर शीघ्रमेव च वानर। मां चैवोद्वहमानस्तु कोऽन्यो वीर भविष्यति॥" (वाल्मी० ७।३४।३७-३८); अर्थात् (बालि से पराजित होने पर रावण ने ही बालि से कहा है-) अहो! कैसा बल है, कैसा पराक्रम है और कैसी गंभीरता है। आपने मुझे पशु के समान पकड़कर (काँख में दबा कर) चारो समुद्रों तक घुमाया है। बिना थके हुए बड़े वेग से आपने मुझे घुमाया है, इस प्रकार मुझको ढोनेवाला और कौन हो सकता है?

इस प्रकार के दो उदाहरणों से उसके गर्व का निवारण कर आगे कर्त्तव्य की शिक्षा देती है।

'रे कंत! तृन दंत गहि, सरन श्रीराम कहि...'—'रे' पद इस झूलना छन्द की मात्रा गणना से बाहर है। आगे के छन्द में भी 'रे नीच!' इस पद में 'रे' अधिक है। अतः, जैसे विनय-पत्रिका के दंडक पदों में 'देव' पद ऊपर से

लगा हुआ मिलता है, जैसे यहाँ का 'रे' पद भी है। पूर्वोक्त छंद ४ में इस छन्द के लक्षण देखिये।

दाँत तले तृण ग्रहण कर शरण होना दीनतापूर्वक शरणागति की एक मुद्रा है; यथा—"दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन-सहित संग निज नारी॥ सादर जनक सुता करि आगे। एहि विधि चलहु सकल भय त्यागे॥ प्रनतपाल रघुबंस मनि, त्राहि-त्राहि अब मोहिं। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैं गो तोहिं॥" (मा० लं० १९-२०)। तथा—"वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः॥ तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत्॥" (महा० शान्ति० ९८। ४८-४९); अर्थात् संग्राम में वृद्ध, बालक, स्त्री तथा जो पीठ दे दे और जो मुख में तृण धारण करके 'मैं आपका हूँ (शरणागत हूँ)' ऐसा कहता हो, इनका वध नहीं करना चाहिये।

इन प्रमाणों से जान पड़ता है कि जो शरण्य का अपराधी होता है और रण में डर कर शरण होता है, वह दाँत तले तृण लेकर 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहता है। रावण भी श्रीरामजी की स्त्री का हरण किया है। अतः, उसके लिये ऐसा कहा गया है।

[१८]

रे नीच! मारीच बिचलाइ, हति ताड़का,
भंजि सिव चाप सुख सबहि दीन्हो।
सहसदसचारि खल सहित खर दूषनहिं,
पठइ जयधाम, तेहि तौ न चीन्हो॥
मैं जो कहौं, कंत! सुनु मंत भगवंत सों
बिमुख ह्वै बालि फल कौन लीन्हो?
बीस भुज, सीस दस खीस गयो तबहि जब,
ईस के ईस सों बैर कीन्हो॥

शब्दार्थ—मंत (मंत्र) = सलाह। खीस (सं० किष्क) = नष्ट, बरबाद।

अर्थ—(मन्दोदरी रावण से कहती है—) अरे नीच (कुमार्गी)! जिन श्रीरामजी ने मारीच को विचलित किया (बिना फल के बाण से सौ योजन समुद्रपार फेंक दिया), ताड़का को मार डाला और शिवजी का धनुष तोड़ कर

सबको सुख दिया है। फिर चौदह हजार दुष्टों के साथ (आक्रमण कारी) खर-दूषण को यमराज के धाम भेज दिया है, उनको तूने तब भी नहीं पहचाना! (कि वे मनुष्य मात्र नहीं, किन्तु भगवान् हैं,)। अतः, हे स्वामी! मैं जो सलाह कहती हूँ, उसे सुनो, भगवान् श्रीरामजी से प्रतिकूल होकर वाली ने कौन फल पाया है? (नष्ट ही तो हुआ है!)। तुम्हारे बीसों हाथ और दसों सिर उसी समय नष्ट हो गये, जब से तुमने शिवजी के स्वामी श्रीरामजी से विरोध प्रारम्भ किया है।

विशेष—इस छन्द में मन्दोदरी श्रीरामजी के प्रताप-प्रसंगों का दिग्दर्शन कराती है। सीता-हरण के प्रथम के प्रसंगों के ही उदाहरण देती है—

'रे नीच! मारीच बिचलाइ···'—रावण ने सीता हरण किया, इसी से इसे सभी ने नीच कहा है; यथा—"लीन्ह नीच मारीचहि संगा।··· करि छल मूढ़ हरी वैदेही।" (मा०त्रा० ४८); तथा—"अरुन्धत्या विशिष्टां तां रोहिण्या-श्चापि दुर्मते ॥२०॥ सीतां धर्षयता मान्यां त्वया ह्यसदृशं कृतम्। वसुधाया हि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम् ॥२१॥" (वाल्मी० ६।१११); अर्थात् हे दुर्बुद्धि (मूर्ख)! अरुन्धती और रोहिणी से भी श्रेष्ठ एवं मान्य श्रीसीताजी का अपमान करके तुमने बहुत बुरा किया है, ये सीता वसुधा की भी वसुधा और लक्ष्मी की भी लक्ष्मी (पूज्य) हैं, यह मन्दोदरी का ही वचन है, इसने पतिव्रता के अपमान पर पति को भी 'दुर्मति' कहा है, वैसे ही उसी कर्म पर यहाँ भी 'नीच' कहा है। श्रीअङ्गदजी ने भी कहा है; यथा—"रे त्रियचोर कुमारगगामी। खल मलरासि मंदमति कामी ॥" (मा० लं० ३१); तथा—"बान प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा ॥" (मा० लं० ३४); अर्थात् मारीच ने श्रीराम के बाण का प्रताप जाना था और रावण को भी उसने समझाया था, परन्तु रावण ने नहीं माना, यह उसकी नीचता थी।

'मारीच बिचलाइ'—इस पद में श्रीरामजी के बाण का प्रताप प्रत्यक्ष है; यथा—"कौतुक ही मारीच नीच मिस प्रगट्यो बिसिष-प्रताप ॥" (गी० लं० १); मारीच की नीचता यह है कि इसने बाण-प्रताप जान कर भी शरणागति नहीं की; प्रत्युत स्वामी के साथ ही फिर छल किया है। मारीच का बाण-प्रताप जानना; यथा—"मुनि मख-राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि

मारा ।। सत जोजन आयउँ छन माहीं । तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं ।। भइ
मम कीट भृंग की नाईं । जहँ-तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ।।" (मा० अर० २४);
यह मारीच ने रावण से कहा है । पर जान कर भी रावण ने श्रीरामजी को
शरण न होकर बैर किया, इससे यह भी नीच है ।

'हति ताड़का'; यथा—"मारग जात भयावनि भारी । केहि विधि तात
ताड़का मारी ।।" (मा० बा० ३५५); ताड़का बध से ही विश्वामित्रजी ने
श्रीरामजी को परंब्रह्म समझा है; यथा—"सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ।। एक
हि बान प्रान हरि लीन्हा । दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।। तब रिषि निज
नाथहि जिय चीन्ही । विद्यानिधि कहँ बिद्या दीन्हीं ।।" (मा० बा० २०८) ।

'भंजि सिव चाप सुख सबहि दीन्हों'; यथा—"प्रभु दोउ चाप खंड
महि डारे । देखि लोग सब भए सुखारे ।। कौसिक रूप पयोनिधि पावन । प्रेम
बारि अवगाह सुहावन ।। राम रूप राकेस निहारी । बढ़त बीचि पुलकावली भारी ।।
···सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी···जनक लहेउ सुख सोच बिहाई ।···सीय
सुखहिं बरनिय केहि भाँती । जनु चातकी पाइ जल स्वाती ।। रामहिं लखन
बिलोकत कैसे । ससिहि चकोर किसोरक जैसे ।।" (मा० बा० २६१–२६२);
शिव चाप-खंडन से भी श्रीरामजी का परंब्रह्म परत्व प्रकट हुआ है; यथा—
"भंजेउ राम आप भव चापू । भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू ।।" (मा०बा० २३);
अर्थात् श्रीरामजी ने अपने बल गुण से शिव चाप तोड़ दिया; उनका वही गुण
उनके नाम द्वारा भव-भय छुड़ाता है । भव-भय निवारण करना ब्रह्म का ही
काम है । तथा—"जेहि कर कमल कठोर संभु धनु भंजि जनक संसय मेट्यो ।"
(वि० १३८); अर्थात् शिव धनुष तोड़ कर जनकजी का ब्रह्म विषयक संशय
मिटा दिया है । इसीसे तो राजाओं को ढिंढोरा से धनुभंग-प्रतिज्ञा ज्ञात हुई थी ।
परन्तु विश्वामित्र बुलाये गये थे कि वे वेद के ऋषि हैं । अतः, साक्षी रहें कि
धनुभंग श्रीरामजी ने ही किया । अतः, परब्रह्म स्वरूप ये ही हैं ।

इस चरण के तीनों प्रसंगों में श्रीरामजी का परंब्रह्म परत्व प्रकट हुआ है,
परन्तु रावण सब जान-सुन कर भी नहीं मानता, वैर करता है, इससे मन्दोदरी
ने उसे 'नीच' कहा है ।

'सहसदस चारि खल··'—खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसों का

वध भी बिना भगवान् के नहीं हो सकता था; यथा—"सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥ खर-दूषन मोहिं सम बलवंता। तिन्हहिं को मारे बिनु भगवंता॥ जन रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥ तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥ होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥ जौं नर रूप भूप सुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति रन दोऊ॥" (मा० अर० २२); अर्थात् रावण ने खर दूषण आदि के वध पर श्रीरामजी को भगवान् का अवतार माना, फिर द्विविधा हो आई, तब नर रूप का भ्रम हुआ। जब मारीच को मृग बना कर भेजा और श्रीरामजी लीला-विधान के लिये उसके पीछे दौड़ पड़े, तब इसने इन्हें राजकुमार ही मान लिया, फिर बहुत बार लोगों ने समझाया, पर इसने नहीं माना। मन्दोदरी उसी पर कहती है कि जिन्होंने खर आदि को मारा है, तब भी उन्हें भगवान् का अवतार नहीं पहचाना, इसमें तो ईश्वरता स्पष्ट है।

'मैं जो कहौं, कंत! सुनु मंत'—मेरे तुम कान्त (पति) हो, तुम्हारे बिना मैं मृतकवत् हो जाऊँगी; यथा—" जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसि अनाथ! पुरुष बिनु नारी॥" (मा० अ० ६४) इसलिये मैं आपकी सच्ची हितैषिणी हूँ। अतः, आप मेरे वचन ध्यान देकर सुनें।

'भगवंत सों बिमुख ह्वै बालि....'– ऊपर के प्रसंगों से श्रीरामजी का भगवान् होना सिद्ध कर आई। वाली के प्रसंग से भी कहती है, वाली ने भी श्रीरामजी को भगवान् जान लिया था; यथा–"सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु अतुल बल सींवा॥ कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥ कह वाली सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ। जौं कदाचि मोहिं मारिहैं, तौ पुनि होउँ सनाथ॥" (मा० कि० ७); तथा—"रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः। निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः॥ आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैक भाजनम्।" (वाल्मी० ४।१५।१६-२०); अर्थात् (तारा ने वाली से कहा है—) श्रीरामजी शत्रु सेना का नाश करने में उठी हुई प्रलय की अग्नि के समान हैं, वे साधुओं के आश्रयदाता और पीड़ितों के रक्षक हैं। वे दुखियों के आश्रयदाता हैं और यश के पात्र हैं। फिर भी उसने श्रीरामजी से विमुखता की, उनके आश्रित को मारना चाहा, यथा—"मम भुजबल आश्रित तेहि जानी।

मारा चहेसि अधम अभिमानी ॥" (मा० कि० ८); इसका फल उसने पाया, मारा गया।

यह बाली-वध भी श्रीरामजी की ईश्वरता का परिचायक है; यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर। बीसहु लोचन अंध, धिग तव जन्म कुजाति जड़ ॥" (मा० लं० ३१)।

'भगवंत'; यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥" (वि० पु० ६।५।७९); अर्थात् समस्त हेय गुणों से रहित और सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज भगवत पद वाच्य हैं। इनमें ज्ञान और बल से जगत् का संहार, ऐश्वर्य और वीर्य से उत्पत्ति और शक्ति तथा तेज से पालन होता है। तीनों कार्य करने से भगवान् ही जगत् के द्वारा उपास्य हैं। जैसे खेत को जो बोता है, रक्षा करता है और जिसके यहाँ उसका अन्न जाता है, वही उस खेत का स्वामी है, खेत का अन्न उसी का भोग्य है। वैसे ही उत्पत्ति आदि तीनों काम करने से ईश्वर ही जगत् का स्वामी है, जीवमात्र उसी के भोग्यभूत उपासक हैं। श्रुति भी ऐसा ही कहती है; यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।" (छान्दो० ३।१४।१); अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म (ब्रह्मात्मक) है। इसीसे सब उत्पन्न होते हैं, इसी में लय होते हैं और इसी में चेष्टा करते हैं। अतः, इसी की शान्त होकर उपासना करनी चाहिये। बाली ने भगवान् को जानकर भी प्रतिकूल किया, इससे वह मारा गया।

'बीस भुज सीस दस खीस गयो…'—यह न समझो कि उपर्युक्त सब लोग एक-एक सिर और दो-दो बाहुवाले हैं, इससे नष्ट हुए, पर मेरे तो बीस भुजाएँ और दस सिर हैं, वे भी शिवजी के प्रसाद से करोड़ों हो जानेवाले हैं; यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक-एक के कोटिन्ह पाये॥ तेहि कारन खल अब लगि बाच्यो। अब तव काल सीस पर नाच्यो॥ राम-बिमुख सठ चहसि संपदा।" (मा० लं० ९२); भाव यह कि शिवजी के प्रसाद से ही सिर और भुजा बढ़ते हैं। जब तुम शिवजी के ईश (इष्टदेव) श्रीरामजी से विमुख होगे, तो शिवजी भी क्रुद्ध हो जायँगे। अतः, राम-विमुख होते ही तुम्हारे शिर-भुज कट गये, यह समझ लो।

मन्दोदरी का यह कथन सत्य हुआ है। शिवजी के इष्ट श्रीरामजी हैं, यह रामायण में बहुत स्थलों पर कहा गया है। जब रावण ने श्रीराम-विमुख होकर सीता-हरण किया है, तब शिवजी के ही अवतार श्रीहनुमान्‌जी ने लंक-नाश का श्रीगणेश किया है। आगे श्रीरामजी के साथ संग्राम करके रावण का सर्वनाश करेंगे?

[१६]

बालि दलि, काल्हि जलजान पाषान किय,
कंत! भगवंत तैं तउ न चीन्हें।
बिपुल बिकराल भट भालु-कपि काल-से,
संग तरु तुंग गिरि सृंग लीन्हें॥
आइ गो कोसलाधीस तुलसीस जेहि,
छत्र मिस मौलि दस दूरि कीन्हें।
ईस बकसीस जनि खीस करु, ईस! सुनु,
अजहुँ कुल कुसल बैदेहि दीन्हें॥

अर्थ—हे स्वामी! अभी कल (हाल) की ही बात है—वाली को मारकर जिन्होंने पत्थरों को समुद्र में नावों के समान तैरा दिया है, उन भगवान् (षडैश्वर्य पूर्ण ईश्वर) श्रीरामजी को तुमने तब भी नहीं पहचाना। जिनके साथ में काल के समान भयङ्कर बहुत-से योद्धा भालू और वानर बड़े-बड़े वृक्ष और पहाड़ों के कँगूरे लिये हुए हैं, तथा जिन्होंने तुम्हारे राजछत्र काट गिराने के व्याज से दसो सिर गिरा दिये हैं, वे तुलसीदास के स्वामी कोसलाधीश श्रीरामजी आ गये। हे स्वामी! सुनिये, श्रीशिवजी का प्रसाद (देन) रूप (लङ्क-ऐश्वर्य) का नाश मत करिये, श्रीसीताजी को लौटा देने से अब भी कुल की कुशल हो सकती है; (अन्यथा अपना सर्वनाश ही समझिये)।

विशेष—'बालि दलि, काल्हि…'—वाली-वध से श्रीरामजी की ईश्वरता का जानना ऊपर पद में लिखा गया। समुद्र में बड़े-बड़े पहाड़ एवं पत्थर उतराने में स्पष्ट श्रीरामजी का प्रताप एवं ईश्वरता है; यथा—"नाथ नील-नल कपि दोउ भाई। लरिकाई रिषि आसिष पाई॥ तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥" (मा० सुं० ५६); अर्थात् नील-नल को

ऋषियों का आशिर्वाद छोटे-छोटे पत्थर शालिग्राम आदि तरने का था, बड़े भारी-भारी पहाड़ों का जल पर उतराना तो श्रीराम-प्रताप से ही हुआ है, इसी को आगे स्पष्ट भी कहा है; यथा—"बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई। महिमा यह न जलधि कइ बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान। ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन॥" (मा० लं० २-३)।

वाली का दलन करने में उनका ईश्वरीय अपरिमित शक्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष है और समुद्र में पहाड़ तैराने में प्रताप प्रकट है। अतः श्रीरामजी भगवान् हैं; इसी से जलों और पहाड़ों पर भी उनका प्रभुत्व है। समुद्र ने कहा ही है; यथा—"गगन समीर...प्रभु आयसु जेहि कहँ जसि अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥...मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करि हौं बल अनुमान सहाई॥" (मा० सुं० ५८-६६)। इन प्रत्यक्ष ऐश्वर्यों को देखकर भी तुमने उन्हें भगवान् नहीं जाना।

'बिपुल बिकराल भट...'—वानर-भालू तो राक्षसों के आहार थे, ऐसे-ऐसे भयंकर योद्धा रूप में वानर-भालू गण की सृष्टि भी इन्हीं भगवान् श्रीरामजी की इच्छा से इनकी सहायता के लिए ही हुई है, यह भी समझिये।

'छत्र मिस मौलि दस...'—श्रीरामजी ने अपने बाण से छत्र आदि गिराये हैं; यह मर्म राक्षसों को नहीं जान पड़ा, उन्होंने तो प्रकृति के द्वारा उस कृत्य को अपशकुन ही माना था; यथा—"छत्र मुकुट ताटंक तब, हते एक ही बान। सब के देखत महि परे, मरम न कोउ जान॥....सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी॥" (मा० लं० १३); इस कर्म को भी मन्दोदरी प्रकृति कृत अपशकुन मान रही है, इससे भी वह प्रकट करती है कि रामजी ईश्वर हैं, उनकी प्रतिकूल इच्छा से ही प्रकृति ने ऐसा विपरीत भाव प्रकट कर तुम्हारा शिरच्छेदन और राजभंग सूचित किया है।

'ईस बकसीस जानि....'—इन कृत्यों से भगवान् श्रीरामजी ने अपने को जनाया है; यथा—"जेहि ताड़का सुबाहु मारि मख राखि जनायो आपु। कौतुक ही मारीच-नीच-मिस प्रगट्यो बिसिष प्रतापु॥" (गी० लं० १); अब जान-सुन

कर भी बड़ी भारी तपस्या से प्रसन्न कर शिवजी की बख़शीश (प्रसाद) रूप पाकर लंका का ऐश्वर्य एवं परिवार का स्वयं नाश न करो।

'अजहुँ कुल कुसल…'—श्रीअंगदजी ने स्पष्ट रूप में कहा है; यथा—"तजि व्यलीक भजु कारुनीक प्रभु दै जानकिहि सुनहिं समझायो। जाते तव हित होइ कुसल कुल अचल राज चलिहै न चलायो॥" (गी० लं० २) पहले भी अंगदजी कह आये थे; यथा—"बखसीस ईस जू की खीस होत देखियत…" (छन्द० १०)।

[२०]

सैन के कपिन को को गनै अर्बुदै,
महा बल बीर हनुमान जानी।
भूलिहै दस दिसा, सीस पुनि डोलिहैं,
कोपि रघुनाथ जब बान तानी॥
बालि हू गर्व जिय माहिं ऐसो कियो,
मारि दहपट दियो जम की घानी।
कहति मंदोदरी, सुनहि, रावन! मतो,
वेगि लै देहि बैदेहि रानी॥

शब्दार्थ—दहपट दियो = कुचल दिया, रौंद दिया। घानी=तिल एवं सरसो आदि तेलहन की उतनी मात्रा, जितनी एक बार में एक साथ कोल्हू में पेरी जाती है।

अर्थ—(श्रीरामजी की) सेना के वानरों को कौन गिन सकता है? उन्हें दस करोड़ एवं असंख्य महाबलवान् वीर हनुमान ही जानिये। जब क्रोध करके श्रीरघुनाथजी बाण तानेंगे, तब तुम्हें दसो दिशाएँ भूल जायँगी और फिर तुम्हारे दसो सिर डोलने लगेंगे; अर्थात् भागने के लिये दिशाएँ न सूझेंगी और शिर में चक्कर आने लगेगा। अतः, गस खाकर बैठ जाओगे, अथवा, उनके बाणों से कटे हुए तुम्हारे सिर भूमि में डोलेंगे, लुढ़कते फिरेंगे। वाली ने भी अपने मन में ऐसा घमंड किया था, उसको श्रीरामजी ने (एक ही बाण से) मार कर कुचल दिया, वह यमराज के कोल्हू की एक ही घानी में पेर डाला गया। मन्दोदरी

कहती है—हे रावण ! मेरी सलाह सुनिये, शीघ्र ही महारानी श्रीजानकीजी को ले जाकर दे आओ (; अन्यथा कुशल न होगी)।

विशेष—'सैन के कपिन''हनुमान जानी'—रावण श्रीहनुमान्‌जी के पराक्रम को देख चुका है, उन्होंने ललकार-ललकार कर लंक-दहन किया है और रावण कुछ नहीं कर सका, यह सबके सामने की बात है। अतः, रावण इनको लोहा मानता है; यथा—"है कपि एक महाबल सीला॥ आवा प्रथम नगर जेहि जारा।" (मा० लं० २२); इसलिये रानी ने सब बलवान् वानरों को हनुमान्-सरीखा कहा है। श्रीअंगदजी ने कहा था; यथा—"जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव करे लघु धावन॥ चलै बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥" (मा० लं० २२); शुक ने भी कहा है; यथा—"जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥" (मा० सुं० ५३); श्रीहनुमान्‌जी ने स्वयं श्रीजानकीजी से कहा है; यथा—"मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः। मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीव सन्निधौ॥" (वाल्मी० ५।३६।३८); अर्थात् मुझसे बड़े एवं मेरे समान ही सुग्रीवजी के पास के वानर हैं, मुझसे छोटा तो कोई है ही नहीं तथा—"अन्तरिक्षस्थितः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत्। मादृशानां सहस्राणि विसृष्टानि महात्मनाम्॥ बलिनां वानरेन्द्राणां सुग्रीव वशवर्त्तिनाम्। अटन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः॥" (वाल्मी० ५।४३।२०-२१); अर्थात् (अशोक वाटिका में प्रासाद जला कर श्रीहनुमान्‌जी ने आकाश में उच्च स्वर में कहा है—) आकाश में स्थित होकर हनुमान्‌जी इस प्रकार बोले—मेरे समान सहस्रों वानर भेजे गये हैं, श्रीसुग्रीवजी के अधीनस्थ, मेरे समान बली सहस्रों वानर भेजे भये हैं, हम सब एवं और भी वानर पृथिवी में घूम रहे हैं।

इस गर्जन को सभी ने सुना है। अतः, सुन कर रानी ने कहा है।

'अर्बुदै'—यों तो दस करोड़ की संख्या अर्बुद कही जाती है, परन्तु यहाँ यह अनन्त वाची है; यथा—"वानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चहे लेखा॥" (मा० कि० २१); जो 'पदुम अठार यूथ प बंदर' कहा गया है, वह तो यूथपों की ही संख्या है, एक-एक यूथप के अधीन भी करोड़ों हैं, फिर वह सुनी हुई संदिग्ध संख्या है। शिवजी का उपर्युक्त कथन (अनन्त-परक) ही

ठीक है। तथा—"शतं शतसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम्।" (महा० आदि० २१६।८); अर्थात् सौ-सौ हजार आदि सब अनन्त वाचक हैं।

'भूलि है दस दिसा, सीस पुनि डोलि हैं...'; यथा—"मूढ़ वृथा जनि मारसि गाला। राम बैर होइहि अस हाला॥ तव सिर निकर कपिन्ह के आगे। परिहहिं धरनि राम सर लागे॥ ते तव सिर कंदुक-सम नाना। खेलिहहिं भालु-कीस चौगाना॥ जबहि समर कोपिहि रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥ तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा।" (मा० लं० २६)—यह अंगद जी ने कहा है, तदनुसार मन्दोदरी कह रही है।

तथा—"यो वज्रपाताशनिसंनिपातान्न चुक्षुभे नापि चचाल राजा। स रामबाणाभिहतो भृशार्तश्चचाल चापं च मुमोच वीरः॥ तं विह्वलन्तं प्रसमीक्ष्य रामः समाददे दीप्तमथार्धचन्द्रम्। तेनार्कवर्णं सहसा किरीटं चिच्छेद रक्षोधिपतेर्महात्मा॥" (वाल्मी० ६।५६।१३७-१३८); अर्थात् जो रावण अशनि तथा वज्र के गिरने से क्षुभित और चञ्चल नहीं हुआ, वही श्रीरामजी के बाण से आहत होकर बहुत ही दुःखी हो गया। विचलित हो गया, उस वीर ने धनुष छोड़ दिया। रावण को विह्वल देख कर श्रीरामजी ने अर्द्धचन्द्राकार बाण से रावण के किरीट को भी काट कर गिरा दिया।

यह मन्दोदरी के वचन का चरितार्थ प्रसंग है।

'बालि हू गर्व जिय माँहि ऐसो कियो...'—वाली ने सुग्रीवजी को श्रीरामजी के आश्रित होना जान कर भी उसे तृण समान जान कर जीतना चाहा था। यह उसमें भारी अभिमान था; यथा—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥" (मा० कि० ८); उसी पर उसका नाश हुआ।

[२१]

गहन उज्जारि पुर जारि सुत मारि तव,
कुसल गो कीस बर बैरिषा को।
दूसरो दूत पन रोपि कोप्यो सभा,
खर्व कियो सर्व को गर्व थाको॥
दास तुलसी सभय बदति मय नंदिनी,

मंदमति, कंत ! सुनु मंत म्हाको ।
तौ लौं मिलु बेगि जौ लौं न रन रोष भयो,
दासरथि बीर बिरुदैत बाँको ॥

शब्दार्थ—बर बैरिषा को (तु० बैरक=सेना का झंडा, ध्वजा, पताका, निशान)=श्रेष्ठ यश रूपी पताका वाला । खर्ब=छोटा, लघु । थाको=१ तुम्हारा २ ढीला पना । म्हाको = मेरा । विरुदैत=यशस्वी, विरुद वाले ।

अर्थ—श्रीरामजी का पहला हनुमान् वानर (दूत) जिसके श्रेष्ठ यश की पताका फहरा रही है, वह तुम्हारे वन (अशोक वन) को उजाड़ कर, नगर जला कर और तुम्हारे पुत्र अक्ष को मार कर कुशल पूर्वक चला गया (तुम उसका कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सके)। उनके दूसरे दूत श्रीअङ्गदजी ने क्रोध कर सभा में प्रतिज्ञा पूर्वक पैर रोपा । उसने तुम्हारा एवं तुम्हारे सब वीरों का गर्व चूर्ण कर (अपने बल के समक्ष) नीचा दिखा दिया । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मन्दोदरी भयभीत होकर कहती है—हे मन्दबुद्धि स्वामी ! मेरी सलाह सुनो । जब तक बड़े भारी वीर एवं बड़े यशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामजी युद्ध में क्रुद्ध नहीं हुए, तब तक तुम शीघ्र उनसे जाकर मिलो ।

विशेष—'गहन उज्जारि…'—वह अशोक वन रावण को अत्यन्त प्यारा और मेघनाद से अधिक दुलारा था, नगर भी सोने का था, अक्षकुमार मंदोदरी का छोटा अतएव दुलारा पुत्र था । इनका अपराध करने पर भी उसे कुछ दंड नहीं दिया गया, ललकार-ललकार कर उसने तीनों काम किये हैं, इन्हीं विरुदावलियों का उसका झंडा फहरा रहा है ।

'बर बैरिषा को'—ऐसा पाठ भागवतदास वाली प्राचीन प्रति का है । इसमें मैंने 'बर बैरिषा को' ऐसा पद मान कर उक्त अर्थ किया है । अन्यत्र भी यह 'बैरक' पद आया है; यथा—"दीजै भगति बाँहु बैरक ज्यों सुबस बसै अब खेरो ॥" (वि० १४५)। मुझे यही संगत जान पड़ा है ।

श्रीवैजनाथजी और गीता प्रेस ने 'बर बैरि जाको' पाठ माना है और सभा की प्रति एवं दीनजी ने 'बर बेर जाको' ऐसा पाठ माना है । श्रीवैजनाथजी ने 'वर वैरि' पद को 'कपि' का विशेषण और गीता प्रेस ने 'जाको' अर्थात् 'जिन

श्रीरामजी' का विशेषण माना है। 'वर वेर' पाठ का 'बड़ा शरीर' अर्थ करके 'कपि' का विशेषण माना गया है।

'सभय बदति मयनंदिनी'—दोनों दूतों के कर्मों को समझ कर यह भयभीत है; यथा—"समुझत जासु दूत कै करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥" (मा० सुं० ३५); "जातुधान अंगद पन देखी। भय व्याकुल सब भये बिसेषी॥" (मा० लं० ३३)।

'दासरथि बीर·····'—श्रीरामजी की विरुदावली उपर्युक्त पद १७-१९ में कह आई।

कवित्त [२२]

कानन उजारि, अच्छ मारि, धारि धूरि कीन्हीं,
　　नगर प्रजारयो सो बिलोक्यो बल कीस को।
तुम्हैं विद्यमान जातुधान मंडली में कपि,
　　कोपि रोप्यो पाउ, सो प्रभाव तुलसीस को॥
कंत! सुनु संत, कुल अंत किये अंत हानि,
　　हातो कीजै हिये ते भरोसो भुज बीस को।
तौ लौं मिलु बेगि जौ लौं चाप न चढ़ायो राम,
　　रोषि बान काढ़यो न दलैया दससीस को॥

शब्दार्थ—धारि = सेना। हातो कीजै = दूर कीजिये, छोड़ दीजिये।

अर्थ—जिसने अशोक वन उजाड़ डाला, अक्षकुमार को मार डाला और (युद्ध के लिये चार बार भेजी हुई) तुम्हारी सेना को चूर्ण कर दिया तथा नगर को प्रकृष्ट रूप से जला दिया (राख कर दिया), उस वानर (हनुमान्जी) का बल तो तुमने अपनी आँखों से देखा ही है। फिर तुम्हारे रहते हुए राक्षस मंडली में (दूसरे) वानर (अङ्गदजी) ने क्रोध करके (प्रतिज्ञा पूर्वक) पाँव रोपा है (वह किसी से भी टस से मस नहीं हुआ,); वह प्रभाव तुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी का ही था। अतः, हे स्वामी! मेरी सलाह (सम्मति) सुनिये, कुल का नाश कराने से अन्ततः हानि ही है (ऐसा विचार कर), अब अपनी बीस भुजाओं का भरोसा छोड़ दीजिये (अर्थात् उपायाभिमान त्याग दीजिये)। जब

तक श्रीरामजी ने धनुष नहीं चढ़ाया है और तुम्हारे दसो सिरों को काटनेवाले बाण को नहीं निकाला है, तब तक ही शीघ्र उनसे मिल जाइये।

विशेष—'सो प्रभाव तुलसीस को'; यथा—"समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥"; "उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥ तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥" (मा० लं० ३२–३३)।

'कुल अंत किये...'—अपनी भुजाओं के बल का व्यर्थ अभिमान छोड़ दो, यह केवल बातों से मन को रिझाना व्यर्थ है, परिणाम में कुलनाश का भयंकर परिणाम है; यथा—"बातन्हि मनहिं रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस। राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस॥" (मा० सुं० ५६)।

'तौ लौं मिलु...'—भाव यह कि श्रीरामजी सत्य संकल्प हैं। यदि चाप चढ़ाकर और क्रोध कर अमोघ बाण का संधान कर देंगे तो फिर नहीं ही बचोगे; यथा—"राम सत्य संकल्प प्रभु, सभा काल बस तोरि।" (मा० सुं ४१); तथा—"जिमि अमोघ रघुपति कर बाना।" (मा० सुं० १)। "राम बान रबि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥" (मा० सुं० १५)।

[२३]

पवन को पूत देखो दूत बीर बाँकुरो जो
बंक गढ़ लंक सो ढका ढकेलि ढाहिगो।
बालि बलसालि को, सो कालि दाप दलि, कोपि
रोप्यो पाँउ, चपरि चूम को चाउ चाहि गो॥
सोई रघुनाथ कपि साथ, पाथनाथ बाँधि,
आयो नाथ! भागे ते खिरिरि खेह खाहि गो।
'तुलसी' गरब तजि, मिलिबे को साज सजि,
देहि सिय, न त पिय! पायमाल जाहि गो॥

शब्दार्थ—चमू = सेना। चाहि गो = देख गया। खिरिरि = खरोच कर। खेह = धूल। पायमाल (फा० पामाल) = १ पैर से मला या रौंदा हुआ, पद दलित, २ तबाह, बरबाद, चौपट। खेह खाना (मुहावरा) १ व्यर्थ समय खोना, २ दुर्दशा ग्रस्त होना।

अर्थ—जरा विचार कर देखो तो श्रीरामजी का दूत बड़ा बाँका वीर पवन का पुत्र हनुमान् है, जो लङ्का सरीखे दुर्गम दुर्ग को धक्कों से ढकेल कर गिरा गया। (फिर) महाबलवान् वाली का पुत्र अङ्गद (उनका दूसरा दूत है, वह) कल ही आया है, उसने सबका गर्व चूर्ण कर क्रोध करके सभा में प्रतिज्ञापूर्वक पाँव रोपा है (जिसे किसी ने नहीं हटा पाया), बड़ी फुर्ती से वह तुम्हारी सेना का उत्साह देख गया (अर्थात् सबको निस्सार सिद्ध करके चला गया)। (जिनके ऐसे-ऐसे दूत हैं,) वे ही श्रीरघुनाथजी वानरों को साथ लिये हुए समुद्र बाँध कर आ पहुँचे हैं। अब, हे नाथ! भागने पर खरोच-खरोच कर धूल ही फाँकनी पड़ेगी; अर्थात् भाँति-भाँति की दुर्दशाएँ भोगनी पड़ेंगी; कहीं ठिकाना न लगेगा। इससे अभिमान छोड़ कर मिलने की सामग्री सजा कर श्रीसीताजी को दे दो, नहीं तो, हे प्यारे! तुम बरबाद हो जाओगे।

विशेष—'पवन को पूत······'—विशेष दिखाने के लिये पवन का पुत्र कहा है; यथा—"मरुत कोटिसत बिपुल बल···" (मा० उ० ६१); तथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान-निधाना॥" (मा० कि० २६)।

'बंक गढ़ लंक सो···'—अङ्गदजी ने भी ऐसा ही कहा है; यथा—"चढ़ि गढ़ मढ़ दृढ़ कोट के कँगूरे कोपि नेकु धका दैहैं ढैहैं ढेलन की ढेरी-सी।" छंद १०

'ढका ढकेलि ढाहि गो'; यथा—"ते मया संक्रमा भग्नाः परिखाश्चावपूरिताः। दग्धा च नगरी लङ्का प्राकाराश्चावसादिताः॥" (वाल्मी० ६।३।२६); अर्थात् (श्रीहनुमान्जी ने श्रीरामजी से कहा है—) मैंने उन संक्रमों (लङ्का गढ़ की परिखाओं के सेतुओं) को तोड़ दिया है, परिखाओं को भर दिया; अर्थात् दीवारों को धक्कों से गिरा कर उनसे परिखाओं को भर दिया है। लङ्का नगरी को जला डाला है और चार दीवारी तोड़ दी है।

'चमू को चाउ चाहि गो'—सारी सेना के सुभट मिल कर भी उसका पैर नहीं हटा सके, इससे सब उत्साह हीन हो निर्वीर्य-से देख पड़ने लगे, यह देख कर उसने इन सबको निस्सार समझ लिया। अङ्गदजी ने सभा के वीरों के तेज-प्रताप आदि देख कर भी इनकी शक्ति देख ली है; यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं 'हमहि अस सूझइ। तेज-प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ'॥" (जानकी मंगल ६६); श्रीहनुमान्जी ने भी रावण-सभा देख कर कहा है; यथा—"देखी

मैं दसकंठ-सभा सब, मोते कोउ न सबल तो।" (गी० सुं० १३)। इसी प्रकार अंगदजी भी सेना देख कर थाह ले गये।

'भागे ते खिरिरि खेह खाहि गो'; यथा—"काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥ मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ मित्र करइ सत रिपु कइ करनी। ताकहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥" (मा० अर० १); "लोकहु बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थल नरक न लहहीं।" (मा० अ० २५१)।

'तुलसी गरब तजि'—श्रीरामजी की शरण होने में गर्व का तो सर्वथा त्याग होना चाहिये; यथा—"एहि दरबार है गरब ते सरब हानि····" (वि० २६२); "होइ भलो ऐसे ही अजहु गये राम सरन परिहरि मनी। भुजा उठाइ साखि संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी॥" (गी० सुं० ३६)।

'मिलिबे को साज सजि···'—दाँत में तृण रख, कंठ में कुलाड़ी रख, आगे श्रीजानकीजी को सादर करके उनके पीछे अपनी स्त्रियों को कर फिर पीछे तुम चलो; और स्वर्ण थाल में मणि गण की भेंट लेकर चलो; यथा—"रे कंत! तृन दंत गहि····" (छन्द १७)—इसका विशेष देखिये। तथा—"कनक थार भरि मनि गन नाना। बिप्र रूप आयउ तजि माना॥" (मा० सुं० ५७); "और प्रकार उबार नहीं कहुँ मैं देख्यो जग जोहि। चलु मिलु वेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहि। तुलसीदास प्रभु सरन सबद सुनि अभय करैंगे तोहिं॥" (गी० लं० १)।

[२४]

उदधि अपार उतरतहू न लागी बार,
केसरी कुमार सो अदंड ऐसो डाँड़ि गो।
बाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि, भट
भारी-भारी रावरे के चाउर-से काँड़ि गो॥
'तुलसी' तिहारे विद्यमान जुबराज आजु
कोपि पाँउ रोपि, बस कै, छोहाइ छाँड़ि गो।

कहे की न लाज, अजहूँ न आयो बाज, प्रिय !
सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाड़ि गो ॥

शब्दार्थ—अदंड (अदण्ड्य)=जिसे दण्ड न दिया जा सके, दंड दिये जाने के अयोग्य (परम समर्थ)। डाँड़ि गो = दंड दे गया। बस = प्रर्याप्त, अलम्। बस कै (मुहावरा) = कुश्ती में हारने वाला प्रतिद्वन्दी से डर कर, 'बस' ऐसा कहता है, तब जीतने वाला उसे छोह करके छोड़ देता है, फिर उसे पीड़ा नहीं देता, वैसा ही अंगदजी ने तुझे 'बस करा कर' छोड़ा है; अर्थात् पूर्णतया पराजित कर गया है। भाँड़ि गो [भाँडना = क्रि० अ० (सं० भंड) व्यर्थ इधर उधर घूमना, मारे-मारे फिरना। क्रि० स० १—किसी को बहुत बदनाम करते फिरना, २—नष्ट भ्रष्ट करना, बिगाड़ना—हिं० श० सा०।] = २—नष्ट-भ्रष्ट कर गया, बिगाड़ गया। छोहाइ = छोह (अनुग्रह) करके।

अर्थ—केसरी पुत्र हनुमान् को अपार सागर उतरने में भी कुछ विलंब नहीं लगा। उस (सिंहवत् पराक्रमी) ने तुझ-सरीखे अदण्ड्य को भी इस प्रकार दंड दे गया—अशोक वाटिका को उजाड़ डाला; अक्षकुमार तथा वन के रक्षकों को मार डाला और फिर आपके भारी-भारी योद्धाओं को तो उसने चावल की भाँति कूट डाला है। तुम्हारे उपस्थित रहते आज युवराज अङ्गद ने क्रोध करके प्रतिज्ञापूर्वक पाँव रोपा है (उसे किसी ने टस से मस नहीं कर पाया) और तुमसे भी 'बस' करा के छोह (अनुग्रह) करके वह छोड़ गया है (चाहता तो मार भी डालता) हे स्वामी ! मेरे कहने पर तुम्हें लाज नहीं आती, अब भी तुम (डींग मारने से) बाज नहीं आते; अर्थात् अभिमानपूर्वक अपनी बड़ाई करना नहीं छोड़ते, अरे ! सम्पूर्ण (गढ़ की) सामग्री—सेना, भट एवं शस्त्र आदि के साथ तुम्हारे गढ़ को वह राँड़ (अनाथ-अबला) के गढ़ की भाँति नष्ट-भ्रष्ट (बे मर्याद) करके चला गया (तुम समाज के साथ रह कर भी उसका कुछ न कर सके)।

विशेष—'उदधि अपार···'—जिस समुद्र को तुम अपना अपार जल दुर्ग मान कर निश्शंक हो यहाँ रहते थे; यथा—"खाई सिंधु गँभीर अति···सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्ह तहाँ रावन रजधानी॥" (मा० बा० १७८); उसको इस अपार समुद्र तरने में भी कुछ भी विलंब नहीं लगा।

'केसरी कुमार सो···'—केसरी वानर के पुत्र ने सिंह पुत्र-सरीखे पराक्रम से गर्ज-गर्ज कर तुम्हें ललकार-ललकार कर तुम अदण्ड्य को भी 'ऐसो' इन-इन रीतियों से दण्ड दे गया। 'दण्ड दे गया' इसका भाव यह कि जैसे कोई राजा अपने अधीन चोर आदि को मनमाने दंड देता है, वह कुछ प्रतिकार नहीं कर पाता, वैसे उसने भाँति-भाँति से तुम्हारी दुर्दशा की है और तुम उसका बाल बाँका नहीं कर पाये। दण्ड देने के प्रकार आगे कहती है—

'बाटिका उजारि···'—वाटिका आदि पर रावण का कैसा ममत्व था, सुं० १-२ तथा छंद २१ के 'गहन उजारि···' इस चरण पर लिखा गया। इन सब का नष्ट करना एवं मारना रावण को ही दण्ड देना है। 'चाउर सो काँड़ि गो'—कूटने वाले मूशल का चावल प्रतिकार नहीं कर पाते, वैसे आपके असंख्य भारी-भारी भट मारे-कूटे गये, पर उसका कुछ नहीं कर पाये। तुम अपने को अदण्ड्य (परम समर्थ) मानते थे, पर खड़े देखते ही रहे, उसका कुछ कर नहीं पाये।

'तिहारे विद्यमान जुबराज···बस कै···'—रावन के समक्ष अङ्गदजी ने प्रण करके पैर रोपा है। उसने मेघनाद आदि बड़े योद्धाओं से उपाय कर पराक्रम लगाने में शेष नहीं रक्खा। अंगदजी ने कहा था—'जौं मम चरन सकसि सठ टारी।' यह रावण से ही उठाने को कहा था। जब किसी से न टला, तब फिर अंगदजी ने प्रचार कर कहा, यद्यपि वह हृदय से डर गया था, फिर भी ललकार पर उठा। अंगदजी ने उसका रुख देख कर समझ लिया कि यह अवश्य हार जायगा, तब न तो श्रीरामजी को इससे लड़ने में शोभा रहेगी और न इसे मारने पर उन्हें यश ही होगा, इसलिए उन्होंने लौट जाने के लिए उसे बातों से अवसर दे दिया—"गहत चरन कह बालि कुमारा। मम पद गहे न तोर उबारा॥ गहसि न राम चरन सठ जाई।" बस, इतने पर ही वह लज्जित होकर लौट गया। उसका पूर्ण पराजित होना स्पष्ट हो गया; यथा—"सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥ भयेउ तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जनु ससि सोहई॥ सिंघासन बैठेउ सिर नाई। मानहुँ संपति सकल गँवाई॥" यही 'बस कै छोहाइ छाँड़ि गो' का भाव है, 'छोहाइ छाँड़ि गो'—अंगदजी ने छोह कर छोड़ना स्पष्ट कहा भी है; यथा—"बार-बार अस कहइ कृपाला नहिं गजारि जस बधे

सुकाला ॥ मन महँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे ॥ नाहिं त करि मुख-भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहिं बरजोरा ॥''''अस बिचारि खल बधउँ न तोहीं। अब जनि रिस उपजावसि मोहीं ॥'' इत्यादि।

'सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाँड़िगो'—जैसे कोई परम समर्थ किसी अनाथ-विधवा के घर की दुर्दशा करके सकुशल चला जाय, वैसे ही अंगद आकर बातों से एवं कर्त्तव्यों से भी तुम्हारे भटों के साथ तुम्हारी दुर्दशा करके सकुशल चला गया, तुम उसका बाल-बाँका नहीं कर सके। जैसे राँड़ प्रतिकारी का कुछ नहीं कर पाती। हनुमान्‌जी के कर्म भी ऐसे ही कहे गये हैं; यथा—"ख्याल लंका लाई कपि रांड की-सी झोपरी।" (छंद २७)। 'भाँड़िगो' इसका अर्थ प्रायः सभी ने 'घूम-घूमकर देख गया' यह किया है, परन्तु अङ्गदजी ने सभा में ही बातें की है। अतः, सभा का भाँड़ना गढ़ का भाँड़ना है, गढ़ की मर्यादा का नष्ट-भ्रष्ट करना है। 'घूम-घूमकर देखना' हनुमान्‌जी का है, पर प्रसंग से यहाँ गढ़-भाँड़ने में अङ्गदजी का तात्पर्य है।

[२५]

जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह दूरि कीन्हे,
पैयत न छत्री-खोज खोजत खलक में।
माहिषमती को नाथ साहसी सहसबाहु
समर समर्थ, नाथ! हेरिये हलक में ॥
सहित समाज महाराज सो जहाजराज,
बूड़ि गयो जाके बल-बारिधि-छलक में।
टूटत पिनाक के मनाक बाम राम से, ते
नाक बिनु भये भृगुनायक पलक में ॥

शब्दार्थ—खलक=संसार। खोज = चिह्न। हलक (अ० हलक)=कंठ, यहाँ पर 'कंठ के भीतर' अर्थात् हृदय, यह अर्थ है। मनाक=थोड़ा। नाक=स्वर्ग=मर्यादा।

अर्थ—जिसके क्रोध रूपी असह्य सन्निपात के दाह के द्वारा नष्ट कर दिये जाने पर संसार में खोज करने से भी क्षत्रियों का चिह्न कहीं नहीं पाया जाता था। हे नाथ! अपने हृदय में जरा विचारिये तो, माहिष्मती पुरी का राजा बड़ा पराक्रमी सहसबाहु जो कि युद्ध में बड़ा समर्थ था, वह बड़ा भारी जहाज रूप

महाराजा अपने समाज (क्षत्रिय जाति) के साथ जिनके बल रूपी सागर की एक तरङ्ग में डूब गया। वे ही (अगाध बल रूपी जल से पूर्ण महार्णव रूप) परशुरामजी पिनाक धनुष टूटने पर श्रीरामजी से कुछ टेढ़े होते ही क्षण भर में बिना प्रतिष्ठा के हो गये एवं स्वर्ग (में तपोबल से अर्जित लोकों) से रहित हुए।

विशेष—'जाके रोष दुसह...'—'त्रिदोष' प्रायः असाध्य होता है और 'दुसह त्रिदोष' का तो कहना ही क्या ! अतः, उनके रोष का प्रतिकार किसी से नहीं हो सका।

परशुरामजी की कथा

"श्रीकृष्ण भगवान् ने युधिष्ठिर से कहा है कि जन्हु राजा के वंश में इन्द्र के अवतार गाधि राजा हुए। उनके एक कन्या सत्यवती हुई। वह भृगुनन्दन महात्मा ऋचीक से ब्याही गई। ऋचीक मुनि ने भार्या पर प्रसन्न होकर उसके और उसकी माता के पुत्र उत्पन्न होने के लिये यज्ञ से दो चरु सम्पन्न किये। मुनि ने सत्यवती को दोनों चरु दिये और समझा भी दिया कि इस एक से तुम्हारे ब्रह्म तेज युक्त पुत्र होगा और इस दूसरे से तुम्हारी माता के क्षत्रियों में श्रेष्ठ एवं अजेय पुत्र होगा। सत्यवती ने दोनों चरुओं को माता के सामने रख वृत्तान्त बतला दिया। गाधि की स्त्री ने भ्रम से कन्या का भाग स्वयं खा लिया और अपना भाग कन्या को दिया।

ऋचीक मुनि ने अपनी भार्या में क्षत्रिय तेज पूर्ण सन्तान देखा, तब उन्होंने बतलाया कि यह बड़ा भारी विपर्यय हो गया है। सुनकर सत्यवती भय से काँपती हुई पृथिवी पर गिर पड़ी। फिर पतिदेव से उसने बड़ी प्रार्थना की। फिर कहा कि आप परम समर्थ हैं। अतः, कृपा कर मेरे शम परायण ही पुत्र उत्पन्न करिये। मुनि ने कहा कि तुम्हारे पिता के ब्राह्मण धर्मावलम्बी पुत्र होगा। मेरा वचन सत्य ही है। सत्यवती ने फिर कहा, अच्छा, पुत्र और पौत्र में अन्तर नहीं होता, इस दृष्टि से आप मेरे पुत्र में ब्राह्मणत्व ही रखिये। पौत्र में क्षत्रियत्व रहे। मुनि ने 'तथास्तु' कहा।

समय पर सत्यवती के जमदग्नि पुत्र हुए, जो मुनि वृत्तिवाले हुए और उसकी माता से विश्वामित्र हुए जो पीछे ब्रह्मर्षि हुए। जमदग्नि के परशुरामजी

पुत्र हुए। युवा होने पर वे अग्नि के समान तेजस्वी होकर धनुर्वेद आदि पढ़कर क्षत्रिय-नाशक 'राम' इस नाम से प्रसिद्ध हुए। गंधमादन पर्वत पर जाकर तप करके उन्होंने शिवजी को प्रसन्न किया। उनसे तीक्ष्ण धारवाला परशु और दूसरे अस्त्रों-शस्त्रों की प्राप्ति की। कठिन परशु का धारण करने से 'परशुराम' प्रसिद्ध हुए।

उसी समय हैहय देश में कृतवीर्य के पुत्र सहस्रबाहु अर्जुन नाम के एक महाबली राजा थे। उन्होंने महर्षि दत्तात्रेय की कृपा से अपने शस्त्र एवं बाहुबल से चक्रवर्त्ति पद प्राप्त किया था। एक समय अर्जुन की सहायता से प्रचण्ड अग्निने वसिष्ठ मुनि का आश्रम जला दिया। वसिष्ठजी ने अर्जुन को शाप दिया कि तुम्हारी बाहुओं को परशुराम काटेंगे।

एक समय अर्जुन के पुत्रों ने गर्व से परशुरामजी के न रहने पर जमदग्नि मुनि की होम की गऊ के बछड़े हर ले गये। यद्यपि अर्जुन उसमें निर्दोष थे, फिर भी जमदाग्नि से उनका भारी विरोध उत्पन्न हो गया। उसी समय परशुरामजी क्रुद्ध होकर अर्जुन की सहस्र भुजाओं को काटकर और बछड़ों को लेकर अपनी कुटी पर लौट आये। तत्पश्चात् किसी दिन परशुरामजी की अनुपस्थिति में अर्जुन के मूर्ख पुत्रों ने एकत्र हो जमदग्नि को भालों से मारकर उनका शिर काट लिया। तब परशुरामजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए, उन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक शस्त्र ग्रहण किया—'मैं पृथिवी को क्षत्रिय रहित करूँगा'।

परशुरामजी ने पहले अर्जुन के पुत्रों और पौत्रों को मारा। तब हैहय-वंशीय सहस्रों क्षत्रियों को मार डाला। फ़िर उन्होंने सारी पृथिवी को क्षत्रियों से सूनी कर दिया, तब कृपा पूर्ण हो वन को चले गये।

एक समय विश्वामित्र के पौत्र रैभ्य के पुत्र परावसु ने परशुराम की निन्दा करते हुए कहा कि तुम्हारी प्रतिज्ञा झूठी हुई, अभी भी तो सहस्रों क्षत्रिय उपस्थित हैं, तुम इन वीरों से डर कर ही वन में आ बसे हो। क्रुद्ध परशुरामजी ने फिर से शस्त्र उठाया। पहली बार जो किसी प्रकार बच गये थे, उन सब क्षत्रियों का संहार किया। फिर गर्भस्थ बालकों से क्षत्रिय बढ़ते थे, तब परशुरामजी उनका नाश करते थे। इस प्रकार इक्कीस (२१) बार इन्होंने क्षत्रियों का नाश किया है।

पश्चात् इन्होंने अश्वमेध यज्ञ कर दक्षिणा में सारी पृथिवी कश्यपजी को दान

में दे दी । कश्यपजी ने क्षत्रियों की रक्षा की अभिलाषा से पृथिवी का दान ग्रहण कर परशुरामजी से कहा कि अब पृथिवी मेरी हो गई । अतः, आप इस पर न रहें । दक्षिण समुद्र ने शूर्पारक नाम का स्थान बना रक्खा है; वहीं रहिये । परशुरामजी वहीं चले गये ।" (महा० शान्ति० ४६) ।

इस प्रकार परशुरामजी के क्रोध से उस समय क्षत्रियों का चिह्न भी नहीं पाया जाता था ।

'माहिषमती को नाथ...'—सहस्रबाहु अर्जुन दत्तात्रेय के द्वारा दैवी शक्ति भी पा चुका था, उसी से वह चक्रवर्ती भी हुआ था । यह ऊपर कथा में आ चुका है । उसने रावण को भी बाँधकर पराजित किया था । अतः, रावण उसे भली-भाँति जानता है । परशुरामजी ने एक बार के ही आक्रमण में उसकी भुजाओं को मदार के पत्तों की भाँति काट गिराया था, फिर उसके समाज (पुत्र, पौत्र एवं कुलवालों) को भी मार डाला है, यही उनके बल-सागर की एक तरंग में इन सबका डूबना है ।

'टूटत पिनाक के मनाक...'—धनुर्भंग होने पर परशुरामजी ने बचन मात्र से श्रीरामजी पर धमकी दिखाई है, यही उनका थोड़ा-सा वाम (प्रतिकूल) होना है, इस पर उनकी दशा ऐसी हुई—

'नाक बिनु भये...'—परशुरामजी को अपनी वीरता की प्रतिष्ठा खोनी पड़ी । हथियार धर कर शरण होना पूरी हार मानना है [श्रीरामजी इनके ब्राह्मणत्व के गौरव का ही महत्व मानते थे और ये अपनी वीरता पर फूले थे । अतः, वीरता क्षत्रियत्व का गौरव है, ऐसा सिद्ध कर शस्त्र को आपने ले लिया और इन्हें तपस्या का बल संचय करने में लगा दिया, यही इनका स्वरूप-प्रयुक्त धर्म है] ।

'नाक बिनु भये...'—श्लेष मानकर इसका दूसरा अर्थ भी ले सकते हैं । जब श्रीरामजी ने परशुराम का दिया हुआ सारंग धनुष ग्रहण कर उस पर बाण चढ़ाया, तब वह निष्फल नहीं हो सकता था; इस लिये उससे परशुरामजी की तपस्या से प्राप्त स्वर्ग में निष्पन्न लोकों का श्रीरामजी ने नाश कर दिया है, यह भी परशुरामजी का नाक (स्वर्ग) बिना होना है । आगे के छन्द में 'रोक्यो पर लोक लोक' इस वाक्य खंड से स्पष्ट कहा गया है ।

[२६]

कीन्हीं छोनी छत्री बिनु, छोनिप छपनिहार,
कठिन कुठार पानि बीर-बानि जानि कै।
परम कृपाल जो कृपाल लोकपालनि पै,
जब धनुहाई ह्वै है मन अनुमानि कै॥
नाक में पिनाक मिसि बामता बिलोकि राम,
रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानि कै।
नाइ दसमाथ महि, जोरि बीस हाथ, पिय!
मिलिये पै नाथ रघुनाथ पहिचानि कै॥

शब्दार्थ—छपनिहार = [क्षपण = नाश] = विनाशक। धनुहाई = धनुष की लड़ाई।

अर्थ—श्रीपरशुरामजी राजाओं का नाश करने वाले हैं और इन्होंने पृथिवी को क्षत्रियों से हीन कर दिया है। कठोर कुठार का धारण करने से पड़ा हुआ इनका वीरता का स्वभाव (इनके ब्राह्मणत्व के विपरीत है, ऐसा) जानकर जो श्रीरामजी राजाओं और लोकपालों पर परम कृपालु हैं, उन्होंने अपने मन में यह अनुमान कर निश्चित किया कि जब धनुष की लड़ाई (पिनाक धनुष टूटने पर परशुरामजी सारंग धनुष लेकर मुझसे लड़ाई का समागम करेंगे, अपनी वीरता के गर्व से मुझे कुवचन कहेंगे, तब हम साभिप्राय वचनों से इन्हें प्रबोध करेंगे, यह लड़ाई) होगी (तब हम इनका यह हिंसापरक स्वभाव छुड़ा उचित वृत्ति पर आरूढ़ कर देंगे)। पिनाक धनुष तोड़ने के ब्याज से श्रीरामजी ने परशु-रामजी से वार्त्ता कर स्वर्ग में (अर्जित लोकों से परशुरामजी की ब्राह्मणोचित पारलौकिक) प्रतिकूलता देख कर (परशुरामजी का धनुष ले चढ़ा कर) अपने परत्व ज्ञान परक इनके भ्रमका निवारण किया और फिर (इनकी रुचि से) इनके (परलोक बाधक रूप) उन स्वर्ग के तप से अर्जित लोकों का नाश कर उनके भावी भोग का निवारण किया (जिससे परशुरामजी परत्व ज्ञान पूर्वक निष्काम वृत्ति से तपस्या करने चले गये—यह उनका परम कल्याण हुआ)। यह उदाहरण कह कर मंदोदरी रावण से कहती हैं—) हे प्यारे! श्रीरघु-

नाथजी को अपना स्वामी समझ कर बीसो हाथ जोड़ कर और दसो सिर पृथिवी
पर झुका कर (शरणागति रीति से) उनसे मिलिये।

विशेष—'कठिन कुठार पानि...'—कठोर कुठार का धारण करने से
इनका वीरता परक उग्र स्वभाव था; यथा—"क्षत्रियाणामिह धनुर्हुताशस्येन्ध-
नानि च। समीपतः स्थितं तेजो बलमुच्छ्रयते भृशम्॥...नित्यं शस्त्रं परिवह
न्क्रमेण स तपोधनः। चकार रौद्रीं स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम्॥...कदर्य
कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात्।" (वाल्मी० ३।६।१५-२८); अर्थात् जिस
प्रकार आग के पास ईंधन रहने से उसका बल बढ़ता है, उसी प्रकार क्षत्रिय के
पास धनुष रहने से वह उसके तेज और बल को बढ़ाता है।...इस प्रकार प्रति-
शस्त्र लेकर भ्रमण करने के कारण उन तपस्वी ने अपनी बुद्धि को क्रूर बना
लिया और तपस्या की ओर से उनका मन फिर गया।...शस्त्र धारण करने से
बुद्धि कलुषित हो जाती है; विवेक नष्ट हो जाता है।

इसलिये श्रीरामजी ने ब्राह्मण मुनि परशुरामजी की शस्त्र-धारण वृत्ति
छुड़ाने का निश्चय किया।

'परम कृपाल जो...'—राजाओं पर कृपालु हैं, इससे उनके विरुद्ध परशु-
राम के उग्र स्वभाव को मिटायेंगे; यथा—"दुसह-रोष-मूरति भृगुपति अति नृपति
निकर-खयकारी। क्यों सौंप्यों सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी॥" (गी०
बा० १०७)। राजाओं के न रहने पर पृथिवी पर अराजकता छा जाने से प्रजा
में धर्म-कर्म बन्द हो जाते थे, जिससे यज्ञादि कर्म न होने से इन्द्रादि लोकपाल
भी दुखी रहते थे, परशुरामजी के शस्त्र छुड़ाने में उन पर भी कृपालुता है
ब्रह्मा आदि को हर्ष है कि इसी सारंग धनुष से श्रीरामजी सभी असुरों को मारेंगे,
जिससे लोकपाल सुखी होंगे। "इसीसे परशुरामजी के शस्त्र सौंपने पर और
श्रीरामजी के उस सारंग धनुष धारण पर ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, गन्धर्व आदि
भी प्रसन्नता से वहाँ देखने आए हैं"—(वाल्मी० १।७६।६-१०)।

'नाक में...बामता बिलोकि...'—श्रीपरशुरामजी भृगुवंशी मुनि हैं, अतः,
इन्हें इस शरीर से परम धाम की प्राप्ति करनी चाहिये। तपस्या से इन्होंने लोक
अर्जित किये थे। (इस लोक में पुण्यात्मा के पुण्यों के अनुसार उसी समय

स्वर्ग में उनके लोक बन जाते हैं, शरीर छूटने पर वे उन लोकों को जाते हैं, वैसे ही परशुरामजी के भी लोक बन गये थे) उन लोकों का भोग कर फिर इन्हें मर्त्यलोक में ही आना पड़ता; यथा—"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।" (गीता ६।२१); अर्थात् वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर पुण्य के क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं।

इसलिये स्वर्ग के लोकों के भोग में इनके स्वरूप की प्रतिकूल वृत्ति देखकर श्रीरामजी ने उसके निवारण का उपाय किया। यह उन पर भारी कृपा है।

'रोक्यो परलोक लोक'; यथा—"इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान्। लोकानप्रतिमान्वापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥७॥ "न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः पर पुरंजयः। मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥"'''जडीकृते तदालोके रामे वर धनुर्धरे। निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत ॥ ११ ॥ तेजोभिर्गत-वीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः। रामं कमलपत्राक्षं मन्दमन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥''' तामिमां मद्गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव। मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ १५ ॥ लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया। जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ १६ ॥" (वाल्मी० १।७६); अर्थात् (जब श्रीरामजी ने परशुराम का सारंग धनुष और बाण लिया, तब उनसे कहा—आप ब्राह्मण हैं और गुरु विश्वामित्र के सम्बन्धी हैं; इससे आपका प्राण हरण करने के लिये तो यह बाण नहीं छोड़ूँगा, हाँ—) मैं इस बाण से आपकी गति (मन के बेग से अत्यन्त शीघ्रता में सर्वत्र जाने की शक्ति) अथवा तपस्या से प्राप्त उत्तम लोकों का विनाश करूँ, यह मेरा निश्चय है ॥ ७ ॥ क्योंकि यह विष्णु का शत्रु-नाशक दिव्य बाण है, यह अपने पराक्रम से बल और अहङ्कार का नाश करता है, व्यर्थ नहीं जाता (कहिये, आप क्या चाहते हैं)'''जब श्री रामजी ने उस वैष्णव (सारंग) धनुष का धारण किया, तब परशुरामजी हक्के-बक्के रह गये। उनका तेज श्रीरामजी को प्राप्त हो गया। परशुरामजी पराक्रम-हीन हो गये। उन्होंने श्रीरामजी की ओर देखा ॥ ११ ॥ तेज और वीर्य निकल जाने से परशुरामजी जड़ के समान हो गये थे। वे कमल नयन श्रीरामजी से धीरे-धीरे बोले ॥१२॥ [जब मैंने कश्यपजी को यह पृथिवी दान में दी थी, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि मेरे राज्य में तुम न रहना ॥ १३ ॥ अतएव उस वचन का पालन करता

हुआ मैं उस समय से, रात में पृथिवी वर निवास नहीं करता। क्योंकि मैंने कश्यपजी से ऐसी प्रतिज्ञा की है ॥ १४ ॥] अतएव, हे वीर! आप मेरी गति का नाश न करें। मन के वेग से शीघ्रतापूर्वक मुझे महेन्द्रपर्वत पर जाना है ॥ १५ ॥ मैंने अपनी तपस्या के बल से बड़े-बड़े उत्तम लोक जीते हैं। हे श्रीराम-जी! आप इस बाण से उन्हीं लोकों का नाश कर दें, विलम्ब न करें।

विवेक होने पर परशुरामजी अपने भोगार्थ प्रस्तुत स्वर्ग के लोकों का नाश कराने में उत्सुक हैं कि शीघ्र कीजिये। आगे फिर प्रार्थना की है—"हे प्रतिज्ञा-पालक श्रीरामजी! आप अब इस बाण को छोड़ें, आपके बाण छोड़ने पर ही मैं जाऊँगा। तब श्रीरामजी ने उस बाण को छोड़ा। परशुरामजी अपनी तपस्या के द्वारा पाये हुए लोकों का नाश देख कर तब शीघ्रता पूर्वक महेन्द्र पर्वत को गये।" (वाल्मी १।७६।२०-२२)।

'भारी भ्रम भानि कै...'—श्रीपरशुरामजी को पहले बड़ा भारी भ्रम था कि मैंने अपने पराक्रम से क्षत्रियों का नाश आदि कार्य किये हैं। जब धनुष लेने के साथ ही श्रीरामजी ने अपना तेज और वीर्य ले लिया, तब उनकी आँख खुली कि ये ही ब्रह्म हैं, मुझमें इन्हीं का तेज और वीर्य था।; यथा—"अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्। धनुषोऽस्य परामर्शात्स्वस्ति तेऽस्तु परतप ॥ १७ ॥" (वाल्मी० १।७६।१७ ।; अर्थात् इस धनुष का ग्रहण करने से मैं जान गया हूँ कि आप देवताओं के स्वामी, अविनाशी मधुसूदन हैं, हे परंतप! आपका कल्याण हो। तथा—"जय रघुवंस बनज बन भानू। गहन दनुज-कुल-दहन कृसानू ॥ जय सुर-बिप्र-धेनु-हितकारी। जय मद-मोह-कोह-भ्रमहारी ॥" (मा० बा० २८४

'नाइ दसमाथ महि, जोरि बीस हाथ...'—रावण को सहस्रार्जुन ने जीता था, उसे परशुरामजी ने जीता था। उन परशुरामजी ने भी शस्त्र सौंप कर जिन श्रीरामजीकी शरणागति ही की है; अर्थात् सब उपाय रूप शस्त्रों का समर्पण कर प्रणाम रूप में शरणागति की है। फिर निष्काम वृत्ति पाकर वन को भक्ति-पूर्वक कालक्षेप करने गये हैं। उन श्रीरघुनाथजी को तुम भी जान कर दसो सिरों एवं बीसो हाथों से प्रणाम पुरस्सर उनकी सम्यक् प्रकार से शरणाति करो। भगवान् को जान कर विश्वास पूर्वक प्रणाम रूप में आत्म-समर्पण रूपा

शरणागति की जाती है, इसमें उपायाभिमान कर सर्वथा त्याग किया जाता है। परशुरामजी ने वैसी ही शरणागति की है। प्रमाण; यथा—"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः॥" (भरताचार्य); अर्थात् संसार से डरे हुए जीव की—अन्य साधनों से अपना अभीष्ट सिद्ध होता न देख कर 'एक श्रीरामजी (आप) ही मेरे सब प्रकार से उपाय रूप हैं', इस प्रकार महाविश्वास पूर्वक उनसे याचना करनी—शरणागति एवं प्रपत्ति है। नमस्कार करना शरण होना है; यथा—"गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥ एवमुक्तस्तु ते पार्था यमौ च पुरुषर्भौ। द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥" (महा० वन० १८६।५७–५८); अर्थात् महर्षि मारकंडेय ने (श्रीकृष्ण-परत्व कह कर) युधिष्ठिर आदि पांडवों से कहा कि आप लोग इन भगवान् कृष्ण की शरण में प्राप्त हों; इस वचन पर द्रौपदीजी के साथ पाँचो पांडवों ने भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया है।

उपायेन्द्रिय (कर्मेन्द्रिय) हाथों का जोड़ कर भगवान् की ओर करने का भाव यह कि मुझे इन हाथों के उपायों का भरोसा नहीं है, आप ही मेरे उपाय हैं। तथा शिर के ललाट पर भाग्यांक रहता है, उसे भगवान् के सम्मुख कर उनके चरणों पर रखने का भाव यह कि मेरे भाग्य-विधाता ये चरण ही हैं।

'पहिचानि कै ...'—जान कर महा विश्वास पूर्वक की हुई शरणागति से भगवान् पूरा भार लेते हैं; यथा—"ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः। भये महति मग्नाश्च पाति नित्यं जनार्दनः॥ २४॥ स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत। सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम्। प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम्॥ २५॥" (महा० भीष्म० ६७); अर्थात् जो भगवान् की शरण होते हैं, वे बड़े भारी भय में मग्न होने पर भी मोहित नहीं होते, भगवान् उनकी नित्य रक्षा करते हैं। हे राजन्! राजा युधिष्ठिर, उन जगदीश्वर, केशव एवं योगेश्वर प्रभु के माहात्म्य को यथार्थ रीति से जानकर सब प्रकार से एवं सर्वात्मना उनके शरणागत हुए हैं।

यहाँ पर मन्दोदरी भी श्रीरामजी का परत्व समझा कर रावण से पहचान कर शरण होने को कह रही है। दसो सिरों और बीसो हाथों से प्रणाम रूप में सर्वात्मना शरण होने को कहती है।

श्रीविभीषणजी प्रभु शरण होकर कृतार्थ हो गये हैं, यह जानकर भी रानी बार-बार रावण को श्रीरामजी की शरण होने ही को कहती है।

[२७]

कह्यो मत मातुल, बिभीषन हूँ बार-बार,
आँचर पसारि, पिय! पाँय लै-लै हौं परी।
बिदित बिदेहपुर, नाथ! भृगुनाथ - गति,
समय सयानी कीन्हीं जैसी आइ गौं परी॥
वायस, बिराध, खर, दूषन, कबंध, बालि,
बैर रघुबीर के न पूरी काहु की परी।
कंत! बीस लोचन बिलोकिये कुमंत-फल,
ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की-सी झोंपरी॥

शब्दार्थ—आइ गौं परी=अवसर आ पड़ा। लाईं=आग लगा दी।

अर्थ—मामा मारीच और विभीषणजी ने भी बार-बार यही (उपर्युक्त छन्द में कही हुई एवं इस छन्द में भी जो बात कही जा रही है,) सलाह कही है और हे प्यारे! मैं भी अञ्चल पसार कर (याञ्चात्मक मुद्रा से) बार-बार यही प्रार्थना करती हुई तुम्हारे पैरों पड़ी। हे नाथ! श्रीजनकपुर में श्रीपरशुरामजी की जो दशा हुई, वह संसार में प्रसिद्ध ही है (अतः, आपको यह संकोच नहीं रहा कि जिससे बैर हो गया, फिर उसी की शरण कैसे हों? देखिए) उन्होंने जैसा अवसर आया हुआ देखा, वैसी ही समय की चतुराई कर ली (श्रीरामजी को शस्त्र सौंप कर उनकी शरण हो, अपना काम बना लिया)। इसके विपरीत श्रीरामजी से वैर करने पर जयंत, विराध, खर, दूषण, कबन्ध और वाली—इन किसी की (भावना) पूरी नहीं पड़ी; अर्थात् किसी का भला नहीं हुआ। और, हे स्वामी! आप भी अपने कुविचार (बुरे मंत्रियों के कुविचार) का फल बीसो आँख फैला कर देख लो कि वानर हनुमान्जी ने खेल ही में अनाथ बिधवा की झोपड़ी की भाँति लंका को जला दिया (किसी से कुछ करते नहीं बना)।

विशेष—'कह्यो मत मातुल···'—मामा मारीच ने बार-बार समझाया था; यथा—"तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥ तासों तात! बैर नहिं कीजै। मारे मरिअ जियाये जीजै॥ मुनि मख राखन गयेउ कुमारा

बिनु फर सर रघुपति मोहिं मारा ॥ सत जोजन आयेउँ छन माहीं। तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं ॥ भइ मम कीट भृङ्ग की नाईं। जहँ-तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ॥ जौं नर तात ! तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोध न आइहि पूरा ॥ जेहि ताडका सुबाहु हति, खंडेउ हरकोदंड। खर-दूषन त्रिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड ॥ जाहु भवन कुल कुसल बिचारी।" (मा० अर० २४-२५); इसमें 'तेहि पुनि कहा' इस वाक्य में मारीच का एक बार पहले का कहना भी सिद्ध होता है, इसी प्रकार के वचन कहा था, इससे ग्रंथकार ने दो स्थानों पर न लिख कर यहीं सूचित कर दिया। वाल्मीकीय रामायण अर० सर्ग ३०–३१ में पहली बार रावण ने मारीच के पास जाकर सीता-हरण की बात कही थी, उस पर मारीच ने बहुत मना किया कि श्रीरामजी से वैर न करो, वे महान् प्रतापी हैं। फिर आगे सर्ग ३६–३९ में दोबारा रावण मारीच के पास गया है, तब फिर भी मारीच ने बहुत समझा कर मना किया है कि श्रीरामजी के सामने जाते ही तुम अपने को मरा हुआ समझो; इत्यादि।

श्रीविभीषणजी ने बार-बार समझा कर श्रीरामजी का परत्व कहा है और श्रीसीताजी को देकर श्रीरामजी की शरण हो, उनका भजन करना कहा है—

प्रथम बार—"बोला बचन पाइ अनुसासन ॥ जौ कृपाल पूछेहु मोहिं बाता। मति अनुरूप कहउँ हित ताता ॥" से "बार-बार पद लागउँ, बिनय करउँ दससीस। परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस ॥" (मा० अर० ३७-३९) तक। इस वचन को पुलस्त्यजी का कह कर पुष्ट किया, फिर माल्यवान् ने भी समर्थन किया, परन्तु रावण ने नहीं माना।

द्वितीय बार—"कहइ बिभीषन पुनि कर जोरी ॥" से "तात चरन गहि माँगउँ, राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार ॥" (मा० अर० ३९-४०) तक। इस पर क्रुद्ध हो रावण ने लात मारी और विभीषणजी को उसने लंका से निकाल दिया। वाल्मीकीय रामायण में भी पहले विभीषणजी ने ऐकान्तिक सभा में समझाया है, फिर महती सभा में भी समझा कर श्रीरामजी की शरण होने को ही कहा है।

'आँचर पसारि पिय⋯'—मन्दोदरी ने चार बार रावण को समझाया

है, इसने चारों बार विशेष रूप से कह-कह कर समझाया है, इससे कई बार पैर पड़ कर समझाना कह रही है—

(१) श्रीहनुमान्‌जी के लौट ने पर—"कंत करष हरि सन परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ हिय धरहू ॥" से "राम बान अहि गन सरिस, निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न तब लगि, जनत करहु तजि टेक ॥" (मा० सुं० ३५–३६) तक।

(२) सेतुबंध सुनने पर—"चरन नाइ सिर अंचल रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा ॥" से "अस कहि नयन नीर भरि, गहि पद कंपित गात। नाथ! भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात ॥" (मा० लं० ५-७) तक।

(३) छत्र, मुकुट और ताटंक-हरण पर—"सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी ॥" से "अस बिचारि सुनु प्रानपति, प्रभु सन बैर बिहाइ। प्रीति करहु रघुबीर पद, मम अहिवात न जाइ ॥" (मा० लं० १३-१५)।

(४) श्रीअंगदजी के लौटने पर—"कंत समुझि मन तजहु कुमति ही। सोह न समर तुम्हहि रघुपति ही ॥" से "दुइ सुत मारेउ दहेउ पुर, अजहुँ पूर पिय देहु। कृपासिंधु रघुनाथ भजि, नाथ बिमल जस लेहु ॥" (मा० लं० ३४–३६)-तक

'बिदित बिदेह पुर…'– तुम्हें जीतने वाले सहस्रबाहु को भी जिन्होंने मारा था, उन परशुरामजी ने भी सहसा आवेश में आ श्रीरामजी से विरोध किया, परन्तु जब उन्होंने समझ लिया कि ये परब्रह्म हैं, तब समयानुसार चतुराई कर शस्त्र सौंप उनकी शरण होकर उन्होंने अपना काम बना लिया। भाव यह कि जब उन्होंने बैर हो जाने पर भी पीछे शरण होकर क्षमा माँगी है, तब आपको इसमें लज्जा नहीं माननी चाहिये। ऐसा करने पर इसे लोग आपकी समय-चातुरी ही सराहेंगे, जैसे परशुरामजी की चतुराई सराही जा रही है।

'बायस, बिराध, बैर रघुबीर के….'—यदि यह समझते हों कि मैं इनसे बैर करके ही काम बना लूँगा तो यह आशा न रखिये। जयन्त और विराध आदि के उदाहरण देखिये। इनमें खर-दूषण आदि आपके समान थे और वाली आपसे बहुत अधिक बली था। इनमें जयंत-बध में बाण-प्रताप है; यथा—"तात सक्रसुत कथा सुनायेहु। बान-प्रताप प्रभुहि समुझायेहु ॥" (मा० सुं० २६);

विराध, खर और दूषण के बध में उनका रणकौशल है; यथा—"खर-दूषन-बिराध-बध पंडित।" (मा० उ० ५०); और वाली-वध में अपार बल एवं सत्यसंधता तथा ईश्वरत्व है; यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" (मा० लं० ३२); तथा—बधि बिराध खर-दूषनहिं, लीला हत्यो कबंध। बालि एक सर मारेउ, तेहि जानहु दसकंध॥" (मा० लं० ३१)।

'कंत ! बीस लोचन···ख्याल लंका लाई···'—अन्य उदाहरण दूसरों के हैं, यह तो आपके ही ऊपर की बीती हुई बात है। वानर हनुमान् ने ललकार-ललकार कर लंका जलाई है। अनाथ विधवा की झोंपड़ी-सी लंका जल गई। आपसे कुछ करते नहीं बना। लंका के सुभटों के साथ आप भी बीसों आँखों से देखते थे। गर्ज-गर्ज कर अपनी वीरतापूर्ण परिचय देते हुए उसने नगर जलाया है; फिर अंत में गर्ज कर वह कुशलपूर्वक चला गया है।

यही बल और पराक्रम है न ! इससे पूरा पड़ने वाला नहीं है। अतः मेरी बात मानिये; अन्यथा नष्ट होगे।

सवैया [२८]

राम सो साम किये नित है हित, कोमल काज न कीजिये टाँठे।
आपनि सूझि कहौं, पिय ! बूझिये, जूझिबे जोग न ठाहरु नाठे॥
नाथ ! सुनी भृगुनाथ-कथा, बलि बालि गये चलि बात के साँठे।
भाइ बिभीषन जाइ मिल्यो प्रभु आइ परे सुनि सायर-काँठे॥

शब्दार्थ—साम=संधि, मेल। टाँठे=कठोरता। ठाहर=स्थान। नाठे=नष्ट हुए; पर यहाँ पर 'नाठना' अर्थात् भागना, हटना, यह भाव है। अतः, 'नाटे' का अंतिम अनुप्रास मिलाने के लिये 'नाठे' ऐसा हो गया है (अतः, 'नाटे' का अर्थ 'हटने पर' यह है। किसी बात से नट जाना, हट जाना या इनकार करना कहा जाता है। साँठे=पकड़े रहने पर। सायर (सं० सागर, अ० साअर)=समुद्र। काँठे (सं० कंठ)=किनारा, तट तथा पार्श्व, बगल।

अर्थ—श्रीरामजी से मेल करने में ही सदा भलाई है। अतः कोमलता (सुगमता) से होने वाले कार्य में कठोरता मत कीजिये। हे प्यारे ! मैं अपनी बुद्धि का विचार कहती हूँ। आप स्वयं भी समझिये, यहाँ (इस समय) युद्ध करने के योग्य स्थान (अवसर) नहीं है किन्तु युद्ध से हटने का है। हे नाथ !

आपने परशुरामजी की कथा तो सुनी ही है (कि वे शस्त्र दे, शरण होकर बच गये) और अपनी बात (मर्यादा की हठ) पकड़े रहने पर बलवान् वाली चले गये (मारे गये)। (समय की सूझ देखिये—) आपके भाई विभषण ने जब सुना कि प्रभु श्रीरामजी सागर के (उस) किनारे आकर पड़ाव डाल दिये हैं, तब वे जाकर उनसे मिल गये और अपनी बात बना ली।

विशेष—इस छन्द में मन्दोदरी राजा रावण को राजनीति की दृष्टि से समझाती है। नीति ऐसी है; यथा—"सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते।" (महा० शान्ति० १०२।२२); अर्थात् साम, भेद और दान के पश्चात् युद्ध करना चाहिये। पहले तो साम नीति से ही काम लेना चाहिये। यदि शत्रु प्रबल हो और साम न माने तो भेद नीति से उसके पक्ष वाले को फोड़ कर उसे निर्बल बनाकर हराना चाहिये। यदि भेद का अवकाश न मिले तो कुछ देकर झगड़ा मिटा देना चाहिये। यदि इन तीनों उपायों से काम न चले तो फिर अंत में युद्ध करने की विधि है; तथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा॥" (मा० लं० ३६)।

'राम सों साम किये नित है हित···'—श्रीरामजी साम नीति में भी आपसे प्रबल हैं। वे वन में अकेले थे, वहाँ भी उन्होंने करोड़ों बलवान् वानर-भालुओं को मित्र बना लिया है। भेद नीति में भी वे ही निपुण हैं अग्नि की साक्षी से बने हुए आपके मित्र वाली का वध कर उन्होंने उसी के परिवार को अपना मित्र बना लिये। फिर हनुमान् दूत के द्वारा अपना प्रताप दिखा एवं विभीषण को अपना सुन्दर स्वभाव समझा कर मिला लिया है, इस प्रकार उन्होंने आपको निर्बल बना दिया है। दंड नीति में वे ऐसे समर्थ हैं कि उन्होंने वाली ऐसे बली को एक ही बाण में मार डाला है। फिर वे अभयदान भी देते हैं, परशुरामजी ने शस्त्र सौंप शरणागति की, तब उन्होंने उन्हें अभय भी दिया है। अत्यन्त समर्थ होने से उन्हें देकर प्रतिपक्षी को मिलाने की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसे समर्थ श्रीरामजी से आपको मिल जाने में ही भलाई है। कभी भी आप उनसे लड़ कर नहीं जीत सकते। मिल जाने पर कोमलता से कार्य हो जायगा। अतएव झगड़ा रूपी कठोरता मत कीजिये।

'जूझिबे जोग न···'—यह भी नीति है कि शत्रु को प्रबल देखकर उससे

दूर हट जाना चाहिये; यथा—"उपयानापयाने च स्थानं प्रत्यपसर्पणम्। सर्वमे- तद्रथस्थेन ज्ञेयं रथकुटुम्बिना ॥" (वाल्मी० ६।१०४।२०); अर्थात् रथ पर बैठनेवाले को यह जानना चाहिये कि कब शत्रु के पास जाना चाहिये और कब बगल में जाना चाहिये, कब सामने खड़ा रहना चाहिये और कब हट जाना चाहिये। अतएव आपको इस समय युद्ध से हट कर अन्य उपायों से ही काम लेना चाहिये। इससे मैंने साम करना कहा है, आप स्वयं भी विचारें।

'नाथ सुनी भृगुनाथ कथा'—इस कथा से आपको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि यदि किसी कारण से सहसा विरोध का संयोग हो भी गया हो तो शत्रु को प्रबल समझ कर उससे मिल ही जाना चाहिये, भले ही शस्त्र सौंप कर शरण होने में कुछ लज्जा की बात हो, पर नष्ट होने से तो बच जाता है।

'बलि बालि गये…'—अपनी प्रतिष्ठा का हठ लिये हुए अभिमान करके न मिलने पर वाली की क्या दशा हुई, यह प्रत्यक्ष है। अतः, आपको युद्ध न कर साम ही करना श्रेयस्कर है।

'भाइ बिभीषन जाइ मिल्यो…'—आप अपने घर का ही उदाहरण देखिये, विभीषण उस पार जाकर मिला और कल्याण-भाजन हुआ। आपको तो अब उस पार भी जाना नहीं है। प्रभु इस पार ही आ गये हैं, अब उनसे मिलकर कल्याण-भाजन होइये।

रानी ने पहले साम नीति का दो चरणों में उपदेश दिया, फिर उस प्रकार मिलने के लिये परशुरामजी का उदाहरण भी दिया, वे रावण के विजयी सहस्र- बाहु के भी जीतनेवाले थे, जब वे शरण हुए, तब आपको लज्जा कैसी? तत्पश्चात् दंड का भय दिखाया कि वाली की दशा देख लो, अनन्तर विभीषण के उदाहरण से मिलने की रीति एवं प्रतिपक्षी की भेद नीति का भय भी दिखाया।

[२६]

पालिबे को कपि-भालु-चमू जम काल करालहु को पहरी है।
लंक से बंक महागढ़ दुर्गम ढाहिबे-दाहिबे को कहरी है॥
तीतर मत्त-तमीचर-सेन समीर-को बीर बड़ो बहरी है।
नाथ! भलो रघुनाथ मिले, रजनीचर-सेन हिये हहरी है॥

शब्दार्थ—चमू=सेना। कहरी (अ० कहर)=क्रोधी, उत्पाती, आफ़त ढाने

वाला। बहरी=बाज की भाँति की एक शिकारी चिड़िया। हहरी=डर के मारे काँप रही है, थर्रा गई है।

अर्थ—हे नाथ! पवन का पुत्र हनुमान् वानरों और भालुओं की सेना का पालन एवं रक्षा करने के लिये यमराज एवं भयङ्कर काल से भी पहरा देनेवाला (रक्षक) है। वह लङ्का-सरीखे विकट महा दुर्गम गढ़ को गिराने और जलाने में बड़ी आफ़त ढानेवाला है। मतवाले राक्षसों की सेना रूपी तीतरों का नाश करने के लिये वह वीर बड़ा भारी बहरी पक्षी के समान है। अतः, अब श्रीरघुनाथजी से मिलने से ही भला है; क्योंकि राक्षसी सेना हृदय से थर्रा गई है।

विशेष—'पालिबे को···जम काल···'—श्रीहनुमान्जी यमराज और काल से भी रक्षा कर सकते हैं; यथा—"जो हौं अब अनुसासन पावौं। तौ चंद्रमहि निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥ कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत कुंड महिलावौं। भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥ विबुधवैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं। पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावौं॥ तुम्हरिहि कृपा प्रभाव तिहारेहि करत बिलंब न लावौं। दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं॥" (गी० लं० ८); श्रीजाम्बवान् ने कहा है; यथा—"अस्मिञ्जीवति वीरे तु हतमप्यहतं बलम्। हनूमत्युज्झितप्राणे जीवन्तोऽपि मृता वयम्॥" (वाल्मी० ६।७४।२२); अर्थात् जब तक हनुमान् जीते हैं, तब तक सेना मारी भी जाय तो भी जीवित ही है और उनके मारे जाने पर जीते हुए भी हम लोग मृतक के समान हैं। श्रीहनुमान्जी ने ही द्रोण गिरि लाकर लक्ष्मणजी के प्राण बचाये हैं। तथा वाल्मीकीय ६।७४ में एक बार उसी पहाड़ को लाकर हनुमान्जी ने सारी सेना को जिलाया है।

इस प्रकार हनुमान्जी यम और काल से भी रक्षा कर सकते हैं।

'लंक से बंक महागढ़···'—श्रीहनुमान्जी लंका को गिरा और जला सकते हैं, इस पर छन्द २३ के 'बंक गढ लंक सो ढका ढकेलि ढाहि गो' इसके विशेष में प्रमाण लिखे गये। लंक-दहन का पूर्व विशाल-प्रसंग ही सुन्दरकांड में कहा गया है।

'तीतर मत्त-तमीचर-सेन···'—बाज एवं बहरी के झपटने पर लवा एवं

तीतर दबक जाते हैं, चूँ भी नहीं कर पाते, मार दिये जाते हैं। वैसे ही हनुमान्-जी के आक्रमण पर बड़े-बड़े बल के मतवाले राक्षस भय से सूख जाते हैं और चूँ भी नहीं कर पाते, मारे जाते हैं; यथा—"सहमि सुखात बातजात की सुरति करि लवा ज्यों लुकात तुलसी झपेटे बाज के।" (छन्द ६)—इसका विशेष देखिये।

आधुनिक प्रतियों में 'तीतर तोम तमीचर सेन समीर को सूनु बड़ो बहरी है।' ऐसा पाठ है, परन्तु भागवतदास की पुरानी प्रति में उपर्युक्त पाठ है, वही मुझे समीचीन समझ पड़ा है। 'समीर-को' इस वाक्यमात्र में 'सूनु' का अर्थ है ही। तथा 'मत्त-तमीचर-सेन' पद में ही हनुमान्‌जी का भी गौरव है कि वे साधारण राक्षस के प्रति नहीं दौड़ते, उनके लिये और वानर गण तो हैं ही।

'रजनीचर सेन हिये हहरी है'; यथा—"लंक दाह देखे न उछाह रह्यो···" (छंद १)—इसका विशेष देखिये। तथा—"बसत गढ़ लंक लंकेस-नायक अछत लंक नहिं खात कोउ भात राँधो।" (छंद ४)। जिसके बल पर युद्ध होना है, वह सारी सेना जब हतोत्साह हो गई एवं अत्यन्त भय से थर्रा गई है, वह लड़ेगी क्या? यह देखकर तो सर्वथा संधि करना ही अच्छा है। श्रीरामजी की शरण होकर कुल की, सेना की एवं अपनी रक्षा कीजिये।

यहाँ तक छन्द १७ वे से २९ तक मन्दोदरी ने बहुत समझाया, परन्तु कालवश होने से रावण ने नहीं सुना; यथा—"अहह कंत कृत राम-बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥" से "निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाँईं॥" (मा० लं० ३५) तक। तथा—"काल बिबस पति कहा न माना। अग जग नाथ मनुज करि जाना॥" (मा० लं० १०२); "क्रियतामविरोधश्च राघवेणेति यन्मया॥१८॥ उच्यमानं न गृह्णासि तस्येयं व्युष्टि-रागता।" (वाल्मी० ६।१११); अर्थात् (रावण के मरने पर मन्दोदरी कहती है—) हे स्वामिन्! रामजी से विरोध मत करो, मेरा यह कहना आपने नहीं माना, उसी का फल यह मिला है।

युद्ध-प्रसंग

कवित्त [३०]

रोष्यो रन रावन, बोलाये बीर बानइत,
जानत जे रीति सब संजुग-समाज की।

चली चतुरंग चमू, चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग रातिचर-राज की ॥
तुलसी निहारि कपि भालु किलकत,
ललकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की।
राम रुख निरखि हरष्यो हिए हनूमान,
मानो खेलवार खोली सीसताज बाज की ॥

शब्दार्थ—बानइत=युद्ध का बाना (वेष, तक़मा, पदक) धारण करनेवाले। संजुग (सं० संयुग)=युद्ध। चतुरंग चमू=चतुरंगिणी सेना [रथी, अश्वारोही, गजारोही एवं पैदल]। ललकत=ललचाते हैं। सीसताज=सिर की टोपी, कुलह।

अर्थ—क्रुद्ध होकर रावण ने युद्ध के लिये बड़े-बड़े वीरता के पदक धारण करनेवाले वीरों को बुलाया, जो युद्ध की सारी सामग्रियों (तैयारी के सामान प्रस्तुत करने) की रीतियों को जाननेवाले थे। शीघ्रता से नगाड़े बजाये गये, चतुरंगिणी सेना युद्ध के लिये चली, राक्षसराज रावण की वह सेना सराहनीय थी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस शत्रु सेना को देखकर वानर और रीछ (प्रसन्नता एवं उत्साह से) किलकारी मारने लगे और उसे मारने के लिये ऐसे ललचने लगे, जैसे कङ्गाल सुन्दर भोजन का पत्तल देखकर उसे खाने के लिये लालायित होता है। उस समय श्रीरामजी का युद्ध का रुख देखकर श्रीहनुमान्जी हृदय में ऐसे प्रसन्न हुए, मानो खेलाड़ी (शिकारी) ने बाज के सिर की टोपी खोल दी हो (और वह शिकार को देखकर उस पर टूट पड़े, वैसे हनुमान्जी राक्षस सेना पर टूट पड़ेंगे)।

विशेष—'रोष्यो रन रावन…'—जब मन्दोदरी ने श्रीरामजी का प्रताप कहा और उससे राक्षस-सेना का हृदय से थर्राना कहा, तब रावण को बड़ा क्रोध हुआ, उसने तुरत अपने बड़े-बड़े पदकधारी वीरों से युद्ध की तैयारी की आज्ञा दी, वे वीर आक्रमणकारी युद्ध की सारी रीतियाँ जानते हैं, इससे उन्होंने पूरी तैयारी की, जिससे प्रथम दिन के युद्ध में अपना श्रेय देखने में आवे।

'चली चतुरंग चमू…'; यथा—"सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा ॥ सेन बिलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना ॥" (मा० बा० १५२)।

'बिलोकि कपि-भालु किलकत···'—रण का उत्साह वीर रस का स्थायी है, यहाँ सभी भालू-वानर वीररस पूर्ण हैं। राक्षसों को ऐसा गर्व था—"कहहु कवन भय करिय बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥" (मा० लं० ७); किन्तु यहाँ उसका विपरीत हो रहा है, वानर-भालू ही उन्हें उत्तम आहार देख रहे हैं।

'राम रुख निरखि····'—रुख के अनुसार कार्य करना उत्तम सेवा है। श्रीहनुमान्‌जी के आक्रमण पर राक्षस वीर बटेर की भाँति दबक रहेंगे, यह भाव है; यथा—"सहमि सुखात बात जात की सुरति करि लवा ज्यों लुकात तुलसी झपेटे बाज के॥" (छंद ६)।

अलङ्कार—तीसरे चरण में 'उदाहरण' और चौथे में 'उत्प्रेक्षा' है।

आगे दोनों ओर की सेनाओं का तुमुल युद्ध वर्णन करते हैं—

[३१]

साजि कै सनाह गजगाह सउछाह दल,
महाबली धाये बीर जातुधान धीर के।
इहाँ भालु-बंदर बिसाल मेरु-मंदर से,
लिये सैल साल तोरि नीर-निधि तीर के॥
तुलसी तमकि-तकि भिरे भारी जुद्ध-क्रुद्ध,
सेनप सराहैं निज-निज भट भीर के।
रुंडन के झुंड झूमि-झूमि झुकरे-से नाचैं,
समर सुमार सूर मारे रघुबीर के॥

शब्दार्थ—सनाह = कवच। गजगाह = हाथियों के ऊपर की झूल। भीर = दल। रुंड = शिर कटा हुआ धड़। झुकरे-से = झुँझलाये हुए से। सुमार सूर (शुमार-शूर) = गिनती के योद्धा, चुने हुए वीर।

अर्थ—समर धीर रावण का महा बलवान् वीरों का दल कवच पहनकर और हाथियों पर झूल सजाकर उत्साहपूर्वक रणभूमि की ओर दौड़ा। यहाँ (इधर) सुमेरु गिरि एवं मंदराचल के समान विशाल शरीरवाले भालू और वानर सागर के किनारे पहाड़ और शालवृक्ष उखाड़ एवं तोड़कर लिये हुए थे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (दोनों दल) तमतमा कर और अपनी-अपनी जोड़ी

देखकर भिड़ गये, क्रोधपूर्वक भारी युद्ध होने लगा। दोनों ओर के सेनापति अपने-अपने दल के भटों की सराहना करने लगे। रघुवीर श्रीरामजी ने युद्ध में चुने हुए वीरों को ऐसा मारा है कि उनके धड़ों के समूह मतवाले-सरीखे झूम-झूम कर झुँझलाए हुए-से नाच रहे हैं।

विशेष—'सउछाह दल'—रावण का दल भी वीररसपूर्ण है।

'इहाँ'—इस पद से ग्रन्थकार अपनी स्थिति श्रीराम-दल के साथ सूचित करते हैं। तथा यह भी भाव है कि जिस समय उधर से रावण-दल चला, ठीक उसी समय इधर से वानर-दल भी चला। एक ही समय में दो स्थलों पर जो कृत्य होते हैं, वे भी 'इहाँ' 'उहाँ' इस संकेत से प्रकट किये जाते हैं; यथा—"उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे····"; तथा—"इहाँ भरत सब सहित सहाए। मंदाकिनी पुनीत नहाए॥" (मा० अ० २२५, २३२)।

'सेनप सराहैं···'; यथा—"देखि सुभट सब लायक जाने। लै-लै नाम सकल सनमाने॥" (मा० अ० १६०) इससे सुभट अत्यंत उत्साह से लड़ते हैं।

'समर सुमार सूर···'—रघुवीर सामान्य वीरों पर बाण नहीं चलाते, उनके लिये तो वानर दल ही पर्याप्त है। आप चुने हुए वीरों को ही मारते हैं, जिन 'बानइत' वीरों को रावण ने विश्वासपूर्वक भेजा है। रुण्डों की नाच से समर-भूमि सुशोभित हुई।

सवैया [३२]

तीखे तुरंग कुरंग सुरंगनि साजि चढ़े छँटि छैल छबीले।
भारी गुमान जिन्हें मन में, कबहूँ न भये रन में तनु ढीले॥
तुलसी गज से लखि केहरि लौं झपटे पटके सब सूर सलीले।
भूमि परे भट घूमि कराहैं ते, हाँकि हने हनुमान हठीले॥

शब्दार्थ—तीखे = तेज दौड़ने वाले। गुमान = (वीरता का) गर्व। लौं = सदृश सलीले = लीलापूर्वक, खेल में। हठीले = दृढ़ प्रतिज्ञ, धीर एवं हठी।

अर्थ—जिन वीर राक्षसों के मन में वीरता का बड़ा भारी गर्व था और जिनके दृढ़ शरीर कभी युद्ध में शिथिल नहीं हुए थे। ऐसे छँटे हुए छैल-छबीले वीर हिरणों के समान तेज दौड़ने वाले और सुन्दर रंग वाले घोड़ों को सजा कर उन पर सवार हुए। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हठीले श्रीहनुमानजी ने (शत्रु

पक्ष) के उन सब वीरों को हाथी के समान समझ कर स्वयं सिंह के समान ललकार कर लीलापूर्वक झपट-झपट कर पटक दिया है और ऐसा मारा है कि वे चक्कर खाकर भूमि पर पड़े हुए कराह रहे हैं।

विशेष—'छँटि छैल छबीले···'—ये सब वीर चुने हुए हैं। वीर केसरिया बाना (वेष) बनाये हुए शोभा दे रहे हैं। अस्त्र-शस्त्र ही इनके भूषण हैं। 'हठीले' इस विशेषण के भाव आगे छन्द ३७ में देखिये। भाव यह प्रतिज्ञा-पूर्वक जिसे मारना चाहते हैं। उसे हठ करके मारते हैं, वह किसी भी उपाय से बच नहीं पाता।

[३३]

सूर सँजोइल साजि सुबाजि, सुसेल धरे बगमेल चले हैं।
भारी भुजा भरी, भारी सरीर, बली बिजयी सब भाँति भले हैं॥
तुलसी जिन्हैं धाये धुकै धरनीधर, धौर धकानि सों मेरु हले हैं।
ते रन तीर्थनि लक्खन लाखन-दानि ज्यों दारिद दाबि दले हैं॥

शब्दार्थ—सँजोइल = आवश्यक सामग्री से युक्त। सुसेल = सुन्दर साँग (शस्त्र विशेष) बगमेल = पंक्ति बाँधे हुए, एक पंक्ति में। धुकै=नीचे की ओर ढलना; झुकना, नवना। धौर धकानि (धौल + धक्का) = आघात, चपेट।

अर्थ—रावण के योद्धा युद्ध की आवश्यक सामग्रियों से सज कर और सुंदर घोड़ों को सजाकर सुन्दर साँग धारण किये हुए पंक्ति बाँध कर एक साथ चले। उनकी भरी हुई (मांसल) बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, भारी शरीर है—सब बलवान हैं, विजय करने वाले एवं सब प्रकार से अच्छे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिनके दौड़ने पर शेषनाग नीचे की ओर झुक जाते हैं और आघात करने पर सुमेर पर्वत भी हिल जाते हैं। उन राक्षस वीरों को श्रीलक्ष्मणजी ने रणभूमि में इस प्रकार मार डाला है, जिस प्रकार लाखों रुपयों का दान देने वाला कोई दानी किसी तीर्थ में (दान देकर वहाँ के) दरिद्र को दबा कर नष्ट कर देता है।

विशेष—'सूर सँजोइल··'; यथा—"होहु सँजोइल रोकहु घाटा॥" तथा—"बेगहु भाइहु सजहु सँजोऊ।" (मा० अ० १८६-१९०)। 'बगमेल चले हैं'; यथा—"हरषि परस्पर मिलन हित, कछुक चले बग मेल॥" (मा० बा० ३०५); "आइ गये बगमेल, धरहु-धरहु धावत सुभट।" (मा० अर० १८);

'दानि ज्यों...'–दानी थैली से द्रव्य लाखों देता है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी तरकश से वाण निकाल कर चलाते हैं, इससे दरिद्र रूपी राक्षसों का नाश करते हैं।

अलंकार—'रूपक से पुष्ट उदाहरण' (चौथे चरण में)।

[३४]

गहि मंदर बंदर भालु चले सो मनो उनये घन सावन के।
'तुलसी' उत झुंड प्रचंड झुके, झपटैं भट जे सुरदावन के॥
बिरुझे बिरुदैत जे खेत अरे, न टरे हठि बैर बढ़ावन के।
रन मारि मची उपरी-उपरा, भले बीर रघुप्पति-रावन के॥

शब्दार्थ—मंदर=मंदराचल, यहाँ पर 'मंदर' पद पर्वतमात्र के अर्थ में है। उनये = उमड़ आये, छा गये। झुके = क्रुद्ध हुए। सुर दानव = देवताओं का दमन (अधीन) करने वाला, रावण। बिरुझे = भिड़ गये। उपरी-उपरा = प्रतिद्वन्द्विता, चढ़ा-ऊपरी।

अर्थ—इधर से वानर और भालू पहाड़ ले-लेकर इस प्रकार चले, मानो श्रावण के बादल उमड़ आये हों। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उधर से जो रावण के प्रचण्ड योद्धाओं के झुंड थे, वे क्रुद्ध होकर झपटे। हठात् बैर बढ़ानेवाले और वीरता के पदक धारण करने वाले दोनों ओर के वीर जो रणक्षेत्र में अड़े (हठपूर्वक डटे) हुए थे, वे परस्पर भिड़ गये, कोई भी टालने से टलते नहीं थे (इस प्रकार) श्रीरामजी और रावण के अच्छे-अच्छे वीरों में प्रतिद्वन्द्विता करके रणक्षेत्र में मार (गुत्थमगुत्था) हुई।

[३५]

सर तोमर सेल समूह पँवारत, मारत बीर निसाचर के।
इत ते तरु ताल तमाल चले, खर खंड प्रचंड महीधर के॥
तुलसी करि केहरि नाद भिरे, भट खग्ग खगे खपुवा खरके।
नख दंतन सों भुजदंड बिहंडत, मुंड सो मुंड थरे झर के।

शब्दार्थ—तोमर = शर्पला (शस्त्र विशेष)। सेल = बरछा। खर = तीक्ष्ण। खग्ग = खड्ग, तलवार। खगे = १—लग गये, लिप्त हुए, २—अड़ गये। खपुवा = कायर, भगोड़े। खरके = खिसक गये, भग गये। बिहंडत (विखंडत) = विशेष रीति से काट देते हैं। झरके = झड़ कर, टूट कर।

अर्थ—निशाचर रावण के वीर बाण, तोमर और बरछा के समूह फेंक-फेंक कर मारते थे और इधर (श्रीरामजी की ओर से) ताड़ और तमाल आदि वृक्ष तथा पहाड़ों के बड़े भारी तीक्ष्ण खंड चलते थे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि योद्धा सिंहनाद करके भिड़ गये और तलवार चलाने में लग गये तथा कादर भग गये। (वानर गण) नखों और दातों से (राक्षसों के) भुजदण्डों को काट गिराते हैं और शिर तोड़ कर उसी से मारते हैं तो उनके शिर झड़ (कट) कर गिर जाते हैं।

विशेष—'इत ते तरु···'; यथा—"गिरि तरु नख आयुध सब बीरा।" (मा० बा० १८७); "नख दसन सैल महाद्रुमायुध···" (मा० लं० ७७)।

'मुंड सो मुंड···'; यथा—"मारहिं काटहिं धरहिं पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥ उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥" (मा० लं० ७६)।

[३६]

रजनीचर मत्तगयंद घटा बिघटे भृगराज के साज लरै।
झपटै, भट कोटि मही पटकै, गरजै रघुबीर की सौंह करै॥
तुलसी उत हाँक दसानन देत, अचेत भे बीर, को धीर धरै?।
बिरुझो रन मारुत को बिरुदैत, जो कालहु काल सो बूझि परै॥

अर्थ—राक्षस रूपी मतवाले हाथियों के समूह का नाश करते हुए (श्रीहनुमान्जी) सिंह के समान लड़ रहे हैं। वे झपटते हैं और करोड़ों योद्धाओं को पृथिवी पर पटकते हैं, फिर गरजते हैं तथा रघुवीर श्रीरामजी की शपथ करते हैं (शपथ कर प्रतिज्ञापूर्वक भटों को मार ही डालते हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उधर से रावण हाँक (ललकार) देता है, उससे इधर (श्रीराम-पक्ष) के वीर अचेत (बेसुध) हो जाते हैं, (रावण की ललकार पर) कौन ऐसा धैर्यवान वीर है जो धैर्य धारण करे? परन्तु पवन के पुत्र वीरता के पदक धारण करनेवाले श्रीहनुमान्जी युद्ध में ऐसे उलझ कर लग गये हैं कि वे काल के भी काल-सरीखे जान पड़ते हैं।

विशेष—'रजनीचर मत्त गयंद···'—इसमें हनुमान्जी का रणोत्साह कहा गया है; यथा—"मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंह किसोरहु चोप॥"(मा०बा०२६७)

'बिरुझो रन ''कालहु काल सों'''; यथा—"न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः॥" (वाल्मी० ७। ३५।८); अर्थात् श्रीरामजी ने कहा है कि काल, इन्द्र, कुवेर एवं विष्णु के भी वैसे कर्म नहीं सुने जाते, जैसे कर्म युद्ध में हनुमान्‌जी ने किये हैं। तथा—"कालहु को काल जनु" (हनुमान्-बाहुक १); "जयति काल गुन कर्म माया मथन" (वि० २६)। आगे के ३७ वें छन्द का भाव भी ऐसा ही है।

[३७]

जे रजनीचर बीर बिसाल कराल बिलोकत काल न खाए।
ते रन रोर कपीस-किसोर बड़े बरजोर परे फँग पाए॥
लूम लपेटि अकास निहारि कै हाँकि हठी हनुमान चलाए।
सूखि गे गात चले नभ जात परे भ्रम-बात न भूतल आए॥

शब्दार्थ—रनरोर=कठिन युद्ध में। फँग=फन्दा। भ्रम-बात=वायु के बवंडर में।

अर्थ—जिन विशाल शरीरवाले वीर राक्षसों को भयङ्कर देखकर काल ने भी नहीं खाया। उनको बड़े बलवान् केसरी-किशोर हठी श्रीहनुमान्‌जी ने कठिन युद्ध में अपने फन्दे (दाँव) में पड़े हुए पाकर अपनी पूँछ में लपेट कर और आकाश की ओर देखकर (कि कोई देव-विमान आदि तो नहीं हैं) ललकार कर फेंक दिया। आकाश में चले जाते हुए उनके शरीर सूख गये हैं, वहाँ वे वायु के बवंडर में पड़ गये (इससे घूमते हुए ही रह गये), फिर पृथिवी तल पर नहीं ही आये।

विशेष—ऊपर छन्द में 'कालहु काल सो बूझि परै' ऐसा कहा गया है, उसी की व्यवस्था इस पद में है कि जिनसे काल डरता था, इससे नहीं खाया। उन्हें भी हठी हनुमान्‌जी ने इस प्रकार की हठ-शीलता से नष्ट ही कर दिया। अतएव ये काल के भी काल हैं। 'परे भ्रम-बात'—कहा जाता है कि भूमि से ४५ मील के ऊपर जो वस्तु फेंक दी जाय, वह वायु के बवंडर में पड़ जाती है, फिर कर भूमि पर नहीं आ सकती।

[३८]

जो दस सीस महीधर-ईस को, बीस भुजा खुलि खेलनि हारो।
लोकप, दिग्गज, दानव, देव, सबै सहमै सुनि साहस सारो॥

बीर बड़ो बिरुदैत बली, अजहूँ जग जागत जासु पँवारो।
सो हनुमान हन्यो मुठिका गिरि गो गिरिराज ज्यों गाज को मारो।।

शब्दार्थ—महीधर-ईस को=शिवजी का पर्वत (कैलास)। सार=दृढ़, पुष्ट। पँवारो=बीर गाथा, लम्बी-चौड़ी कथा जिसे सुनते-सुनते जी ऊबे।

अर्थ—जो रावण श्रीशिवजी के पर्वत (कैलास) को अपनी बीसो भुजाओं से उठाकर स्वच्छन्दतापूर्वक खेलनेवाला था। जिसके दृढ़ पराक्रम को सुनकर लोकपाल, दिक्पाल, दैत्य और देव आदि सभी डर जाते थे। वह बड़ा भारी वीर, बलवान् और वीरता का बाना धारण करनेवाला था, आज भी जगत् में जिसकी वीरता की बड़ी कथा जगमगा रही है। उसी को श्रीहनुमान्जी ने जब अपनी मुष्टिका से प्रहार किया, तब वह ऐसा गिर गया मानो वज्र का मारा हुआ बड़ा भारी पहाड़ गिर गया हो।

विशेष—'जो दससीस···खुलि खेलनि हारो।'; यथा—"हर गिरि जान जासु भुज लीला॥" (मा० लं० २४); "निज भुज बल अति अतुल कहौं क्यों कंदुक इव कैलास उठायो।" (गी० लं० ३); "पुनि नभ सर मम कर निकर, कमलन्हि पर करि बास। सोभत भयो मराल इव, संभु सहित कैलास।।" (मा० लं० २२)।

'लोकप दिग्गज···'—इस पर सुं० २१ और २२ देखिये।

'बीर बड़ो बिरुदैत बली···'; यथा—"सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हर-गिरि जान जासु भुजलीला॥" से "सोइ रावन जग-बिदित प्रतापी।।" (मा० लं० २४)।

'सो हनुमान हन्यो मुठिका···'; यथा—"मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥ मुरुछा गइ बहोरि सो जागा। कपि-बल बिपुल सराहन लागा।।" (मा० लं० ८२)। वाल्मी० ६।५६ में रावण ने हनुमान्जी को थप्पड़ से मारा, उसके पीछे हनुमान्जी ने उसे मारा, तब वह काँप उठा, दोबारा जब रावण ने मुष्टिका से मारा, तब प्रतिकार सहने में असमर्थ होकर वह बहाना कर नील से युद्ध करने लगा, तब हनुमान्जी ने फिर उसे छोड़ दिया है।

[३६]

दुर्गम दुर्ग, पहार ते भारे, प्रचंड महा भुज दंड बने हैं।

लक्ख में पक्खर, तिक्खन तेज, जे सूर समाज में गाज गने हैं ॥
ते बिरुदैत बली रन बाँकुरे हाँकि हठी हनुमान हने हैं।
नाम लै राम देखावत बंधु को, घूमत घायल घाय घने हैं ॥

अर्थ—जो किले के समान दुर्गम (अगम्य = अजेय) हैं, पहाड़ के समान भारी शरीरवाले हैं और जिनके महाप्रचण्ड भुजदण्ड सुशोभित हैं। जो लाखों की रक्षा करने में कवच स्वरूप हैं, जिनका तेज बड़ा तीक्ष्ण है और जो योद्धाओं के समाज में वज्र के समान (बजरंग एवं शत्रु-विदारक) गिने जाते हैं। उन्हीं रण बाँकुरे बलवान् बानेबन्द वीरों को हठी हनुमान्जी ने ललकार कर मारा है। श्रीरामजी उनके नाम ले-लेकर भाई लक्ष्मणजी को दिखाते हैं कि ये जो बहुत घावों से युक्त घायल होकर घूम रहे हैं (ये श्रीहनुमान्जी के मारे हुए हैं)।

कवित्त [४०]

हाथिन सों हाथी मारे, घोरे सों घोरा सँघारे,
रथनि सों रथ बिदलनि बलवान की।
चंचल चपेट, चोट चरन, चकोट चाहैं,
हहरानी फौज भहरानी जातुधान की ॥
बार-बार सेवक-सराहना करत राम,
तुलसी सराहै रीति साहिब सुजान की।
लामी लूम लसत, लपेटि पटकत भट,
देखो-देखो, लखन ! लरनि हनुमान की ॥

शब्दार्थ—सँघारे (संहारे) = नाश किया, मारा। बिदलनि=दलित करना, नष्ट करना। चपेट-थप्पड़। चकोट=नोचना। चाहैं=देखकर। हहरानी=डरी हुई घबरा गई। भहरानी=एकाएक गिर गई।

अर्थ—(श्रीहनुमान्जी ने) हाथियों (को हाथियों पर पटक कर उन) से हाथियों को मारा है, (ऐसे ही) घोड़ों को घोड़ों से नष्ट किया है और रथों से रथों को (टकरा कर) दलित किया है। बलवान हनुमान्जी के चञ्चल हाथों की थप्पड़ों की मार, पैरों की चोट और नखों से नोचना देख कर डर से घबराई हुई राक्षसों की सेना एकाएकी गिर गई है। इस प्रकार श्रीरामजी बार-बार सेवक श्रीहनुमान्जी की सराहना करते हैं—लक्ष्मण ! श्रीहनुमान्जी का युद्ध-कौशल तो

देखो, पूँछ से लपेट कर जब ये योद्धाओं को पटकते हैं, तब इनकी लम्बी पूँछ बहुत शोभित होती है। श्रीतुलसीदासजी अपने चतुर स्वामी की (सेवक-गुण-ग्राहकता एवं भक्त वत्सलता की) रीति सराहते हैं।

विशेष—'हाथिन सों हाथी मारे...'; यथा—"एक एक सों मर्दहिं, तोरि चलावहिं मुंड।" (मा० लं० ४३)।

'लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट...'—श्रीहनुमान्‌जी ने अपनी इसी पूँछ में लपेट कर श्रीशिवजी को भी पटक दिया है और फिर नन्दीश्वर को भी भयभीत कर दिया है; यथा—"लाङ्गूलेन च संवेष्ट्य ताडयत्येष भूतपम॥ शिलाभिः पर्वतैर्वृक्षैः पुच्छस्फोटेन भूरिशः। नन्दीप्राप्तो महात्रासं चन्द्रोपि शकलीकृतः॥" (पद्मपुराण पा० अ० ४४।२८–२९); तथा—"स्रुवा सो लँगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि, स्वाहा महाहाँकि-हाँकि हुनै हनुमान हैं॥" (सुं० ७); "प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड बीर, धाये जातुधान हनुमान लियो घेरि कै। महाबल पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट जहाँ-तहाँ पटके लँगूर फेरि-फेरि कै॥" (छन्द ४२)।

'तुलसी सराहै रीति...'—इस वाक्य खंड को 'सेवक सराहना करत' इसके समर्थन में भी लगा सकते हैं कि 'तुलसी' यह पद कवि का संभोग मान कर पृथक् कर देने पर 'सराहै रीति...' अर्थात् 'सुजान साहिब सेवक के गुण की सराहना करता ही है, यह रीति है, वैसे ही श्रीरामजी सराहना करते हैं; क्योंकि आप सुजान साहिब हैं।

[४१]

दबकि दबोरे एक, बारिधि में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर, चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखन राम-रावन, बिबुध, बिधि,
चक्रपानि, चंडीपति, चंडीका, सिहात हैं।
बड़े-बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान जूथप निपाते बातजात हैं॥

शब्दार्थ—दबकि = झपट कर, घुड़क कर। दबोरे=दबा दिये।

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी ने) किसी को घुड़क कर ही दबा दिया, किसी को समुद्र में डुबा दिया, किसी को पृथिवी में मग्न कर (मूर्च्छित कर) दिया और किसी को आकाश की ओर इतने जोर से फेंक दिया कि वे ऊपर ही बवंडर (भ्रमवात) में पड़े हुए उड़ रहे हैं। किसी को हाथ पकड़ कर पछाड़ मारा है और किसी के पैर उखाड़ लिये हैं; किसी को चीर-फाड़ डाला है और किसी को लातों से मींज कर ही मार डाला है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी ने बड़े-बड़े वीरता के बाना धारी और बड़े-बड़े बलवान् राक्षससेना पतियों को मार डाला है; यह देख कर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी, रावण, देवता श्रीब्रह्माजी, श्रीविष्णु भगवान्, श्रीशिवजी और चण्डिकाजी (आदि) सिहाते हैं (ऐसी वीरता के लिये ललचाते हैं)।

विशेष—'दबकि दबोरे एक…'—कोई घुड़कने से ही डर कर जा छिपे; यथा—"कपिलीला करि तिन्हहिं डेरावहिं।" (मा० लं० ४२); जो सामने रह गये, उन्हें समुद्र में फेंक कर डुबा मारा; यथा—"भागत भट पटकहिं धरि धरनी। करहिं भालु कपि अदभुत करनी॥ गहि पद डारहिं सागर माँहीं। मकर उरग झख धरि-धरि खाहीं॥" (मा० लं० ४५)।

'मगन मही में एक'; यथा—"निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपरि ढारि देहिं बहु बालू॥" (मा० लं० ७६); 'एक गगन उड़ात हैं'—उपर्युक्त छंद ३७ देखिये।

'पकरि पछारे कर…'; यथा—"उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥…मारहिं चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मींजहीं।…धरि गाल फारहिं उर बिदारहि गल अँतावरि मेलहीं॥" (मा० लं० ७६)।

'तुलसी लखन राम…'—ये सब वीर हैं और वीर कर्म करनेवाले हैं, चक्रपाणि अपने चक्र के द्वारा और चंडीपति अपनी शक्ति चण्डिका के साथ भी ऐसी कर्म-भीषणता नहीं कर सकते, इससे देख कर सिहाते हैं। यही सब देख कर तो श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः॥" (वाल्मी० ७।३५।८);

तथा—"विरुझ्यो रन··कालहु काल सों बूझि परै॥" (छंद १३६)—इसका विशेष भी देखिये।

[४२]

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड बीर,
धाये जातुधान हनुमान लिये घेरि कै॥
महाबलपुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ-तहाँ पटके लँगूर फेरि-फेरि कै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हा हा खात,
कहैं 'तुलसीस राखि राम की सौं' टेरि कै।
ठहर—ठहर परे कहरि—कहरि उठैं,
हहरि-हहरि हर सिद्ध हँसैं हेरि कै॥

शब्दार्थ—कुंजरारि=सिंह। हा हा खात=विनती करते हुए। तुलसीस=तुलसीदास के स्वामी हनुमान्‌जी। सौं=शपथ। कहरि=कराह कर, आर्त्तनाद कर, आह-आह कर। हहरि=अधिकता देखकर, चकपकाकर हिं० श० सा०। सिद्ध=देवयोनि विशेष।

अर्थ—बड़े प्रतापी और अत्यन्त बलशाली भुजाओंवाले वीर राक्षस दौड़े और उन्होंने श्रीहनुमान्‌जी को घेर लिया। तब महाबलशाली श्रीहनुमानजी ने सिंह के समान गरज कर उन योद्धाओं को अपनी पूँछ घुमा-घुमा कर इधर-उधर पटक दिया। उन्हें लातों से मार-मार कर उनके अंग-अंग चूर-चूर कर दिये, (कितने अधमरे) भागे जाते हैं और हा-हा खाते (आर्तस्वर से प्रार्थना करते हुए) चिल्ला-चिल्ला कर कहते हैं—'हे श्रीहनुमान्‌जी! तुम्हें श्रीरामजी की शपथ है, मेरी रक्षा कीजिये, स्थान-स्थान पर पड़े हुए कराह-कराह उठते हैं, उन्हें देखकर उनकी अधिकता पर चकपका कर श्रीशिवजी और सिद्धगण हँसते (प्रसन्न होते) हैं।

विशेष—'प्रबल प्रचंड··'—इन्हें प्रबलता का गर्व था, इससे इन्होंने दौड़कर हनुमान्‌जी को घेर कर युद्ध किया है।

'महाबल पुंज··'—महाबल के पुञ्ज हैं। अतः, सिंहवत् पराक्रमी हैं। आक्रमणकारी का सहन नहीं कर सकते, इससे गर्ज कर सबको पटक मारा, पूँछ से ही पटक मारा, क्योंकि उन्हें बाहु से लड़ने योग्य नहीं माना।

'मारे लात, तोरे गात....'—फिर उनके गर्व पर क्रुद्ध होकर उन्हें लातों से मारा और उनके अंग-अंग तोड़ डाला।

'भागे जात हाहा खात....'—यह वीरता के विपरीत दशा है, शत्रु के सुभटों की यह दशा करने में श्रीहनुमान्‌जी का प्रताप प्रत्यक्ष है।

'हहरि-हहरि हर...'—श्रीशिवजी और सिद्धगण श्मशानों में क्रीड़ा करनेवाले हैं। इससे यहाँ मृतकों की अधिकता पर इन्हें आश्चर्य और प्रसन्नता है।

[४३]

जाकी बाँकी बीरता सुनत सहमत सूर,
जाकी आँच अजहूँ लसत लंक लाह सी।
सोई हनुमान बलवान बाँके बानइत
जोहै जातुधान-सेना चले लेत थाह-सी॥
कंपत अकंपन, सुखाय अतिकाय काय,
कुंभकर्न आइ गो रह्यो है पाइ आह सी।
देखे गजराज मृगराज ज्यों गरजि धायो,
धीर रघुबीर को समीरसूनु साहसी॥

शब्दार्थ—थाह=गहराई का अंत एवं अन्दाजा लेना, थाह लेना कहाता है, आह=क्लेश सूचक शब्द (अव्यय), ठंढी साँस। जोहै=देखने के लिये, दंड देने के लिये।

अर्थ—जिसकी बाँकी वीरता सुनकर शूर लोग भी डर जाते हैं और जिसकी (प्रताप की) गरमी से आज दिन भी लङ्का पुरी (आँच से पिघली हुई) लाह की भाँति सुशोभित है। वही बाँकी वीरता का वाना धारण करनेवाले बलवान श्रीहनुमानजी राक्षस-सेना को दंड देने के लिये उनकी थाह (गहराई) का पता लगाते हुए; (अर्थात् उनके बल पराक्रम का पता लगाते हुए) चले। (श्रीहनुमानजी को देखकर भय से) अकंपन (रण में परम स्थिर सुभट राक्षस) काँपने लगता है, (रावण पुत्र) अतिकाय का शरीर सूख जाता है और कुम्भ-कर्ण सामने आ गया तो वह 'आह' ऐसा कहकर रह गया; कुछ कर नहीं सका। जैसे बड़े-बड़े हाथियों को देखकर सिंह गर्ज कर दौड़ता है, वैसे ही रघुवीर श्रीरामजी के धैर्यवान वीर पराक्रमी पवनपुत्र श्रीहनुमानजी उन्हें देखकर दौड़े।

विशेष—'जाकी बाँकी बीरता···'; यथा—"कुंभकर्न रावन पयोदनाद इंधन को तुलसी प्रताप जाको प्रबल अनल भो।" (हनुमान्-बाहुक ७); "कलस सहित गहि भवन ढहावा। देखि निसाचरपति भय पावा॥" (मा० लं० ४२); "हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।" (वि० ३२); "बार-बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना॥" (मा० लं० ४६)। तथा सुं० ८,६ देखिये। इस वाक्य खंड में प्रताप कह कर आगे प्रत्यक्ष उदाहरण देते हैं—

'जाकी आँच अजहूँ···'—सोने की लंका लाह की भाँति टघिल उठी थी, श्रीहनुमान्‌जी का वही आश्चर्यभूत कर्म प्रताप रूप धारण कर लिया। लंका पर दृष्टि जाने पर वह दृश्य सामने आ जाता है। लंकेश रावण के देखते हुए आपने लंका को इस प्रकार जलाया है, फिर-फिर (उलट-पलट कर) जलाया है, गर्ज-गर्ज कर जलाया है। फिर भी वह कुछ कर नहीं सका। दूसरे शत्रु इस कर्म पर थर्रा जाते हैं, यही प्रबल प्रताप है; यथा—"जाकी कीरति सुजस सुनि, होत सत्रु उर ताप। जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप॥" यह प्रसिद्ध है।

'जोहै जातुधान सेना चले लेत थाह-सी।'—'हम तुम्हें देख लेंगे' यह मुहावरा दंड देने के अर्थ में है। वैसे ही श्रीरामजी ने कहा भी है; यथा—"मैं देखउँ खल बल दलहिं···" (मा० लं ६६)। अतः यहाँ 'जोहै···चले' अर्थात् उन्हें दंड देने चले, यह अर्थ है। 'थाह लेते चले' इसका तात्पर्य यह कि उनका बल-पराक्रम तुच्छ करते हुए चले जाते हैं, राक्षस कुछ कर नहीं पाते। शत्रु के बल-पराक्रम की सीमा तक पहुँचना, उसका अन्दाजा लगाकर अपने समक्ष तुच्छ समझना थाह लेना है। अपनी डींग हाँकते हुए रावण ने कहा है; यथा—"मूढ़ मृषा क्या करसि बड़ाई। रिपु बल-बुद्धि थाह मैं पाई॥ सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग ताके॥" (मा० सुं० ५५)।

'कंपत अकंपन'—अकम्पन राक्षस रावण का बड़ा विश्वासी सेनाध्यक्ष सुभट था, इसका पराक्रम पूर्ण युद्ध वाल्मी० ६।५५-५६ में कहा गया है, उसी युद्ध में यह इन्हीं श्रीहनुमान् के हाथ से मारा गया है। यह देवों से भी युद्ध में कंपित नहीं होता था, इससे अकंपन कहाता था; यथा—"राक्षसैः संवृतो घोरैस्तदा निर्यात्यकम्पनः। न हि कम्पयितुं शक्यः सुरैरपि यहामृधे॥" (वाल्मी० ६।५५।८)।

'सुखाय अतिकाय काय'—अतिकाय मन्दोदरी का पुत्र मेघनाद के समान धनुर्धर और बड़ा प्रतापी वीर था, शरीर की विशालता में यह कुंभकर्ण से कुछ ही कम था। वाल्मी० ६।७१ में इसका घोर युद्ध कहा गया है, इसने कुमुद, द्विविद, मैन्द, नील और शरभ आदि महान् वीरों को भयभीत कर दिया था, पश्चात् श्रीलक्ष्मणजी से घोर-संग्राम करने पर मारा गया है। इसके मरने पर रावण बहुत ही चिन्तित हुआ है।

'कुंभकर्न आइगो···'—कुम्भकर्ण सब वानरों को परास्त करता हुआ श्री-हनुमान्जी के समक्ष आ गया, तब उन्होंने उसे एक ही मुक्के में व्याकुल करके गिरा दिया; यथा—"तब मारुतसुत मुठिका हन्यो। परयो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यो ॥" (मा० लं० ६३); तथा—"स कुम्भकर्णं कुपितो जघान वेगेन शैलोत्तमभीमकायम्। संचुक्षुभे तेन तदाभिभूतो मेदार्द्रगात्रो रुधिरावसिक्तः॥" (वाल्मी० ६।६७।१८); अर्थात् क्रोध करके श्रीहनुमान्जी ने पर्वत के समान कुंभकर्ण के शरीर पर (पर्वत-शिखर लेकर) मारा उससे अभिभूत (पराजित, पीड़ित एवं विचलित) होकर वह क्षुभित हो गया, चर्बी और रक्त से उसका शरीर भींग गया। यही उसका 'आह' पाकर रह जाना है। उसने रावण से श्रीहनुमान्जी के कर्म सुन कर ही ऐसा कहा है; यथा—"हैं दससीस मनुज रघु-नायक। जाके हनूमान से पायक॥" (मा० लं० ६१)।

'देखे गजराज मृगराज ज्यों···'; यथा—"तुलसी गज से लखि केहरि लौं झपटे पटके सब सूर सलीले।" (छंद ३२); तथा—"महाबल पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट जहाँ-तहाँ पटके लँगूर फेरि-फेरि कै।" (छंद ४२)

'धीर रघुबीर को···'—इससे रणोत्साह प्रकट किया गया है; यथा—"जथा मत्त गजगन निरखि, सिंह किसोरहु चोप॥" (मा० बा० २६७)।

अलङ्कार—द्वितीय चरण में 'वस्तूत्प्रेक्षा अनुक्तास्पदा' है; क्योंकि अविद्यमान जल में थाह लेना कहा गया है, जल का उपमेय 'बल-पराक्रम' नहीं कहा गया। चौथे चरण में 'दृष्टान्त' है, 'मृगराज ज्यों···' इससे स्पष्ट है।

झूलना [४४]

मत्तभट-मुकुट-दसकंध-साहस-सैल-
सृंग-बिद्दरनि जनु बज्रटाँकी।

दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ,
सेष संकुचित, संकित पिनाकी ।।
चलित महि मेरु, उच्छलित सायर सकल,
बिकल बिधि बधिर दिसि-बिदिसि झाँकी ।
रजनिचर-घरनि घर गर्भ-अर्भक स्रवहिं,
सुनत हनुमान की हाँक बाँकी ।।

शब्दार्थ—सायर=सागर । घरनि=स्त्री । अर्भक=बालक ।

अर्थ—बल से उन्मत्त योद्धाओं में शिरोमणि रावण के साहस रूपी पर्वत के शिखर को विदीर्ण करने के लिये बज्र की बनी हुई टाँकी के समान श्रीहनुमान्‌जी की बाँकी (भयंकर) ललकार सुनकर दिशाओं के हाथी दाँतों से पृथिवी को दबा कर चिक्कारने लगते हैं । कच्छप भगवान् और शेषजी (भय से) सिकुड़ जाते हैं तथा पिनाकधारी श्रीशिवजी भी डर जाते हैं । पृथिवी और सुमेरु गिरि (एवं पर्वत मात्र) चलायमान हो जाते हैं; सारे समुद्र उछलने लगते हैं तथा व्याकुल और बधिर होकर ब्रह्माजी (भागने के लिये) दसो दिशाओं को झाँकने लगते हैं, तथा घरों में राक्षसों की स्त्रियों के गर्भ के बच्चे गिरने (गर्भपात होने) लगते हैं ।

विशेष—'मत्त-भट-मुकुट दसकंध···'; यथा—"जासु चलत डोलत इमि धरनी । चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ।।" (मा० लं० २४); "हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले ।" (वि० ३२); "जयति मंदोदरी केस कर्षन, विद्यमान दसकंठ भट-मुकुट मानी ॥" (वि० २६) ।

'संकित पिनाकी···'—पिनाक धारण कर जिन्होंने त्रिपुर को जीता है एवं जो प्रलय भी कर सकते हैं, वे शिवजी भी शङ्कित हो जाते हैं ।

'बिकल बिधि···'—ब्रह्माजी हाँक सुन कर बधिर हो जाते हैं और फिर यह शङ्का करके व्याकुल हो गये कि मेरी रचित सृष्टि का अमंगल न हो जाय । 'दिसि बिदिसि झाँकी' इस वाक्यखंड से भागने की संभावना प्रकट होती है; यथा—"दिसि-बिदिसि कहँ कपि भागहीं ।" (मा० लं० ८०) ।

'रज निचर-घरनि घर···'; यथा—"चलत महाधुनि गर्जेसि भारी । गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी ।।" (मा० लं २७) ।

[४५]

कौन की हाँक पर चौंक चंडीस, बिधि,
चंड कर थकित फिरि तुरँग हाँके।
कौन के तेज बलसीम भट भीम-से
भीमता निरखि कर नयन ढाँके॥
दास तुलसी जासु बिरुद बरनत बेद
बिदुष बिरुदैत बर बैरि धाँके।
नाक नरलोक पाताल कोउ कहत किन
कहाँ हनुमान-से बीर बाँके॥

शब्दार्थ—चंडकर=सूर्य। धाँके=धाँक जमा दी। चंडीस=शिवजी।

अर्थ—किसकी ललकार (गर्जन) सुनकर श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी चौंक उठे हैं और सूर्य के घोड़े स्थगित हो गये, इससे उन्होंने फिर से उन्हें हाँका है? किसके तेज की भीषणता देखकर भीमसेन के समान बल-सीम योद्धा ने भी (डर कर) हाथों से आँखे मूँद ली हैं? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिसका यश वेद और पंडित वर्णन करते हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े बानेबंद शत्रुओं पर अपनी धाँक जमा ली है। उन हनुमान्‌जी के समान बाँका वीर स्वर्ग, मर्त्यलोक और पाताल (तीनों लोकों) में कोई कहाँ है? (यदि हो तो) कोई कहता क्यों नहीं।

विशेष—'कौन की हाँक पर...'—ऊपर के छंद का भाव लेकर पूछते हैं कि क्या कहीं और कोई ऐसा है? 'चंड कर थकित...'—हाँक पर सूर्य के घोड़े डर कर खड़े हो जाते हैं, तब उन्हें फिर से हाँकना पड़ता है।

'कौन के तेज बलसीम भट भीम-से...'—महाभारत वन पर्व अ० १५० में कथा है कि एक समय सुगंधित फूल लाने के लिये जाते समय भीमसेन ने श्रीहनुमान्‌जी को देखा। भीमसेन ने श्रीहनुमान्‌जी से प्रार्थना की कि आप मुझे अपना पूर्व रूप दिखावें। तब उन्होंने अपना समुद्रलंघन समय का रूप दिखाया। हनुमान्‌जी का शरीर बढ़ने लगा, उसने समस्त कदली वन को आच्छादित कर लिया। वे पहाड़ के समान दीखने लगे। उनके लाल नेत्र, तीक्ष्ण दाँत, टेढ़ी भौं युक्त मुख और लम्बी पूँछ से दसो दिशाएँ व्याप्त हो गईं। सूर्य के समान तेजस्वी, सोने के पहाड़ के समान विशाल एवं जलते हुए आकाश के समान

हनुमानजी को देखकर भीमसेन ने आँखे मूँद ली। हनुमानजी ने कहा, तुम इतना ही देख सकते हो, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम अपने शरीर को और बढ़ावें, हे भीम! शत्रुओं के युद्ध से तेज के साथ शरीर बढ़ता है।

विन्ध्याचल के समान उस अद्भुत भयानक रूप को देखकर भीमसेन भ्रान्त हो गये, उनके शरीर के रोएँ खड़े हो गये। फिर प्रसन्न होकर भीमसेन ने प्रार्थना की कि हे नाथ! अब मैंने देख लिया, इस बढ़े हुए रूप को छोटा कर लीजिये, क्योंकि मैं इस विशाल रूप को देखने में समर्थ नहीं हूँ।

मुझे यह आश्चर्य होता है कि आपके रहते हुए भी श्रीरामजी को क्यों युद्ध करना पड़ा, आप अकेले ही रावण को मार सकते थे। इस पर हनुमान्जी ने कहा कि यह ठीक है, पर यदि मैं उस नीच, लोक कंटक रावण को मार डालता तो फिर श्रीरामजी की कीर्ति नष्ट हो जाती। श्रीरामजी ने उसे मारा, इससे उनकी कीर्त्ति हुई। ऐसा कह कर हनुमान्जी ने भीमसेन को धर्म-शिक्षा देकर विदा किया और अपना रूप संक्षिप्त कर लिया।

'जासु बिरद बरनत बेद बिदुष'; यथा—"बाँकुरो बीर बिरुदैत बिरुदावली बेद बंदी बदत पैज पूरो।" (हनुमान्-बाहुक ३); "बेद-पुरान प्रगट पुरुषारथ सकल सुभट सिरमौर को।" (वि० ३१); "बेद जस गावत बिबुध बंदीछोर को।" (हनुमान-बाहुक ६)।

'बिरुदैत बर बैरि धाँके'—रावण श्रेष्ठ वैरी एवं यशस्वी वीर था, उसने कहा है; यथा—"सुनु सठ सोइ रावन बल सीला" से "सोइ रावन जगबिदित प्रतापी।" (मा० लं० २४) तक। उस पर भी आपने धाक जमा ली है; यथा—"है कपि एक महाबल सीला॥ आवा प्रथम नगर जेहि जारा।" (मा० लं० २२); तथा सुं० ८,९ देखिये।

'नाक नरलोक पाताल···'; यथा—"लोक-परलोकहू तिलोक न बिलोकियत, तोसो समरथ चख चारिहूँ निहारिये।" (हनु० बाहुक २४)।

[४६]

जातुधानावली - मत्तकुंजरघटा
निरखि मृगराज ज्यों गिरि ते टूट्यो।

बिकट चटकन चोट, चरन गहि पटकि महि,
निघटि गये सुभट सत सबको छूट्यो ॥
दास तुलसी परत धरनिधर धकनि धुकि,
हाट-सी उठत जंबुकनि लूट्यो।
धीर रघुबीर के बीर रन बाँकुरे
हाँकि हनुमान कुलि कटक कूट्यो ॥

शब्दार्थ—निघटि गये=क्षीण हो गये, निश्शेष हो गये। सत (सत्त्व)= बल, जीवनी शक्ति, सार भाग। कुलि=समस्त, सारा। धुकि=झपटकर।

अर्थ—जैसे मतवाले हाथियों के समूह को देखकर सिंह पहाड़ पर से उनकी ओर टूट पड़ता है, वैसे ही बलोन्मत्त राक्षसों की समूह सेना को देखकर श्रीहनुमान्‌जी उन पर निश्शंक होकर टूट पड़े। कठोर थप्पड़ों की चोटों से और पाँव पकड़ कर उन्हें पृथिवी पर पछाड़ने से, वे सब वीर क्षीण हो गये, सबकी जीवनी शक्ति जाती रही। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि झपट कर धक्का देने से (वे राक्षस) पहाड़ के समान भूमि पर गिरते हैं, गीदड़ों ने उनकी मांस को इस प्रकार लूटा है, जैसे बाजार उठते समय (संध्या समय) उसे लुटेरे लूट लेते हैं। इस प्रकार धैर्यवान् श्रीरामजी के वीर एवं युद्ध-निपुण श्रीरामजी ने ललकार कर सारी सेना को कूट दिया; अर्थात् अनवरत आघातों से उन्हें मार डाला।

विशेष—'परत धरनिधर धकनि धुकि'—यह पाठ प्राचीन प्रति भागवत दास की प्रति का है। आधुनिक प्रतियों में 'परत धरनि धरकत झुकत' पाठ है। मुझे प्राचीन पाठ ही संगत जान पड़ा है।

'हाट सी उठत···'—हाट उठते समय जो अन्न आदि पदार्थ पड़े रहते हैं, उन्हें दौड़-दौड़ कर भूखे लुटेरे लूटते हैं, वैसे गीदड़ दौड़-दौड़ कर नोच-नोच कर मांस खाते हैं।

'धीर रघुबीर के··हाँकि···'—श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामजी के प्रताप की गर्जना करते हुए संग्राम में शत्रु-योद्धाओं को मारते हैं; यथा—"बजाइ बल रघुबीर को।" (सुं० २)–इसका विशेष देखिये। 'कुलि कटक कूट्यो'; यथा– "बाटिका उजारि अच्छ-रच्छकनि मारि, भट भारी-भारी रावरे के चाउर-सों काँड़ि गो।" (छन्द २४)

छप्पय [४७]

कबहुँ बिटप भूधर उपारि पर-सेन बरक्खै।
कबहुँ बाजि सन बाजि मर्दि गजराज करक्खै॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जै।
बिकट सुभट बिद्दरै बीर बारिद जिमि गज्जै॥
लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जैति राम राम जै' उच्चरै।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध-क्रुद्ध कौतुक करै॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी कभी तो वृक्ष और पहाड़ उखाड़ कर शत्रु-सेना पर बरसाते हैं। कभी घोड़े से घोड़े को मसल देते हैं और हाथियों को खींच ले जाते हैं (उन्हें घसीट-घसीट कर मारते हैं)। उनके लातों और थप्पड़ों की चोटें शत्रुओं की छातियों और शिरों पर बजती (लगती) हैं। वे वीर हनुमान्‌जी कभी मेघ के समान गर्जते हुए राक्षसों की भयंकर सेना का संहार करते हैं। योद्धाओं को अपनी पूँछ में लपेट कर पटकते हुए 'श्रीरामजी की जय हो, जय हो' ऐसा उच्चारण करते हैं। श्रीतुलसीदास के स्वामी पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी युद्ध में क्रोधित होकर अविचल रणक्रीड़ा करते हैं।

विशेष—'जैति राम जै'; यथा—"जयति राम जय लछिमन, जय कपीस सुग्रीव। गर्जहिं सिंहनाद कपि, भालु महाबल सींव॥" (मा० लं० ३८); आगे उत्तरकाण्ड ११२-११३ भी देखिये।

'कबहुँ बाजि सन बाजि···लंगूर लपेटत···'—पूर्वोक्त छन्द ४० देखिये।

कवित्त [४८]

अंग-अंग दलित ललित फूले किंसुक से,
हने भट लाखन लखन जातुधान के।
मारि कै पछारि कै उपारि भुजदंड-चंड,
खंड-खंड ढारे ते बिदारे हनुमान के॥
कूदत कबंध के कदंब बंब-सी करत,
धावत देखावत हैं लाघौ राघौ बान के।
तुलसी महेस, बिधि, लोकपाल, देव गन
देखत बिमान चढ़े कौतुक मसान के॥

शब्दार्थ—दलित=घायल। किंसुक=पलाश, ढाक। बंब-सो करत=बं बं शब्द करते हैं। लाघौ (लाघव)=शीघ्रता।

अर्थ—राक्षस रावण के लाखों योद्धाओं को श्रीलक्ष्मणजी ने मारा है, उन योद्धाओं के प्रत्येक अंग पर घाव हैं, जिससे वे फूले पलाश वृक्ष के समान सुन्दर (लाल) दिखाई देते हैं। और, मार कर, पछाड़ कर तथा प्रचण्ड भुजाओं को उखाड़ कर जो खण्ड-खण्ड करके डाल दिये गये हैं, वे सब श्रीहनुमानजी के विदीर्ण किये हुए हैं। जो कबंध (धड़) के समूह बं-बं शब्द करते हुए कूदते एवं दौड़ते फिरते हैं, ये श्रीरघुनाथजी के बाणों की शीघ्रता दिखा रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी, आठो लोकपाल एवं अन्य देवगण विमानों पर चढ़े हुए रणभूमि रूपी श्मशान के कौतुक (खेल एवं आश्चर्य कृत्य) देखते हैं।

विशेष—इस छन्द में श्रीलक्ष्मणजी द्वारा मारे हुए वीरों के चिह्न प्रथम चरण में। श्रीहनुमान्‌जी के दिलीप चरण में और श्रीरामजी के द्वारा मारे जाने वालों के चिह्न तृतीय चरण में बतलाये गये हैं, कि लक्ष्मणजी प्रायः बाणों से घायल करके मारते हैं, श्रीहनुमान् पटक कर, भुजा उखाड़ कर एवं खंड-खंड तोड़ कर मारते हैं, और श्रीरामजी अर्द्धचन्द्राकार बाणों से योद्धाओं के मस्तक ही अत्यन्त शीघ्रता में उड़ा देते हैं।

'महेस बिधि ····'—रावण ने इन सबको दुःख दिया था, इससे उसके पक्ष का नाश देखना इन्हें प्रिय है। अतः, कौतुक देखते हैं।

[४६]

लोथिन्ह सों लोहू के प्रबाह चले जहाँ-तहाँ,
मानहुँ गिरिन गेरु-झरना झरत हैं।
सोनित सरित घोर, कुंजर करारे भारे,
कूल ते समूल बाजि बिटप परत हैं॥
सुभट सरीर नीरचारी भारी-भारी तहाँ,
सूरनि उछाह, कूर कादर डरत हैं।
फेकरि-फेकरि फेरु फारि-फारि पेट खात,
काक-कंक-बालक कोलाहल करत हैं॥

अर्थ—जहाँ-तहाँ पड़ी हुई लोथों से रक्त के प्रवाह बह चले; मानों पहाड़ों से गेरू के झरने झर रहे हैं। रुधिर की इस भयङ्कर नदी के हाथी ही भारी करारे हैं और किनारे से घोड़े रूपी वृक्ष जड़ में साथ (उखड़ कर) इस नदी में गिरते हैं। इस नदी में योद्धाओं के शरीर ही भारी-भारी जलचर हैं। इसे देख कर वीर लोगों को तो उत्साह होता है और क्रूर तथा कादर डरते हैं। सियार चिल्ला-चिल्ला कर और पेट फाड़-फाड़ कर खाते हैं तथा कौए और गृध्र (तट पर स्थित) बालकों के समान कोलाहल करते हैं।

विशेष—इस छन्द में वीर रस का वर्णन करते हुए रुधिर नदी का सांग रूपक है। नदी पहाड़ से निकलती है, वैसे यहाँ भी 'मानहु गिरिन…' कहा गया है, तथा—"स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी। सोनित सरि कादर भयकारी॥ कादर भयंकर रुधिर-सरिता चली परम अपावनी। दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त बहति भयावनी॥ जल जंतु गज पदचर तुरंग खर बिबिध बाहन को गनै। सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने॥ बीर परहिं 'जनु तीर तरु' मज्जा बहु फेन। कादर देखि डरहिं तहँ, सुभटन्ह के मन चैन॥" (मा०लं० ८६)।

'लोथिन्ह के लोहू…'—पर्वताकार राक्षसों की लोथों से गेरू के झरने के समान रक्त प्रवाहित हो रहे हैं। उन रक्त-प्रवाहों की भयंकर नदी बह चली है। हाथियों का गिरना भारी-भारी करारों का गिरना है। घोड़ों का जूझ कर गिरना पेड़ों का जड़ के साथ गिरना है। सुभटों के शरीर मगर आदि जलचरों की भाँति बहते हैं। यह देख कर शूरों की वीररसपूर्णता से उनमें उत्साह है, परन्तु कादर डरते हैं। सियार हुआँ हुआँ चिल्लाते हुए पेट फाड़-फाड़ कर (अर्थात् अत्यन्त अधिक मात्रा में) मांस खाते हैं; क्योंकि परिपूर्ण मांस की सुलभता है। प्रथम की घोर वर्षा पर जब नदी भयंकर वेग से बहती है, तब लड़के देख-देख कर आश्चर्य मान किनारे से कोलाहल करते हैं, वैसे ही इस नदी के पास कौए और गृध्र आनन्द मान कोलाहल की ध्वनि करते हैं आगे वीर रस के साथ वीभत्स रस का भी वर्णन करते हैं—

[५०]

ओझरीय झोरी काँधे, आँतन्ह की सेल्ही बाँधे,

मूँड़ के कमंडल खपर किए कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड-झुंड बनी तापस से,
तीर-तीर बैठी है समर-सरि खोरि कै॥
सोनित सो सानि गुद खात सतुआ से एक,
एक प्रेत पियत बहोरि घोरि-घोरि कै॥
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि-हेरि हँसत हाथ सों हाथ जोरि कै॥

शब्दार्थ—ओझरीय (ओझर=उदर)=पेट का वह भाग जिसमें आतें रहती हैं, ओझरी है, उसकी। सेल्ही (सेली सेला)=वह बद्धी या माला जिसे योगी-यती लोग गले में डालते या सिर में लपेटते हैं। कोरि कै = कोल कर, खुरच कर, गड्ढा बना करके। खोरि कै=नहा कर। झुटुंग=एक प्रकार की योगिनी, झोंटे वाली, जिसके खड़े-खड़े और बिखरे बाल हों। गुद (गूदा)= खोपड़ी का सार भाग। भूतनाथ = शिवजी तथा भैरव।

सम्बन्ध—ऊपर छन्द में रक्त नदी का रूपक कहा गया है। भारी नदी श्रीगंगाजी, श्रीसरयूजी और श्रीयमुनाजी आदि के तटों पर गंगा-दशहरा, श्रीराम-नौमी एवं यम-द्वितीया आदि अवसरों पर मेले लगते हैं। वहाँ प्रायः लोग सतुआ बाँध कर जाते हैं। नदियों में स्नान कर शरबत में सान कर सतुआ खाते हैं, कोई उसे शरबत में घोल कर भी पीते हैं।

इसी प्रकार यहाँ उक्त नदी के किनारे पर मेला लगने का रूपक कहते हैं—

अर्थ—कंधे पर ओझरी की झोली लटकाये हुए, अँतड़ियों की सेली बाँधे हुए, शिरों को कमण्डलु के रूप में लिये और उन्हीं को कोल कर खप्पर लिये हुए सामान्य योगिनियों और झोंटे वाली योगिनियों के झुंड के झुंड उक्त समर-नदी में स्नान करके तपस्विनियों की भाँति बनी हुई किनारे-किनारे बैठी हुई हैं। कोई रक्त में गूदा सान-सान कर सतुआ की भाँति खाती हैं और कोई प्रेत उसे फिर से घोल-घोलकर पीते हैं (जैसे सतुआ खाकर पीछे लोग उसके थोड़े अंश को घोल कर भी पीते हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भैरव रुद्र भूतों और बैतालों को साथ लिये हुए यह दृश्य (तमाशा) देख-देख कर परस्पर हाथ से हाथ जोड़ (पकड़) कर हँसते हैं।

विशेष—'जोगिनी झुटुंग''खोरि कै'; यथा—"मज्जहिं भूत पिसाच बेताला, प्रमथ महा झोटिंग कराला ॥" (मा० लं० ८६)।

'बैताल भूत''—शिवजी भैरव रूप से श्मशान में क्रीड़ा करते हैं। यहाँ उनकी क्रीड़ा का अच्छा साज बना है, इससे प्रसन्नता से हँसते हैं।

यहाँ वीभत्स रस का वर्णन है।

मत्त गयन्द सवैया [५१]

राम सरासन ते चले तीर, रहे न सरीर, हड़ावरि फूटी।
रावन धीर न पीर गनी, लखि लै कर खप्पर जोगिनि जूटी ॥
सोनित छीट-छटानि-छुटी, तुलसी प्रभु सोहैं महाछबि छूटी।
मानो मरकत सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीर बहूटी ॥

शब्दार्थ—हड़ावरि (हाड़ + अवलि)=हड्डियों की पंक्ति, अस्थि पंजर। बीर बहूटी = इन्द्र वधू, गहरे लाल रंग का एक छोटा रेंगनेवाला बरसाती कीड़ा।

अर्थ—श्रीरामजी के धनुष से छूटे हुए बाण रावण के शरीर में न रहे; प्रत्युत् उसके अस्थि पञ्जर फोड़ कर बाहर निकल गये परन्तु धैर्यवान् रावण ने उसकी भी पीड़ा को कुछ नहीं समझा। उसके शरीर से बहती हुई रुधिर की भारी धारा को देखकर हाथों में खप्पर ले-लेकर (उसके रक्त को पीने के लिये) योगिनियाँ एकत्र हो आईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि रक्त की बूँदों के छीटों से फैली हुई शोभा से प्रभु शोभायमान हैं, उनकी उससे महान् छबि फैली हुई है। मानो मरकत मणि के विशाल पर्वत में वीर बहूटियाँ फैल गई हों।

विशेष—'राम सरासन''रावन धीर...'—रावण का शरीर वज्रसार के समान कठोर था; यथा—"जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब-जब भिरेउँ जाइ बरिआई ॥ जिन्हके दसन कराल न फूटे उरलागत मूलक इव टूटे ॥" (मा०लं०२४); ऐसे शरीर को भी फोड़कर बाण पारकर जाते हैं, इसमें श्रीराम बाण की महिमा है और ऐसी पीड़ाको भी रावण नहीं गिनता, इसमें उसके धैर्य की महिमा है।

'सोनित छीट''मानो मरकत''; यथा—"राजत राम-सत-सुंदर। रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित, फेरत चाप बिसिख बनरुह कर ॥ स्याम सरीर रुचिर स्रम सीकर, सोनित-कन बिच-बीच मनोहर। जनु खद्योत-निकर हरि-हित-गन भ्राजत मरकत-सैल-सिखर पर ॥" (गी० लं० १६); तथा—"भुजदंड सरको दंड

फेरत रुधिर कन तन अति बने। जनु रायमुनी तमाल घर बैठी बिपुल सुख आपने॥" (मा० लं० १०१)।

यहाँ वीर रस की छटा का वर्णन है। अतएव रुधिर की छीटें शोभावर्द्धक हैं।

अलङ्कार—'वस्तूत्प्रेक्षा-उक्तास्पदा' है; क्योंकि रक्त बूदों की छटा और वीर-बहूटियों का फैलना दोनों ही विद्यमान हैं।

लक्ष्मण-मूर्च्छा

कवित्त

[५२]

मारि मेघनाद सो प्रचारि भिरे भारी भट,
अपने-आपने पुरुषारथ न ढील की।
घायल लखन लाल लखि बिलखाने राम,
भई आस सिथिल जगन्निवास-दील की॥
भाई को न मोह, छोह सीय को न तुलसीस,
कहैं 'मैं विभीषन की कछू न सबील की'।
लाज बाँह बोले की, नेवाजे की सँभार-सार,
साहिब न राम सों बलैया लेउँ सील की॥

शब्दार्थ—दील (दिल) = मन। सबील (अ०) = १ मार्ग, सड़क, २ उपाय, तरकीब, व्यवस्था। बाँह बोलेकी = शरण में लेने की।

अर्थ—जब मेघनाद से युद्ध हो रहा था, तब ललकार-ललकार कर भारी-भारी योद्धा भिड़ गये थे, उस युद्ध में अपने-अपने पुरुषार्थ में किसी ने कमी नहीं की (परन्तु प्रबल शत्रु जीता नहीं गया, तब श्रीलक्ष्मणजी से भारी युद्ध हुआ)। प्यारे श्रीलक्ष्मणजी को घायल देख कर श्रीरामजी रोने लग गये, उस समय जगत् के निवास-स्थान श्रीरामजी के मन की सभी आशाएँ शिथिल हो गईं। श्रीतुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी को न तो भाई श्रीलक्ष्मणजी का मोह (प्यार) है (; क्योंकि रण में सम्मुख लड़कर वीरगति प्राप्त करना क्षत्रिय का धर्म ही है) और न श्रीजानकीजी पर ही स्नेह है (; क्योंकि वे पातिव्रत्य में दृढ़ हैं तो उनका संयोग रहेगा ही), वे यही कहते थे—'मैंने श्रीविभीषणजी की कुछ व्यवस्था नहीं की' (इसीका मुझे भारी सोच है)। जिनको अपने शरण में

लेकर भरोसा देने की ऐसी लज्जा है और अपने कृपापात्र का ऐसा सार-सँभार है, उन श्रीरामजी के समान स्वामी कहीं नहीं है, मैं (तुलसीदास) स्वामी के ऐसे शीलमय स्वभाव की बलैया लेता हूँ।

विशेष—'मारि मेघनाद सो···पुरुषारथ न ढील की'; यथा—"भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी ॥" (मा० लं०५१)।

'घायल लखन···भई आस सिथिल···'—लंका-विजय करना, विभीषण को राज्य देना एवं श्रीसीताजी को लाना आदि सभी आशाओं पर पानी फिर गया; यथा—"किं नु मे सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा। शयानं योऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम् ॥", "अहमप्यनुपास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्" (वाल्मी० ६।४६।५,१७); अर्थात् यदि सीता मिलीं भी तो उससे मुझे क्या लाभ, मेरा जीता रहना भी व्यर्थ है, जो मैं आज युद्ध में पराजित भाई को रण में सोताहुआ देख रहा हूँ।···मैं भी तुम्हारे साथ परलोक यात्रा करूँगा। गीतावली लं० ५, ६, ७ इस पर देखने योग्य हैं।

'भाई को न मोह, छोह सीय को न····'— लक्ष्मण-सरीखे भाई की मृत्यु-दशा समक्ष थी, श्रीसीताजी-सी पतिव्रता का दुःख भी आँखों के आगे था, फिर भी इनसे अधिक आश्रित-रक्षण पर ही चेष्टा थी, यह श्रीरामजी ही का स्वभाव है; यथा—"गिरि कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि बंधु सँघाती। होइहै कहा विभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥" (गी० लं० ७); "रन परयो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई।" (वि० १६४)।

'कहैं 'मैं बिभीषन को···'; यथा—"तत्तु मिथ्या प्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः। यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः।" (वाल्मी० ६।४६।२२)। अर्थात् 'विभीषण को राक्षसों का राजा बनाऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की थी, वैसा कर न सका, यह मिथ्या प्रतिज्ञा अवश्य ही मुझे जलावेगी।

'लाज बाँह बोले की'; यथा—"भजन बिभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज! राम गरीब-निवाज के, बड़ी बाँह बोल की लाज ॥" (वि० १६३); 'निवाजे की सँभार-सार'; यथा—"आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति-भंजन पन मोरा ॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला ॥" (मा० लं० ६२); तथा—"मेरे पन की लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दये हैं। लागति

साँग बिभीषन ही पर सीपर आपु भये हैं ॥" (गी० लं० ५) अर्थात् वाल्मी० ६। १०० में लिखा है कि रावण की वह अमोघ शक्ति थी, उसने उसे विभीषणजी पर ही चलाना चाहा था, परन्तु श्रीलक्ष्मणजी ने उन्हें बचा लिया, तब क्रुद्ध होकर उसने फिर लक्ष्मणजी पर ही उस शक्ति का प्रहार किया है, उसी कृत्य का श्रीरामजी ने स्मरण कर कहा है कि मेरे प्रण की रक्षा के लिये आप (श्रीलक्ष्मणजी) ने ढाल बन कर विभीषणजी की रक्षा की है।

'साहिब न राम सो...'; यथा-"एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु। प्रेम कनौड़ो राम सों नहिं दूसरो दयालु ॥" (वि० १९१); तथा वि० २१६-२१७ एवं १६१,१६२,१६३ भी देखिये।

'बलैया लेउँ सील की'—ऐसे आश्रित-वत्सल शील-स्वभाव की मैं बलैया लेता हूँ। तथा—"अस सुभाउ कहुँ सुनहुँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥" (मा० उ० १२३); तथा वि० १०० भी देखिये। एवं—"तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यों न बिदर्‌यो समुझि सील-सुभाउ ॥" (गी० अ० ५७)। शील-स्वभाव की बलैया लेने का भाव यह कि इस शील-स्वभाव की बलाएँ एवं बाधाएँ मैं अपने ऊपर ले लूँ, जिससे यह स्वभाव निर्विघ्न सदा बना रहे।

सवैया [५३]

कानन बास, दसानन सो रिपु, आनन श्री ससि जीति लियो है।
बालि महाबलसालि दल्यो, कपि पालि, बिभीषन भूप कियो है॥
तीय हरी, रन बंधु पर्‌यो, पै भर्‌यो सरनागत सोच हियो है।
बाँह-पगार, उदार, कृपालु, कहाँ रघुबीर सो बीर बियो है ?॥

शब्दार्थ—पगार (प्राकार) = चहार दीवारी। बियो=दूसरा।

अर्थ—वन में निवास था और फिर रावण-सरीखा जगद्विजयी शत्रु था, (तब भी उनमें उदासीनता एवं चिन्ता का लेश नहीं था, प्रत्युत्) तब भी मुख कमल की श्री (शोभा) ने चन्द्रमा की शोभा को जीत लिया था। श्रीरामजी ने महाबलशाली वाली का नाश किया और वानर सुग्रीवजी का पालन किया तथा श्रीविभीणजी को राजा होने का तिलक कर दिया था। उस समय स्त्री श्रीजानकीजी का हरण हो गया था, भाई लक्ष्मणजी रण में घायल होकर पड़े थे, तब भी

(इनकी चिन्ता न कर) हृदय में शरणागत विभीषण के विषय का ही सोच था। ऐसे भुजा का आश्रय देने वाले (शरण-रक्षक), उदार और कृपालु श्रीरामजी के समान दूसरा वीर कहाँ है ? अर्थात् कहीं नहीं है।

विशेष—'कानन बास...'—राज्य वैभव छोड़ कर वन में रहने पर भी मुखाकृति आह्लापूर्ण चन्द्रमा से बढ़ कर थी। रावण ऐसे त्रिलोक-विजयी शत्रु की भी कुछ चिन्ता नहीं थी, मुखश्री वैसी ही थी; यथा—"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥" (मा० अ० मं० श्लोक)।

'बालि महाबल...'—वाली-वध की वीरता का गर्व, सुग्रीवजी की रक्षा का गौरव एवं विभीषणजी के राज्य दान की उदारता का गर्व कुछ भी आपकी आकृति में उत्कर्ष नहीं ला सके और न श्रीसीता हरण पर ग्लानि तथा भाई लक्ष्मणजी के घायल होने के दुःख ही कुछ उदासीनता ला सके। ऐसे हर्ष-विषाद-रहित चित्त में भी शरणागत-रक्षा की चिन्ता है। अतः, शरण-वत्सल गुण ने आपकी शाश्वती शान्ति में भी शोच स्थापित कर ही दिया।

'बाँह पगार, उदार, कृपाल कहाँ...'—'बाँह पगार'; यथा—"बाँह पगार द्वार तेरे ते, सभय न कबहूँ फिरि गये। तुलसी असरन-सरन स्वामि के बिरद बिराजत नित नये॥" (गी० सुं० ३२); "बाँह पगार बोल को अबिचल, बेद करत गुनगान हैं।" (गी० सुं० ३५)। जैसे चहार दीवारी भीतर बैठे हुए की रक्षा बाहरी बाधाओं से करती है, वैसे श्रीरामजी की बाहें आश्रित-रक्षा करती हैं। 'उदार'; यथा—"ऐसो को उदार जग माहीं।..." (वि० १६२); 'कृपालु'; यथा—"कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम।...." (वि० ९३); यथा—"नाथ! कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिनराति।" (वि० २२१)।

इन तीनों गुणों में श्रीरामजी के समान श्रीरामजी ही हैं। उपर्युक्त 'लाज बाँह बोले की निवाजे की सँभार-सार' इसका विशेष भी देखिये।

[५४]

लीन्हो उखारि पहार बिसाल, चल्यो तेहि काल, बिलंब न लायो।
मारुत नंदन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो॥

तीखी तुरा तुलसी कहतो, पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि ज्यों धुकि धायो ॥

शब्दार्थ—तीखी = तीक्ष्ण । तुरा (त्वरा) = बेग । समाउ = समता । प्रतच्छ = प्रत्यक्ष । धुकि = झपट कर, झोंके से चल कर ।

अर्थ—[श्रीलक्ष्मणजी की मूर्च्छा पर जब श्रीहनुमान्‌जी संजीवनी लाने गये, जब वहाँ औषधि न पहचान सके, तब उन्होंने] भारी पहाड़ द्रोणाचल को उखाड़ लिया और उसी समय उसे लेकर चले, विलम्ब नहीं लगाया । श्रीपवन नन्दन हनुमान्‌जी ने अपने वेग से वायु को, मन को और गरुड़जी के वेग को लज्जित कर दिया । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं उस तीक्ष्ण वेग का वर्णन करता, परन्तु मेरे हृदय में उनकी समता के लिये कोई उपमा नहीं आई । श्रीहनुमान्‌जी जिस प्रकार वेग से दौड़े थे, वह ऐसा जान पड़ता था; मानो प्रत्यक्ष पर्वत की लीक-सी आकाश में सुशोभित हो गई (अर्थात् इतने वेग से चल कर आ गये कि मानों चलने से पहुँचने तक एक ही पहाड़ की लीक लगी हुई सी देख पड़ी,) ।

विशेष—'लीन्हों उखारि पहार···'; यथा—"देखा सैल न औषधि चीन्हा । सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा ।। गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ ।" (मा० लं० ५६); "द्रोन सो पहार लियो ख्याल ही उखारि कर, कंदुक ज्यों कपि खेल बेल कैसो फल भो ।" (हनुमान-बाहुक ६) ।

'मारुतनंदन मारुत को मन को····'; यथा—"नाप्येवं वेगवान्वायुर्गरुडो न मनस्तथा । यथायं वायुपुत्रस्तु क्रमतेऽम्बरमुत्तमम् ।।" (वाल्मी० ७।३५।२६); अर्थात् (जन्मकाल में सूर्य-ग्रहण के लिये उछलने पर देवों-दानवों एवं यक्षों ने कहा है—) जिस वेग से यह वायुपुत्र आकाश में जा रहा है, उस वेग से वायु, गरुड़ और मन भी नहीं चलते ।

'तीखी तुरा··'; यथा—"लियो उठाय कुधर कंदुक ज्यों, बेग न जाइ बखानि । ज्यों धाए गजराज उधारन सपदि सुदरसन पानि ।।" (गी० लं० ६); "समीक्ष्यमाणः सहसा जगाम चक्रं यथा विष्णुकराग्रमुक्तम् ।।" (वाल्मी० ६।७४। ४८); अर्थात् (हनुमान्‌जी ओषधि लाने के लिये सागर आदि) देखते हुए ऐसे चले जैसे विष्णु भगवान् के हाथ से छूट कर चक्र वेग से चलता है । तथा— "गरुड़ के समान प्रचण्ड वेग वाले श्रीहनुमान्‌जी उस पर्वत-शिखर को उखाड़

कर आकाश में चले गये, इससे समस्त लोक, देवता और इन्द्र डर गये तथा अनेक आकाशगामी श्रीहनुमान्जी की स्तुति करने लगे ॥६४॥ सूर्य के समान प्रकाशमान उस पर्वत-शिखर को लेकर हनुमान्जी सूर्य के समीपस्थ दूसरे सूर्य के समान जान पड़ने लगे ॥६५॥ वायुपुत्र हनुमान्जी उस पर्वत के कारण पर्वत के समान जान पड़ते थे, अग्नि के समान प्रकाशमान सहस्रधारा वाले चक्र को हाथ में लिये हुए विष्णु के समान वे उस समय आकाश में शोभित हुए ॥६६॥" (वाल्मी० ६।७४)।

यहाँ ये सब उपमाएँ श्रीगोस्वामीजी को नहीं रुचीं, तब आप अपनी सूझ से कहते हैं—'मानों प्रतच्छ परब्बत की ···'–प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाशमान ओषधियों से वह पहाड़ जलता हुआ-सा था। उसे लेकर ऐसे वेग से चले कि आकाश में उस पहाड़ की लकीर-सी देख पड़ी, चलना जान ही नहीं पड़ा।

अलङ्कार—'उत्प्रेक्षा' (चौथे चरण में)।

कवित्त [५५]

चल्यो हनुमान सुनि जातुधान कालनेमि
पठयो, सो मुनि भयो, पायो फल छलि कै।
सहसा उखारो है पहार बहु जोजन को,
रखवारे मारे भारे भूरि भट दलि कै॥
बेग बल साहस सराहत कृपानिधान,
भरत की कुसल अचल ल्यायो चलि कै।
हाथ हरिनाथ के बिकाने रघुनाथ जनु,
सीलसिंधु तुलसीस भलो मान्यो भलि कै॥

शब्दार्थ—जोजन (योजन) = चार कोश दूरी की माप। हरिनाथ = कपिनाथ श्रीहनुमान्जी। भूरि = बहुत।

अर्थ—श्रीहनुमान्जी सञ्जीवनीबूटी का पर्वत लाने के लिये चले, यह समाचार राक्षस रावण ने सुना, तब उसने कालनेमि राक्षस को भेजा, वह मुनि बना, उसने मुनि वेष से श्रीहनुमान्जी को छलने का प्रयत्न किया, और उसका उचित फल भी पाया। श्रीहनुमान्जी ने द्रोण-गिरि पर जाकर वहाँ भारी-भारी बहुत से योद्धा रक्षक थे, उनसे युद्ध कर उन्हें मार डाला और फिर बड़े-बड़े योद्धाओं का

नाश किया। (जब ओषधियाँ खोजने पर न मिली, तब इन्होंने) एकाएक बहुत योजन-विस्तृत उस द्रोणगिरि को उखाड़ लिया (और उसे लेकर आकाशमार्ग से चले। बीच में श्रीभरतजी का समाचार लेते हुए हनुमान्जी आ गये,)। तब 'श्रीहनुमान्जी शीघ्रता से चलकर ही पहाड़ और श्रीभरतजी का कुशल-समाचार भी ले आये हैं'—ऐसा कह कर कृपा-निधान श्रीरामजी श्रीहनुमान्जी के वेग, बल और पराक्रम की सराहना करने लगे। (उस कृत्य पर) श्रीरघुनाथजी कपिनाथ श्रीहनुमान्जी के हाथ मानों बिक गये। श्रीतुलसीदासजी के स्वामी शीलसिंधु श्रीरामजी ने भली-भाँति उनका भला (उपकार एवं कृतज्ञता) माना।

विशेष—'**चल्यो हनुमान सुनि**...'—यह प्रसंग मा० लं० ५४-५६ में देखिये।

'**सहसा उखारो है**...'; यथा—"देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा॥ गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ।" (मा०लं०५६); तथा—"कालनेमि दलि वेगि बिलोक्यो द्रोनाचल जिय जानि। देखी दिव्य औषधी जहँ-तहँ जरी न परी पहिचानि। लियो उठाइ कुधर कंदुक ज्यों बेग न जाइ बखानि।" (गी० लं० ६)। तथा—"हनुमान्जी उस पर्वत को अग्नि-समूह से प्रकाशित देखकर विस्मित हुए, उस श्रेष्ठ पर्वत पर कूद-कूद कर वे ओषधियों को ढूँढ़ने लगे। महाकपि हनुमान्जी एक सहस्र योजन का मार्ग तय करके, दिव्य ओषधियों के स्थान, उस पर्वत पर विचरण करने लगे। उस श्रेष्ठ पर्वत की सारी ओषधियाँ, यह जानकर कि यह हमें ले जाने के लिये आया है, अदृश्य हो गईं। इस पर हनुमान्जी ने क्रुद्ध होकर गर्जन किया और पर्वत से कहा, यदि तुम श्रीरामजी पर कृपा नहीं करते हो तो मेरे बाहुबल से परास्त हो, उखड़ कर अपनी दुर्दशा देखो, ऐसा कह उसे उखाड़ लिया, जिस पर भारी-भारी वृक्ष, हाथी, सोने की खानें एवं अनेक प्रकार की धातु थीं।" (वाल्मी० ६।७४।५८-६३)।

'**रखवारे मारे**....'—कहा जाता है कि उस द्रोणाचल पर इन्द्र की ओर से सुभट देवों का पहरा रहता था। जिनसे लड़ने एवं मारने का प्रसंग ऊपर आया है। 'भरत की कुसल...'—श्रीभरतजी की कुशल भी आनुषंगित रूप में प्राप्त हुई। इसका प्रसंग मा० लं० ५७-५८ तथा गी० लं० १०-१४ में है। सर्व उर-प्रेरक श्रीरामजी ने यह प्रसंग श्रीहनुमान्जी को श्रीभरतजी का वीर्य दिखा उनकी वीरता के मद का शमन किया है, और जिस प्रकार भगवान् कृष्ण ने उद्धवजी को

गोपियों के यहाँ भेजकर उन्हें प्रेम की शिक्षा दी है, वैसे ही श्रीरामजी ने हनुमान्जी को श्रीभरतजी, श्रीकौशिल्याजी और श्रीसुमित्राजी के समागम से श्रेष्ठ प्रेम की शिक्षा दी है। 'कृपा निधान' इस विशेषण से उसी कृपा का संकेत है।

'बेग बल साहस सराहत कृपानिधान'; यथा—"शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम्। विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयाः ॥" (वाल्मी० ७। ३५।३); अर्थात् शूरता, निपुणता, बल, धीरता, बुद्धि, नीति, विक्रम और प्रभाव, इनका हनुमान्जी में निवास है—ऐसा श्रीरामजी ने कहा है।

'हाथ हरिनाथके बिकाने...'; यथा—"साँची सेवकाई हनुमान की सुजान राय, रिनियाँ कहाये हौ बिकाने ताके हाथ जू।" (उ० १६); तथा—"कपि सेवा बस भये कनौड़े, कह्यो, पवनसुत आउ। देबे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ ॥" (वि० १००); "एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥ २३ ॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥२४॥" (वाल्मी० ७।४०); अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्जी से कहा है कि, हे वानर! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ और शेष उपकारों के लिये हम सब तुम्हारे ऋणी रहेंगे। तुमने जो-जो उपकार किये हैं, वे मेरे शरीर में ही पच जायँ; क्योंकि प्रत्युपकार का समय है उपकारी का विपति-ग्रस्त होना। एवं—"सुनु कपि तोहिं समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी ॥ प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥ सुनु सुत मोहिं उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥" (मा० सुं० ३१)।

'सील सिंधु'—वानर को इतना आदर देने में शील गुण की महानता है।

युद्ध का उपसंहार

[५६]

साप दियो कानन, भो आनन सुभानन सो,
बैरी भो दसानन सो, तीय को हरन भो।
बालि बलसालि दलि, पालि कपिराज कै
बिभीषन नेवाजि संत सागर तरन भो ॥

घोर रारि हेरि त्रिपुरारि बिधि हारे हिये,
घायल लखन बीर बानर बरन भो।
ऐसे सोक में तिलोक कै बिसोक पलक में,
सब ही को तुलसी को साहिब सरन भो॥

अर्थ—पिता ने वनवास दिया, तब भी मुख चन्द्रमा के समान प्रसन्न ही बना रहा। फिर वन में रावण के समान लोकत्रय-विजयी शत्रु हुआ, उसने श्रीजानकीजी का हरण किया, (ऐसे शोक में भी आपने धैर्य नहीं छोड़ा,)। बलशाली वाली को मार कर और सुग्रीवजी को वानरराज बना कर उनका पालन किया, श्रीविभीषणजी पर कृपा की और सेतु द्वारा सागर का उतरना हुआ। (इन कीर्त्तियों पर आप अत्यन्त हर्ष से भी नहीं फूले)। फिर निशाचर रावण से घोर युद्ध हुआ, उसे देखकर (रावण-वध असाध्य समझ कर) शिवजी और ब्रह्माजी हृदय से हार गये। उसी संग्राम में वीर लक्ष्मणजी घायल होकर वानरों के वर्ण के अनुसार रक्तवर्ण हो गये (;अर्थात् मेघनाद के साथ उनका घोर युद्ध हुआ, उसमें उनके सभी अंग घाव से पूर्ण हो गये थे, तब उन्होंने उसका वध कर पाया था,)। ऐसे-ऐसे शोकों का सामना कर (रावण को मार कर) तीनों लोकों को पल भर में ही शोक से छुड़ा दिया, इस प्रकार तुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी सभी को शरण-प्रद हुए।

विशेष—प्रथम और दूसरे चरणों के भाव उपर्युक्त छंद ५३ के प्रथम-द्वितीय चरणों के हैं। यहाँ यह दिखाया है कि स्वामी श्रीरामजी कैसे-कैसे भयंकर शोकों का सामना करके तीनों लोकों को सुखी किया है; यथा—"राम भगत-हित नरतन धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥" (मा० बा० २३)। कष्ट सहकर इन चरित्रों के द्वारा श्रीरामजी ने अपने गुण प्रकट किये हैं।

'घोर रारि हेरि···'—रावण के शिरों और भुजाओं की बुद्धि पर शिव-ब्रह्मा भी घबरा गये थे, तब श्रीरामजी ने एकतीस बाण एक साथ मार कर पल भर में त्रिलोक-कंटक रावण का वध किया। इस पर तीनों लोक सुखी होगया; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपत्ति विकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर-सुमिखि सना हैं॥" (गी० उ० १३)।

'सब ही को···'—जिन गुणों से उस समय आपने उन संकटों का सा

मना कर तीनों लोकों को बिशोक किया है। उन्हीं गुणों का अनुसंधान कर सभी शरणागत अब भी बिशोक होते हैं। अतः, श्रीरामजी सभी के शरणप्रद हो गये हैं, किस गुण से कैसे साधकों का कल्याण होता है, यह प्रसंग मा० बा० २३-२४ में विचार कर देखना चाहिये। मेरे 'सिद्धान्त-भाष्य' पुस्तक-भंडार, लहेरिया सराय में एवं 'श्रीमन्मानस नाम वन्दना' श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई में देखकर समझना चाहिये।

सवैया [५७]

कुंभकरन्न हन्यो रन राम, दल्यो दसकंधर, कंधर तोरे।
पूषन-बंस-बिभूषन, पूषन-तेज-प्रताप गरे अरि ओरे॥
देव निसान बजावत गावत, साँवत गो, मन भावत भो रे!
नाचत बानर-भालु सबै 'तुलसी' कहि 'हा रे! ह हा भै अहो रे!'

शब्दार्थ—कंधर = गर्दन। पूषन (पूषण) = (पोषण करनेवाले) सूर्य। ओरे = ओले। साँवत = सामंतपना, अधीनता। हहा = हँसने का शब्द। ठहा। अहो—यह अव्यय है, यहाँ अत्यंत हर्ष प्रकट करने के अर्थ में है। भै अहोरे = अरे! ख़ूब हुई।

अर्थ—श्रीरामजी ने कुम्भकर्ण को युद्ध में मार डाला और दशानन रावण के दसो गर्दन तोड़कर उसको मार दिया। सूर्यवंश के भूषण (सुशोभित करने वाले) श्रीराम के सूर्यवत् तेज और प्रताप से उनके शत्रु ओले की भाँति गल गये। देव गण नगाड़े बजाते हुए गाते हैं कि अब हम सबकी पराधीनता दूर हुई और हम सबकी मन की भावना पूरी हुई। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि समस्त वानर-भालू आनंद में भरे हुए नाचते हैं और (कुछ बचे हुए राक्षसों के प्रति) 'हारे' ऐसा कहकर ठठाकर हँसते हुए कहते हैं। अरे! ख़ूब हुआ।

विशेष—'कुंभकरन्न हन्यो···'—शत्रु रावण को अपने दशो शिरों का एवं भाई कुम्भकर्ण का बड़ा गर्व था, उसका नाश हुआ।

'पूषन वंस···' सूर्यवंश में राजा अनरण्य को रावण ने पराजित किया था, परन्तु उन्होंने ही शापवत् कहा था कि जो राम तुझे मारेंगे, वे मेरे वंश में होंगे। उनकी बात पूरी हुई और सूर्यवंश सुशोभित हुआ।

'पूषन तेज प्रताप...'—जैसे सूर्य के तेज-प्रताप से ओले गल जाते हैं, वैसे रावण आदि श्रीराम-प्रताप से नष्ट हुए। श्रीरामजी ने जटायु से कहा ही था; यथा—"रावरे पुन्य प्रताप अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं।" (गी० अर० १६)

'साँवत गो....' इस वाक्य खंड का यही अर्थ प्रायः सभी ने किया है, यद्यपि हिन्दी-शब्द-सागर में साँवत का सामत एवं 'सामंत' मानकर 'वीर' अर्थ है, पर प्रसंग से उक्त अर्थ ही संगत है।

कवित्त [५८]

मारे रन रातिचर, रावन सकुल दल,
अनुकूल देव मुनि फूल बरषतु हैं।
नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि,
पुलक सरीर, हिये हेतु, हरषतु हैं॥
बाम ओर जानकी कृपानिधान के बिराजैं,
देखत बिषाद मिटे मोद करषतु हैं।
आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सब,
तुलसी निहारि कै दियो सो सरषतु हैं॥

शब्दार्थ—हेतु = प्रेम। मोद-करषत = आनंद बढ़ता है। सरषतु (सरख़त) = परवाना, आज्ञापत्र।

अर्थ—श्रीरामजी ने परिवार और सेना के साथ राक्षस रावण का रण में संहार किया; इस पर प्रसन्न होकर देवगण और मुनिवृन्द फूलों की वर्षा करते हैं। यह देखकर पातालवासी नाग, मर्त्यलोक निवासी मनुष्य और स्वर्ग-निवासी किन्नर तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेशजी के शरीर पुलकित हो जाते हैं, हृदय में प्रेम छा जाता है और आनन्दित होते हैं। कृपासागर श्रीरामजी की बाईं ओर श्रीजानकीजी विराजमान हैं, जिनका दर्शन करने से दुःख दूर होता और आनन्द बढ़ता है। आज्ञा पर समस्त लोकपाल अपने-अपने लोकों को गये, श्रीतुलसीदास-जी कहते हैं कि स्वामी श्रीरामजी ने कृपादृष्टि से देखकर उन सबको (निर्भय रहने के) आज्ञापत्र की व्यवस्था कर दी (परवाना दे दिया)।

विशेष—'मारे रन रातिचर...'; यथा—"सकुल सदल प्रभु रावन

मारयो।" (मा० लं० ११४); "बरषहिं सुमन देव मुनि बृंदा। जय कृपाल जय-जयति मुकुंदा॥" (मा० लं० १०१);

'नाग नर किन्नर'—तीनों लोकों के लोग सुखी हुए और त्रिदेवों की भी रावण-परतंत्रता दूर हुई, इससे ये सुखी हैं; यथा—"लंकेस अतिबल गर्व किये बस्य सुर गंधर्व॥ मुनि सिद्ध नर खग नाग। हठि पंथ सबके लाग॥ परद्रोह रत अति दुष्ट। पायेउ सो फल पापिष्ट॥" (मा० लं० १११); तथा—"बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिर नावैं।" (लं० २); इत्यादि।

'आयसु भो लोकनि...'—लोकपाल रावण के वन्दीखाने में थे; यथा—"रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥" (मा० लं० ८८); इन्हें रावण अपनी सभा में खड़ा करवाता था; यथा—"कर जोरे सुर दिसिप विनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (मा० सुं० १६); सुं० २१ भी देखिये। इन सबको श्रीरामजी ने निर्भीक रहने का आज्ञापत्र दे दिया कि अब कोई नहीं दुःख दे सकेगा। अब ये सब अपने-अपने लोकों में स्वतंत्र रह कर श्रीरामजी के यश गाते हैं; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिबस बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर-नाग-नर सुमुखि सना हैं।" (गी० उ० १३)।

इस अंतिम चरण में राजगद्दी की व्यवस्था भी आ गई है; क्योंकि यह कार्य शासनसूत्र ग्रहण करने पर ही संगत है; यथा—"राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥ बयर न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप बिषमता खोई॥" (मा० उ० १६)

इस प्रकार यहाँ तक सूक्ष्म रीति से समस्त चरित-प्रसंग आ गये। यहाँ तक इस कवितावली रामायण का पूर्वार्द्ध समझना चाहिये। आगे उत्तर-काण्ड में श्रीरामजी के गुण एवं विविध उपदेश तथा और भी विविध-प्रसंग हैं। अतः, आगे के भाग को उत्तरार्द्ध भी कहा जा सकता है।

इति लंकाकाण्ड

—:०:—

उत्तरकाण्ड

उपजाति सवैया [१]

बालि से बीर बिदारि सुकंठ थप्यो, हरषे सुर, बाजने बाजे।
पल में दल्यो दासरथी दसकंधर, लंक बिभीषन राज बिराजे॥
राम सुभाव सुने तुलसी हुलसे अलसी हम-से गलगाजे।
कायर कूर कपूतन की हद तेउ गरीब-नेवाज निवाजे॥

शब्दार्थ—गल गाजे [गल गाजना=गाल बजाना, बढ़-बढ़ कर बातें करना]=गाल बजाते हैं, डींग मारते हैं। हद=सीमा, काष्ठा।

अर्थ—श्रीरामजी ने बाली ऐसे वीर को मार कर श्रीसुग्रीवजी को राज्य पर स्थापित किया, इस पर देव गण प्रसन्न होकर बाजे बजाने लगे। दशरथपुत्र श्रीरामजी ने क्षण भर में दशमुख रावण को मार कर लंका के राज्यासन पर श्रीविभीषणजी को सुशोभित किया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस प्रकार का करुणामय श्रीराम-स्वभाव सुनकर हमारे समान आलसी उल्लसित होकर डींगे मारने लगे हैं। यहाँ तक कि जो कादर, क्रूर और कुपूतपने की सीमा हैं; अर्थात् जिनके समान कादर, क्रूर और कुपूत कहीं नहीं हैं, उन पर भी दीनदयालु श्रीरामजी ने कृपा की हैं।

विशेष—'बालि से बीर... पल में दल्यो...'; यथा—"राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥ राम गरीब अनेक निवाजे। लोक-बेद बर बिरद बिराजे॥" (मा० बा० २४); अर्थात् जिस करुणा से श्रीरामजी ने सुग्रीव-विभीषण को शरण में रखकर उन पर कृपा की है। उसी गुण के भरोसे पर मैं भी डींग मारा करता हूँ कि मुझसे आलसियों का भी निर्वाह हो जायगा।

'राम सुभाउ सुने...'; यथा—"मातु पिता जग जाय तज्यो, बिधिहू न लिखी कछु भाल भलाई। नीच, निरादर-भाजन, कादर, कूकर टूकन लागि ललाई॥ राम-सुभाउ सुन्यो तुलसी, प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई। स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सो साहिब खोरि न लाई॥" (छंद ५७); "आलसी अभागे मोसे तैं कृपालु पाले-पोसे राजा मेरे राजाराम, अवध सहर।" (वि० २५०)।

'कायर कूर कपूतन की हद...'; यथा-"कूर कुटिल खल कुमति कलंकी।

नीच निरीस निसील निसंकी ॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए ॥" (मा० अ० २९८)।

यहाँ कादर कर्म काण्ड रहित, क्रूर ज्ञान रहित और कपूत उपासना-रहित हैं। तथा कादर राजसी, स्वभाव वाले इन्द्र आदि, क्रूर छली मारीच आदि तथा कुपूत पिता विश्रवा के कुलधर्म के त्यागी रावण आदि को भी श्रीरामजी ने सद्गति दी है।

मत्तगयंद सवैया [२]

बेद पढ़ैं बिधि, संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं।
दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि ते सिर नावैं॥
ऐसेउ भाग भगे दसभाल तें, जो प्रभुता कवि-कोविद गावैं।
राम से बाम भये तेहि बामहि बाम सबै सुख-संपति लावैं॥

शब्दार्थ—दयावने = दया के पात्र, दया के योग्य। दिन = प्रतिदिन।

अर्थ—जिस रावण के यहाँ ब्रह्माजी (स्वयं) आकर वेद पाठ करते थे और शिवजी भय के मारे स्वयं नित्य रावण के यहाँ अपनी पूजा कराने आते थे। दैत्य और देवता दया के योग्य दीन और दुखी होकर नित्य प्रति दूर से ही रावण को शिर झुकाते थे। रावण का ऐसा सौभाग्य भी उसके दसा ललाटों को छोड़ कर भग चला, जिसकी प्रभुताई कवि और कोविद गाया करते हैं। अतएव (यह सत्य ही है कि) श्रीरामजी से बाम (विमुख) होने वाले कुटिल व्यक्ति से समस्त सुख एवं सम्पतियाँ बाम (विमुख) हो जाती हैं।

विशेष—'बेद पढ़ैं बिधि…'—यद्यपि रावण ने ब्रह्माजी और शिवजी से ही वर पाये थे; यथा—"तपबल, भुजबल कै सनेह बल सिव-बिरंचि नीकी बिधि तोषे ॥" (गी० सुं० १२); "ता महँ सिव-सेवा बिरंचि वर, भुजबल बिपुल जगत जस पायो।" (गी० लं० २)। तथापि उसने देव मात्र से अवध्यत्व पाया था, ब्रह्मा और शिवजी त्रिदेव में हैं; इससे ये दोनों ही अपने अपमान को डरते थे, इससे रावण की अनुकूलता के भिखारी बने रहते थे।

'ऐसेउ भाग भगे…'; यथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी॥ आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥ भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र। मंडलीक मनि रावन, राज करै निज मंत्र॥" (मा० बा० १८१-१८२)

'राम से बाम भये ...'; यथा—"राम-बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥" (मा० सुं० २२)। "लोकहु बेद बिदित कवि कहहीं। राम-बिमुख थल नरक न लहहीं ॥" (मा० अ० २५१)।

[३]

वेद बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किये, सुरलोक उजारो।
और कहा कहौं तीय हरी, तब हूँ करुनाकर कोप न धारो ॥
सेवक छोह ते छाँड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहारो।
तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर, जौ लौं बिभीषन लात न मारो ॥

अर्थ—रावण ने वेद-विरुद्ध आचरण किया, पृथिवी, मुनिगण एवं साधुओं को शोकयुक्त कर दिया और स्वर्गलोक तो उसने उजाड़ ही दिया। (रावण के दोष) और कहाँ तक कहूँ, उसने (श्रीरामजी की) स्त्री तक का हरण किया, तब भी करुणानिधि श्रीरामजी ने क्रोध नहीं किया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हे श्रीरामजी ! मैंने आपका स्वभाव जान लिया-आपने केवल सेवक (श्रीविभीषणजी) के स्नेहवश अपनी स्वाभाविक क्षमावृत्ति का त्याग किया है; क्योंकि आपने तब तक रावण के दर्प का नाश नहीं किया, जब तक उसने श्रीविभीषणजी को लात नहीं मारी थी।

विशेष—'बेद बिरुद्ध ...'; यथा—"जेहि बिधि होइ धरम निरमूला। सो सब करइ बेद-प्रतिकूला ॥" (मा० बा० १८२)।

'सेवक छोह ते छाँड़ी छमा ...'; यथा—"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई ॥ लोकहु बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा ॥" (मा० अ० २१७)। रावण ने हित कहते हुए श्रीराम भक्त विभीषण का त्याग किया है, उसी समय वह श्रीराम कोप का पात्र होने से अभागा कहा गया है; यथा—"अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयु हीन भये सब तबही ॥ साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥ रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहि अभागा ॥" (मा० सुं० ४१); विभीषणजी के प्रति श्रीमुख वचन भी है; यथा—"तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥" (मा० सुं० ४७)।

रावण ने भागवत विभीषणजी को लात मारी है, इससे कुल के साथ उसका नाश हुआ है। लङ्का-निवासियों ने भागवत हनुमान्‌जी को बँधे रहने पर लातों से मारा था, इससे उनके घर जले। स्वयं श्रीजानकीजी ने भी लीला-विधान में भागवत लक्ष्मणजी को कटु वचन कहा था, उसके फलरूप में आपने भी ११ महीना कठिन वियोग-दुःख झेला है। अतः, भागवतापराध अक्षम्य है।

[४]

सोक समुद्र निमज्जत काढ़ि कपीस कियो जग जानत जैसो।
नीच निसाचर बैरी को बंधु बिभीषन कीन्ह पुरंदर कैसो॥
नाम लिये अपनाइ लियो तुलसी सो कहौ कलि कौन अनैसो।
आरत-आरति-भंजन राम गरीब-नेवाज न दूसर ऐसो॥

शब्दार्थ—पुरंदर=इन्द्र। कैसो=की भाँति। अनैसो=बुरा (अनिष्ट)।

अर्थ—(श्रीरामजी ने) शोकरूपी समुद्र में डूबते हुए श्रीसुग्रीवजी को उस समुद्र से निकाल कर जिस प्रकार वानरों का राजा बनाया है, इसे सारा संसार जानता है। फिर अधम राक्षस और अपने शत्रु के भाई श्रीविभीषणजी को इन्द्र की भाँति (ऐश्वर्यवान्) बना दिया। भला, कहो तो इस कलि-काल में तुलसीदास के समान बुरा कौन है? इसे भी केवल 'सीताराम' इस नाम के लेने से आपने अपना लिया। अतः, दुखियों के दुःख का निवारण करनेवाले श्रीरामजी के समान दीन-रक्षक दूसरा कोई नहीं है।

विशेष—'सोक समुद्र निमज्जत…'; यथा—"बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रण चिंता जर छाती॥ सोइ सुग्रीव कीन्ह कपि राऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ॥" (मा० कि० ११); "बिषम-बिषाद-बारिनिधि बूड़त थाह कपीस-कथा लही॥" (गी०सुं० ३१); "सोच-सींव सुग्रीव के संकट हरता को।" (वि० १५२)।

'नीच निसाचर…'—श्रीविभीषणजी ने स्वयं कहा है; यथा—"मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥", "नाथ! दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जन्म सुर त्राता॥ सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥" (मा० सुं० ४६, ४४); अर्थात् अधम राक्षस जाति का और फिर शत्रु का भाई तथा नाम भी जिसका वि-भीषण (विशेष भयानक) था;

उसे आपने शरण में रखकर लंका के उस ऐश्वर्य का स्वामी बना दिया, जिसे रावण ने बड़ी तपस्या से संचय कर रक्खा था; यथा—"राखि बिभीषन को सकै तेहि काल गहा को। आजु बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को ॥" (वि० १५२); "सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (मा० लं० १२)।

'नाम लिये अपनाइ लियो तुलसी···'; यथा—"नाम लेत कलिकालहू हरिपुरहि न गाको ॥ रामनाम-महिमा करइ काम भूरुह आको। साखी बेद-पुरान है तुलसी-तन ताको ॥" (वि० १५२)। "पतित-पावन रामनाम सों न दूसरो। सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सों ऊसरो ॥" (वि० ६६)। तथा आगे छन्द ६६ से ७३ तक देखिये। 'अपनाइ लियो'; यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परि है। जेहि सुभाय विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करि है ॥···" (वि० २६८)—इस पद में कहे हुए लक्षणों की प्राप्ति करा दिये; तथा—"जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहू। पायो परम बिश्राम राम-समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥" (मा० उ० १२६)।

'आरत-आरति-भंजन राम···'; यथा—"तुलसिदास अस केहि आरत की आरति प्रभु न हरी ॥" (गी० अ० ५५); यह अहल्योद्धार पर कहा गया है। तथा—"आरत अधम-अनाथ-हित को रघुबीर-समान।···सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीब-निवाज ॥" (वि० १९१)।

[५]

मीत पुनीत कियो कपि-भालु को, पाल्यो ज्यों काहु न बाल तनूजो।
सज्जन-सींव बिभीषन भो, अजहूँ बिलसै बर-बंधू बधू जो ॥
कोसलपाल बिना तुलसी सरनागत पाल कृपाल न दूजो।
कूर कुजाति कुपूत अघी सबकी सुधरै जो करै नर पूजो ॥

शब्दार्थ—बाल तनूजो = अपने शरीर से उत्पन्न बालक।

अर्थ—श्रीरामजी ने वानरों और भालुओं तक को पवित्र मित्र बनाया है और उनका ऐसा पालन किया है, जैसा कोई अपने शरीर से उत्पन्न बालक का भी पालन नहीं करेगा। जो विभीषणजी अभी भी अपने ज्येष्ठ भाईकी स्त्री (मन्दोदरी) का उपभोग कर रहे हैं, वे साधुता की सीमा बन गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अयोध्या के स्वामी श्रीरामजी के अतिरिक्त शरणागत का पालन करनेवाला

और कृपालु दूसरा नहीं है। जो मनुष्य उन श्रीरामजी की पूजा करते हैं, वे चाहे क्रूर, कुजाति, कुपुत्र एवं पापी ही क्यों न हों, सबकी बन जाती है।

विशेष—'मीत पुनीत कियो···'—मैत्री में निष्कपट भाव पवित्रता है, वानर-भालुओं से भी आपने निष्कपट भाव से मैत्री की है; यथा—"गीध मानो गुरु, कपि-भालु मानो मीत कै पुनीत गीत साके सब साहेब समत्थ के।", "तुलसी सुभाय कहै नाहीं कछू पच्छपात, कौन ईस किये भालु-कीस खास माइली।" (छंद २४, २३); "कौन सुभग सुसील बानर जिन्हहिं सुमिरत हानि। किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि॥" (वि० २१५)। इन वानरों का पुत्रवत् पालन किया है।

'सज्जन सींव बिभीषन···'—श्रीविभीषणजी कल्प भर के लिये चिरजीवी हैं; यथा—"करेहु कल्प भरि राज तुम्ह, मोहिं सुमिरेहु मन माहिं। पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं॥" (मा०उ० ११५)। इन्होंने शरणागत होने के लिये चलते समय रावण के 'मम पुर बसि···' ऐसा कहने पर यह वासना की थी कि अब यदि यह लङ्का की विभूति श्रीरामजी की होगी, तभी सेवक रूप से मैं इसमें पाँव दूँगा, इसी कुछ वासना की पूर्त्ति के लिये श्रीरामजी ने इन्हें लंका का राज्य दिया, इनकी हार्दिक भावना ठीक थी, पर कर्ममात्र से इन्होंने लङ्का की पटरानी मंदोदरी से भी पत्नीत्व सम्बन्ध किया, वह अब तक भी उनके साथ है। क्योंकि ग्रहण कर फिर त्यागना अनुचित समझा है। इस कर्म की चूक को श्रीरामजी ने नहीं देखा; यथा—"कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जीकी। रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सयबार हिये की॥ जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥ ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राजसभा रघुराज बखाने॥" (मा० बा० २८)। श्रीभरतजी से भी इन्हें अधिक महत्त्व दिया; यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥ मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरत हु ते मोहिं अधिक पियारे॥" (मा० उ० ७)। श्रीभरतजी साधुशिरमौर हैं, उनसे अधिक कहे जाने में इन्हें सजनता की सीमा कहा गया है। तथा—"अपनाये सुग्रीव बिभीषन तिन्ह

न तज्यो छल छाउ। भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥" (वि० १००)।

'कोसलपाल बिना तुलसी...'; यथा—"नाहिं न और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिषत-निवारन।..." तथा—"भजिबे लायक, सुख-दायक रघुनायक सरिस सरन प्रद दूजो नाहि न...।" (वि० २०६–२०७)—इन पूरे पदों के पढ़ने से इसके भाव स्पष्ट हो जायँगे।

'क्रूर कुजाति...'—वानर-भालू और राक्षसों के प्रति जब वैसा सुन्दर बर्ताव है, तब मनुष्य जो श्रीरामजी की पूजा करेगा, उसके लिये तो कहना ही क्या है, वह यदि क्रूर आदि होगा तो भी शीघ्र सुधर जायगा; यथा—"अपि चेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यः तथा शूद्रास्तेऽपियान्ति परां गतिम्॥ किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।" (गीता ६।३०-३३); अर्थात् जो अनन्य भाक् होकर भगवान् का भजन करता है, वह दुराचारी भी शीघ्र धर्मात्मा होकर चिर शान्ति पा जाता है, उसका नाश नहीं होता; क्योंकि भगवान् के आश्रित स्त्री, शूद्र, वैश्य एवं पापयोनि प्राणी भी पर गति पा जाते हैं, फिर ब्राह्मण एवं भक्त क्षत्रिय के लिये क्या कहना है? तथा—"कायर कूर कपूतन की हद..." (छंद १) इसका विशेष देखिये।

इस छन्द में श्रीरामजी का सौलभ्य गुण कहा गया है।

[६]

तीय सिरोमनि सीय तजी, जेहि पावक की कलुषाई दही है।
धर्म-धुरन्धर बंधु तज्यो, पुरलोगन की बिधि बोलि कही है॥
कीस-निसाचर की करनी न सुनी, न बिलोकी, न चित्त रही है।
राम सदा सरनागत की अनखौंहीं अनैसी सुभाय सही है॥

शब्दार्थ—कलुषाई = मलिनता, विकार। पावक की कलुषाई दही है = अग्नि का विकार उसका दाहकत्व है, उस दाहकता को भी जला दिया; अर्थात् शीतल कर दिया। अनखौंहीं = क्रोध उत्पन्न करने के योग्य वृत्ति। अनैसी = अनिष्ट बर्त्ताव, बुरा बर्त्ताव।

अर्थ—जिन्होंने अग्नि की दाहकता को जला डाला है; अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक अपने सतीत्व के प्रभाव से अग्नि को शीतल बना दिया है, उन स्त्रियों में श्रेष्ठ श्रीजानकीजी को (मिथ्या लोकापवाद सुनकर) त्याग दिया है। (इतना ही नहीं, प्रत्युत्) धर्मधुरंधर भाई लक्ष्मणजी को भी (प्रतिज्ञा-रक्षा के लिये) त्याग दिया है और अवधपुरवासियोंको बुलाकर उनके लिये उचित धर्म-विधि का उपदेश दिया है। (ऐसे सदाचार निष्ठ स्वभाव होने पर भी) वानर श्रीसुग्रीवजी और निशाचर श्री विभीषणजी की करतूतों (ज्येष्ठ भ्रातृ-वधू-भोग रूप दुराचारों) को न सुना, न देखा और न इन पर कुछ ध्यान ही दिया है। क्योंकि श्रीरामजी अपने शरणागतों की क्रोध उत्पन्न करने योग्य वृत्तियों एवं अनिष्ट बर्ताओं को स्वभाव से ही सदा सहन किया है (क्षमा ही किया है)।

विशेष—'तीय-सिरोमनि सीय तजी ....'—लङ्का-विजय पर जब श्रीविभीषणजी ने श्रीजानकीजी को सत्कारपूर्वक लाकर श्रीरामजी को समर्पित किया, तब श्रीरामजी ने उनके पातिव्रत्य की कीर्ति प्रकट करने के लिये दुर्वाद कहा, इसीसे उस कथन के साथ वे 'करुनानिधि' कहे गये हैं, तब श्रीजानकीजी ने श्रीलक्ष्मणजी से अग्नि और काष्ठ आदि मँगा कर उसे प्रदीप्त कर कहा कि यदि मेरे मन, वचन और कर्म से मेरे हृदय में श्रीरामजी के अतिरिक्त अन्य नहीं है तो हे अग्नि ! आप सबकी गति जानते हैं, इससे चन्दन के समान शीतल हो जाओ। ऐसा कह कर श्रीजी ने उसमें प्रवेश किया, प्रदीप्त अग्नि भी शीतल हो गई। इस प्रकार आपकी प्रतिज्ञा सत्य हुई। फिर अग्निदेव ने प्रत्यक्ष रूप से सीताजी का समर्पण किया। पीछे ब्रह्मा-शिव आदि ने भी श्रीसीताजी की साक्षी दी। इस प्रकार श्रीसीताजी ने अग्नि की दाहकता को भी अपने सत्यधर्म के प्रभाव से जला दिया है। शीतल बना दिया है—यह कथा मा० लं० १०६–१०७ में है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में भी ऐसी ही है।

इस प्रकार शुद्ध श्रीसीताजी श्रीरामजी के साथ श्रीअवध आईं और श्रीअयोध्याजी के राज्यासन पर श्रीरामजी के साथ अभिषिक्त हुईं। इस प्रकार श्रीसीताजी पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि थीं। 'सीय तजी'—यह त्याग-प्रसंग वह है, जिसका वर्णन वाल्मी० ७।४२–५२ में विस्तारपूर्वक है। वाल्मीकीय के पूर्वापर प्रसंग से जब श्रीरामजी को दस हजार वर्ष राज्य करते हो गये हैं, तब यह सीता-त्याग की लीला

की गई है। श्रीगोस्वामीजी की गीतावली के अनुसार यह चरित साढ़े बारह हजार वर्ष राज्य करने के उपरांत का है; यथा—"संकट सुकृत को सोचत जानि जिय रघुराउ। सहसद्वादस पंचसत में कछुक है अब आउ॥ भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किये बनै बनाउ। परिहरे बिनु जानकी नहिं आन अनघ उपाउ।" (गी० उ० २५); इतने वर्ष राज्य करने पर पुरवासियों में एवं किसी एक ने चर्चा उठाई कि श्रीसीताजी ने ११ महीना लङ्का में निवास किया था, श्रीरामजी ने उन्हें अपने घर रक्खा है। यह उदाहरण लेकर हमलोगों की स्त्रियाँ भी वैसे ही पर घर रह कर हमारे यहाँ रहना चाहेंगी, इत्यादि। यह कथन यदि स्वाभाविक होता तो लङ्का से आने पर तुरत कहा जाता; क्योंकि यह तो सभी को ज्ञात ही था कि सीताजी का हरण हुआ था, इसी पर घोर संग्राम कर रावण पर विजय मिली है। पर किसी ने चर्चा नहीं की। अब १०००० वर्ष एवं १२५०० वर्ष के पीछे ऐसी बातें क्यों उठी? इसका वास्तविक रहस्य तो यह है कि श्रीसीताजी ने विचारा कि हमारे स्वामी चरित कर रहे हैं, इसका प्रामाणिक रीति से ग्रंथ बने जिससे भविष्य के लोग पढ़-पढ़कर भवपार हों। वह इस प्रकार ठीक होगा कि मेरे विषय की झूठी आशङ्का फैले, श्रीरामजी मेरा त्याग करें, तब हमारे पिता एवं श्वसुर के मित्र श्रीवाल्मीकिजी ध्यान से देखकर मेरी शुद्धता प्रकट करने के व्याज से सारी कथा का निर्माण करें। वैसा ही हुआ है।

परन्तु वहिरंग दृष्टि से पुरजनों के झूठे प्रवाद को भी श्रीरामजी ने आदर दिया और लोकापवाद से डरकर अपनी पतिव्रता पत्नी का भी त्याग किया है। ऐसे तो आप धर्मादर्श हैं।

इस पर कुछ विशेष रूप से मेरे श्रीरामचरितमानस के सिद्धान्त-तिलक उत्तर कांड दो० २४ चौ० ८ के 'सीता वनवास-मीमांसा' शीर्षक प्रसंग में लिखा गया है। तथा—"बैरि बंधु निसिचर अधम, तजो न भरे कलंक। झूठे अघ सिय परिहरी, तुलसी साँइ ससंक॥" (दोहावली १६६)—इसके 'सिद्धान्त-तिलक' में भी कुछ लिखा गया है।

'धर्म-धुरंधर बंधु तज्यो'—वाल्मी० ७।१०३–१०६ में कथा है—श्रीरामजी का अवतार काल समाप्त जानकर ब्रह्माजी ने कालको मुनि के रूप में श्रीरामजी के यहाँ भेजा। द्वारपाल ने सूचना दी। उन मुनि को बुलाकर श्रीरामजी ने उनका

सत्कार कर बैठाया। मुनि ने श्रीरामजी से यह प्रतिज्ञा करवा ली कि हमारे और आपके बात करने में यदि कोई भी सुने या देखे, उसका आप वध करें। श्रीरामजी ने मान लिया और श्रीलक्ष्मणजी को द्वार पर रहने को कहा कि कोई इस बीच में भीतर आने न पावे।

श्रीलक्ष्मणजी द्वार पर थे। इधर काल रूप मुनि ने श्रीरामजी से ब्रह्माजी का सँदेश कहा। उसी बीच में द्वार पर दुर्वासा मुनि आये, उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी से कहा। मैं शीघ्र श्रीरामजी से मिलना चाहता हूँ। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा, श्रीरामजी इस समय किसी काम में व्यग्र हैं, क्या प्रयोजन है? मुझे ही आज्ञा दीजिये, मैं उसकी व्यवस्था कर दूँ। या थोड़े समय ठहरिये। मुनि क्रोध से जलने लगे, उन्होंने कहा, मुझे अभी ले चलो, अन्यथा मैं राज्य, नगर एवं श्रीरामजी को भी शाप दूँगा, भरत को, तुमको एवं तुम लोगों की सन्तानों को भी शाप दूँगा।

श्रीलक्ष्मणजी ने सोचा कि ले जाने से श्रीराम-प्रतिज्ञा के अनुसार केवल मेरा ही वध होगा और न ले जाने पर सभी का नाश हो जायगा। अतः, श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी को मुनि के आने की सूचना दे दी। काल को विदा कर श्रीरामजी ने दुर्वासा मुनि का स्वागत किया और उन्हें भोजन करवाया। पीछे श्रीरामजी उक्त प्रतिज्ञा का स्मरण कर व्यथित हुए कि अब तो सर्वनाश का समय आ गया। उन्हें चिंतित देख श्रीलक्ष्मणजी ने उनसे मधुर स्वर में कहा। नाथ! मेरे लिये आप चिन्तित न हों, काल की यही गति मेरे लिये निश्चित थी, आप निर्भय होकर मेरा वध करें, प्रतिज्ञा पूरी करें; अन्यथा धर्म ही नष्ट होगा।

श्रीरामजी यह सुन विचलित हो उठे। उन्होंने वसिष्ठजी आदि से कहा, वसिष्ठजी ने कहा कि इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजी का त्याग और तुम्हारा वियोग मैंने पहले ही जान लिया था। अब आप लक्ष्मणजी का त्याग कर प्रतिज्ञा पूरी करें; अन्यथा धर्म नाश से त्रिलोक का नाश हो जायगा। तब श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि मैं तुम्हारा त्याग करता हूँ, क्योंकि सज्जनों का त्याग और वध समान ही कहे गये हैं।

श्रीलक्ष्मणजी की आखें भर आईं और उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं, वे सभा से तुरत निकले, घर भी नहीं गये। श्रीसरयू तीर पर जाकर जल स्पर्श एवं आचमन कर प्राणायाम से श्वासें रोक दी। इस पर देवगण फूल वर्षा करने

लगे। इन्द्र श्रीलक्ष्मणजी को सशरीर लेकर स्वर्ग चले गये, यह किसी मनुष्य ने नहीं जाना, वहाँ विष्णु के चतुर्थ भाग श्रीलक्ष्मणजी की सब प्रसन्न हो पूजा करने लगे।

इस प्रकार धर्म की सूक्ष्मता देखकर ही श्रीरामजी ने भाई लक्ष्मणजी का भी त्याग किया है, फिर उन्हीं के वियोग में सारी अयोध्याजी की प्रजा के साथ आपने परधाम यात्रा भी की है।

'पुर लोगन कीं बिधि बोलि कहीं है'—पुरजन को श्रीरामजी ने स्वयं बुलाकर मानव-शरीर धारण कर क्या करना चाहिये, यह विधि कह कर समझाई है; यथा—"एक बार रघुनाथ बोलाये। गुरु द्विज पुरवासी सब आये॥" से "मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (मा० उ० ४६) तक।

'कीस-निसाचर की करनी...'—ऊपर लिखा गया कि जिन्होंने अपने अभिन्न तत्त्व शुद्ध पतिव्रता प्राणप्रिया का भी त्याग कर दिया, परन्तु धर्म-रक्षा पर पूर्ण ध्यान रक्खा, धर्मात्मा भाई का धर्म की सूक्ष्मगति रक्षार्थ ही त्याग किया, भले ही उन्हीं के पीछे सारे समाज का नाश हुआ। जिन्होंने धर्मात्मा पुरजनों को विशेष सूक्ष्मधर्म-विधि का उपदेश दे उन्हें धर्मारूढ़ किया। उन्होंने शरणागति के नाते से आये हुए वानर सुग्रीव और राक्षस विभीषण का भी इतना सम्मान किया कि उनके प्रत्यक्ष दुराचार पर कान मूँद लिया, आँखें मूँद लीं और चित्त भी उनके दोषों से हटा लिया।

जैसे गाय तुरत के व्याये हुए बच्चे के शरीर के घृणित मल को भी स्वाद दृष्टि से चाट कर साफ करती है, जिसे दूसरी गायें घास में लगा हुआ रहने पर भी सूँघकर छोड़ देती हैं। वैसे ही आपका शरणागत पर अत्यन्त वात्सल्य रहता है। नीच शरणागत के भी सारे दोषों को आप पचा लेते हैं और उसको अपने सगे भाई, पत्नी एवं परिजनों से भी कहीं अधिक सम्मान देते हैं।

अपनी पतिव्रता स्त्री के झूठे पाप को सुनकर अग्नि-परीक्षा से शुद्ध जानते हुए भी आप लोकापवाद को डर जाते हैं, वे ही आप शरणागत सुग्रीव-विभीषण के ज्येष्ठ भाई की स्त्री में रत होने के दुराचार को नहीं, सुनते और न देखते हैं तथा उसे चित्त में भी नहीं रखते हैं। सुग्रीवजी ने शरण हो जाने पर अपने उस

कृत्य को कहा भी है; यथा—"राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारां च रुमया सह। मित्रैश्च सहितस्तस्य वसामि विगतज्वरः ॥" (वाल्मी० ४।४६।६); अर्थात् (वाली को मरा जानकर जब मैं आया, तब) बहुत बड़ा राज्य और तारा को पाकर रुमा (अपनी स्त्री) तथा मित्रों के साथ सुखपूर्वक मैं रहने लगा था। यह श्रीरामजी ने सुना था। फिर जब लक्ष्मणजी क्रुद्ध होकर सुग्रीवजी के यहाँ गये, तब भी सुग्रीवजी तारा के साथ थे, उसको मनाने के लिये सुग्रीवजी ने भेजा। उस समय श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा आपने देखा भी था, पर उसे चित्त में नहीं रक्खा, इसीसे लङ्का से लौटने पर श्रीभरतजी के समक्ष इनकी प्रशंसा की है। श्रीभरतजी से भी अधिक प्यारे कहकर इन्हें सम्मान दिया है।

श्रीलक्ष्मणजी का त्याग प्रतिज्ञा-रक्षा के लिये हुआ है, वह दोष भी सुग्रीवजी में था, उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं वाली-वध के बदले सीता-खोज कराऊँगा, उसे भी भूल गया। कृतघ्नता दोष भी उसमें आ गया, पर फिर भी श्रीरामजी ने उसे नहीं देखा और न सुना तथा न चित्त में ही रक्खा।

पुरजनों को आपने बुलाकर परमार्थ-शिक्षा दी, तब उन लोगों ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए बहुत कुछ कहा है।

इन सब धर्मात्माओं एवं अपने सगे सम्बन्धियों से कहीं अधिक सुग्रीवजी तथा विभीषणजी को आपने सम्मान दिया है, इनके दोषों को पचाया है। कहा भी है; यथा—"साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि, अपनेहुं देखे दोष, राम न सपनेहु डर धरेउ ॥" (दोहावली ४७)। "सरल प्रकृति आप जानिये करुनानिधान की। निज गुन अरिकृत अनहितौ दास-दोष-सुरति चित रहति न दिये दान की ॥" (वि० ४२); "अपनाये सुग्रीव-विभीषन तिन न तज्यो छल छाउ। भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ॥" (वि०१००)।

इस गुण पर मुग्ध होकर श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

'राम सदा सरनागत की अनखौंहीं अनैसी·····'—मर्यादा पुरुषोत्तम एवं धर्मप्राण श्रीरामजी की दृष्टि में बड़े भाई की स्त्री में रत होना मातृ-गमन के समान पाप बड़े क्रोध का उत्पादक एवं अनिष्ट कर्म है, पर वानर और राक्षस के भी ऐसे-ऐसे दोष आप सह लेते हैं, ऐसे क्षमाशील स्वामी पर भला कौन न निछावर होगा ?

दुर्मिल सवैया [७]

अपराध अगाध भये जन ते अपने उर आनत नाहिन जू।
गनिका गज गीध अजामिल के गनि पातकपुंज सिराहिंन जू॥
लिये बारक नाम सुधाम दियो जैहि धाम महामुनि जाहिंन जू।
तुलसी भजु दीन दयालुहि रे, रघुनाथ अनाथहि दाहिन जू॥

शब्दार्थ—बारक=एक बार। सुधाम (स्व-धाम)=वैकुंठ, साकेत।

अर्थ—भक्तों से यदि बड़े भारी अपराध हो भी जाते हैं तो श्रीरामजी उन्हें अपने हृदय में नहीं लाते (ध्यान नहीं देते)। गणिका, हाथी, गृध्र जटायु और अजामिल के पापसमूह गणना करने पर समाप्त होनेवाले नहीं थे; परन्तु, उनको भी एक बार नाम लेने पर वह परमधाम दिया है, जिस धाम में बड़े-बड़े मुनि भी नहीं जा सकते। इसलिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी सदा अनाथों के लिये अनुकूल रहनेवाले हैं। अरे मन! उन दीनदयालु का भजन कर।

विशेष—'अपराध अगाध भये जन ते···'; यथा—"मेरु-से दोष दूरि करि जन के, रेनु से गुन उर आने। तुलसिदास तेहि सकल आस तजि भजहि न अजहुँ अयाने॥" (वि० २३८); "मुनि सेवा सही को करै, परिहरै को दूषन देखि। केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग बिसेखि॥" (वि० १९१)।

'गनिका गज गीध अजामिल के···'–इनकी कथायें आगे दी जाती हैं–

गणिका की कथा

क्रिया योगसार में लिखा है कि सतयुग में एक रघु नाम का वैश्य था। उसकी सुन्दर लड़की का नाम जीवन्ति था। वह परशू नाम के वैश्य के साथ व्याही गई। वह विधवा हो गई और फिर व्यभिचारिणी होकर नैहर आई। वह वहाँ भी वही नीचाचरण करने लगी। तब पिता के कोप के कारण किसी शहर में जाकर वेश्या हो गई। उसने एक दिन एक सुग्गा मोल लिया और किसी संत के कहने से सब वेदों से अधिक महत्त्वशाली श्रीरामनाम को सुग्गे के साथ पढ़ने एवं पढ़ाने लगी। समस्त पाप नाशक श्रीरामनाम के प्रभाव से उन दोनों के समस्त पाप नष्ट हो गये। समय पाकर साथ ही दोनों के शरीर छूटे और दोनों ही परमधाम गये— (श्रीसीताराम नाम-प्रताप-प्रकाश पृ० ७८ से उद्धृत)।

दूसरी पिङ्गला नाम की वेश्या है, उसकी कथा महा॰शांति॰ १७४।५७-६२ में तथा भाग॰ ११।८।२२-४४ में भी है। परन्तु यहाँ नाम-निष्ठा वाली उक्त जीवन्ति का ही प्रसंग है।

गजेन्द्र की कथा

त्रिकूट नाम का एक प्रसिद्ध सुन्दर पर्वत था। उसकी चारों ओर क्षीरसागर था। वह अयुत योजन ऊँचा और उतना ही चारों ओर फैला था। उसके सोने, चाँदी लोहे के तीन शिखर थे। उनके बीच में एक बड़ा भारी सरोवर था। उसमें भाँतिभाँति के कमल फूले रहते थे। वहाँ उस पर्वत पर वरुणदेव का ऋतुमत नाम का बाग था। वह बड़ा सुशोभित था। एक दिन उस पर्वत पर वहीं के वन में रहनेवाला एक गजेन्द्र अपनी हथिनियों के साथ आया। क्रीड़ा करता हुआ उस सरोवर में घुस पड़ा। अपनी हथिनियों और बच्चों के साथ क्रीड़ा कर रहा था।

उसी सरोवर में एक महावली ग्राह रहता था। भावी वश उसने उस गजेन्द्र का पैर पकड़ लिया। बहुत चेष्टा करने पर भी गजेन्द्र अपना पाँव नहीं छुड़ा सका। और गजों की सहायता से भी कुछ न कर सका। गज और ग्राह को परस्पर खींचते हुए एक सहस्र वर्ष बीत गये। न किसी की हार हुई और न मृत्यु ही।

[पीछे उसने ब्रह्माजी, शिवजी एवं लोकपालों का भी आवाहन किया, पर किसी ने रक्षा नहीं की; यथा—"रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक। सोकसरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक॥" (वि॰ २१७)।]

अंत में उसने भगवान् परमपुरुष श्रीरामजी की शरणागति की, आर्त्तस्वर से स्तुति की, उसने ऊपर की ओर अपनी सूँड़ से एक कमल का फूल नारायण भगवान् को अर्पण के उद्देश्य से उठाया और आर्त्तस्वर से उनके नाम लिये, उसे पीड़ित देख भगवान् ने गरुड़ को भी छोड़ कर और शीघ्रता से पहुँच कर ग्राह के साथ गज को उस सरोवर से बाहर निकाला। चक्र से ग्राह का शिर काट डाला, इस प्रकार उसे संकट से छुड़ाया।

श्रीहरि के स्पर्श से गजेन्द्र अज्ञानमुक्त होकर यहीं पर दिव्य चतुर्भुज रूप वाला हो गया। यह गजेन्द्र पहले जन्म का इन्द्रद्युम्न नाम का राजा था। अगस्त्यजी के शाप से गजयोनि में आया था। इसे पहले जन्म की स्मृति थी

ग्राह भी पूर्वजन्म का हूहू नाम का गंधर्व था। देवल ऋषि के शाप से ग्राह हुआ था। भगवान् के कर स्पर्श से वह अपना पूर्व रूप पा गया और विमान पर चढ़ कर अपने लोक गया।—यह कथा भाग० ८।३-४ के अनुसार है।

उपर्युक्त भाग० ८।३-४ की कथा में गजेन्द्र का पूर्ण नाम 'नारायण' लेना कहा गया है। पर श्रीगोस्वामीजी ने उसे राम नाम का आधा 'रा' मात्र लेना कहा है—'तर्यो गयंद जाके अर्द्धनाय' (वि० ८३)। कल्पभेद से संगत है।

गृध्र जटायु की कथा श्रीरामचरित मानस में प्रसिद्ध है। इसके पाप; यथा—"गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी॥" (मा०अर० ३२); तथा—"त्रिजग-जोनि-गत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं। महाराज सुकृती समाज महँ ऊपर आजु कियो हौं॥" (गी० अर० १४); "विहँग जोनि आमिष अहार पर गीध कौन व्रत धारी।" (वि० १६६)।

अजामिल की कथा अयोध्याकांड छन्द ५ में लिखी गई, वहीं पर देखिये।

इस प्रकार गणिका व्यभिचारिणी, गजेन्द्र मदान्ध, गृध्र मांसाहारी और अजामिल कुमार्गी थे। इनके पाप गिने नहीं जा सकते। इन सबने हरि नाम लेने से सद्‌गति पाई है।

'तुलसी भजु दीनदयालुहि रे···'–जो अनाथ होकर शरण हो श्रीरामजी को नाथ मानकर सनाथ बनता है, वे उसके अनुकूल हो जाते हैं, जैसे उपर्युक्त गणिका आदि के लिये हैं। श्रीगोस्वामीजी अपने हृदय को सान्त्वना देते हुए इन उदाहरणों को सामने रखते हैं कि जैसे गणिका व्यभिचारिणी थी, उसने तोता पढ़ाने के व्यसन से नाम-रटन किया है, वैसे ही मेरी बुद्धि आत्मरति छोड़ कर इन्द्रिय-विषयों के चिन्तन में रत रहती है, यही इसका इन्द्रिय देवों का भोग्य बन उनसे व्यभिचार है–गीता २।४१ देखिये। यह यदि कुछ नाम-रट जीभ रूपी तोते से करवाती भी है, तो नामार्थ पर वृत्ति नहीं रखती; प्रत्युत् विषयों पर ही रखती है यही इसका तोता-रटन नामाराधन है। यदि यह इस प्रकार नियम-निवाह ले जाय तो भी उक्त गणिका की भाँति सद्‌गति पा जायगी; यथा—"दंभ हू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोषु।" (वि० १५९)। "कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकीनाथ पढ़ायौ।" (छंद ६०)।

गजेन्द्र के समान मेरा अहङ्कार है, यह त्रिगुणात्मक है, यही इसका त्रिकूटा-

चल पर निवास है, इसे त्रिगुणात्मक वासना रूपी सरोवर में रजोगुण-विकार लोभ ने ग्रस लिया है। यह साधन रूपी संग्राम में हार गया है, यह आत्मसाक्षात्कार रूपी कमल दिखा उसकी कामना कर रजोगुण से छूटने की कांक्षा से नामाराधन करता है। अहंकार से इसका नाम-रटन अर्द्धनाम 'रा' मात्र का संकेत प्रकट करना है। मकार जीव स्वरूप प्रकाशक है। जीव ईश्वर का शरीर है। अतः, यह स्वयं अहंकार नहीं कर सकता। पर दीनदयाल की कृपा से यह अर्द्धनाम से ही आत्म-स्वरूप पा जायगा। गजेन्द्र हरि-पार्षद हो गया, वैसे ही यह भी भगवान् का परिकर होगा, यही इसकी स्वरूप-स्थिति है।

गृध्रराज के समान चित्त की व्यवस्था है। गृध्र ने श्रीसीता-रक्षा का भार लिया था। जब रावण ने हरण किया, तब इसने रक्षा नहीं कर पाई, परन्तु प्राण दे दिया और नाम-स्मरण करता था। तब प्रभु आ गये। तब इसने उनके दर्शन कर सद्गति पाई है। वैसे चित्त अनुराग रूपी भक्ति का अभिमानी रहता है, पर मोह रूपी रावण से उसकी रक्षा नहीं कर पाता, फिर भी नाम-स्मरण करता हुआ श्रीराम-शरण ले उनसे रक्षणार्थ वासना से उनका नाम जपे और अपने जन्म-भर के राग-द्वेष आहार रूपी हिंसात्मक मांसाहार पर ग्लानि रहे, तो प्रभु इसे सद्गति दे देते हैं। यह राग-द्वेष युक्त चित्त से नामाराधन की आधार युक्त वृत्ति है।

अजामिल के समान मन की व्यवस्था है, यह रजोगुण वृत्ति रूपिणी शूद्रा में मिलकर 'अजामिल' अर्थात् अजा रूपी माया में मिल गया है। इन्द्रिय सुख की भावना रखते हुए ही नामाराधन करता है, यही इसका दसेन्द्रिय-सुखरूपी दस पुत्रों का प्रेम है। अजामिल की भाँति यह भी आहार रूपी कनिष्ठ पुत्र में अत्यन्त अनुरक्त है। उसी के उद्देश्य से नाम-रटता है; यथा—"मोह मद मात्यो रात्यो कुमति कुनारि सो, ····तुलसी अधिक अधभाई हू अजामिल तें'····जैबे की अनेक टेक एक टेक ह्वैबे की, जो पेट प्रिय पूत हित राम नाम लेतु है॥" (छंद ८२)।

अजामिल ने बेटे के उद्देश्य से नाम लिया, वैसे ही यह भी यदि पापों को लक्ष्य कर यमदूतों से डरता हुआ पेट-प्रियत्व के साथ भी नाम-रट करेगा, तो इसे भगवान् के पार्षदों के दर्शन की भाँति स्वस्वरूप-स्थिति (प्रभु शेषत्व) का ज्ञान

हो जायगा। फिर जैसे अजामिल ने हरिद्वार में शुद्ध भजन कर सद्‌गति पाई है, वैसे यह भी शुद्धरीति की भक्ति से कालक्षेप कर अवश्य सद्‌गति पायेगा।

इन लक्ष्यों का विशेष विवरण मेरे ग्रन्थ 'श्रीमनमानस नाम वंदना' एवं 'विनय-पत्रिका के सिद्धान्त-तिलक' में है।

'रघुनाथ अनाथहि दाहिन जू'—अनाथों के अनुकूल हैं, इनके इन जैसे तैसे के संकेत रूपी लक्ष्यों की भी सिद्धि कर देते हैं; क्योंकि उन्हें अपने नाम की लज्जा है—वि० १४४ देखिये।

[८]

प्रभु सत्यकरी प्रह्लाद गिरा, प्रगटे नरकेहरि खंभ महाँ।
झखराज ग्रस्यो गजराज, कृपा ततकाल, बिलंब कियो न तहाँ॥
सुर साखी दै राखी है पांडुबधू पटलूटत, कोटिक भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच-बिमोचन को, जन को पन राम राख्यो कहाँ॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने श्रीप्रह्लादजी की वाणी सत्य की और खम्भ के बीच से नृसिंह रूप में प्रकट हुए। जब ग्राह ने गजेन्द्र को पकड़ा है तब उसी समय गजेन्द्र पर कृपा की है, वहाँ थोड़ा-सा भी विलम्ब नहीं किया। जहाँ करोड़ों राजाओं के बीच में दुःशासन पांडवों की स्त्री द्रौपदीजी का वस्त्र-हरणकर रहा था, (उसकी पुकार पर) वहाँ आपने उसकी रक्षा की है, इसके देवतागण साक्षी हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि शोक छुड़ानेवाले प्रभु श्रीरामजी का भजन करो; उन्होंने अपने भक्त का प्रण कहाँ नहीं रक्खा? अर्थात् सर्वत्र पूरा किया है।

विशेष—इस छन्द में श्रीप्रह्लादजी, गजेन्द्र और श्रीद्रौपदीजी के प्रण-रक्षण के उदाहरण देकर श्रीरामजी का भक्त-प्रण-रक्षण दिखाते हैं—

'प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा...'—श्रीप्रह्लादजी का चरित बहुत प्रसिद्ध है, विष्णु पुराण प्रथम अंश १७से २० अध्यायों तक तथा श्रीमद्‌भागवत, सप्तम स्कंध ३ से १० वे अध्यायों तक कुछ विस्तारपूर्वक कहा गया है। यहाँ बहुत सूक्ष्म में तदनुसार लिखा जाता है—

श्रीप्रह्लादजी की कथा

पूर्व समय में दिति पुत्र हिरण्यकशिपु ने घोर तप करके ब्रह्माजी से माँगा कि मैं आपकी सृष्टि में उत्पन्न प्राणियों से न मरूँ, भीतर-बाहर, दिन-रात में, शस्त्रों

से, पृथिवी पर, आकाश पर से, मृग वा मनुष्य से, मृत से वा जीवित से—इन किसी से भी मेरी मृत्य न हो। देव, दैत्य और महासर्प आदि से मेरी मृत्यु न हो। आपका-सा स्वामित्व, महिमा और अजेयत्व भी मुझे प्राप्त हो और अणिमादि सिद्धियाँ भी प्राप्त रहें। ब्रह्माजी ने सब दिये।

वरदान पाने से उन्मत्त होकर उस दैत्य ने त्रिलोक को वश में कर लिया, इन्द्र पद का भोग करने लगा। वह स्वयं सब लोकपाल बन गया। सम्पूर्ण यज्ञोंके भाग भोगता था। देवगण उसके भय से स्वर्ग छोड़ जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते थे।

उसका प्रह्लाद नामक एक पुत्र था, उसे श्रीनारदजी के द्वारा गर्भ में ही धर्म तत्त्व और विशुद्ध ज्ञान का उपदेश प्राप्त था, श्रीनारदजी के अनुग्रह से प्रह्लादजी को वह उपदेश नहीं भूला था। वह बालक गुरुजी के यहाँ विद्या पढ़ने के लिये नियुक्त किया गया। एक दिन प्रह्लादजी गुरुजी के साथ पिताजी के पास गये। पिता ने इनसे कुछ पढ़ने के विषय में पूछा। इन्होंने अपनी हार्दिक-निष्ठा श्रीहरि में कही। इस पर वह जल उठा और इनके गुरु पर क्रुद्ध हुआ। तब इन्होंने कहा कि मैं हृदय-स्थित विष्णु के द्वारा ही यह सब जानता हूँ। इस पर पिता से प्रह्लादजी का बहुत वाद हुआ। प्रह्लादजी अपने पक्ष पर दृढ़ रहे।

तब उस दैत्य ने इन्हें मार डालने के लिये दैत्यों से कहा, वे मारने पर उद्यत हुए। प्रह्लादजी ने कहा, विष्णु भगवान् तुम में और तुम्हारे शस्त्रों एवं मुझमें तथा सर्वत्र भी स्थित हैं। इस सत्य के प्रभाव से तुम्हारे शस्त्र मुझ पर कुछ न कर सकें, वही हुआ। फिर उसने विषधर सर्पों को आज्ञा दी। प्रह्लाद जी भगवान् के ध्यान में निमग्न थे, इससे उनके काटने का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। उन सर्पों की दाढ़ें टूट गईं, पर इनकी त्वचा भी नहीं कटी। फिर उसने दिग्गजों से इन्हें कुचलवाया, परन्तु हरि-स्मरण प्रभाव से इन्हें कुछ भी पीड़ा नहीं जान पड़ी। तब उसने वायु और अग्नि को आज्ञा देकर काष्ठों के द्वारा इन्हें जलाने का प्रयत्न किया, वह भी व्यर्थ ही हुआ। फिर उसने इन्हें भोजन के साथ घोर विष दिलाया, इन्होंने उसे भी पचा लिया। तब पुरोहितों के द्वारा कृत्या उत्पन्न करा उसके द्वारा इन्हें मारने का उपाय किया। उस कृत्या ने पुरोहितों को ही मार डाला, तब इन्होंने ही हरि से प्रार्थना कर पुरोहितों को जिलाया।

ऐसे ही उस दुष्ट ने और भी बहुत से उपाय किये, पर श्रीहरि की कृपा से

इनका कुछ नहीं हुआ। अंत में वह स्वयं खड्ग लेकर कहा कि अब मैं ही तुझे मारूँगा, बता, तेरा रक्षक कहाँ है ? इन्होंने कहा, सर्वत्र। उसने कहा, इस सभा के खम्भे में क्यों नहीं है ? इन्होंने कहा, हाँ, इसमें भी है। तब उसने उस खम्भे पर मुष्ठिका मारी, उसी क्षण भयानक शब्द हुआ और फिर—"सत्यं विधातुं निज-भृत्य-भाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥" (भाग० ७।८।१८); अर्थात् श्रीहरि अपने भक्त की वाणी एवं अपनी सर्वव्यापकता का सत्य-विधान करते हुए सभा में उसी खंभे से अद्भुत रूप में प्रकट हुए, भगवान् का शरीर न तो मृग का था और न मनुष्य का ही; अर्थात् आधा शरीर मनुष्य का और आधा मृगपति सिंह का था।

भगवान् को इस रूप में देखकर वह दैत्य उनसे युद्ध करने लगा। भगवान् ने कुछ समय तक उससे रणक्रीड़ा की जैसे गरुड़ छोटे सपेले से क्रीड़ा करते हैं। अन्त में श्रीनृसिंहजी ने संध्या के समय सभा द्वार की देहली पर उसे अपनी जंघा के ऊपर गिरा कर अपने तीक्षण नखों से उसके हृदय को विदीर्ण कर डाला और उसकी आँतों की माला अपने गले में पहन ली। फिर नृसिंहजी ने उसके पक्ष से लड़ने वालों को भी नखों से ही विदीर्ण कर दिया।

तत्पश्चात् नृसिंह भगवान् का क्रोध शान्त करने के लिये देवों और ब्रह्माजी ने स्तुति की, श्रीलक्ष्मीजी भी समीप नहीं जा सकीं। तब श्रीप्रह्लादजी के समीप जाकर प्रणाम एवं प्रार्थना से दया करके वे शान्त हुए। उन्होंने प्रसन्न होकर प्रह्लादजी पर प्यार प्रकट करते हुए इनसे वर माँगने को कहा। इन्होंने निष्काम भक्ति ही माँगी। फिर अपने पिता के अपराधों को क्षमा कराया। भगवान् ने कहा कि तुम्हारे ऐसे सुपुत्र के योग से तुम्हारा पिता अपने पूर्व की इक्कीस पीढ़ियों के साथ तर गया। तुम मेरी आज्ञा मानकर इस मन्वंतर में दैत्य कुल का राज्य करो, फिर मेरे समीप प्राप्त होगे। आगे छन्द १२७ से १३० तक भी प्रह्लादजी का ही प्रसंग है, वह भी देखिये।

इस प्रकार भगवान् प्रह्लादजी की वाणी (प्रतिज्ञा) के अनुसार खम्भे में प्रकट हुए थे और उन्होंने नृसिंह रूप से उनकी रक्षा की है।

'झखराज ग्रस्यो...'—गजेन्द्र की कथा ऊपर छन्द में लिखी गई। वहाँ

भगवान् ने तुरत आकर रक्षा की है। गजेन्द्र की पुकार पर गरुड़ छोड़कर तेजी से आये हैं।

'सुर साखी दै राखी है पांडुबधू···'—वहाँ पर करोड़ों राजा सदस्य रूप में थे, द्रौपदी के परम समर्थ पाँचो पति थे। और महारथी भीष्म और द्रोण भी थे, पर अबला द्रौपदी पर किसी ने दया नहीं दिखाई, इन्हीं को 'कोटिक भूप' से कहा गया है।

श्रीद्रौपदीजी की रक्षा कथा

महाभारत, सभा पर्व अ० ६५ से ७३ तक विस्तृत रूप में यह कथा है, यहाँ वही के सारांश रूप में संक्षेप करके लिखी जाती है। राजा दुर्योधन पांडवों से वैर रखता था। उसने शकुनि और कर्ण आदि से सम्मत कर युधिष्ठिर महाराज को जुआ खेलने को कहा। जुआ खेलते हुए युधिष्ठिर जब अपनी सारी सम्पत्ति हार गये, तब शकुनि के कहने पर इन्होंने द्रौपदी को भी बाजी पर लगा दिया, इस पर सभा को अत्यन्त खेद हुआ। शकुनि ने छल से पूर्व के जीते हुए पाश को फिर ले लिया और द्रौपदीजी को भी जीत लिया, ऐसा दुर्योधन ने मान लिया। फिर उसने विदुर से कहा, लाओ, द्रौपदी को मेरी दासी बनाओ। विदुर ने धिक्कार देते हुए इस कार्य को उसके सर्वनाश का कारण कहा; उन्होंने यह भी कहा कि द्रौपदी दासी नहीं हो सकती, क्योंकि युधिष्ठिरजी ने अपनी प्रभुताई खोकर उसे बाजी में लगाया है। पर दुर्योधन ने कुछ नहीं सुना। उसने द्रौपदीजी को सभा में ही बुलवाया। द्रौपदीजी उस समय रजस्वला होने से एकवस्त्रा थीं। इससे उन्होंने सभा में आना नहीं चाहा। अन्त में दुर्योधन की कड़ी आज्ञा से दुश्शासन गया और बलात् द्रौपदीजी को खींचकर सभा में लाया। इस पर सभा को महान् दुःख हुआ, परन्तु कर्ण एवं शकुनि आदि प्रसन्न थे।

द्रौपदीजी ने सभा में प्रश्न किया—युधिष्ठिर ने पहले अपना शरीर हारा है, तब मुझे बाजी पर रक्खा है। जो उनका स्वामित्व ही मुझ पर नहीं रहा तो उनके द्वारा मैं कैसे हारी गई? पर किसी ने ठीक उत्तर नहीं दिया, तब विकर्ण (दुर्योधन के छोटे भाई) ने कहा कि युधिष्ठिर ने जुआ की नशा से प्रमत्त होकर और शकुनि की बलात् प्रेरणा से यह बाजो रक्खी थी, तथा इसके पहले वे अपने को हार चुके थे, इससे उनका स्वामित्व भी द्रौपदी पर नहीं रह गया था।

अतः, द्रौपदी नहीं जीती गई। सभा ने भी इसका अनुमोदन किया। तब कर्ण ने उसे जैसे-तैसे वचनों से निवारण कर दिया।

दुर्योधन ने द्रौपदीजी को नग्न करने को कहा, तब दुःशासन बलपूर्वक द्रौपदी का वस्त्र खींचने लगा (द्रौपदीजी ने अपने पाँचों पतियों, सभासदों और द्रोण-भीष्म आदि की ओर देखा, सबसे निराश होकर उन्होंने स्वयं भी अपने वस्त्र को बलपूर्वक पकड़ा, परन्तु उन्हें हताश होना पड़ा, तब) वस्त्र खींचे जानेपर द्रौपदी-जी ने भगवान् कृष्ण का इस प्रकार स्मरण किया—

"गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन-प्रिय ॥४१॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथाऽर्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥४२॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन्विश्वभावन्।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥४३॥
इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम्।
प्रारुदद्दुःखिता राजन्मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥४४॥
याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत्।
त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाऽभ्यगात् ॥४५॥"

(अ० ६८)

अर्थ—हे गोविन्द! हे द्वारिका वासिन्! हे गोपीजनप्रिय! और हे केशव! क्या आप नहीं जानते कि मैं कौरवों के द्वारा अपमानित की गई हूँ? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्त्तिनाशन! और हे जनार्दन! कौरव समुद्र में डूबती हुई मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगिन! हे विश्वात्मन् हे विश्वभावन और हे गोविन्द! कौरवों के बीच में अत्यन्त दुःख पाती हुई मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये। हे राजन्! इस प्रकार तीनों लोकों के ईश्वर, हरि श्रीकृष्ण भगवान् का स्मरण कर वह स्त्री द्रौपदी दुःखित होकर अपना मुख ढाँक कर सभा में बहुत रोई। उसी समय द्रौपदीजी के वचन सुन कर भगवान् कृष्ण करुणा से व्याकुल हो उठे और अपनी शय्या तथा सवारी छोड़ कर वे कृपालु कृपा करके पैदल ही आ गये।

श्रीद्रौपदीजी उक्त रीति से भगवान् की शरण हो उनके नाम ले उन्हें रक्षार्थ पुकार रही थीं। उसी समय श्रीकृष्ण ने आकर द्रौपदीजी के वस्त्र में निवास किया [वस्त्र रूप में अवतरित हो गये—"तुलसी कियो इगारहों, बसन बेष यदुनाथ।" (दोहावली १६८)]। श्रीद्रौपदीजी के .वस्त्र के भीतर से भाँति-भाँति के वस्त्र निकलने लगे। सभा के बीच में द्रौपदीजी के वस्त्रों का ढेर लग गया। तब दुश्शासन थक कर एवं लज्जित होकर बैठ गया। यह देखकर सभा ने कौरवोंको धिक्कार दिया। भगवान् की इस प्रपन्न-रक्षण लीला से कौरवों का गर्व चूर्ण हो गया।

इस प्रकार द्रौपदीजी की पुकार पर आपने उसकी प्रतिज्ञा पूरी की है। प्रतिपक्षियों को पराजित होना पड़ा। इसकी विरुदावली लोक में तो प्रसिद्ध ही है; देवगण भी इसके साक्षी हैं।

'तुलसी भजु सोच-बिमोचन को···'—श्रीप्रह्लादजी का शोच छुड़ाने के लिये उनकी प्रतिज्ञानुसार भगवान् ने खंभे से प्रकट होकर उनकी रक्षा की है 'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं··' इस उपर्युक्त श्लोक से प्रकट है। गजेन्द्र की पुकार के अनुसार आप वैकुण्ठ से आतुरी में दौड़कर आये हैं और तुरत रक्षा की है। द्रौपदीजी की प्रतिज्ञा के अनुसार द्वारका से तुरत आकर आपने रक्षा की है। यद्यपि भगवान् सर्वव्यापक हैं, वहीं से प्रकट होकर भी रक्षा कर देते, पर उन्हें तो अपने भक्तों को बड़ाई देनी थी और यह भी दिखाना था कि मैं भक्तों की रुचि के अनुसार उनका पालन करता हूँ। यथा—"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद-पुरान-साधु-सुर साखी ॥" (मा० अ० १८); "जौ जहँ-तहँ पन राखि भगत को भजन-प्रभाउ न कहते। तौ कलि कठिन करम मारग जड़ हम केहि भाँति निबहते ॥" (वि० ९७); तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); अर्थात् जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ (उनके मनोवांछित प्रकार से भजता हूँ, दर्शन देता हूँ)।

इस छन्द में भक्त-प्रण-रक्षण कहा गया, आगे के छन्द में इन्हीं तीनों उदाहरणों से भगवान् का प्रण (दीन दयालुता) रक्षण करना कहते हैं—

[६]

नर नारि उघारि सभा महँ होति दियो पट, सोच हरयो मन को।

प्रह्लाद - बिषाद - निवारन, वारन-तारन, मीत अकारन को ॥
जो कहावत दीनदयालु सही, तेहि भीर सदा अपने पन को ।
तुलसी तजि आन भरोस भजे, भगवान भलो करिहैं जन को ॥

शब्दार्थ—नर नारि = नरावतार अर्जुन की स्त्री द्रौपदी; यथा—"नरस्त्वं पूर्व देहे वै नारायणसहायवान् ।" (महा० वन० ४०।१); अर्थात् शिवजी ने अर्जुन से कहा है कि तुम पूर्व जन्म में नर नामक ऋषि थे और नारायण तुम्हारे साथी थे । वारन (सं० वारण) = हाथी । भीर = कष्ट, विपत्ति, चिन्ता ।

अर्थ—अर्जुन की स्त्री द्रौपदी सभा में नंगी की जा रही थी, जिन्होंने उसे वस्त्र दिया है और उसके मन का शोच दूर किया है । जो प्रह्लादजी के दुःख का निवारण करनेवाले और हाथी का उद्धार करनेवाले तथा (सब के) निःस्वार्थ मित्र एवं सच्चे दीनदयालु कहलाते हैं, उन्हें अपने प्रण (प्रतिज्ञा, दीनदयालुता की प्रतिज्ञा) की सदा चिन्ता रहती है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि औरों का भरोसा छोड़कर (विश्वासपूर्वक) उन भगवान् का भजन करने पर वे अपने भक्त का अवश्य भला करेंगे ।

विशेष—'नर नारि उघारि...'—द्रौपदीजी की लज्जा रखने में भगवान् ने अपने दीन-दयालुता रूपी प्रण की रक्षा की है, पीछे भी उस आश्रित की भीर (चिन्ता) बनी रही, द्रौपदी के शत्रुओं का नाश करके आप उनसे उऋण हुए हैं; यथा—"ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नाऽपसर्पति । यद्गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥" (महा० उद्योग० ५६।२२); अर्थात् दूत बनकर हस्तिनापुर गये हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने संजय के द्वारा सँदेशा भेजा है कि मेरे दूर रहने पर द्रौपदीजी ने, हे गोविंद ! ऐसा कह कर जो मुझे पुकारा है, वह बहुत दिन का बढ़ा हुआ ऋण अभी तक मेरे हृदय से बाहर नहीं हुआ है । इस वचन से भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि द्रौपदीजी के प्रपत्ति के फलस्वरूप में मैं ही समस्त कौरवों का संहार कराऊँगा । तथा—"विदित त्रिलोक तिहुँकाल न दयालु दूजो, आरत-प्रनतपाल को है प्रभु बिन ? ॥ लाले-पाले पोषे-तोषे आलसी अभागी अघी नाथ पै अनाथनि सों भये न उरिन ॥" (वि० २५३) । 'भीर' यथा—"कौन भीर जो नीरदहिं जेहि लागि रटत बिहंग ?" (कृष्ण गीतावली ५४) ।

'प्रह्लाद बिषाद...'—श्रीप्रह्लाद की भी चिन्ता थी ही, पिता के द्वारा आये

हुए कष्टों पर उनकी रक्षा करते ही थे, अन्त में उनके शत्रु पिता का नाश कर जन्म भर सुखी रक्खा और अंत में अपना धाम दे सदा के लिये सुखी कर दिया। गजेन्द्र की तुरत ही रक्षा की, क्योंकि पहले तो उसने भगवान् की शरणागति ही नहीं की थी, जैसे शरण हो पुकार की, वैसे ही तुरत रक्षा हुई और उसी समय आपने उसे अपना धाम दिया है।

'जो कहावत दीनदयालु सही'; यथा—"जो प्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन बेद जस गावा॥" (मा० बा० ५८)। 'तेहि भीर सदा अपनेपन को'; यथा—"आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति-भंजन पन मोरा॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला॥" (मा० लं० ६२)।

'तजि आन भरोस भजै...'—जो औरों का भी भरोसा रखता है, वह शुद्ध शरणागत ही नहीं है; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहाँ बिस्वासा॥" (मा० उ० ४५); और विश्वास बिना शरणागति नहीं होती।

'भगवान भलो करिहैं जन को'—भगवान् विशेषण से ही श्रीरामजी के भला करने का भाव प्रकट होता है; यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" (वि० पु० ६।५।७८); अर्थात् जो जीवों की उत्पत्ति, प्रलय एवं उनका आना और जाना तथा उनकी विद्या एवं अविद्या को जानता है, वह भगवान् पद से कहा जाता है। जानकर यहाँ पालन करने का तात्पर्य है; यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥ प्रनत पाल पालिहिं सब काहू। देव दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥" (मा० अ० ३१३)। "जन की कहु क्यों करिहै न सँभार, जो सार करै सचराचर की॥" (छन्द २७)।

'मीत अकारन को'—इस विशेषण के अनुकूल ही 'दीनदयालु' भी कहा गया है; यथा—"दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न दृश्यते।" (श्रीभगवद्गुण दर्पण); अर्थात् निस्स्वार्थ भाव से पालन करना दया गुण है, तथा—"दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता॥" (महा०शान्ति०३१३।९०); अर्थात् (निस्स्वार्थ भाव से) प्राणीमात्र को सुख देने की चेष्टा दया है।

[१०]

रिषि नारि उधारि, कियो सठ केवट मीत, पुनीत सुकीर्ति लही।

निज लोक दियो सबरी-खग को, कपि थाप्यो सो मालुम है सबही ॥
दससीस बिरोध सभीत बिभीषन भूप कियो जग लीक रही।
करुनानिधि को भजु रे तुलसी रघुनाथ अनाथ के नाथ सही ॥

अर्थ—(जिन श्रीरामजी ने) गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या का शाप से उद्धार कर और मूर्ख केवट को मित्र बनाकर पवित्र कीर्ति प्राप्त की है। शबरी और गृध्रराज-जटायु को अपना लोक प्राप्त कराया तथा श्रीसुग्रीवजी को राज्य पर स्थापित किया, यह सब किसी को ज्ञात है। रावण के विरोध से डरे हुए श्रीविभीषणजी को राजा बनाया, इसकी संसार में कीर्त्ति फैल रही है। अरे तुलसीदास ! ऐसे करुणासागर श्रीरामजी का भजन कर, श्रीरघुनाथजी अनाथों के सच्चे स्वामी हैं।

विशेष—'रिषि नारि उधारि···'; यथा—"मुनि तिय तरी लगत पगधूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥" (मा० बा० ३५६); "खग-सबरी पितु-मातु ज्यों मान्यो, कपि को किये मीत। केवट भेट्यो भरत ज्यों, ऐसो को कहु पतित-पुनीत ॥" (वि० १६१)। केवट ने स्वयं कहा है; यथा—"समुझि मोरि करतूति कुल, प्रभु महिमा जिय जोइ। जो न भजै रघुबीर पद, जग बिधि बंचित सोइ ॥" (मा० अ० १६५)।

'दससीस बिरोध सभीत बिभीषन···'; यथा—"आयो सरन सभीत बिभीषन जेहि कर कमल तिलक कीन्हो।" (वि० १३८); "रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहैं।" (गी० सुं० ३४); "रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥" (मा० सुं० ४६)।

'करुनानिधि को भजु···'—उपर्युक्त अहल्या आदि पर करुणा की है, ऐसे ही तुझ पर करुणा करेंगे। तेरे जैसे अनाथ के वे ही ठीक नाथ हैं। अतः, उनका भजन कर और अनन्य शरण होजा।

मत्तगयंद सवैया [११]

कौसिक, बिप्रबधू, मिथिलाधिप के सब सोच दले पल ;माहैं।
बालि-दसानन-बंधु-कथा सुनि सत्रु सुसाहिब-सील सराहैं ॥
ऐसी अनूप कहै तुलसी रघुनायक की अगुनी गुन गाहैं।

आरत, दीन, अनाथन को रघुनाथ करैं निज हाथन छाँहैं ॥

शब्दार्थ—अगुनी = असंख्य, अगणित । गुन गाहैं=गुण गाथाएँ ।

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी, श्रीअहल्याजी और श्रीमिथिलेश जनकजी महाराज की सारी चिन्ताओं को क्षण भर में दूर कर दिया है । वाली के भाई श्रीसुग्रीवजी और रावण के भाई श्रीविभीषणजी की कथाएँ सुनकर शत्रु भी सुन्दर स्वामी श्रीरामजी के शील-स्वभाव की सराहना करते हैं (कि आप शत्रुओं के भाइयों पर भी ऐसी दया करते हैं तो मित्रों के प्रति सौहार्द्य का क्या कहना है ?) । श्री तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी की ऐसी ही अनुपम असंख्य गुण गाथाएँ हैं । आर्त्तों, दीनों और अनाथों को श्रीरघुनाथजी अपने हाथों की छाया के आश्रित कर लेते हैं ।

विशेष—'कौसिक, बिप्रबधू मिथिलाधिप···'; यथा—"कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को । प्रभु अनहित हित को दियो फल कोप कृपा को ॥ हर्यो पाप आप जाइ कै संताप सिला को । सोच मगन काढ़्यो सही साहेब मिथिला को ॥" (वि० १५२) । "जनक लह्यो सुख सोच बिहाई ।" (मा०बा०२६) ।

'बालि-दसानन बंधु कथा···'; यथा—"सुनि सीतापति सील-सुभाउ । अपनाये सुग्रीव-बिभीषन तिन्ह न तज्यो छल छाउ । भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ।।" (वि० १००); तथा—"रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि । भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि ॥ कौन सुभग सुसील बानर, जिन्हहिं सुमिरत हानि । किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि ॥" (वि० २१५)—ये वचन श्रीरामजी के शील-स्वभाव की सराहना में श्रीगोस्वामीजी के हैं ।

शत्रु रावण के गुप्तचरों ने आकर विभीषण-शरणागति की व्यवस्था देखी है । श्रीरामजी के शील-स्वभाव पर मुग्ध होकर उनके हृदय का कपट भूल गया; यथा—"जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आये, पाछे रावन दूत पठाये ॥ सकल चरित तिन्ह देखे, धरे कपट कपि देह । प्रभु गुन हृदय सराहहिं, सरनागत पर नेह ॥ प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ । अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ॥" (मा०सुं० ५०-५१) । उन्हीं दूतों ने रावण के समक्ष भी शत्रु श्रीरामजी की बड़ाई की है । यह रामचरितमानस सुं० ५३–५५ में देखिये । शत्रु कुम्भकर्ण ने विभीषण-शरणा-

गति सुनकर श्रीरामजी की सराहना की है; यथा—"स्यामगात सरसीरुह लोचन। देखउँ जाइ ताप त्रय मोचन॥", "बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर॥" (मा० लं० ६१–६२)।

'ऐसी अनूप कहैं···'; यथा—"कुजनपाल गुन बर्जित, अकुल अनाथ। कहहुँ कृपानिधि राउरि कस गुनगाथ॥" (बरवै रा० ३५); तथा—"नाथ! गुनगाथ सुनि होत चित चाउ सो।···" (वि० १८२); एवं—"बारक बिलोकि बलि कीजै मोहिं आपनो।···" (वि० १८०); इन पदों में श्रीरामगुणों की अनूपता देखिये।

'आरत दीन अनाथनि को···'; यथा—"राम! राखिये सरन राखि आए सब दिन। बिदित त्रिलोक तिहुँकाल न दयालु दूजो, आरत-प्रनतपाल को है प्रभु बिन॥ लाले पाले पोषि-तोषि आलसी-अभागी-अघी, नाथ! पै अनाथनि सों भये न उरिन॥" (वि० २५३); तथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति, कोउ लाँघत, कोउ उतरत थाहैं॥···जे भुज बेद-पुरान सेष-सुक सारद सहित सनेह सराहैं। कल्पलताहु की कल्पलता वर, कामदुहाहु की कामदुहा हैं॥ सरनागत आरत प्रनतनि को दै-दै अभयपद ओर निबाहैं। करि आईं, करिहैं, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं॥" (गी० उ० १३)।

आर्त्त गजेन्द्र और द्रौपदी आदि, दीन कोल-किरात एवं शवरी आदि और अनाथ सुग्रीव-विभीषण आदि थे, इन पर श्रीरामजी ने करच्छाया की है, इन पर फिर किसी की आँच नहीं पड़ पाई, लोक-परलोक का पूर्ण सार-संभार किया है, यही कर की छाया करने का तात्पर्य है।

उपजाति सवैया [१२]

तेरे बेसाहे बेसाहत औरनि, और बेसाहि कै बेचन हारे।
ब्योम, रसातल, भूमि भरे नृप कूर, कुसाहिब सेतिहुँ खारे॥
तुलसी तेहि सेवत कौन मरै? रज ते लघु को करै मेरु ते भारे।
स्वामी सुसील समर्थ सुजान, सो तोसो तुही दसरत्थ दुलारे॥

शब्दार्थ—बेसाहना = द्रव्य देकर मोल लेना। खारे = बुरे, खट्टे। सेतिहुँ = मुक्त में भी।

अर्थ—(हे श्रीरामजी!) आपके खरीद लेने पर (अपना भक्त बना लेने पर,

अपना लेने पर) वह (जीव) औरों (अन्य देव आदि) को भी खरीद सकता है (वश कर सकता है, अन्य देव आदि भी स्वतः उसके अनुकूल बन जाते हैं)। और (दूसरे देव आदि) तो खरीद कर अपना (भक्त बना कर) फिर उसे दूसरे के हाथ बेंच देनेवाले हैं (अर्थात् अपने भक्तों को अन्य के अधीन करके स्वयं पृथक् हो उसकी कर्मानुसार दुर्दशा कराने वाले हैं)। आकाश (द्यो एवं स्वर्ग), रसातल (पाताल) और पृथिवी में अनेक निर्दय राजा और दुष्ट-स्वामी भरे पड़े हैं, परन्तु वे तो मुफ्त में भी प्राप्त हो जायँ, तब भी खट्टे (अप्रिय) ही हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उनकी सेवा करता हुआ कौन मरता फिरे ? धूल के समान लघु (तुच्छ) सेवक को सुमेरु से भी बड़ा भारी बनानेवाला (स्वामी, आपके अतिरिक्त) और कौन है ? हे दशरथ महाराज के प्यारे पुत्र श्रीरामजी ! आपके समान सुशील, समर्थ और सुजान स्वामी तो (एक) आप ही हैं।

विशेष—'तेरे बेसाहे···'; यथा—"जो पै चेराई राम की करतो न लजातो। तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो ॥'···राम सोहाते तोहिं जो तू सबहिं सोहातो। काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो ॥" (वि० १५१); अर्थात् भक्त जब प्रीत्यात्मक भावसे श्रीरामजी के सम्मुख (शरण) होता है, तब श्रीरामजी भी इसके भावानुसार अपने चराचर शरीर से प्रीत्यात्मक भावसे इसके सम्मुख (अनुकूल) हो जाते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); अर्थात् जो (भक्त अपनी अपेक्षानुसार) जिस प्रकार मेरा भजन करते हैं, उनको मैं (उनके अपेक्षानुसार) वैसे ही भजता हूँ (दर्शन देता हूँ); तथा—"तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति ॥" (वि० २३३)। जैसे श्रीभरतजी प्रीतिपूर्वक श्रीरामजी को मनाने जाते थे, श्रीत्रिवेणी में इनके कथन से सद्भाव जानकर सभी मेघ-वायु आदि भी अनुकूल हो गये, पृथिवी कोमल हो गई, इत्यादि। तथा—"यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः। तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥" (भाग० ४।६।४७); अर्थात् मित्रता आदि गुणों से जिस पर भगवान् प्रसन्न होते हैं, उसके प्रति सभी प्राणी अनुकूल होकर स्वतः मिलते हैं, जैसे जल नीचे को ही झुकता (ढलता) है।

'और बेसाहि के बेंचनिहारे'—और देवों की कौन बात है, ब्रह्माजी और

शिवजी ने भी हिरण्यकशिपु, रावण और कुम्भकर्ण आदि को अपना भक्त मान कर पहले वरदान दिया, फिर उनके कर्मानुसार दूसरों के हाथ से फल रूप दंड दिलाया है; यथा–"भली भाँति पहिचाने जाने साहिब जहाँ लौं जग, जूड़े होत थोरे, थोरे ही गरम। प्रीति न प्रबीन, नीति हीन, रीति के मलीन, मायाधीन किये सब कालहू करम॥ दानव दनुज बड़े महामूढ़ मूड़ चले, जीते लोकनाथ नाथबल निभरम। रीझि-रीझि दिये बर खीझि खीझि घालेघर, आपने निवाजे की न काहू के सरम॥" (वि० २४६); तथा वि० २१६ और २१७ पद पढ़िये।

'व्योम रसातल भूमि भरे···'—स्वर्ग के इन्द्र आदि देवता, पाताल के वासुकी आदि नाग और पृथिवी के अनेक राजा भी स्वामी हैं, पर ये सब स्वार्थ के साथी होने से राग-द्वेष पूर्ण हैं और निर्दयी हैं; यथा—"छोटो-बड़ो चहत सब स्वारथ जो बिरंचि बिरच्यो है।" (वि० २३०)। "बिबुध सयाने पहिचाने कैधौं नाहीं नीके, देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो।" (वि० २६४); "राम रावरे बिनु भये जन···आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो। हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार, मुँह बायो॥" (वि० २७६)। अतः, ये 'सेतिहूँ खारे' हैं।

'रज ते लघु को करै मेरु ते भारे'; यथा—"छार ते सँवारि कै पहारहू तें भारी कियो, गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ कै।" (छंद ६१)। "मसकहि करै बिरंचि प्रभु, अजहिं मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन॥" (मा० उ० १२२); "तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥" (मा० लं० ३३)।

'स्वामी सुसील···'—सुशील हैं, इससे हीन-दीन भक्त का भी आदर करते हैं, समर्थ हैं, इससे सब प्रकार से इसकी रक्षा करते हैं, सुजान हैं, इससे इसकी सब प्रकार की रुचियों को जानकर इसका पालन करते हैं। 'सुशील'; यथा—"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु-समान। तुलसी कहूँ न राम से, साहब सील निधान॥" (मा० बा० २६); 'समर्थ'; यथा—"जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥" (मा० उ० ११६); 'सुजान'; यथा—"स्वामि सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥ प्रनतपाल पालहिं सब काहू।" (मा० अ० ३१३)।

'तोसों तुही…'; यथा—"राम समान राम निगम कहै।" (मा० उ० ६१)।
अलंकार—'अनन्वय'—'तोसो तुही…' इस वाक्यखंड में।

कवित्त [१३]

जातुधान, भालु, कपि, केवट, बिहंग जो-जो,
पाल्यो नाथ ! सद्य सो-सो भयो काम-काज को।
आरत अनाथ दीन मलिन सरन आये,
राख्यो अपनाइ, सो सुभाव महाराज को॥
नाम तुलसी पै भोंड़े भाँग ते भयो है दास,
किये अंगीकार एते बड़े दगाबाज को।
साहेब समर्थ दसरत्थ-के दयालु देव,
दूसरो न तोसो तुहीं आपने की लाज को॥

अर्थ—राक्षस विभीषण, भालू जाम्बवान् आदि, वानर सुग्रीव आदि, केवट गुह आदि और पक्षी जटायु आदि जिस-जिस को आपने पाला (अपनाया) है। हे नाथ ! वही-वही तुरत (निकम्मे से) काम-काज का हो गया। दुखी, अनाथ, दीन और मलिन, जो कोई शरण में आये, उन्हीं को अपना बना कर आपने उनकी रक्षा की है, महाराज (आप) का ऐसा (शरण-वत्सल) स्वभाव है। नाम तो मेरा तुलसी है, पर मैं भाँग से भी बुरा हूँ, फिर भी मैं दास हो गया हूँ; इतने बड़े दगाबाज को भी आपने अङ्गीकार कर लिया है। हे दशरथ नन्दन श्रीरामजी ! आपके समान समर्थ स्वामी और दयालु देवता दूसरा नहीं है; अपने शरणागत की लज्जा रखनेवाले आपके समान आप ही हैं।

विशेष—'जातुधान, भालु, कपि…'—श्रीविभीषणजी शरण होते ही लंकेश हुए, जाम्बवान्‌जी मंत्री हुए, श्रीसुग्रीव कपीश हुए, अंगद युवराज हुए, केवट गुह ने सखा का पद पाया और जटायुजी पिता का पद पाकर श्रीजानकी-रक्षा में प्राण दे उत्तम यश एवं सद्‌गति के पात्र हुए। तुरत इन सबने इन फलों की प्राप्ति की है।

'आरत अनाथ दीन मलिन…'—आर्त्त गजेन्द्र-द्रौपदी आदि, अनाथ सुग्रीव-विभीषण आदि, दीन शबरी आदि, मलिन कोल-किरात आदि, शरण में आये तो आपने सबको कृतार्थ किया है।

'नाम तुलसी पै भोड़े भाँग ते...'; यथा—"केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥" (बरवै रा० ५६); तथा—"नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान-निवास। जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास॥" (मा० बा० २६)।

'एते बड़े दगाबाज को...'; यथा—"स्वारथ को साज न समाज परमारथ को, मोसों दगाबाज दूसरो न जग जाल है।" (छंद ६५); "मानस बचन काय किये पाप सतिभाय, राम को कहाइ दास दगाबाज पुनी सो॥" (छंद७२)।

'तो सो तुही आपने की लाज को'; यथा—"आरति-हरन सरन समरथ सब दिन अपने की लाज के। तुलसी पाहि कहत नत-पालक मोहु से निपट निकाज के॥" (गी० सुं० २८)—यह श्रीविभीषणजी ने कहा है। तथा आगे छन्द १५ के 'बीर बाहु बोल को' इसका विशेष भी देखिये।

[१४]

महाबली बालि दलि, कायर सुकंठ कपि
सखा किये, महाराज! हो न काहू काम को।
भ्रातघात-पातकी निसाचर सरन आये,
कियो अंगीकार, नाथ! एते बड़े बाम को॥
राय दसरत्थ-के! समर्थ तेरो नाम लिये,
तुलसी से कूर को कहत जग राम को।
आपने नेवाजे ही की लाज महाराज के,
सुभाव समुझत मन मुदित गुलाम को॥

अर्थ—हे महाराज श्रीरामजी! आपने महाबलवान् वाली को मार कर कादर सुग्रीव को मित्र बनाया है, वह तो किसी काम का नहीं था। भाई रावण पर प्रहार कराने का पाप चाहनेवाले राक्षस विभीषण को शरण आने पर—इतने बड़े प्रतिकूल वृत्तिवाले को भी—आपने स्वीकार कर लिया है। हे महाराज दशरथ के सुपुत्र! हे समर्थ! आपका नाम लेने पर इस तुलसीदास-सरीखे क्रूर (कठिन-हृदय एवं निर्दय) को भी जगत् में लोग श्रीरामजी का (भक्त) कहते हैं। अपने अनुग्रहीत भक्त की ही लाज रखने का महाराज (आप) का स्वभाव है, यह समझते हुए सेवक का मन आनन्दित होता है।

विशेष—'महाबली बालि दलि···'—श्रीरामजी यदि स्वार्थ चाहते होते तो वे वाली से मित्रता करते। वाली ने कहा है; यथा—"सुग्रीव-प्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया। मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः। मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान्भवेः ॥४९॥ राक्षसं च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम्। कण्ठेबद्ध्वा प्रदद्यां तेऽनिहतं रावणं रणे ॥५०॥ न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम्। आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव ॥५१॥" (वाल्मी० ४।११); अर्थात् सुग्रीव के हित के लिये जो आपने मुझे मारा है, वह प्रयोजन यदि आप मुझसे कहते तो मैं एक दिन में ही श्रीजानकीजी को ला देता। आपकी स्त्री का हरण करनेवाले दुरात्मा रावण का गला बाँधकर जीता हुआ ही आपके सामने ला देता। समुद्र के जल में या पाताल में भी यदि श्रीजानकीजी होतीं, तो भी मैं ला देता, जैसे श्वेताश्वतर की श्रुति लाई गई है।

श्रीरामजी ने तो दीन जानकर सुग्रीवजी को शरण में रख कर उनका पालन किया है; यथा—"नाथ सैल पर कपि पति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई॥ तेहि सन नाथ मैत्री कीजै। दीन जानि तेहि अभय करीजै॥" (मा०कि० ३)। 'कायर सुकंठ····'—वाली के भय से भगा फिरता था। अतः कादर था। 'हो न काहू काम को'; यथा—"काज को न कपिराज, कायर कपिसमाज···" (गी० लं० २३); ऐसे सुग्रीव को आपने सखा (सहायं ख्यातीति सखा एवं समानं ख्यातीति सखा; अर्थात् सहायक होने का एवं समानता) का महत्त्व दिया।

इस प्रकार आप शरणागत पर प्रेम करते हैं; यथा—"बालि बली बलसालि दलि, सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपालु को, बिरद गरीब-निवाज॥ कहा बिभीषन लै मिल्यो, कहा बिगारी बालि! तुलसी प्रभु सरनागतहि, सब दिन आये पालि॥" (दोहावली १५८–१५९)।

'भ्रात-घात-पातकी निसाचर···'; यथा—"बैरि बंधु निसिचर अधम, तज्यो न भरे कलंक। झूठे अघ सिव परिहरी। तुलसी सांइ ससंक॥" (दोहावली १६६); "रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी। सरन गये आगे होइ लीन्हो, भेंट्यो भुजा पसारी॥" (वि० १६६)। विभीषणजी की शरणागति पर उसके रावण-प्रमाद कहने पर श्रीरामजी ने रावण-वध की प्रतिज्ञा की है और फिर विभीषणजी ने भी रावण-वध में सहायतार्थ प्रतिज्ञा की है, यह

वाल्मीकीय रामायण में प्रसिद्ध है, यही उसका भ्रातघात-पातकी होना है। ज्येष्ठ भाई पितावत् मान्य है, उससे विरुद्ध होकर उन्होंने शरणागति की है; शरण-वत्सलता से प्रभु ने उसके दोष नहीं देखे।

'राय दसरत्थ के···'—आपके नाम का ऐसा महत्त्व है; यथा–"तुलसी-से खोटे खरे होत ओट नाम ही की, तेजी माटी मगहू की मृगमद साथ जू।" (छन्द १६); "राय दसरत्थ के समत्थ राम राजमनि, तेरे हेरे लोपै लिपि बिधिहू गनक की।।" (छन्द २०)।

'आपने निवाजेही की लाज···'; यथा–"तोसों तुही आपने की लाजको" (छन्द १३) ऊपर इसपर प्रमाण लिखा गया। यह समझ कर सेवकों को पूर्ण भरोसा हो जाता है कि स्वामी अपना अनुगृहीत समझ मेरा सार-सँभाल अवश्य रक्खेंगे।

[१५]

रूप-सील-सिंधु गुन सिंधु बंधु दीन को,
दया निधान, जानमनि, बीर-बाहु-बोल को।
श्राद्ध कियो गीध को, सराहे फल सबरी के,
सिला-साप-समन निबाहे नेह कोल को।।
तुलसी उराउ होत राम को सुभाउ सुनि,
को न बलि जाइ, न बिकाइ बिनु मोल को ?।
ऐसेहु सुसाहिब सों जाको अनुराग न, सो
बड़ोइ अभागो, भाग भागो लोभ-लोल को।।

शब्दार्थ—जान मनि (जान-मणि) = ज्ञानियों में श्रेष्ठ। उराउ = हौसला, उत्साह। भाग-भागो = जिसका भाग्य उससे दूर भाग गया हो।

अर्थ—श्रीरामजी रूप और शील के सागर, गुणों के समुद्र, दीनों के सहायक, दया के आधार, ज्ञानियों में श्रेष्ठ और वचन एवं बाहु के शूरवीर हैं। इन्होंने गृध्र जटायु का श्राद्ध किया है, शबरीजी के फलों की बड़ाई की है, शिला हुई अहल्या के शाप का दमन किया है और कोलों के साथ भी स्नेह का निर्वाह किया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी का स्वभाव सुनकर उत्साह होता है, इस स्वभाव पर कौन न्योछावर नहीं होगा और कौन विनामोल

का नहीं बिक जायगा ? ऐसे उत्तम स्वभाव वाले श्रेष्ठ स्वामी श्रीरामजी से जिसका अनुराग नहीं है, वह बड़ा ही अभागा है और उस लोभ से चञ्चल मनुष्य का भाग्य उससे दूर भाग गया है।

विशेष - 'रूपसील सिंधु…'—यहाँ क्रमशः शील आदि बर्त्ताव के उदाहरण दिये गये हैं। गृध्र जटायु की श्राद्ध करने में शील-सागर होने का चरितार्थ है। शील; यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च वीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण); अर्थात् हीन, दीन, मलिन, वीभत्स और कुत्सित व्यक्ति के भी दोषों को न देखकर उसका आदर करना शील गुण है। यहाँ पक्षी जटायु को भी आपने गोद में लिया, शोक किया और पितावत् महत्त्व देकर उनका श्राद्ध भी किया है। दीन बन्धु हैं, इससे दीन शबरी के फलों की सराहना की है; यथा—"कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि। प्रेम सहित प्रभु खाये बारं बार बखानि॥" (मा० अर० ३४)। दया निधान हैं, इससे अहल्या का उद्धार किया है; क्योंकि उसने कुछ भी कृत्य नहीं किया, वह तो पत्थर होकर पड़ी थी, श्रीरामजी ने स्वयं वहाँ जा उसका कल्याण किया है; यथा—"ऐसे राम दीन-हितकारी। अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी॥ साधन हीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि-नारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर साप ते तारी॥" (वि० १६६); "अस प्रभु दीन बंधु हरि, कारन-रहित दयाल।" (मा० बा० २११)—यह अहल्योद्धार पर ही कहा गया है। निस्सवार्थ भाव से पालन करना दया है, छन्द ६ में प्रमाण देखिये। जानमणि हैं, इससे चातुर्य गुण से कोलों से भी स्नेह का बर्त्ताव करते हैं, उनकी भाषा में उनसे हिल-मिलकर बातें करते हैं। श्रीरामजी वानर, रीछ, पक्षी और राक्षस आदि सबकी भाषाओं में उनसे व्यवहार करते हैं, यह लोकोत्तर चातुर्यगुण है; यथा—"कीशानां भाषया रामः कीशेषुव्यपदेशिकः॥ ऋक्षराक्षसपक्षीषु तेषां गीर्भिस्तथैव सः॥ अन्यान्यदेशभाषाभिस्तत्रैव व्यवहारकः। सर्वत्र चतुरो रामः…" (भगवद्गुण दर्पण)

'बीर बाहु बोल को'—जिस आश्रित को अपनी बाँह की छाया का वचन देते हैं, उसका निर्वाह करने में आप शूर वीर हैं; यथा—"तुलसी नमत अवलोकिये बलि बाँह-बोल दै विरुदावली बुलायो॥" (वि० २७६); "तुलसी तृन

जल कूल को, निरधन निपट निकाज। कै राखै कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ॥" (दोहावली ५४४); "भजन विभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज। राम गरीब निवाज के, बड़ी बाँह-बोल की लाज ॥" (वि० १९३); "बोल को अटल, बाँह को पगार दीन बंधु···" (छन्द १६)।

'तुलसी उराउ होत···'—श्रीराम-स्वभाव की श्रेष्ठता; यथा—"सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मोपर कृपा परम मृदुलाई॥ अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥" (मा० उ० १२३); यह भुशुंडिजी ने कहा है। तथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (मा० उ० १); "जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥" (मा० अ० २३३)—यह भरतजी के प्रसंग में कहा गया है। मा० सुं० ४७ तथा गी० सुं० ४५ में श्रीमुख कथित स्वभाव पढ़ने योग्य हैं।

'ऐसेहु सुसाहिब सो जाको···'; यथा—"तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई। तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई॥" (वि० १६४); "समुझि-समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसि-दास अनयास रामपद पाइहै प्रेम-पसाउ॥" (वि० १००); "उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (मा० सुं० ३३)। एवं—"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९); अर्थात् हे भारत! जो मूढ़ता रहित पुरुष इस प्रकार से मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और मुझको सर्वभाव से भजता है।

'भाग-भागो'; यथा—"साहिब सीतानाथ सों, जब घटिहै अनुराग। तुलसी तबहीं भाल तें, भभरि भागिहै भाग॥" (दोहावली ७०)। 'सो बड़ोइ अभागो'; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन-पद बिमुख अभागी॥" (वि०१४०)।

[१९]

सूर सिरताज महाराजनि को राजा राम,
जाको नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो।
साहिब कहाँ जहान जानकीस सो सुजान,
सुमिरे कृपालु के मराल होत खूसरो॥
केवट पषान जातुधान कपि-भालु तारयो,

अपनायो तुलसी सो धींग धमधूसरो।
बोल को अटल, बाँह को पगार, दीनबंधु,
दूबरे को दानी, को दयानिधान दूसरो ॥

शब्दार्थ—जहान=संसार। खूसरो (खूसट, सं० कौशिक)=उल्लू, वि० शुष्क हृदय। धींग=हट्टांग, हट्टाकट्टा, उपद्रवी, असभ्य। धमधूसर=मूर्ख।

अर्थ—श्रीरामजी शूरों में श्रेष्ठ और महाराजों के भी राजा हैं, जिनका नाम लेते ही ऊसर (जिस भूमि में रेह अधिक हो और कुछ उत्पन्न न हो) भूमि भी सुन्दर उपजाऊ खेत हो जाती है। श्रीजानकीजी के पति श्रीरामजी के समान सुजान स्वामी संसार में कहाँ है? उन कृपालु का स्मरण करने से उल्लू भी हंस हो जाते हैं। उन्होंने केवट गुह, पाषाण रूपिणी अहल्या, राक्षस विभीषण, वानर सुग्रीव आदि और भालू जाम्बवान् आदि को तारा है (सद्गति दी है) और फिर तुलसीदास-सरीखे धींग-धमधूसर को भी अपनाया है। अतः उनके समान बात का दृढ़ और भुजाओं का आश्रय देनेवाला (शरण-पालक) तथा दीनों का सहायक एवं दुर्बलों को दान देनेवाला दया का सागर दूसरा कौन है?

विशेष—'सूर सिरताज'; यथा—"बाँह पगार उदार कृपालु, कहाँ रघुबीर सो बीर बियो है ॥" (लं० ५३); 'महाराजनि के राजा राम', यथा—"भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला ॥" (मा० उ० २१); 'जाको नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो'; यथा—"पतित पावन राम नाम सों न दूसरो। सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सों ऊसरो ॥" (वि० ६६); "राम नाम को प्रभाउ, ताउ महिमा प्रताप, तुलसी-से जग मानियत महामुनी सो ॥" (छन्द ७२); अर्थात् श्रीगोस्वामीजी पहले ऊसर भूमि के समान थे, इससे शास्त्रोपदेशरूपी वर्षा का जल इनके हृदयरूपी भूमि में नहीं सोखता था, इसीसे धर्म-कर्म रूपी बीज के अंकुर ही नहीं निकलते थे। जब से आप श्रीरामनामाराधन में प्रवृत्त हुए, तब से आपकी बुद्धि बड़ी उपजाऊ हो गई, जिससे श्रीरामचरितमानस एवं विनयपत्रिका आदि द्वादश ग्रन्थ निर्मित हुए। सारा जगत् आपको महामुनि वाल्मीकि की भाँति मानता है।

'साहिब कहाँ जहान···'; यथा—"जानि सिरोमनि कोसलराऊ।" (मा० बा० २७)। "तुलसी कहूँ न राम सों, साहिब··· ॥" (मा० बा० २६); "स्वामि

सुजान जान सबही की । रुचि लालसा रहनि जन जी की ॥" (मा० अ० ३१३)।

'सुमिरे कृपालु के मराल होत खूसरो'—उलूक दिवान्ध कहाता है। पाप को उलूक कहा गया है; यथा—"पाप उलूक निकर सुखकारी।" (मा० अर० ४३); तथा—"अघ उलूक जहँ-तहाँ लुकाने।" (मा० उ० ३०); अर्थात् पापमय प्रकृति वाले भी यदि श्रीरामनाम का स्मरण करने लगते हैं तो वे श्रीराम-कृपा से हंसवत् विवेकी हो जाते हैं।

'केवट पषान जातुधान…'—केवट अस्पृश्य था, पाषाण रूप में अहल्या शापित थी, विभीषण राक्षस था, वानर-भालू चञ्चल पशु ही थे जिस कृपा से आपने इनको अपनाया है, उसी से इस धींग-धमधूसर तुलसी को भी अपनाया है।

'बोल को अटल बाँह को पगार…'—ऊपर जो केवट आदि का अपनाना कहा गया, उसके सम्बन्ध के गुण का यहाँ वर्णन करते हैं कि आप अपनी बात के पक्के हैं। समुद्र किनारे आपने जो प्रतिज्ञा की थी; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६। १८। ३३); अर्थात् श्रीरामजी ने तीर्थपति समुद्र के तट पर असंख्य भक्त वानरों के समाज में प्रतिज्ञापूर्वक कहा है कि मेरी शरण आकर एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार जो (आत्म-समर्पण की) याचना करता है, उसे सभी प्राणियों से एवं सभी प्राणियों के लिये मैं अभय देता हूँ; यह मेरा व्रत है। इस प्रतिज्ञा में आप दृढ़ हैं, इसी से कोई भी पाँवर पातकी शरण होता है, सबको आप अपना लेते हैं, फिर उसकी पूर्ण रक्षा करते हैं। तथा—"रामो द्विर्नाभिभाषते॥" (वाल्मी० २।१८।३०); "बाँह-पगार द्वार तेरे तैं सभय न कबहूँ फिरि गये। तुलसी असरन-सरन स्वामि के बिरद बिराजत नित नये॥" (गी०सुं० ३२)।

[१७]

कीबे को बिसोक लोकपालहू ते सब,
कहूँ कोऊ भो न चरवाहो कपि-भालु को।
पवि को पहार कियो ख्याल ही कृपालु राम,
बापुरो बिभीषन घरौंधा हुतो बालुको॥
नाम ओट लेत ही निखोट होत खोटे खल,
चोट बिनु मोट पाइ भयो न निहालु को?

तुलसी की बार बड़ी ढील होति, सीलसिंधु,
बिगरी सुधारिबे को दूसरो दयालु को ? ॥

शब्दार्थ—कीबे को=करने को। चरवाहा=चरानेवाला, अच्छे मार्ग में लगानेवाला। घरौंधा=कागज, मिट्टी आदि का बना हुआ छोटा घर जिसे छोटे बच्चे खेलते हैं और फिर बिगाड़ कर चल देते हैं। निखोट=निर्दोष। खोटे=पापी। निहाल=प्रसन्न, पूर्णकाम। चोट=कष्ट। चोट बिनु मोट पाइ=बिना कष्ट या श्रम के गठरी पाकर।

अर्थ—(रावण कृत बाधा से) विशोक करने के लिये इन्द्र आदि सब लोकपाल भी थे (ब्रह्मा के वरदान के अनुसार नर रूप से संभवत: लोक-रक्षा कर लेते); परन्तु कभी कोई वानरों और भालुओं का चरवाहा नहीं बना (; क्योंकि उनमें लोकपाल होने का गर्व था, इससे वे पशुओं से मित्र बन कर कैसे वर्तते, श्रीरामजी का-सा सौशील्य उनमें कहाँ ?)। कृपालु श्रीरामजी ने बेचारे विभीषण को-जो बालू के बने हुए घरौंधा के समान (निर्बल) था—खेल ही खेल में (क्रीड़ा में) बज्र के पहाड़ के समान (सुदृढ़ एवं समर्थ) बना दिया। पापी और दुष्ट लोग भी (श्रीरामजी के) नाम की ओट (आश्रय) लेने से निर्दोष हो जाते हैं। भला, विना श्रम (धन की) गठरी पाकर पूर्णकाम कौन नहीं हुआ ? परन्तु, हे शीलसागर ! इस तुलसीदास (को अपनाने) की बार बड़ी ढिलाई हो रही है; बिगड़ी बात को सुधारने के लिये (आपके अतिरिक्त) दूसरा दयालु कौन है ? (कोई नहीं)।

विशेष—इस छन्द में श्रीरामजी के सर्वोपरि शील गुण की छटा दिखलाई गई। श्रीनारदजी के शाप के अनुसार नर रूप में वानरों से सहायता लेना आवश्यक था। इसमें अपार सौशील्य की आवश्यकता थी, यह श्रीरामजी में ही पूर्ण है; यथा—"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आप समान। तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान ॥" (मा० बा० २९); "तुलसी सुभाय कहै नाही कछू पच्छपात, कौने ईस किये भालु कीस खास माहली।" (छन्द २३)।

'पवि को पहार कियो···'; यथा—"उमा बिभीषन रावनहि, सनमुख चितव कि काउ। सो अब भिरत काल ज्यों, श्रीरघुबीर प्रभाउ ॥" (मा० लं० ९३); फिर विभीषणजी को अविचल राज्य भी दिया; यथा—"अविचल राज

बिभीषन पायेउ ।" (मा० लं० १०५); "करेहु कल्प भरि राज तुम्ह, मोहिं सुमिरेहु मन माहिं । पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं ॥" (मा० लं० ११५); "राखि बिभीषन को सकत अस काल गहा को । आजु बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को ॥" (वि० १५२) । पहले रावण विभीषण को बालकों के घरौंधे के समान क्षण भर में नष्ट कर सकता था, वही श्रीराम-शरण होने पर अविचल (वज्र के पहाड़ के समान) हो गया । वैरी के भाई राक्षस को शरण होने पर इतना महत्त्व दिया । यह आपके शील गुण का ही महत्त्व है ।

'नाम ओट लेत ही···'—इसी प्रकार के शील गुण को लेकर श्रीराम नाम अनेक पापियों और दुष्टों को कृतार्थ करता है । श्रीरामचरितमानस बाल-काण्ड दोहा २३–२४ में यह प्रक्रिया विस्तृत रूप में है । जिस शील से वानर-भालू सुमार्गगामी हुए हैं, उसी से खोटे सन्मार्गी होते हैं और जिस शील से विभीषणजी का कल्याण हुआ है, उसी से खलों का कल्याण होता है ।

'तुलसी की बार···'—यद्यपि आप वही शीलसागर हैं, फिर भी इस तुलसीदास पर ढिलाई देखी जाती है; हे नाथ ! आपके बिना मेरी बिगड़ी बातों का बनानेवाला दूसरा दयालु नहीं है, इसे सब प्रकार अपने पर निर्भर जान कर इस पर कृपा दृष्टि शीघ्र कीजिये ।

श्रीरामजी की कृपा नाम-जापक पर तो सतत रहती है, पर वह अपनी आतुरी से बार-बार प्रार्थना करता रहता है ।

अलंकार— काकुवक्रोक्ति ।

[१८]

नाम लिये पूत को पुनीत कियो पातकीस,
आरति निवारी प्रभु 'पाहि' कहे पील की ।
छलनि की छौंड़ी, सो निगोड़ी छोटी जाति-पाँति,
कीन्ही लीन आपु में भामिनी भोंड़े भील की ॥
तुलसीऔ तारिबो बिसारिबो न अंत मोहिं,
नीके है प्रतीति रावरे सुभाउ–सील की ।
देव तो दया निकेत, देत दादि दीन की, पै,
मेरियै अभाग मेरी बार नाथ ढील की ॥

शब्दार्थ—छौड़ी = लड़की। निगोड़ी (हिं० निगुरा) (स्त्री० निगोड़ी) १ जिसके ऊपर कोई बड़ा न हो। २ जिसके आगे-पीछे कोई न हो, अभागा, ३ दुष्ट, नीच, निकम्मा। भोंड़ा=भद्दा, कुरूप। दादि=न्याय।

अर्थ—हे प्रभो! पुत्र का नाम लेने पर पापियों में श्रेष्ठ अजामिल को आपने पवित्र कर दिया और 'मेरी रक्षा कीजिये' ऐसा कहने पर हाथी की विपत्ति दूर की है। छलियों की लड़की, अभागी, कुरूप भील की स्त्री शबरी जाति-पाँति में छोटी थी, उसे भी आपने अपने स्वरूप रूपी धाम में लीन कर लिया (मोक्ष पद दिया। आप मुझ तुलसीदास को भी अन्त में तारेंगे ही, बिसारेंगे नहीं इस प्रकार के आपके शील-स्वभाव की मुझे भली-भाँति प्रतीति है। हे देव! आप तो दया के स्थान हैं और दीन का न्याय करते हैं, परन्तु मेरे अभाग्य से ही, हे नाथ! आपने मेरी बार (मेरा उद्धार करने में) ढिलाई कर रक्खी है (ऐसा जान पड़ता है)।

विशेष—'नाम लिये पूत को…'—अजामिल और गजेन्द्र की कथाएँ छन्द ७ में लिखी गईं। एक तो धर्म भ्रष्ट अधम ब्राह्मण था और एक अहंकारी पशु। यदि कहा जाय कि अजामिल तो ब्राह्मण था, इससे नाम का शुद्ध उच्चारण तो किया है; गज में तो वैखरी वाणी भी नहीं थी, उसने तो संकेत से ही नाम-स्मरण किया है। अजामिल का उच्चारण ठीक था, पर लक्ष्य बेटे का था। गजेन्द्र ने कमल दिखा कर लक्ष्य ठीक रक्खा था, पर उच्चारण नहीं था। इससे सिद्ध है कि चाहे लक्ष्य और उच्चारण भी ठीक न हों, तब भी आप नाम जप मान लेते हैं।

'छलिन की छौड़ी…'—शबरी छल-कपट कर पेट भरने वाले भीलों की लड़की थी, किसी सुकृती की कन्या नहीं थी। कुरूप भील की स्त्री थी, जाति-पाँति की भी छोटी थी, इससे उसे कुछ जूठे-अनूठे का विचार भी नहीं था, वह स्वभाव की भी निगोड़ी थी, उस अभागिनी का कोई संरक्षक नहीं था। इसी से भग कर मतङ्गजी के आश्रम आ गई थी, दया करके ऋषि ने उसे शिष्या बना लिया था। उसके कंद-मूल फल के आतिथ्य को आपने स्वीकार कर उसे मोक्ष पद दिया है। अतः, यह सिद्ध है कि जाति-पाँति एवं सदाचार हीन के भाव मात्र पर भी आप प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा उत्तम आपका शील-स्वभाव है।

'तुलसीओ तारिबो....'—इसी शील-स्वभाव से आप मेरा भी उद्धार करेंगे, यह मुझे विश्वास है; क्योंकि मेरा मन अजामिल के समान, अहङ्कार गजेन्द्र के समान और बुद्धि शबरी के समान है, यहाँ बुद्धि भी रजोगुण रूपी कोलों में पली है। इसने कर्म-फलों को संचित कर रक्खा है, नाम जप प्रभाव से विवेक पाकर यह उन फलों को आपमें समर्पित कर आपकी कृपा से सद्गति पायेगी। मन और अहङ्कार की व्यवस्था पद ७ में लिखी गई।

'देव तो दयानिकेत...'—ईश्वर में चराचरमात्र पर दया रहती है, दीनों पर दया हुआ ही करती है, क्योंकि वे ही दया के पात्र हैं। पर अभाग्य की प्रबलता से दीन भी उस दया से वंचित रहता है। यहाँ स्वामी के शीलगुण और अपने अभाग्य का स्मरण किया है, यह भक्ति का लक्षण है, यथा—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥" (मा० अ० १३०)।

अलंकार—अनुपलब्धि-प्रमाण।

[१६]

आगे परे पाहन कृपा किरात, कोलनी,
कपीस, निसिचर अपनाये नाये माथ जू।
साँची सेवकाई हनुमान की सुजान राय,
रिनिया कहाए हौं बिकाने ताके हाथ जू॥
तुलसी से खोटे खरे होत ओट नाम ही की,
महँगी माटी मगहू की मृगमद साथ जू।
बात चले बात को न मानिबो बिलग, बलि,
काकी सेवा रीझि कै निवाजे रघुनाथ जू॥

शब्दार्थ—कोलनी=भीलिनी, शबरी। मग हू=मार्ग की भी। मृगमद= कस्तूरी। बात चले=प्रसंग आने पर। बिलग=बुरा।

अर्थ—(हे नाथ!) जनकपुर जाते हुए मार्ग में आगे पड़ी हुई शिला-रूपिणी अहल्या पर आपने कृपा की है और किरात, शबरी पर भी कृपा की है। वानरराज सुग्रीव और राक्षस विभीषण को केवल शिर नवाकर प्रणाम करने मात्र पर आपने अपना लिया है। हे सुजान शिरोमणि श्रीरामजी!

आपकी सच्ची सेवा तो श्रीहनुमान्‌जी ने की है, उनके आप ऋणी बन गये और उनके हाथ बिक गये। आपके नाम की शरण लेने पर तुलसीदास के समान छली भी सच्चे हो जाते हैं, जैसे कस्तूरी के साथ लग जाने से मार्ग की मिट्टी (धूल) भी महँगी (बहुमूल्य) हो जाती है। इस प्रसंग पर आई हुई बात पर (यदि मैं कुछ पूछूँ तो) बुरा न मानिये, हे श्रीरघुनाथ जी! मैं आप की बलिहारी जाता हूँ, आपने किसकी सेवा पर प्रसन्न होकर उस पर कृपा की है ? (भाव यह कि आपने सब पर अपनी ओर से ही तो कृपा की है और सच्ची सेवा पर आप ऋणी हो उसके हाथ बिक गये हैं)।

विशेष—'आगे परे पाहन···'—अहल्या पत्थर की शिला हो गई थी, इससे वह प्रणाम भी नहीं कर सकती थी, इस पर श्रीरामजी ने निर्हेतुकी कृपा की है; यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित कृपाल। तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल ॥" (मा० बा० २११); यह अहल्योद्धार पर कहा गया है। श्रीचित्रकूट के किरात एवं शबरी आदि भी कृपा से ही सद्‌गति पाये हैं। श्रीसुग्रीवजी ने और श्रीविभीषणजी ने प्रणाम मात्र करके शरणागति की हैं; यथा—"राम सुकंठ-बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ ॥" (मा० बा० २४); तथा—"अति भाग बिभीषन के भले। एक प्रनाम प्रसन्न राम भए दुरित दोष दारिद दले ॥" (गी० सुं० ४१); "सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा ॥" (मा० कि० ३); नमस्कार एवं प्रणाम में शरण होने का भाव है—लं० २६ के 'नाइ दसमाथ महि··' इसके विशेष में इसकी व्याख्या लिखी गई।

'साँची सेवकाई हनुमान की···'; यथा—"सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सब को सुढर ढरत ॥" (वि० १३४)। तथा—"हाथ हरिनाथ के बिकाने रघुनाथ जनु···" (लं० ५५)—इसका विशेष देखिये। इस प्रसंग में स्वामी में कृतज्ञता की सीमा है। सेवक की सेवा जानने पर 'सुजान राय' कहा गया है ?

'तुलसी से खोटे खरे होत···'—जैसे मार्ग में यदि कहीं कस्तूरी गिर जाती है, तब उसमें लपटा हुई सुगंधित मिट्टी भी उठा ली जाती है, वह मिट्टी महँगी बिकती है। वैसे श्रीरामनाम रूपी कस्तूरी में जो खोटे लोग भी लग

जाते हैं, वे बहुमूल्य हो जाते हैं; यथा—"अपत, उतार, अपकार को अगार जग, जाकी छाँह छुए सहमत व्याध बाध को। पातक पुहुमि पालिबे को सहसानन सो, कानन कपट को, पयोधि अपराध को॥ तुलसी से बाम को भो दाहिनो दयानिधान। सुनत सिहात सब सिद्ध साधु साधको। रामनाम ललित ललाम कियो लाखनि कों, बड़ो कूर कायर कपूत कौडी आध को॥" (छन्द ६८)। 'महँगी' पद से एक अक्षर बढ़ता है, इसी से आधुनिक प्रतियों में 'तेजी' पाठ है, पर प्राचीन पाठ ही मैंने रक्खा है। 'महँगी' का 'मैगी' भी होता है, पर स्पष्ट अर्थ न होता।

'बात चले बात को···'—एक हनुमान्‌जी ही अच्छे सेवक हैं, शेष उपर्युक्त सभी ने आपकी कृपा दृष्टि से सद्‌गति पाई है। अंत में अपना प्रत्यक्ष प्रमाण भी दिया है। इस प्रकार स्वामी के सौलभ्य गुण की प्रशंसा की है।

[२०]

कौसिक की चलत, पषान की परस पायँ,
टूटत धनुष बनि गई है जनक की।
कोल खस सबरी बिहँग भालु रातिचर,
रतिन के लालचिन प्रापति मनक की॥
कोटि-कला-कुसल कृपाल नतपाल, बलि,
बातऊ केतिक तिन तुलसी तनक की।
राय दसरत्थ के समर्थ राम रायमनि,
तेरे हेरे लोपै लिपि बिधिहू गनक की॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी की बात (अभीष्ट-सिद्धि) श्रीरामजी के साथ चलने से, शिलारूपिणी अहल्या की चरण-स्पर्श से और श्रीजनकजी की धनुष टूटने से बन गई। कोल (श्रीचित्रकूट वन की जंगली जाति), खस (गढ़वाल प्रदेश में रहनेवाली एक प्राचीन जाति), शबरी आदि, जटायु आदि पक्षी, जाम्बवान् आदि भालू और विभीषण राक्षस आदि रत्ती भर की लालच से शरण हुए, पर आप (श्रीरामजी) से उन्होंने मन भर की प्राप्ति कर ली है (; अर्थात् उन्हें अभिलाषा से कहीं अधिक प्राप्ति हो गई है)। हे करोड़ों कलाओं में निपुण! हे शरण-पाल! और हे कृपालु श्रीरामजी! मैं आपकी बलिहारी

जाता हूँ तृण के समान तुच्छ इस तुलसीदास की बात (अभीष्ट-सिद्धि) ही कितनी है ? (अर्थात् आपकी अपार उदारता के समक्ष यह कुछ नहीं है)। हे महाराजा दशरथजी के पुत्र ! हे समर्थ ! और हे राज शिरोमणि श्रीरामजी ! आपकी कृपादृष्टि मात्र से ब्रह्माजी के समान ज्योतिषी का लिखा हुआ (हीन-कर्म-रेख) भी मिट जाता है।

विशेष—'कौसिक की चलत....'—मार्ग में चलते हुए ही बिना श्रम ही विश्वामित्र को बन गई है। अहल्या की चरण-स्पर्श मात्र से बन गई है, इसी प्रकार श्रीजनकजी की बात हाथ से छूते ही धनुष टूट जाने पर बन गई; यथा—"छुवतहि टूट पिनाक पुराना।" (मा० बा० २८२); अर्थात् इनमें किसी के उद्धार में आपको श्रम नहीं करना पड़ा।

'कोल खस सबरी....'—इस चरण में कोल आदि जाति वाचक ही नाम हैं। इनमें सबकी चर्चा पूर्व आ चुकी है। खस का नाम यहाँ प्रथम आया है, इस जाति के भी पूर्वकाल में भक्त थे; यथा—"आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होत राम नमामि ते।" (मा० उ० १२६); तथा—"स्वपच सबर खस जमन जड़, पामर कोल-किरात। राम कहत पावन परम, होत भुवन बिख्यात॥" (मा० अ० १६४);—"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥" (भाग० २।४।१७); इत्यादि।

'रतिन के लालचिन....'—ये सब लौकिक सुख के लालची थे, वह भी इन्हें दुर्लभ था, शरण होने पर लोक-परलोक के सभी सुख पा गये; यथा—"तुलसी कोसलपाल सों को सरनागत पाल। भज्यो बिभीषन बंधु भय, भंज्यों दारिद काल॥" (दोहावली १६०), 'खस' पाठ के स्थान पर आधुनिक प्रतियों में 'पसु' पाठ है, यह अशुद्ध है; क्योंकि यहाँ सभी हीन जातियों की ही गणना है। प्राचीन पाठ तो है ही।

'कोटि कला कुसल...'—जिस आश्रित को जैसा सुख चाहिये, उसकी रचना कला में आप कुशल हैं, करोड़ों आश्रितों की प्रकृतियाँ एवं रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उन सब पर कृपा कर सबको सम्पन्न रखते हैं, इस सामर्थ्य के समक्ष

इस तुलसी की अभीष्ट सिद्धि तो तृणवत् अल्प है, इसमें आपको प्रयास ही क्या ?

'राय दसरत्थ के....'—श्रीदशरथ महाराज प्रजा-पालन में परम कुशल थे, आप तो उनके सुपुत्र हैं और फिर परम समर्थ एवं राजशिरोमणि हैं। पालन कला में भी आप ऐसे हैं कि जब आश्रितों पर कृपादृष्टि करते हैं तो ब्रह्माजी ने जो गणना कर कर्मानुसार कालकर्म, गुण और स्वभाव की उनकी व्यवस्था कर दी है, उसमें भी आश्रित के अशुभ को आप नष्ट ही कर देते हैं; यथा—"त्वदंघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत्कृतोऽञ्जलिः। तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥" (आलवन्दार स्तोत्र); तथा—"नाथ ! कुसल कल्यान सुमंगल बिधि सुख सकल सुधारिकै। देत लेत जे नाम रावरो बिनय करत मुख चारि कै ॥" (गी० सुं० ३६); मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल को खनै। तेहि रघुनाथ हाथ माथे दियो, को ताकी महिमा भनै ॥" (गी० सुं० ४०)।

[२१]

सिला-साप-पाप, गुह गीध को मिलाप,
सबरी के पास आप चलि गये हौ सो सुनी मैं।
सेवक सराहे कपिनायक बिभीषन,
भरत सभा सादर सनेह सुरधुनी मैं॥
आलसी-अभागी-अघी-आरत-अनाथ-पाल,
साहेब समर्थ एक नीके मन गुनी मैं।
दोष-दुख-दारिद-दलैया दीनबंधु राम !
तुलसी न दूसरो दया-निधान दुनी मैं॥

शब्दार्थ—सुरधुनी मै = गंगामय, गंगाजी की भाँति पवित्र।

अर्थ—पाप से शापित शिलारूपिणी अहल्या का आपने उद्धार किया है, गुह निषाद और गृध्र जटायु से आपने मिलाप किया है (गुह को सखा और गृध्र को पिता का पद दिया है,) और श्रीशबरीजी के पास आप (बिना बुलाये स्वतः) चल कर गये हैं, यह सब मैं सुन चुका हूँ। आपने श्रीभरतजी के समक्ष सभा में आदर और स्नेहपूर्वक अपने सेवक वानरराज श्रीसुग्रीवजी की तथा श्रीविभीषणजी की, श्रीगङ्गाजी की भाँति पवित्र कह कर

प्रशंसा की है। मैं ने अपने मन में भली भाँति विचार कर लिया है कि आलसी, अभागी, पापी, दुखी और अनाथ का पालन करनेवाले समर्थ स्वामी एक आप ही हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि दोष, दुःख और दरिद्रता का नाश करनेवाले दीनों के सहायक, हे श्रीरामजी! आपके समान दया-निधान संसार में दूसरा नहीं है।

विशेष—'सेवक सहारे···'—पूर्वोक्त छंद ५ के 'सज्जन सींव बिभीषन···' और छंद ११ के 'बालि दसानन बंधु कथा···' इनके विशेष देखिये। तथा—"राम सराहे, भरत उठि मिले राम सम जानि। तदपि बिभीषन कीसपति, तुलसी गरत गलानि॥" (दोहावली २०८)।

'आलसी अभागी अघी आरत प्रनतपाल···'; यथा—"बिदित त्रिलोक तिहुँकाल न दयालु दूजो, आरत प्रनतपाल को है प्रभु बिन? लाले-पाले पोषे-तोषे आलसी अभागी अघी नाथ पै अनाथनि सों भये न उरिन॥" (वि० २५२); "अघन, अगुन, आलसिन को पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन को॥" (वि० २७४)।

'दोष दुख दारिद दलैया···'; यथा—"दीनता दारिद दलै को कृपा-बारिधि बाज।" (वि० २१६); "दीनबंधु दूसरो कहँ पावौं। को तुम बिन पर पीर पाइ है? केहि दीनता सुनावौं॥" (वि० २३२); तथा आगे छंद २५ का प्रथम चरण देखिये।

[२२]

मीत बालि-बंधु, पूत दूत, दसकंध-बंधु
सचिव, सराध कियो सबरी जटाइ को।
लंक जरी जोहे जिय सोच सो बिभीषन को,
कहो ऐसे साहिब की सेवा न खटाइ को?॥
बड़े एक-एक ते अनेक लोक लोक नाथ,
अपने-अपने की तौ कहैं गो घटाइ को?।
साँकरे को सेइबो, सराहिबे, सुमिरिबे को,
राम सों न साहिब, न कुमत कटाइको॥

शब्दार्थ - खटाइ = स्थित रहे। साँकरे = संकट में। कटाइको = कटायक, काटनेवाला।

अर्थ—श्रीरामजी ने एक शत्रु वाली के भाई सुग्रीव को अपना मित्र बनाया और उसी के पुत्र अङ्गद को दूत बनाया है। दूसरे शत्रु रावण के भाई विभीषण को मंत्री बनाया है तथा शबरी और गृध्र जटायु का श्राद्ध तक किया है। लङ्का को जली हुई देखकर श्रीविभीषणजी के लिये (देते समय) चिन्ता-सी हुई (कि जली हुई ही लंका दी तो क्या दी ?) कहिये तो भला, (शत्रु-परिवार से भी ऐसा प्रेम-व्यवहार करनेवाले, अन्त्यज एवं पक्षी तक को भी माता-पिता माननेवाले एवं अपने अमूल्य वस्तु दान को कुछ न माननेवाले) ऐसे स्वामी की सेवा में कौन नहीं स्थित रहेगा ? (अर्थात् सभी निभ सकता है)। अनेक लोको में एक से एक बढ़ कर उन लोकों के स्वामी हैं। अपने-अपने स्वामियों को भला कौन घटा कर (न्यून श्रेणी का) कहेगा ? परन्तु संकट के समय सेवा करने के लिये सराहने के लिये और स्मरण करने के लिये भगवान् श्रीरामजी के समान कुत्सित भावों का काटनेवाला कोई और स्वामी नहीं है।

विशेष—'मीत बालि बंधु को…'—यद्यपि सामान्य दृष्टि से वाली से श्रीरामजी की शत्रुता सुग्रीव-शरणागति के पहले नहीं थी, परन्तु यह तो प्रसिद्ध ही था कि रावण ने वाली से पराजित होने पर उससे अग्नि की साक्षी देकर मैत्री की थी, फिर वह किष्किंधा में कुछ काल वाली के साथ उसके छोटे भाई सुग्रीव के समान रहा भी है—वाल्मीकीय उ० में कथा है। इस दृष्टि से शत्रु का मित्र भी शत्रु है। अतः, उसके भाई को मित्र बनाया एवं उसी वाली के पुत्र अंगद को वाली का वध करने के पीछे भी पूर्ण अधिकार देकर अपने प्रतिनिधि रूप में दूत बना कर शत्रु रावण से बात करने के लिये भेजा है। फिर शत्रु के भाई विभीषण को प्रधान मंत्री का पद दिया है। इस प्रकार शत्रु-परिवार पर भी विश्वास और प्रेम करना इसमें सामर्थ्य-निश्शंकता एवं शील-स्वभाव की उत्तमता है।

'सराध कियो सबरी जटाइ को'; यथा—"खग-सबरी पितु-मातु ज्यों माने…" (वि० १६१); "तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई।" (गी० अर० १७); "अविरल भगति माँगि बर, गीध गयेउ हरिधाम।

तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्हीं राम ॥" (मा० अर० ३२); "गीध को कियो सराध···" (वि० १८३)।

'लंक जरी जोहे···'—प्रथम के सखा सुग्रीवजी हैं, वाली को मार कर उन्हें ज्योंकी त्यों किष्किन्धा पुरी का राज्य दिया गया है। परन्तु पीछे के सखा विभीषणजी को जली हुई ही लंका दे रहा हूँ। इस बात का स्वामी के हृदय में शोच था। भला, ऐसे शीलवान् स्वामी की सेवा में कौन न रहेगा ?

शंका—शोच क्यों करते हैं, माया तो क्षण में लोक ही रच देती हैं, दूसरी ही लंका बना कर दे देते।

समाधान—श्रीरामजी का दर्शन अमोघ है। उनके दर्शनार्थ चलते समय जो वासना हो आती है, उसकी पूर्त्ति एवं उसका भोग्य अवश्य करना पड़ता है। इससे इन सुग्रीव-विभीषण की इच्छा न रहने पर भी इनकी पूर्व-वासना की पूर्त्ति करना श्रीरामजी को अभीष्ट था। पीछे अपना साकेत धाम प्राप्त करावेंगे। वही सुख-दातृव है। यहाँ का भोग कराना तो इनकी वासनारूपी मवाद का निकालना है।

'बड़े एक एक ते···'—यम, वरुण, कुबेर आदि एवं शिव-ब्रह्मा आदि भी अपने-अपने लोकों के स्वामी ही हैं, इनमें एक से एक बड़े हैं। उनके अनुयायी अपने-अपने स्वामियों की प्रशंसा भले ही किया करें। परन्तु स्वामित्व के वास्तविक ऐश्वर्य-सौलभ्य गुण श्रीरामजी के समान किसी में नहीं है। अतः-

'साँकरे को सेइबो···'—'साँकरे को सेइबो'; यथा—"आरति नति दीनता कहे प्रभु संकट हरत।" (वि० १३५)। 'सराहिबे को'; यथा—"जग सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित, सुमीत, सब को दाहिनो, दीनबंधु काहू को न बाम। आरत-हरन, सरनद, अतुलित दानि, प्रनतपाल, कृपालु पतित-पावन नाम। सकल-विस्व-बंदित, सकल-सुरसेवित, आगम-निगम कहैं रावरे ई गुन ग्राम ॥" (वि० ७७)। 'सुमिरिबे को'; यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं।···" (गी० उ० १३); तथा—"सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को।···" (वि० ६६)–इन पदों को पढ़िये।

'कुमत कटाइको···'—यथा—"कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड। दहन राम-गुन-ग्राम जिमि, ईंधन अनल प्रचंड ॥" (मा० बा० ३२);

"स्वपच सवर खस जमन जड़, पाँवर कोल किरात। राम कहत पाँवन परम, होत भुवन विख्यात॥" (मा० अ० १९४); "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।" (गीता ९।३०-३१); अर्थात् यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर मुझ को भजता है, तो वह साधु ही माने जाने योग्य है, क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शान्ति पा जाता है।

[२३]

भूमिपाल, व्यालपाल, नाकपाल, लोकपाल,
कारन कृपाल, मैं सबै के जी की थाह ली।
कादर को आदर काहू के नाहिं देखियत,
सबनि सोहात है सेवा-सुजान टाहली॥
तुलसी सुभाय कहै नाहीं किए पच्छपात,
कौने ईस किये कीस-भालु खास माहली।
राम ही के द्वारे पै बोलाय सनमानियत,
मोसे दीन दूबरो कुपूत कूर काहली॥

अर्थ—भूमि के राजा, (पातालवासी) साँपों के राजा शेषनाग एवं वासुकी आदि, स्वर्ग के राजा इन्द्र आदि और यम-कुवेर-वरुण आदि लोकपाल, ये सब कारण वश (सेवा-पूजा करने पर) कृपा करते हैं, मैंने सब के हृदय की थाह ले ली है। कायरों का आदर किसी के यहाँ देखने में नहीं आता, सब को सेवा में निपुण सेवक (परिश्रमी) अच्छा लगता है। तुलसीदास स्वभाव से ही (सत्य-सत्य) कहता है; पक्षपात किये हुए नहीं कहता। भला, किस स्वामी ने वानरों और भालुओं को अपने खास महल (रनिवास) का सेवक बनाया है ? श्रीरामजी के द्वार पर मेरे समान दीन, दुर्बल, कुपुत्र, क्रूर और आलसी का बुलाकर सम्मान किया जाता है (अन्यत्र ऐसों का पूछने वाला कोई नहीं है)।

विशेष—'भूमिपाल, व्यालपाल.....'—पृथिवी के राजाओं के यहाँ तो

यह प्रसिद्ध ही है कि सेवक जैसा निपुण एवं परिश्रमी होता है, उसे वैसा ही वेतन मिलता है। शेष व्यालपाल-नाकपाल आदि विधिपूर्वक जप-तप एवं अनुष्ठान आदि की अपेक्षा रखते हैं, यदि उसमें अविधि हो, या कृत्य में त्रुटि हो जाय तो ये क्रुद्ध होकर हानि भी कर देते हैं। अतः, ये सब कारणवश ही कृपा करते हैं; यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (मा० लं० १०८); तथा— "यहै जानि चरननि चित लायो। नाहिन नाथ! अकारन को हित तुम समान पुरान-श्रुति गायो ॥······सुर-मुनि, मनुज-दनुज, अहि-किन्नर, मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रयताप पापबस, काहुन, हरि? करि कृपा जुड़ायो ॥" (वि० २४३) आगे छन्द ५४ भी देखिये। देवता तो जो देते हैं, उससे कई गुणा लेने का भाव रखते हैं; यथा—"बिबुध सयाने पहिचाने कै धौं नाहीं नीके, देत एक गुन, लेत कोटि गुन करि सो ॥" (वि० २६४)।

'कादर को आदर काहू के······'; यथा—"और देवन्ह की कहा कहौं स्वारथहि के मीत। कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गये सभीत ॥" (वि० २१६)। "सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।" (मा०उ० ८६)

'कौन ईस किए···'; यथा—"कहूँ कोऊ भो न चरवाहो कपि-भालु को।" (छंद १७); "कौन सुभग सुसील बानर, जिनहिं सुमिरत हानि। किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि ॥" (वि० २१५); तथा—"तच्च मद्भवनं श्रेष्ठं साशोकवनिकं महत्। मुक्तावैदूर्यसंकीर्णं सुग्रीवाय निवेदय ॥४५॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भरतः सत्यविक्रमः। हस्ते गृहीत्वा सुग्रीवं प्रविवेश तमालयम् ॥४६॥ ततस्तैलप्रदीपांश्च पर्यङ्कास्तरणानि च। गृहीत्वा विविशुः क्षिप्रं शत्रुघ्नेन प्रचोदिताः ॥४७॥" (वाल्मी० ६।१२८); अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा है कि मेरा सुन्दर भवन, जिसमें अशोक-वाटिका है और मुक्ता वैदूर्य का काम किया हुआ है वह श्रीसुग्रीवजी को बतला दो; अर्थात् उनके रहने के लिये दो। उनके वचन सुनकर सत्य विक्रम श्रीभरतजी ने श्रीसुग्रीवजी का हाथ पकड़ कर उस घर में प्रवेश किया। श्रीशत्रुघ्नजी की प्रेरणा से दीपक, पलँग बिछौने आदि लेकर भृत्यों ने उस घर में रक्खे। इस प्रकार स्वामी ने मित्र सुग्रीव वानर को अपना खास महल रहने को दिया है। श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी और श्रीहनुमान्‌जी तथा श्रीअङ्गदजी आदि श्रीभरतजी के साथ षोड़श पार्षदों में हैं। अतएव ये

खास-महली हैं; यथा—"भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते। गहे छत्र चाँवर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥" (मा० उ० ११)।

इस प्रकार वानर-भालु ऐसे अशिष्टों को भी अपने अन्तःपुर तक प्रवेश का अधिकार देना अन्य किसी स्वामी में नहीं सुना जाता। यह पक्षपात-रहित सत्य वचन ही है।

'राम ही के द्वार पै…'; यथा—"अजहुँ अधिक आदर येहि द्वारे, पतित पुनीत होत नहि केते।" (वि० २४१); "दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति॥" (वि० २१६); "काको नाम धोखेहूँ सुमिरत पातक पुंज सिराने। विप्र, बधिक, गज गीध कोटि खल कौन के पेट समाने॥" (वि० २३६)।

[२४]

सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों,
बिहूने गुन पथिक पियासे जात पथ के।
लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथ हित,
नीके देखे देवता देवैया घने गथ के॥
गीध मानो गुरु, कपि-भालु मानो मीत कै,
पुनीत गीत साके सब साहिब समत्थ के।
और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत,
लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के॥

शब्दार्थ—बिहूने=विना, रहित। गुन=(१) गुण, (२) रस्सी। चोखे-चित = शुद्ध चित्त से। लेखे-जोखे [लेखना-जोखना = १. ठीक-ठीक अन्दाज करना, हिसाब करना। २. परीक्षा करना। ३. समझना, सोचना, विचारना—हिं० श० सा०] = विचार कर लिया है। घने = बहुत। गथ=धन। सुलाखि =सूराख (छिद्र) करके। ताइ=तपा कर। लसम = दूषित, खोटा।

अर्थ—सेवा के अनुकूल ही फल देनेवाले राजा लोग कुएँ के समान हैं, जैसे कुएँ के पास से बिना रस्सी वाले मार्ग के बटोही प्यासे ही चले जाते हैं। वैसे ही उन राजाओं के यहाँ सद्‌गुण-रहित सेवक साकांक्ष ही चले जाते हैं, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने शुद्ध चित्त से विचार कर भली-भाँति देख लिया है कि अपने स्वार्थ के लिये (सेवा कराने के लिये) धन देनेवाले देवता

तो बहुत-से हैं। परन्तु जिन्होंने गृध्र जटायु को गुरु (पिता) के समान माना है और वानरों तथा भालुओं को मित्र माना है, उन समर्थ स्वामी श्रीरामजी की कीर्ति कथाएँ और गुनगान पवित्र हैं (स्वार्थ रूपी अपवित्रता से रहित हैं,)। जैसे स्वर्ण-पारखी लोग सोने को पहले आँख से उसके रंग की परीक्षा करते हैं, फिर उस सोने में छिद्र करके देखते हैं कि इसमें अन्य धातु तो भीतर नहीं भरी है, तब तौल कर उसके वजन की परीक्षा करते हैं, फिर अन्त में उसे आग में तपा कर उसके खरे खोटे की जाँच करते हैं, तब उस सोने को ग्रहण (खरीद) करते हैं; ऐसे अन्य राजा लोग सेवक की उक्त चारो प्रकार की परीक्षाओं के समान भलि-भाँति याँच करके अपना सेवक बनाते हैं, परन्तु हे दशरथ महा-राज के पुत्र श्रीरामजी ! खोटे सेवकों के स्वामी तो एक आप ही हैं।

विशेष—'सेवा अनुरूप फल···'—कुएँ से जल प्राप्त करने के लिये रस्सी और साथ में लोटा आदि जल पात्र की आवश्यकता पड़ती है। वैसे ही उन राजाओं के सेवकों में गुण रूपी रस्सी हो और लोटा के समान उनमें श्रम-शीलता भी हो, आलस्य-रहित कार्य भी करें, तब तदनुसार वेतन रूप फल उनसे मिलता है, ये लोग तो इस प्रकार के स्वार्थ-सारथी हैं।

'लेखे जोखे चोखे चित··'—देवता तो और भी बड़े स्वार्थी हैं, ये जितना देते हैं, उससे कई गुणा लेने की भावना रखते हैं, इस पर उपर्युक्त छन्द के 'भूमिपाल व्यालपाल···' इसके विशेष में कुछ प्रमाण दिये गये हैं, तथा—"तन साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार सुजान। आरत-अधम-अनाथ हित को रघुबीर समान॥" (वि० १६१)। देवताओं का यह व्यवहार सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आता है; यथा—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्य॥" (गीता ३।१०–११); अर्थात् प्रजापति (श्रीरामजी) ने पहले प्रजा को रचकर कहा था कि इस (यज्ञ) के द्वारा तुम फूलो-फलो और यह यज्ञ तुम्हें इच्छित भोगों का देनेवाला हो। इस (यज्ञ) के द्वारा तुम देवताओं की आराधना करो और ये देवता तुम्हारा पोषण करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम दोनों परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाओगे। इस प्राचीन व्यवहार में देवगण

स्वामित्व के व्यसनी होकर अधिक चतुर हो गये हैं। बिना भगवान् की शरण हुए इनके पञ्जे से छूटना कठिन है।

'गीध माने गुरु······'यथा—"पितु ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो। ऐसे प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो॥" (गी० अर० १६); वानर-भालुओं के प्रति कृतज्ञता से जब श्रीरामजी ने उनके उपकार की सराहना की, तब उन्होंने कहा है; यथा—"दीन जानि कपि किये सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥" (मा० लं० ११७); वानर-भालू देवों के अंश हैं, देवगण अपने प्रमाद से असुरों से हार श्रीहीन हो गये थे, तब इन्होंने प्रभु से प्रार्थना की और फिर वानर रूप से अवतरित हुए, तब श्रीरामजी ने कृपा कर इनकी सहायता की। जिससे ये फिर अपने ऐश्वर्य प्राप्त किये। इससे श्रीरामजी ने निर्हेतु कृपा की है। अतः, इनके सम्बन्ध की श्रीरामजी की गुण गाथाएँ अत्यन्त निष्काम हैं, इसीसे पवित्र हैं।

'और भूप परखि······'; यथा—"कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लई नाम की ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परिखो न फेरि खर-खोट॥" (वि० १९१)। "गनिहि गुनिहि साहिब लहै सेवा समीचीन को। अधन, अगुन, आलसिन्ह को पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन को॥" (वि० २७४); "दुखित देखि सन्तन्ह कह्यो सोचै जनि मन माहूँ। तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गये रघुबर ओर निबाहूँ॥" (वि० २७५); इत्यादि।

याचना-व्यवस्था

[२५]

रीति महाराज की, निवाजिये जो माँगनो, सो
दोष-दुख-दारिद दरिद्र कै-कै छोड़िये।
नाम जाको कामतरु देत फल चारि, ताहि
तुलसी बिहाइ कै बबूर-रेंड गोड़िये।
जाँचै को नरेस, देस-देस को कलेस करै,
देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंड़िये।

कृपा पाथ नाथ लोकनाथ-नाथ सीतानाथ,
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िये ॥

शब्दार्थ—बड़ो बड़ाई=बहुत बढ़कर, बौंड़िये=दमड़ी ही। ओड़िये=पसारिये।

अर्थ—महाराज श्रीरामजी की यह रीति है कि वे जिस याचक पर कृपा करते हैं, उसके दोष, दुःख और दारिद्रय को भी दरिद्र (निर्धन) करके छोड़ते हैं; अर्थात् उसके इन दोष आदि का नाश कर देते हैं। जिन श्रीरामजी का नाम ही कल्पवृक्ष के समान है और वह अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष देता है, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उनको छोड़कर क्या बबूल और रेंड़ रोपा जाय। राजाओं की याचना कौन करे ? और कौन देश-देश भ्रमण का कष्ट करे ? (ये राजा लोग) यदि प्रसन्न होकर बहुत बढ़कर भी देंगे तो भी दमड़ी की कौड़ी ही देंगे; अर्थात् कौड़ी के समान तुच्छ विषय सुख का कुछ अंश ही देंगे। कृपा के सागर, लोकपालों के स्वामी सीतापति श्रीरामजी को छोड़कर और किसके आगे हाथ फैलाया जाय ?

विशेष—'रीति महाराज की……' छंद २१ के 'दोष दुख दारिद दलैया…' इसके विशेष में कुछ लिखा गया। आगे छंद २८, ११५ देखिये, तथा—विनय पत्रिका पद १६२-१६३ भी देखिये।

'नाम जाको कामतरु……'; यथा—"तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि। बेद पुरान पुकारत कहत पुरारि ॥ ५६ ॥……कामधेनु हरिनाम, कामतरु राम। तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ॥ ६२ ॥" (बरवै रा०), तथा—"रामनाम कामतरु देत फल चारि, रे। कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि, रे ॥" (वि० ६७)। जिनका नाम लेने से ही चारो फल प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे परम उदार कल्पवृक्ष रूप स्वामी को छोड़कर क्या कँटीले बबूल वृक्ष के समान तीक्ष्ण देवता और निस्सार रेंड वृक्ष के समान पृथिवी के राजाओं की आराधना की जाय ? 'गोड़िये'—भूमि गोड़कर वृक्ष रोपा जाता है; अतः, यहाँ रोपने का अर्थ है।

'जाँचै को नरेस……'—देश-देश भ्रमण कर कष्ट करके यदि इन राजाओं से माँगा भी जाय तो ये बहुत बढ़कर भी देंगे तो बस, विषय-सुख ही, यह तो कौड़ी का भी महँगा है; यथा—"नर तनु पाइ विषय मन देहीं। पलटि

सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥ ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहै परस मनि खोई।" (मा० उ० ४३)। इस चरण में रेंड़ रूपी राजाओं की सेवा की तुच्छता कही गई।

'कृपापाथनाथ···'—श्रीरामजी के सामने हाथ फैलाने पर चारों फल देंगे, 'रघुनाथ' हैं। अतः रघु महाराज के समान उदार दातृत्व से अर्थ फल देंगे। 'सीतानाथ' हैं। अतः, सदसद्विवेकनी बुद्धि देकर धर्म फल देंगे। 'लोक नाथ-नाथ' हैं। अतः इन्द्र-वरुण आदि इन्द्रिय देवों को अधीन कर विषयों से हटा कर निश्चयात्मिका बुद्धि से एकमात्र श्रीराम भक्ति ही कामना-सिद्धि देंगे; यथा—"कामं च दास्येन तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥" (भाग० ६।४।२०); और 'कृपापाथ नाथ' हैं। अतः अपनी प्राप्ति रूपी मोक्ष देंगे।

इसमें परलोक-परक आराधना में अन्य देव, आदि की सेवा छोड़ कर परम उदार 'लोकनाथ-नाथ' की उपासना की श्रेष्ठता दिखाई गई।

अलङ्कार—'दोष-दुख दारिद···' इसमें दोष आदि का नाश होना न कह कर उसका प्रतिविम्ब दरिद्र होना कहा गया है। अतः, 'ललित अलंकार' है।

किरीट-सवैया [२६]

जाके बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुरलोक सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता अरु कोटि कला रिझवै सुरमौरहि॥
ताको कहाइ, कहै तुलसी, तू लजात न माँगत कूकुर-कौरहि।
जानकि-जीवन को जन ह्वै जरि जाउ सो जीह जाँचत औरहि॥

अर्थ—जिसकी सुदृष्टि मात्र से मनुष्य लोकपाल हो जाते हैं, और देव समाज सुन्दर शोक-रहित स्थान पाते हैं। वही लक्ष्मीजी अपनी (स्वाभाविक) चञ्चलता छोड़ कर और करोड़ों कलाओं (उपायों) से देवताओं के स्वामी विष्णु रूप श्रीरामजी को प्रसन्न करती हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि तुझे उनका कहला कर (और देवताओं के द्वार-द्वार) कुत्ते के ग्रास (कौरा) के समान तुच्छ वैषयिक पदार्थ माँगते लज्जा नहीं लगती! अरे! श्रीजानकीजी के जीवन-सर्वस्व श्रीरामजी का भक्त होकर जो जीभ-औरों से याचना करती है, वह जल जाय।

विशेष—'जाको बिलोकत लोकप होत'; यथा—"सुनु रघुबीर-प्रिया बैदेही। तब प्रभाउ जग बिदित न केही॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (मा० बा० १०२)।

'बिसोक लहैं सुरलोक सुठौरहिं'; यथा—"उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संसतमनिंदिता॥ जासु कृपाकटाच्छ सुर, चाहत चितवन सोइ। राम-पदारविंदरति, करति सुभावहि खोइ॥" (मा० उ० २४)। देवश्रेष्ठ इन्द्र ने श्रीलक्ष्मीजी की स्तुति में कहा है—"आप ही की कृपादृष्टि से मनुष्यों को स्त्री, पुत्र, धन, धान्य और गृह तथा सुहृद वर्ग की प्राप्ति होती है। तथा उन्हें आरोग्यता, ऐश्वर्य, शत्रुपक्ष का नाश और सुख आदि कुछ दुर्लभ नहीं हैं। आप जगत् की माता और विष्णु पिता हैं, आप ही दोनों से जगत् व्याप्त है। हमारे कोश गोष्ठ (पशुशाला), गृह, भोग-सामग्री, शरीर और स्त्री आदि को आप कभी न त्यागें; अर्थात् इनमें भरपूर रहें। तथा हमारे पुत्र, सुहृद, पशु और भूषण आदि को आप कभी न छोड़ें।" (वि० पु० १।६।१२४—१२८); इन उद्धरणों से श्रीलक्ष्मीजी के कटाक्ष के भिखारी सभी देवगण सिद्ध हैं।

'सोकमला तजि चंचलता....'; यथा—"जद्यपि परम चपल श्री संतत, थिर न रहति कतहूँ। हरि पद पकज पाइ अचल भइ, करम वचन मनहूँ॥" (वि० ८६); "जुगल पदपद्म सुखसद्म पद्मालयं...." (वि० ५१); "लच्छि लालित करतल छबि अनूपम धरन।" (वि० २१८); "अब जानी मैं श्री-चतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥" (मा० अर० ५); तथा—"न श्री विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति॥" (भाग० ३।१६।७); अर्थात् भगवान् कहते हैं कि जिस लक्ष्मी के अल्पकृपाकटाक्ष के लिये ब्रह्मा आदि देव गण अनेक प्रकार के यम-नियम आदि करते हैं, वही लक्ष्मी मेरे अनिच्छुक रहने पर भी मुझे नहीं छोड़ती। एवं "वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम्॥" (भाग० ८।८।२३); अर्थात् सर्व गुणधाम विष्णु भगवान् के निष्काम होते हुए भी श्रीलक्ष्मीजी ने उन्हीं का वर रूप में वरण किया। "यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया॥" (भाग० ४।८।२३); अर्थात् जिस लक्ष्मीजी को लोग बड़ी चाह से खोजते हैं, वह दीपक तुल्य कमल हाथ में लिये हुई उन हरि को खोजती हैं।

श्रीलक्ष्मीजी का श्रीजानकीजी से तत्त्वतः अभेदत्व है; यथा—"राघवत्वेऽभवत्सीता···" (वि० पु० १ । ६ । १४४); अर्थात् श्रीहरि के राम रूप होने पर ये श्रीजी सीताजी हुईं । तथा—"सीता लक्ष्मीर्भवान्विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ॥" (वाल्मी० ६ । ११७ । २७); अर्थात् श्रीसीताजी लक्ष्मी हैं, आप विष्णु हैं, आप प्रजापति कृष्ण हैं । तदनुसार; यथा—"निज कर गृह परिचरजा करई । रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥ जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ । सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ॥" (मा० उ० २३) ।

'ताको कहाइ···'–श्रीलक्ष्मीजी जिनके चरणों की दासी हैं, उन श्रीरामजी का भक्त कहा कर तुच्छ देवों से तुच्छ सिद्धियों के लिये उनके द्वार-द्वार पेट खलाये हुए फिरना बड़ी लज्जा की बात है, इसमें अपने स्वामी में अविश्वास प्रकट होता है और स्वामी का नाम धरा जाता है; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा । करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥" (मा० उ० ४५) । तथा—"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥" (गीता ७ । २०); अर्थात् उन-उन भोग कामनाओं से हरे गये ज्ञानवाले अपनी प्रकृति के वश होकर अन्य देवताओं की उन-उन नियमों में स्थित होकर शरण ग्रहण करते हैं ।

कुत्ता तृष्णावश द्वार-द्वार फिरता है, पर उसे उस वृत्ति से कभी संतोष नहीं प्राप्त होता, वैसे ही इन सब की टुकड़ा खोरी से कभी जीव की तृप्ति होने की नहीं है; यथा—"कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ? । राम ! रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो ॥ आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो । हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो ॥ असन-बसन बिनु बावरो जहँ-तहँ उठि धायो । महीमान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु-खिनु पेट खलायो ॥ नाथ ! हाथ कछु नहीं लग्यो, लालच ललचायो ।" (वि० २७६) ।

'जानकि-जीवन को जन ह्वै जरि जाउ···'—जिनकी कटाक्ष से मनुष्य एवं ब्रह्मादि देवता भी समृद्धि पाते हैं, प्रमाण ऊपर दिये गये । उनका भक्त होकर भी जो उनमें विश्वास न कर अन्य तुच्छ स्वामियों से याचना करता है, उसकी वह जीभ जल जानी चाहिये; क्योंकि वह इतने बड़े स्वामी का नाम

घराता है। विश्वासपूर्वक भक्ति करने से श्रीरामजी के यहाँ ही इसकी पूर्ण तृप्ति हो जाती है; यथा—"लहै न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज। सो तुलसी महँगो कियो, राम गरीब-निवाज ॥ घर-घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय। जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥" (दोहावली १०८-१०९)। तथा आगे छन्द १२४ देखिये। एवं—"जे लोलुप भये दास आस के, ते सब ही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ॥" (वि० १६८)।

दुर्मिल-सवैया [२७]

जड़ पंच मिलै जेहि देह करी करनी लखु धौं धरनीधर की।
जन की कहु क्यों करिहैं न सँभार जो सार करै सचराचर की ॥
तुलसी कहु राम समान को आन है, सेवकि जासु रमा घर की।
जग में गति जाहि जगत्पति की परवाह है ताहि कहा नर की ॥

अर्थ—उन धरणी धारण करनेवाले श्रीरामजी की करतूत तो देखो, जिन्होंने पाँच जड़ तत्त्वों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) को मिला कर यह देह बनाई है। जो समग्र चर-अचर (चेतन-जड़) की सँभाल करते हैं, कहो तो भला, वे अपने भक्तों की सार-सँभाल क्यों न करेंगे ? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कहो तो सही, लक्ष्मीजी जिसके घर की सेवकिनी हैं, उन श्रीरामजी के समान दूसरा कौन होगा ? इस संसार में जिसको जगत्पत्ति श्रीरामजी का आश्रय प्राप्त है, उसे मनुष्य की क्या परवाह (आसरा) है ?

विशेष—'जड़ पंच मिलै जेहि देह करी…'; यथा—"छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रहित अति अधम सरीरा ॥" (मा० कि० १०); तथा—"गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी ॥ तब प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए ॥" (मा० सुं० ५८)। इन दोनों प्रमाणों में 'छिति जल…' इसमें देह-रचना सम्बन्ध के तत्त्वों का क्रम है और 'गगन समीर…' इसमें इन तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम है।

'छिति जल पावक'—पृथिवी का परिणाम माता का उदर है, उसमें जल का परिणाम पिता का वीर्य प्राप्त होता है, तब अग्नि के परिणाम जठराग्नि से खौल कर उसमें पिण्डाकृति होती है, फिर उस पिण्ड में आकाश का परिणाम पोल होता है, तब उसमें वायु के परिणाम श्वास की प्रवृत्ति होती है, उसी वायु

के परिणाम पञ्च प्राणों एवं दश प्राणों के द्वारा शरीर में सारी चेष्टाएँ होने लगती हैं। इस प्रकार पाँच जड़ तत्त्वों से देह निष्पन्न होता है।

'गगन समीर अनल···'—यह इनकी उत्पत्ति का क्रम है; यथा—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ।। आकाशाद्वायुः ।। वायोरग्निः ।। अग्नेरापः ।। अद्भ्यः पृथिवी ।। पृथिव्या ओषधयः ।। ओषधीभ्योऽन्नम् ।। अन्नात्पुरुषः ।।" (तैत्त० २।१); अर्थात् उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी। पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से यह पुरुष का शरीर हुआ।

इन्हीं पाँचों तत्वों के विविध संयोगों से अन्तःकरण और दशेन्द्रियाँ निष्पन्न हुईं। स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर आदि शरीर की सारी रचनायें हैं।

'करनी लखुधौं'—आकाश श्याम रंग, वायु हरित, अग्नि अरुण, जल श्वेत और पृथिवी पीत रंग की कही गई है। पाँचो अन्योन्य-विरोधी भी हैं। पृथिवी को जल डुबा देता है। अग्नि को जल बुझा देता है इत्यादि। फिर भी इन्हीं के संयोगों से विचित्र जगत् की रचना की है। देखने में दृष्टि और विचारने में बुद्धि चकित हो जाती हैं, यथा—"केसव ! कहि न जाइ का कहिये। देखत तव रचना विचित्र, हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ।।···" (वि० १११); यह पूरा पद विचारने योग्य है।

'धरनीधर की'—पृथिवी का धारण शेषजी करते हैं, शेषजी कमठ पर हैं और कमठ जल पर है। फिर उस जल का आधार तो पृथिवी ही हो सकती है। अतः, इन सबका आधार भगवान् की व्यापक सत्ता ही है। विराट् रूप में श्रीरामजी का चरण पाताल कहा गया है। जैसे चरण पर सारा शरीर रहता है, वैसे भगवान् का चरण उनका विष्णु (व्यापक) रूप कहा जाता है, उसी पर सारा ब्रह्माण्ड रूपी शरीर रहता है। इस प्रकार आपके धरणी-धारण की व्यवस्था भी आश्चर्य रूप है। व्यापक सूक्ष्म सत्ता पर इतना बड़ा स्थूल ब्रह्माण्ड है।

'जन की कहु क्यों·····'; यथा—"भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। योऽसौ विश्वम्भरो देवो स भक्तान् किमुपेक्ष्यति ।।" अर्थात् वैष्णव (भगवान् के भक्त) भोजन-वस्त्र की चिन्ता व्यर्थ ही करते हैं, जो भगवान् विश्वभर का भरण करते हैं, वे अपने भक्त की कैसे उपेक्षा करेंगे।

'तुलसी कहु राम समान को...'—जिसके घर की टहलिनी श्रीलक्ष्मीजी हैं, उसके यहाँ किस वस्तु की कमी है, जो अपने भक्त को भी न दे सके ? कहा भी है—"जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥" (मा० अर० ४१)।

'जग में गति जाहि जगत्पति की......'—श्रीरामजी जगत्मात्र के पति (पालक) हैं, उनका जो आश्रयण (शरण-ग्रहण) करता है, वे उसका पूरा सार-सँभार रखते हैं, यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा ॥" (मा० कि० १६); तथा—"न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्। जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥" (महा० अनुशा० १४६।१३१); अर्थात् भगवान् वासुदेव के भक्तों को कहीं भी अशुभ नहीं होता, उन्हें जन्म, मृत्यु, बुढ़ाई और रोगों का भय नहीं होता। तथा—"ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः। भये महति मग्नाश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥" (महा० भीष्म० ६७।२४); अर्थात् जो भगवान् कृष्ण की शरण होते हैं, वे बड़े भारी भय में मग्न होने पर भी मोहित नहीं होते, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

ऐसे श्रीहरि के भक्त को किसी मनुष्य की परवा क्यों हो गई ?

[२८]

जग जाँचिये कोऊ न; जाँचिये जौ, जिय जाँचिये जानकी-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे ॥
गति देखु बिचारि बिभीषन की, अरु आनु हिये हनुमानहि रे।
तुलसी भजु दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे ॥

शब्दार्थ—जानकी-जान (जानकी-जानि)=जिसकी जानि (स्त्री) श्रीजानकीजी हैं, वे श्रीरामजी। दवानल=वनकी अग्नि। कृपान=दुधारा खड्ग।

अर्थ—'हे जीव ! संसार में किसी से भी (कुछ) नहीं माँगना चाहिये; यदि माँगना ही हो तो श्रीरामजी से ही याचना कीजिये' जिसकी याचना से याचकता ही जल जाती है; जो संसार भर को बलात् जला रही है। श्रीविभीषणजी की दशा को विचार कर देखो और श्रीहनूमान्जी की वृत्ति का भी ध्यान करो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि दरिद्रता रूपी दोष को जला देने

के लिये वनाग्नि के समान और करोड़ों संकटों को काटने के लिये द्विधारा खड्ग के समान श्रीरामजी का भजन करो।

विशेष—'जग जाँचिये कोऊ न···'—जगत् में किसी से माँगने पर स्वामी पर अविश्वास होता है, इससे किसी से भी नहीं ही माँगना चाहिये, इस पर ऊपर छन्द में प्रमाण लिखे गये। तथा जगत् के जीव तो स्वतः दीन हैं; यथा—"जाहि दीनता कहौं हौं दीन देखौं सोऊ॥" (वि० ७८)। श्रीरामजी श्रीजानकीजी के पति हैं। अतएव उनकी लक्ष्मीजी सेवकिनी हैं। अतः, वहाँ संपत्ति पूर्ण है।

'जेहि जाँचत···'—श्रीरामजी अपने याचक को लोक-परलोक के सुख से पूर्ण कर देते हैं। सदा उसकी सार-सँभाल रखते हैं, फिर उसे कभी किसी से याचना नहीं करनी पड़ती, यही याचकता का जल जाना है; यथा—"एकै दानि-सिरोमनि साँचो। जेहि जाँच्यो सोइ जाँचकता बस फिरि बहु नाच न नाच्यो॥" (वि० १६३); "तुमहिं माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।" (वि० ७८); यह याचकता संसार को वलात् जलाया करती है किन्तु श्रीराम भक्त पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, आगे इसी पर दो उदाहरण देते हैं।

'गति देखु बिचारि बिभीषन की···'—श्रीविभीषणजी ने शुद्ध शरणागति की है, किन्तु जिस समय रावण ने—"मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।" ऐसा कहा है, तब क्षणिक वासना हो गई थी कि अब यदि यह लङ्का श्रीरामजी की होगी, तभी मैं इसमें रहूँगा; अन्यथा नहीं। पीछे शरण होने पर इन्होंने उस वासना का भोग अस्वीकार करते हुए कहा है; यथा—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥" परन्तु श्रीरामजीने कहा है; यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥ अस कहि राम तिलक तेहि सारा। (मा० सुं० ४८); अर्थात् श्रीराम-सम्मुख होते समय कुछ भी वासना हो, वह सफल होकर ही रहती है। अतः उस वासना के फलस्वरूप में श्रीरामजी ने इन्हें कल्पभर का राज्य दिया है, निर्विघ्न कल्पभर राज्य करके फिर सदा के लिये अपनी प्राप्ति कर दी है, इस प्रकार किंचित्सकामता का फल भी बहुत अधिक रूप में देते हैं।

'अरु आनु हिये हनुमानहि रे।'—श्रीहनुमान्जी ने शुद्ध निष्कामता से

श्रीराम-सेवा की है। इससे श्रीरामजी उनके वश हो गये हैं; यथा—"साँची सेवकाई हनुमान की···" (छन्द १६); तथा—"हाथ हरिनाथ के बिकाने···" (लं० ५५)—इनके विशेष में प्रमाण लिखे गये।

इन दोनों उदाहरणों से सकामता और निष्कामता दोनों प्रकार की भक्तियों पर श्रीरामजी की कृपा स्पष्ट है। आपके भक्तों पर कहीं कोई बाधक नहीं हो सकता।

'दारिद दोष दावानल·······'; यथा—"रीति महाराज की निवाजिये जो माँगनो, सो दोष दुःख दारिद दरिद्र कै-कै छोड़िये॥" (छन्द २५); तथा छन्द ११५ एवं वि० १६२-१६३ भी देखिये। एवं—"दोष दुरित दुख दारिद दाहक नाम। सकल सुमंगल दायक तुलसी राम॥" (बरवै रा० ५८)। 'संकट कोटि कृपानहि रे'; यथा—"सोच-संकटनि सोच-संकट परत, जर जरत, प्रभाउ नाम ललित ललाम को।·······" (छंद ७५)—यह पूरा छंद पढ़िये।

[२६]

सदोपदेश

सुनु कान दिये नित नेम लिये रघुनाथहि के गुनगाथहि रे।
सुख मंदिर सुंदर रूप सदा उर आनि धरे धनुभाथहि रे॥
रसना निसि-बासर सादर सो तुलसी जपु जानकीनाथहि रे।
करु संग सुसील सुसंतन सो, तजु कूर कुपंथ कुसाथहि रे॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि नित्य नियमपूर्वक श्रीरघुनाथजी की गुणगाथाओं का कान लगाकर (सुनकर बुद्धि से विचारते हुए) श्रवण किया करो। नेत्रों से देखकर सुख के स्थान, धनुष और तरकश धारण किये हुए श्रीरामजी के सुन्दर स्वरूप का हृदय में ध्यान किया करो। जिह्वा से रात-दिन आदरपूर्वक श्रीजानकी नाथ का जप किया करो। क्रूरों और कुमार्गियों का कुसंग छोड़कर सुशील श्रेष्ठ सन्तों का साथ किया करो।

विशेष—'सुनु कान दिये·····'; यथा—"जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना। भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे॥" (मा० अ० १२७)।

'सुख मंदिर सुंदर······'; यथा—"सर चाप मनोहर भोन धरं। जल-जारुन लोचन भूपवरं॥ सुख मंदिर सुंदर श्रीरमनं।" (मा० लं० १०६); "तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (मा० सुं० ४६)।

'रसना निसि बासर····'; यथा—"राम जपु जीह जानि प्रीति सों प्रतीति मानि, राम नाम जपे जैहै जियकी जरनि। राम नाम सों रहनि, राम नाम की कहनि कुटिल कलिमल-सोक-संकट-हरनि॥" (वि० २४७)।

'करु संग सुसील···'; यथा—"संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ। कपहिं संत कवि कोविद, श्रुति-पुरान सद्ग्रंथ॥" (मा० उ० ३३), "सुनहु असंतन्ह केर सुभाउ। भूलेहु संगति करिय न काउ॥ तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालहि हरहाई॥" (मा० उ० ३७)। इसीका विस्तार आगे छन्द में करते हैं।

[३०]

सुत, दार, अगार, सखा, परिवार बिलोकु महाकुसमाजहि रे।
सबकी ममता तजि कै समता सजि संत-सभा न बिराजहि रे॥
नर देह कहा करि देखु बिचार, बिगारु गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकुर ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि पुत्र, स्त्री, घर, मित्र और परिवार को महान् कुत्सित समाज देखिये। अतः, इन सबकी ममता छोड़ कर और समता दृष्टि रख कर सन्तों की सभा में क्यों नहीं विराजमान होता? यह मनुष्य शरीर क्या है, थोड़ा विचार कर देख, अरे, मूर्ख! अपने कर्तव्य को मत बिगाड़। लालची कुत्ते के समान (नर-देव आदि के द्वार-द्वार) न भटक, कौशलेश श्रीरामजी का भजन कर।

विशेष—'सुत, दार, अगार···'—ये सुत आदि यदि श्रीरामभक्ति में सहायक नहीं हैं, तब कुसमाज हैं और त्याज्य हैं; यथा—"जरउ सो संपति सदन, सुहृद मातु-पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहस सहाइ॥" (मा० अ० १८५); तथा—"सुत बनितादि जानि स्वारथ रत न करु नेह सबही ते। अंतहु तोहि तजहिंगे पाँवर तू न तजै अबही ते॥" (वि० १९८)। अतएव—

'सब की ममता तजि···'—ममता त्यागने की व्यवस्था; —"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृदय परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥" (मा० सुं० ४७); अर्थात् जगत् भगवान् श्रीरामजी का शरीर है। जैसे शरीरी (देही) जीव की प्रेरणा से उसके हाथ-पाँव आदि अंग प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही जगत्मात्र के शरीरी श्रीरामजी के शरीर रूप ये जननी-जनक आदि उनकी ही प्रेरणा से वात्सल्य आदि गुणों से मेरा पालन पोषण करते हैं। अतएव जिन उपकारों के प्रति इन सब में ममता है, वे उपकार तो श्रीरामजी ने ही करवाये हैं। तब इनसे ममता छूट कर श्रीरामजी में होगी और प्रीतिपूर्वक उनकी भक्ति दृढ़ होगी। तथा जगत् के प्रति समता भी स्वतः आ जायगी; क्योंकि यह बोध हो जायगा कि सारा जगत् एक श्रीरामजी का ही शरीर है और सब के द्वारा मेरे कर्मानुसार वे ही हित-अनहित के बर्त्ताव करवा रहे हैं। अतः, न कोई मेरा हितैषी है और न शत्रु। सुख-दुःख में मेरा कर्म ही हेतु है। तब एक शरीर के व्यष्टि अंगों द्वारा परस्पर समत्व के समान सब में समता रहेगी; तथा—"जननि जनक, गुरु-बंधु, सुहृद-पति, सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी॥" (वि० ११३); अर्थात् जननी जनक आदि के रूप से आप ही मेरे सब उपकार कर रहे हैं, यह ज्ञान अद्वैत दृष्टि है, इसके विरुद्ध ये जननी आदि मेरे स्वतंत्र उपकर्त्ता हैं एवं शत्रु आदि स्वयं अपकर्त्ता हैं—यह अज्ञान द्वैत दृष्टि है, यह दृष्टि तम कूप में डालने वाली वृत्ति है।

इस समता वृत्ति से जगत् से उदासीन भाव कर ममता छोड़ कर श्रीरामजी में ममता दृढ़ कर उनकी भक्ति करनी चाहिये। इसकी दृढ़ता के लिये संत-सभा का सेवन आवश्यक है; यथा—"सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीर चरन लय लागै॥ देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥" (वि० १३६ । ११); इत्यादि।

'नर देह कहा···'; यथा—"बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥ साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक

सँवारा ।। सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ ।। एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुख दाई ।। नर तनु पाइ बिषय मन देही। पलटि सुधाते सठ बिष लेहीं ।। ताहि कबहुँ भल कहइ कि कोई। गुंजा ग्रहैं परसमनि खोई ।। आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिउ अबिनासी ।। फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाउ गुन घेरा ।। कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ।। नर तनु भव बारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो ।। करन धार सदगुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।। जो न तरइ भव सागर, नर समाज अस पाइ। सो कृत-निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ ।।" (मा० उ० ४३-४४)। इस उद्धृत प्रसंग में नर देह की दुर्लभता और इसके कर्त्तव्य का आदेश एवं मूर्खता से कार्य-बिगाड़ने का अनर्थ भी समझाया गया है। श्रीरामजी के श्रीमुख-कथित इस आदेश पर आरूढ़ हो कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिये। 'जनि डोलहि लोलुप कूकुर ज्यों···'—कुत्ते के समान फिरने की मूर्खता छन्द २६ के 'ताको कहाइ···' इसके विशेष में लिखी गई।

'भजु कोसलराजहि रे'—श्रीरामभक्ति से तृप्ति की व्यवस्था कुछ उपर्युक्त छंद २६ के 'जानकिजीवन को जन ह्वै'— तथा छंद २७ के 'जग में गति जाहि—' इनके विशेषों में लिखी गई। 'कोसलराजहि' इस विशेषण में ये भाव विशेष हैं कि श्रीरामजी अवध-वासियों पर बड़ी ममता रखते हैं; यथा—"प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ।। सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक-बिसोक बनाइ बसाए ।।" (मा० बा० १५); तथा— "अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी ।।" (मा० उ० ३) यहाँ के निवासियों पर ममता की पराकाष्ठा तो यह है कि आपने यहाँ पर ११००० वर्ष रह कर इनके साथ क्रीड़ा कर इन्हें अपार सुख दिया है। अन्त में सभी प्राणियों को अपने साथ ही पर धाम ले जाकर सदा के लिये अपार-अनंत सुख का भागी बना दिया है; मोक्षपद प्राप्त करा दिया है।

यहाँ के निवासी सिय-निंदक-रजक के पाप-समूह पर दृष्टि न देकर आपने उसे अपना धाम दिया। प्रमाण ऊपर है। यहाँ के निवासी कुत्ते का भी बहुत पक्ष किया है, यथा—"साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो···" (छंद

१००) जब सामान्य प्रजा पर ऐसी ममता है तब श्रीरामजी का भजन करने पर तो वे इस पर और भी ममत्व करेंगे; यथा—"पुनि-पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतियाउ। नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ ॥" (गी० सुं० ४५); "अनुज राज संपति बैदेही। देह-गेह परिवार सनेही ॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥ सबके प्रिय सेवक यह रीती मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (मा० उ० १५); रामहिं सेवक परम पियारा ॥"‥राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद-पुरान साधु सुर साखी ॥" (मा० अ० २१८); इन वचनों को समझ कर पूर्ण निर्भरता से श्रीराम-भजन करना चाहिये।

[३१]

बिषया परनारि निसा-तरुनाई, सो पाइ परयो अनुरागहि रे।
जम के पहरू दुख रोग-बियोग बिलोकतहू न बिरागहि रे ॥
ममता बश ते सब भूलि गयो, भयो भोर, महाभय भागहि रे।
जरठाइ-दिसा, रबि-काल उग्यो, अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे ॥

शब्दार्थ—विषया=विषय भोग। दिसा=पूर्वदिशा, सूर्योदय की दिशा।

अर्थ—तरुणाई रूपी रात्रि पाकर तू विषय रूपी पर-स्त्री के अनुराग में पड़ गया है। यमराज के पहरेदार के समान दुःख रोग और वियोग को देख कर भी तुझे इस (विषय रूपी पर स्त्री) से वैराग्य नहीं होता। ममता के वश में रहता हुआ तू अपने सब कर्त्तव्यों को भूल गया था। अरे ! अब प्रभात हो गया; अर्थात् विवेक युक्त मुमुक्षुता आ गई। तब यम-यातना का महान् भय समझ पड़ा। अब इस विषय भोग रूपी परस्त्री संसर्ग से भागना चाहिये। देख, बुढ़ापा रूपी पूर्वदिशा में काल (मृत्यु) रूपी सूर्य का उदय हो ही रहा है। अरे जड़ जीव ! तू अब भी नहीं जाग रहा है ! (कैसी आश्चर्यरूपा तेरी मूर्खता है !)।

विशेष—'विषया पर नारि'—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँचो विषय प्रकृति (माया) के पाँचो तत्त्वों के आदि रूप एवं गुण हैं। अतः माया के अंग हैं। माया भगवान् की दासी है। जीव के समक्ष यह परस्त्री के समान है। इन पाँचो विषयों में आसक्त होना, परस्त्री में आसक्त होने के समान है।

'निसा-तरुनाई'—तरुणता (यौवन) आने पर लोग परस्त्री में आसक्त

होते हैं, इसी प्रकार अविद्या से सुत-वित-दार-भवन में ममता हो जाती है, वही रात के समान है, उसमें बुद्धि की निमग्नता उस निशा में सोना है; यथा—"सुत-वित-दार-भवन-ममता निसि सोवत अति, न कबहुँ मति जागी ॥" (वि० १४०)।

'सो पाइ परयो अनुरागहि रे'—सुत-वित्त आदि पाकर इनमें ममत्व कर विषयासक्त बुद्धि से तू अनुरक्त हो पड़ा हुआ (निमग्न) है।

'जम के पहरू दुख रोग बियोग……'—पर-स्त्री संसर्ग से नाना प्रकार के रोग होते हैं। भय, कलंक और अपमान आदि मानस रोग और गर्मी, सुजाक, प्रमेह एवं शक्तिह्रास आदि शारीरिक रोग होते हैं। वैसे विषय-भोग से भी राग-द्वेष, मोह, मद, काम-क्रोध आदि मानस रोग तथा ज्वर, अतीसार आदि शारीरिक रोग होते हैं। यहाँ विषयासक्ति से इन उभय प्रकार के रोगों के दुःखों तथा इन सुत-वित्त आदि के वियोग के दुःखों को देखकर इन विषयों से वैराग्य होना चाहिये; यथा—"जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम् ॥" (गीता १३।८); अर्थात् विषय भोगवालों के साथ जन्म-मृत्यु आदि के दुःख अनिवार्य हैं। जैसे पर-स्त्रीगामी को राज्य कर्मचारी (चौकीदार) आदि का भय रहता है। उसी प्रकार यमराज रूपी थानेदार की ओर से नियुक्त ये दुःख, रोग और वियोग आदि ममता-निशा में सोने वालों को जगाते रहते हैं कि इस रात में जागते रहो अन्यथा राग-द्वेष आदि डाकू एवं काम आदि चोर लूट ले जायँगे; यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषो व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥" (गीता ३।३४); अर्थात् इन्द्रिय-इन्द्रिय के विषय में (समस्त इन्द्रिय-भोगों में) जो राग-द्वेष स्थित हैं, उनके वश में नहीं होना चाहिये; क्योंकि ये दोनों इस (जीव) के बटमार हैं (आत्मज्ञान-विषयक अभ्यास को लूटने वाले हैं)। अतः जागते रहो; यथा—"जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा ॥" (मा० अ० ९२); तात्पर्य यह कि विषयासक्ति में ये रोग, दुःख और वियोग आदि जीवों को विषयासक्ति के दोष दिखा इससे वैराग्य कराने वाले हैं। अतः इन पर दृष्टि रखते हुए सावधान रहना चाहिये। विषय-विलास से दूर रहना चाहिये।

'ममता बस ते सब भूलि गयो…'—ऊपर प्रमाण लिखा गया कि सुत-वित्त आदि की ममता रात्रि के समान है, उसमें बुद्धि की आसक्ति ही सोना है। तथा—"ममता तरुन तमी अँधियारी। राग-द्वेष उलूक सुखकारी ॥" (मा० सुं०

४६); जैसे सोते हुए मनुष्य को कर्त्तव्यों की स्मृतियाँ नहीं रहतीं, वैसे यह जीव भी सुत-वित्त आदि की ममता में पड़ कर जाग्रत के कर्त्तव्यों को भूल जाता है। जाग्रत के कर्तव्य; यथा—"जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय-बिलास-बिरागा॥ होइ बिबेक मोह-भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (मा० अ० ९२); अर्थात् श्रीराम-भक्ति ही इसका जाग्रत का कर्तव्य है।

'भयो भोर';—यथा—"अब प्रभात प्रगट ज्ञान-भानु के प्रकास, वासना सराग मोह द्वेष निबिड तम टरे॥ भागे मान-मान-चोर भोर जानि जातुधान, काम-क्रोध लोभ-छोभ-निकर अपडरे।" (वि० ७४);।

'महा भय'—जाग्रत् होने पर मुमुक्षु के पूर्वकृत पापों के परिणाम रूप में भावी यम-यातना का एवं अपनी कृतघ्नता के दुष्परिणाम का महाभय लगता है; यथा—"अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी॥" (वि० १२१)। 'भागहि रे'—वह भयंकर दुष्परिणाम विषयासक्ति से ही हुआ है। अतः इस विषय भोग रूपी परस्त्री-संसर्ग से भागना चाहिये।

'जरठाई दिसा, रवि काल उग्यो....'—जैसे पूर्व दिशा की अरुणता देख सूर्योदय होने की सम्भावना की जाती है, वैसे ही बुढ़ाई के चिह्न देखकर मृत्यु समीपता का अनुमान होता है; यथा—"कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकप्रवादः।" अर्थात् काल की दूती बुढ़ापा प्रथम कान के पास श्वेत बालों के द्वारा मानो मृत्यु का सँदेशा देती है। तथा—"स्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठपन अस उपदेसा॥" (मा० अ० १);।

जब पूर्व दिशा में अरुणाई आ गई तब सूर्योदय में विलम्ब नहीं रहता, वैसे ही बुढ़ाई के चिह्नों को देख कर काल की समीपता देख सावधान होना (जाग्रत होना) चाहिये, वही कहते हैं कि—

'अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे'—अर्थात् विषय-विलास से वैराग्य कर विवेक दृष्टि से श्रीराम चरण में अनुराग कर। ऊपर 'ममता बस....' इसके विशेष में प्रमाण लिखे गये। तथा—"देखत ही आई बिरधाई।...ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्ना तरंग बढ़ावई॥" (वि० १३६) इस प्रसंग में जीव के जड़त्व का भाव स्पष्ट है।

अलङ्कार—रूपक।

[३२]

जनम्यो जेहि जोनि अनेक किया सुख लागि करी, न परै बरनी।
जननी जनकादि हितू भए भूरि, बहोरि भई उरकी जरनी॥
तुलसी अब राम को दास कहाइ हिये धरु चातक की धरनी।
करि हँस को बेष बड़ो सब सों, तजि दे बक-बायस की करनी॥

अर्थ—तूने जिस योनि में जन्म लिया, उसी में सुख प्राप्ति के लिये अनेक कर्म किये, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। (उन योनियों में भी) माता-पिता आदि बहुत हितैषी हुए, फिर (ममता हो जाने पर) उन्हीं से हृदय में जलन भी होने लगी। श्रीतुलसीदासजी (मन से) कहते हैं कि अब तो श्रीराम-जी का दास कहला कर हृदय में पपीहे की-सी टेक (प्रतिज्ञा) धारण कर और सबसे बड़ा) हंस का-सा वेष बना करके तो बगुलों और कौओं की-सी करणी (दम्भ एवं छल-अविश्वास आदि) छोड़ दे।

विशेष—'जनम्यो जेहि जोनि···'; यथा—"जनम अनेक किये नाना बिधि कर्म कीच चित सान्यो॥" (वि० ८८); "सुख हित कोटि लपाय निरंतर करत न पायँ पिराने।" (वि० २३५)।

'जननी जनकादि हितू···'; यथा—"त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो। गृह बनिता सुत बंधु भए बहु मातु-पिता जिन्ह जायो॥" (वि० १६६); "जननि-जनक, सुत-दार, बंधु जन भये बहुत जहँ-जहँ हौं जायो। सब स्वारथ-हित प्रीति, कपट चित, काहू नहिं हरि-भजन सिखायो॥" (वि० २४३)। इन सम्बन्धियों का प्रेम स्वार्थ की दृष्टि से ही होता है। अतः, उसमें अन्तर पड़ने पर द्वेषी हो जाते हैं, तब फिर इन्हीं के कारण हृदय में जलन भी होने लगती है। यथा—"नये-नये अनुभये देह-गेह बसि, परखे प्रपंची प्रेम परत उघरि सो। सुहृद समाज दगाबाजी ही को सौदासूत, जब जाको काज तब मिलै पाँय परि सो॥" (वि० २६४)।

इनकी ममता से तीनों तापों की जलन हुई। श्रीरामजी की कृपा से मुमुक्षुता आई, जब इनका सम्बन्ध छोड़कर श्रीरामजी का दास कहाया; अर्थात् साधु वेष से भक्ति का बाना धारण किया। तब—

'हिए धरु चातक की धरनी'—चातक की अनन्य-निष्ठा दोहावली २७७ से ३१२ तक विस्तृत रूप में कही गई है तथा—"लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥ निदरहिं सरित-सिंधु सर बारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥ तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥" (मा० अ० १२७)। कीर्तन-निष्ठा पर चातक वृत्ति वि० ६५ में देखने योग्य है। एवं—"जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै।" (छंद ३३)।

'करि हंस को बेष बड़ो सब सो'—दूध और जल मिला हुआ रहने पर हंस दूध मात्र पी लेता है, जल त्याग देता है; उसी प्रकार ब्रह्माजी की सृष्टि में गुण-अवगुण मिला कर सृष्टि की गई है। उसमें गुण मात्र का ग्रहण कर अवगुण त्याग करना साधुओं का काम है; यथा—"सुगुन खीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा। गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥" (मा० अ० २३१); इस हंसवत् विवेक वृत्ति का विशेष विवेचन श्रीगोस्वामीजी ने किया है; यथा—"भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये॥ कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥" से "जड़ चेतन गुन-दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥ अस विवेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मन राता॥" (मा० बा० ५-६) तक।

इसका तात्पर्य यह कि जैसे ब्रह्माण्ड में काशी-मगह, मरु-मालवा, सुरसरि कर्मनाशा और ब्राह्मण-कसाई पास-पास ही हैं, पर विचारवान् गुण वाले पक्ष काशी, मालवा, गंगा और ब्राह्मण का ही संसर्ग रखते हैं, वैसे ही पिंड रूप शरीर में बुद्धि, चित्त, मन और अहङ्कार की दो-दो वृत्तियाँ हैं। एक व्यवहार पक्ष और दूसरी परमार्थ पक्ष। व्यवहार पक्ष में रागद्वेष आदि विकार आते हैं, परमार्थ पक्ष से दोष छूटते हैं। अतः विवेकी अन्तःकरण और इन्द्रियों को भगवान् की भक्ति में लगाते हैं, यही दूध मात्र का ग्रहण करना है और अविवेकी इनसे विषय-व्यवहार ही ग्रहण करते हैं, यही उनका जल मात्र पीना है। अतः हरि भक्ति सत् और जगत्-व्यवहार असत् पक्ष है (इसकी व्याख्या इसके

'सिद्धान्त-तिलक' में देखिये।) तथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत् सब सपना॥" (मा० अर० ३८)।

इस प्रकार के विवेकी संतो का वेष हंस का-सा है और यह सब से बड़ा है।

'तजि दे बक-बायस की करनी'—स्वार्थ-सिद्धि के लिये आडंबर रचना दंभ है, यही बक वृत्ति है। अंगदजी ने कहा भी है; यथा—"रन ते निजल भाजि गृह आवा। इहाँ आइ बक ध्यान लगावा॥" (मा० लं० ८३); काक-करनी; यथा—"काक-समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥" (मा० अ० ३०१); अर्थात् कौआ छली, मलिन और अविश्वासी होता है। तथा कटु-भाषी और कटु-आहारी भी होता है। कठोर शब्द बोलता है और निंब फल खाता है। कामादि विषय निम्ब फल के समान हैं; यथा—"काम भुजंग डसत जब जाही। विषय निंब कटु लगत न ताही॥" (वि० १२७)।

तात्पर्य यह कि संत वेष धारी को दंभ, छल, अविश्वास, कटु भाषण और कामादि विषयों की मलिन वृत्तियों का सर्वथा त्याग करना चाहिये, तभी हंसवत् साधु वेष का गौरव रहता है। अलङ्कार—ललित।

[३३]

भलि भारत भूमि, भलो कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै।
करषा तजि कै, परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहि कै॥
जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै।
नत और सबै बिष बीज बये हर-हाटक काम दुहा नहि कै॥

शब्दार्थ—भलो समाज=साधु समाज का संग। भलो सरीर=मनुष्य-शरीर। करषा = मन मोटाव, द्रोह, लड़ाई का जोश। परुषा (परुष)=कठोरता, कठोर वचन, निष्ठुरता। हाटक=सोना। काम दुहा=कामधेनु गाय।

अर्थ—यह भारतवर्ष की श्रेष्ठ एवं पवित्र भूमि है, इसमें भी उत्तम कुल में जन्म हुआ है और फिर श्रेष्ठ मनुष्य शरीर एवं उसके साथ साधु-समाज का संग भी प्राप्त हुआ है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे उत्तम संघट्ट पर तो जो मनुष्य क्रोध और कठोर वचन आदि छोड़ कर वर्षा, जाड़ा, वायु, और धूप को सह कर चातक की भाँति हठपूर्वक सर्वदा भगवान् का भजन करता है, वही प्रवीण हैं; अन्यथा और सब तो सोने के हल में कामधेनु को जोत कर विष का ही बीज बोते हैं।

विशेष—भलि भारत भूमि…'; यथा—"यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली। तेरी कुमति कायर! कलपबल्ली चहति बिष फल फली॥" (वि० १३५); राजा भरत के किये हुए पृथिवी के नौखंडों में से एक खंड भारतवर्ष है। यह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण समुद्र के मध्य का भाग है, इसके उत्तर भाग में हिमालय पहाड़ है। यह देश बड़ा पवित्र माना गया है; यथा—"जम्बूद्वीपे महापुण्ये वर्षे वै भारते शुभे।" (पद्मपुराण); तथा—"अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने। यतो हि कर्मभूरेषाह्यतोन्या भोगभूमयः॥ अत्र जन्मसहस्त्राणां सहस्त्रैरपि सत्तम। कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्॥ गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदमार्ग-भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥ कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते। अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिंल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति॥ जानीम नैतत्क वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्। प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्या ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः॥" (वि० पु० २।३।२२-२६)। अर्थात् जम्बूद्वीप में यह भारतवर्ष सर्व श्रेष्ठ है; क्योंकि यह कर्म भूमि है। और देश भोग भूमियाँ हैं। जीव को सहस्त्रों जन्मों के पश्चात् बहुत पुण्यों के उदय होने पर ही कभी इस देश में मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। देवता भी निरन्तर यही गाते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म लिया है। तथा जो यहाँ जन्म लेकर अपने निष्काम कर्मों को भगवान् में अर्पण करने से निर्मल होकर उन भगवान् को ही प्राप्त करते हैं, वे पुरुष हम देवों की अपेक्षा अधिक धन्य हैं। पता नहीं कि अपने स्वर्ग प्रद कर्मों की समाप्ति पर हम कहाँ जन्म ग्रहण करेंगे। धन्य तो वे ही मनुष्य हैं, जो भारत भूमि में उत्पन्न होकर इन्द्रियों की शक्ति से हीन नहीं हुए हैं। 'भले कुल जन्म'; यथा—"दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।" (वि० १३५); 'सरीर समाज भलो'; यथा—"अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहिं दियो।" (वि० १३५)।

'करषा तजि के परुषा…'—क्रोध और कठोर वचन आदि छोड़कर रहने के लिये दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे वर्षा, हिम आदि सह कर चातक अपनी टेक निबाहता है, वैसे ही इसे भी क्रोध आदि के संयोग को सह कर अपना कर्तव्य (हरि-भक्ति) का निर्वाह करना चाहिये। यही सयानपना है; यथा—

"बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक। तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहि चूक ॥" (दोहावली २८२) । चातक-निष्ठा पर ऊपर छन्द में 'चातक की धरनी' पर कुछ लिखा गया।

'न त और सबै बिष बीज बये…'—मनुष्य शरीर सोने का हल है और सन्त-समाज का साथ कामधेनु का नहना है। यदि अनन्य निष्ठा से हरिभजन नहीं किया जायगा तो इन्द्रियाँ विषय में ही रत होंगी, उससे बार-बार चौरासी-लक्ष योनियों का भ्रमण होगा, यही विष का बीज बोना है। इससे सहस्रों बार मरण रूपी फल फलता रहेगा। ऊपर प्रमाण लिखा गया—"तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहति विष फल फली ।" तथा—"पाँचै पाँच परस रस सब्द गंध अरु रूप। इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भव कूप ॥" (वि० २०३) ।

अलङ्कार—ललित ।

उपजाति सवैया [३४]

सो सुकृती, सुचिमंत, सुसंत, सुसील, सयान-सिरोमनि स्वै ।
सुर तीरथ तासु मनावत आवन, पावन होत हैं ता तन छ्वै ॥
गुन गेह, सनेह को भाजन सो, सबही सों उठाइ कहउँ भुज द्वै ।
सतिभाय सदा छल छाँड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीर को ह्वै ॥

शब्दार्थ—सुचिमंत (सं० शुचि + मत) = शुद्ध आचरण वाला, सदाचारी।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं दोनों भुजाएँ उठा कर (प्रतिज्ञा-पूर्वक) सभी से कहता हूँ कि जो सदा सब प्रकार से छल छोड़ कर सद्भाव से श्रीरघुनाथजी का (शरणागत) होकर रहता है; वही पुण्यात्मा, सदाचारी, अच्छा साधु, सुशील और चतुरों में शिरोमणि है। देवता और तीर्थ तो उसका आगमन मनाते रहते हैं; क्योंकि वे उसका शरीर स्पर्श करके स्वयं पवित्र होते हैं। समस्त सद्गुणों का घर और सबका स्नेह पात्र भी वही हो जाता है।

विशेष—'सो सुकृती, सुचिमंत…'; यथा—"सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि-मंडित पंडित दाता ॥ धर्म-परायन सोइ कुल त्राता। रामचरन जाकर मन राता ॥ नीति-निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति-सिद्धान्त नीक तेहि जाना ॥ सोइ कवि-कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा ॥" (मा० उ० १२६); तथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।" (गीता ९।३०-३१)। अर्थात् यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य-भाक् (भक्ति ही प्रयोजन वाला) होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माना जाने योग्य है; क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चय वाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, और सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। कुन्तीपुत्र ! तुम प्रतिज्ञा करो कि 'मेरा भक्त नष्ट नहीं होता'।

'सुर तीरथ तासु मनावत आवन···'; यथा-"कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ।। ६८ ।। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ।।" (नारद भक्ति सूत्र); अर्थात् ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर संभाषण करते हुए अपने कुलों को और पृथिवी को पवित्र कर देते हैं। तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को सत्-शास्त्र कर देते हैं। तथा—"मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ।।" (भाग० ११।१४।२४); अर्थात् मेरा भक्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है। "साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ।।" (भाग० ९ । ९ । ६); अर्थात् (श्रीगङ्गाजी के यह कहने पर कि पापी मुझमें स्नान कर मुझमें पाप धोवेंगे तो मैं कहाँ उन पापों को धोऊँगी'—भगीरथ महाराज ने कहा है—) हे माता ! समस्त विश्व को पवित्र करने वाले, विषय-त्यागी, शान्त स्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु महात्मा आकर तुम्हारे प्रवाह में स्नान करेंगे, तब उनके अंगसंग से तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे; क्योंकि उनके हृदय में समस्त पापों का नाश करने वाले श्रीहरि निवास करते हैं। प्रचेता गण भगवान् से कहते हैं—"तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया। भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ।।" (भाग० ४ । ३० । ३७); अर्थात् आपके जो भक्त तीर्थों को पवित्र करने की इच्छा से भूमि पर विचरते रहते हैं, उनका समागम संसार भय से भीत पुरुषों को कैसे प्रिय नहीं होगा। श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीविदुरजी से कहते हैं—"भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो। तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ।।" (भाग० १ । १० । १०); अर्थात् हे प्रभो ! आप-सरीखे

हरिभक्त स्वयं तीर्थ रूप हैं (पापियों के द्वारा कलुषित हुए) तीर्थों को आप लोग अपने हृदय में विराजित भगवान् श्रीगदाधर के प्रभाव से पुनः तीर्थत्व प्रदान करा देते हैं।

'उठाइ कहौं भुज द्वै'—प्रतिज्ञा करने की ऐसी रीति है; यथा—"चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई॥" (मा० बा० १६४); यथा—"बोले बंदी बचन बर, सुनहु सकल महिपाल। पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल॥" (मा० बा० २४६)।

'छल छाँड़ि'—भक्ति करते हुए स्वार्थ की भावना रखना छल है; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (मा०अ० ३००)।

अलङ्कार—निदर्शना ('जो' 'सो' इसके स्पष्ट संकेत हैं,)।

मत्तगयंद-सवैया [३५]

सो जननी, सो पिता, सोइ भाइ, सो भामिनि सो सुत, सो हितु मेरो।
सोइ सगो, सो सखा, सोइ सेवक, सो गुरु, सो सुर, साहिब चेरो॥
सो तुलसी प्रिय प्रान समान, कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि देह को गेह को नेह सनेह सो राम को होइ सवेरो॥

अर्थ—जो मनुष्य शरीर और घर (सुत-वित-देह-गेह-स्नेह = जगत्, नानात्व रूप जगत्) का स्नेह (ममता) छोड़ कर शीघ्र ही स्नेहपूर्वक श्रीरामजी का (शरणागत) हो जाता है; वही मेरी माता, वही पिता, वही भाई, वही स्त्री, वही पुत्र, वही हितैषी वही समीपस्थ सम्बन्धी, वही मित्र, वही सेवक, वही गुरु, वही देवता, वही स्वामी और वही चेला है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं अधिक बना कर (बढ़ा कर) कहाँ तक कहूँ; वही मुझे प्राणों के समान प्यारा है।

विशेष—जो तजि देह को गेह को नेह···'—'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह इति जगत्' यह परिभाषा नानात्व जगत् की प्रसिद्ध है। श्रीगोस्वामीजी ने देह के साथ सुत आदि सम्बन्धियों को और गेह के साथ वित्त आदि जड़ पदार्थों को मानकर चराचर जगत् के लिए 'देह-गेह-नेह' यह परिभाषा मान रक्खी है; यथा—"जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह-गेह निज जान्यो॥" (वि० १३६); "देह-गेह नेह जान जैसे घनदामिनी।" (वि० ७३); "पुनि कहँ यह सोभा कहँ लोचन, देह-गेह संसार।" (गी० अ० २६); "नये-नये नेह अनुभये देह-

गेह बसि···" (वि० २६४); श्रीलक्ष्मणजी ने 'देह-गेह-नेह' छोड़कर श्रीरामजी का होना दिखलाया है; यथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह-गेह सब सों तृन तोरे॥···गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति-प्रतीति निगम निज गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥" (मा० अ० ६९–७१); ऐसा कह कर श्रीलक्ष्मणजी ने समस्त देह-गेह सम्बन्धियों का त्याग कर श्रीराम-शरण ग्रहण किया है। उस प्रकार जो सर्वात्मना शरणागति करता है, वह भगवान् श्रीरामजी का अङ्ग रूप परिकर हो जाता है। तब जैसे श्रीरामजी को माता-पिता आदि सभी रूपों से कहा जाता है, वैसे इस अङ्गभूत शरणागत के लिए भी कहा गया है; यथा—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मो कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥" (मा० अर० १५); तथा—"स्वामि सखा पितु-मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात। मन मंदिर तिन्ह के बसहु, सीय-सहित दोउ भ्रात॥" (मा० अ० १३०)।

शरणागत (उपर्युक्त) लक्ष्मणजी को श्रीराम-अंग मानकर ही श्रीभरतजी ने कहा है; यथा—"सोक समाज राज केहि लेखे। लखन राम-सिय पद बिनु देखे॥" (मा० अ० १७७)। श्रीलक्ष्मणजी श्रीभरतजी से छोटे हैं उनका चरण देखना कैसे कहते है त? था—"भगवच्छेषत्वस्य भागवच्छेषत्वपर्यन्तत्वात्॥ "मम मद्भक्तभक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका यतः।", "अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते विष्णुप्रसादस्य भाजनं दाम्भिका जनाः॥" (रहस्यत्रय-हरीदास); अर्थात् भगवान् का शेषत्व (सेवा) भागवत के शेषत्व तक होने से निष्पन्न होता है। इस पर भगवान् का ही वचन है कि भक्त के भक्तों में मेरी प्रीति अधिक होती है। ऋषियों ने भी कहा है—जो भगवान् की पूजा करते हुए उनके भक्तों की पूजा (सेवा) नहीं करते, वे भगवान् की प्रसन्नता के पात्र नहीं होते; किन्तु वे दम्भी कहे जाते हैं। उसी दृष्टि से श्रीगोस्वामीजी ने यहाँ श्रीराम-शरणागत को अपना सब कुछ कहा है और फिर प्राणों के समान प्यारा कहा है।

भगवत्सेवा की अपेक्षा भागवत्सेवा का अधिक भी महत्व कहा गया है; यथा—"मोते संत अधिक करि लेखा।" (मा० अर० ३५); "मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥" (मा० उ० ११९)।

अलङ्कार—तुल्ययोगिता का तीसरा (वर्ण्य-अवर्ण्य) भेद।

[३६]

राम हैं मातु-पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामी सनेही।
राम की सौंह, भरोसो है राम को, सम रँग्यो रुचि राच्यो न केही॥
जीयत राम, मुए पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जियै जग में तुलसी न त डोलत और मुए धरि देही॥

अर्थ—श्रीरामजी ही जिसके माता, पिता, गुरु, बन्धु, साथी, मित्र, पुत्र, स्वामी और स्नेही हैं। जिसके हृदय में श्रीरामजी की ही सम्मुखता है और केवल श्रीरामजी का ही भरोसा है, जो रुचिपूर्वक श्रीराम ही में अनुरक्त है और किसी में अनुरक्त नहीं है। जो जीवित अवस्था में श्रीरामजी का आश्रित रहता है, मरने के समय भी श्रीरामजी का ही स्मरण करता है और सदा जो श्रीरघुनाथजी की ही शरण में रहता है, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वही संसार में जीवित है; अन्यथा और लोग तो देह धारण किये चलते-फिरते हुए भी मृतक तुल्य हैं।

विशेष—'राम हैं मातु-पिता…'; यथा—"मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता॥" (मा० उ० १७)। तथा ऊपर पद के 'जो तजि देह को गेह को नेह…' इसका विशेष देखिये।

'राम की सौंह…'—यहाँ 'सौंह' शपथ के अर्थ में नहीं है। प्रत्युत् सम्मुखता के अर्थ में है; यथा—"तुलसी प्रभु को परिहर्यो सरनागत सौंहों।" (वि० १५०); 'राम की सौंह…जीयत राम…'—इन चरणों में अनन्यता वृत्ति कही गई है।

'सोई जियै जग में…'; यथा—"जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ। जियै जग में तुम्हारो बिनु ह्वै।" (छन्द ४०-४१); तथा—"कृष्णं कमलपत्राक्षं नाऽर्चयिष्यन्ति ये नराः। जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन॥" (महा० सभा० ३९।८); अर्थात् (श्रीनारदजी ने कहा है—) कमलनयन श्रीकृष्ण भगवान् की पूजा जो मनुष्य नहीं करते, वे जीते हुए भी मृतक के समान हैं, उनसे (स्पर्श की कौन कहे?) सम्भाषण भी नहीं करना चाहिये।

दुर्मिल सवैया [३७]

सियराम-सरूप अगाध अनूप बिलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहिं को थलु है॥

मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है॥

अर्थ—श्रीसीताजी और श्रीरामजी का अनुपम स्वरूप नेत्र रूपी मछलियों के लिये अगाध जल हो (; अर्थात् रूप-ध्यान के आधार पर नेत्र एवं तद्युक्त बुद्धि का जीवन रहे)। कानों से सदा श्रीरामकथा ही सुनें, मुख से श्रीरामजी का ही नाम और हृदय में श्रीरामजी का ही स्थान (श्रीअयोध्याजी का स्मरण बना) रहे। बुद्धि श्रीरामजी (की महिमा एवं तत्त्व-निरूपण) में लगी रहे, श्रीरामजी में अनन्य गति हो, श्रीरामजी से ही प्रीति हो और श्रीरामजी का ही बल हो—सबकी बात तो नहीं कहता; परन्तु मुझ तुलसीदासजी के मत में तो संसार में जीने का यही फल है।

विशेष—'सिय राम सरूप अगाध…'—मछली जल से पृथक् होना नहीं चाहती, पृथक् होते ही प्राण त्याग देती है। वैसे ही जिसकी आँखें श्रीसीतारामरूप से प्रसन्न रहें, क्षणिक वियोग भी असह्य हो, विस्मृति पर व्याकुलता आ जाय।

'श्रुति राम कथा…'—ऊपर चरण में रूप का ध्यान कहा गया, इसमें क्रमशः कथा (लीला), नाम और स्थान (धाम) की निष्ठा कही गई है। इस प्रकार की निरन्तर आराधना से हृदय श्रीरामजी के अनुकूल सङ्कल्प वाला हो जायगा; यथा—"रामेति-रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥ अहं हि तस्याद्य मनोभवेन संपीडिता तद्गतसर्वभावा। विचिन्तयन्ती सततं तमेव तथैव पश्यामि तथा शृणोमि॥ मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि…" (वाल्मी० ५।३२।११-१२); अर्थात् (श्रीजानकीजी ने अशोक-वाटिका में श्रीहनुमान्‌जी के सूक्ष्म रूप से श्रीराम कथा सुन कर अनुमान किया है कि यह कथा किसने सुनाई? कोई तो नहीं दिखता; ऐसा जान पड़ता है कि) मैं जो सदा अपने मन में श्रीरामजी को ही सोचा करती हूँ और मुख से भी 'राम, राम' ऐसा कहा करती हूँ; इसीसे मैं अपने विचारों के अनुसार उस राम नाम की अर्थ रूपा यह कथा सुन रही हूँ, तथा देख रही हूँ। मैं सर्वात्मना श्रीरामजी की हूँ। अतएव मानसिक अभिलाषाओं से मैं पीड़ित हो रही हूँ। सदा श्रीरामजी की ही बातें सोचने से मैं ऐसा देख और सुन रही हूँ। अतः, यह मेरा मनोरथ (संकल्प) ही हो सकता है, ऐसा मैं सोचती हूँ।

इस प्रकार छन्द के इन दो चरणों में नेत्र, श्रवण, मुख और हृदय (मन) की श्रीरामजी में अनन्य-निष्ठा एवं 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' इस शरणागति की सिद्धि कही गई। आगे अन्तःकरण-निष्ठा कहते हैं—

'मति रामहि सों…'—'मति रामहि सों'—इसमें बुद्धि की वृत्ति है, 'गति रामहि सों' इसमें अहङ्कार की तन्मयता है। 'रति राम सों' इसमें मन की वृत्ति है और 'रामहि को बलु है' इसमें चित्त की वृत्ति है।

इस प्रकार छन्द के तीनों चरणों में वाह्यकरण और अन्तःकरण की अनन्य-शरणागति की वृत्तियाँ कही गई हैं।

'सबकी न कहै…'—श्रीगोस्वामीजी अपना सिद्धान्त कहते हैं कि औरों का चाहे जो मत हो, पर मेरा तो यही निश्चित मत है कि उक्त वृत्ति ही संसार में जीवन धारण का फल है; तथा—"जेहि देह सनेह न रावरे सों ऐसी देह धराय कै जाय जियै।" (छन्द ३८); "सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा॥" (मा० अ० १५४), "सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद पंकज भाऊ॥" (मा० अ० २९०)। ऊपर छन्द ३६ का भी यही तात्पर्य है। श्रीभरतजी ने भी कहा है; यथा—"जीवन लाहु लखन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा॥" (मा० अ० १८१)।

अलङ्कार—'आत्मतुष्टि प्रमाण'; क्योंकि इसमें अपने सन्तोष को ही प्रमाण कहा है।

[३८]

दसरत्थ के दानि-सिरोमनि राम, पुरान-प्रसिद्ध सुन्यो जस मैं।
नर नाग सुरासुर जाचक जो तुमसों मन भावत पायो न कैं॥
तुलसी कर जोरि करै बिनती जो कृपा करि दीन-दयालु सुनैं।
जेहि देह सनेह न रावरे सों असि देह धराइ कै जाय जियैं॥

अर्थ—हे श्रीदशरथ महाराज के पुत्र दानि-शिरोमणि श्रीरामजी! मैंने पुराणों में प्रसिद्ध आपका यश सुना है कि मनुष्य, नाग, देवता, दैत्य एवं राक्षस आदि, जिस किसी ने भी याचक बन कर आपसे माँगा है, उनमें से किसने अपना मनोवाञ्छित पदार्थ नहीं पाया है ?; अर्थात् सभी ने पाया है। हे दीन-दयाल ! यदि आप कृपा करके सुनें तो तुलसीदास हाथ जोड़ कर कहता है कि

जिस देह से आपके प्रति स्नेह न हो, ऐसी देह धारण कर व्यर्थ जीना है; अर्थात् मुझे ऐसी देह का जीवन न दिया जाय।

विशेष—'दसरत्थ के दानि-सिरोमनि राम…'—श्रीदशरथ महाराज के समान कोई भी दानी नहीं हुआ; क्योंकि उन्होंने सर्वस्व से कहीं अधिक प्रिय देह और प्राण तथा उससे भी अधिक प्यारे पुत्र का दान कैकेयीजी के प्रति किया है। उनके पुत्र आप हैं, पिता का लक्षण पुत्र में भी रहता ही है। पुनः आप स्वयं भी दानि-शिरोमणि हैं; यथा—"सुनु सेवक सुरतरु सुर धेनू।…दानि सिरोमनि कृपानिधि,…" (मा० बा० १४५,१४६)—ऐसा मनु ने कहा है। ऐसा यश आपका पुराणों में प्रसिद्ध मैंने सुना है। अतः, आप अपने यश की रक्षा अवश्य करें, मुझे मनोवाञ्छित दें।

'नर नाग…'—मनुष्य मर्त्यलोक के, नाग और असुर पाताल के तथा सुर स्वर्ग के हैं; अर्थात् तीनों लोक वाले आपसे सदा इच्छित पाते हैं।

'कृपा करि दीन दयालु सुनैं'—दीन-दयालु तो स्वतः आश्रितों का पोषण करता है, जब कृपा भी करे तो कहना ही क्या है?

'जेहि देह सनेह न…'—भाव यह कि ऐसी योनि में शरीर न दें, जिसमें आपसे स्नेह न हो सके और मनुष्य-शरीर में भी अपने में स्नेहमय वृत्ति रक्खें; वाली ने भी ऐसा ही माँगा है; यथा—"जेहि जोनि जनमउँ करमबस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥" (मा० कि० ६)। ब्रह्माजी ने ऐसा ही माँगा है; यथा—"तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्। येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥" (भाग० १०।१४।३०); अर्थात् इसलिये, हे नाथ! इसी जन्म में अथवा पशु-पक्षी आदि के बीच किसी और ही जन्म में आपके भक्तों का सेवक होकर आपके चरणों की सेवा कर सकूँ, यही मेरी प्रार्थना आपसे है, मैं इसमें ही अपना अहोभाग्य समझूँगा।

इस सवैया के चारो चरणों के तुकान्त चार प्रकार के अक्षरों के हैं। केवल 'ऐ" मात्र (अंतिम स्वरमात्र) का मेल है। ऐसा तुकान्त मध्यम प्रकार का माना जाता है—काव्य-निर्णय के २२ वें उल्लास का प्रमाण देकर श्रीबैजनाथजी ने लिखा है।

मत्त गयन्द-सवैया [३६]

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग, संत कहंत, जे अंत लहा है।
ताको सहै, सठ! संकट कोटिक, काढत दंत, करंत हहा है॥
जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकि जीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है॥

शब्दार्थ—जे अंत लहा है=जिन्होंने अनुभव करके इस जगत् के रहस्य को समझ लिया है। जानकि-जीवन जान=श्रीजानकीजी का जीवन परक ज्ञान; जिस ज्ञान के आधार पर श्रीजानकीजी ने लंका में अपना जीवन रक्खा था।

अर्थ—जिन सन्तों ने अनुभव करके इस जगत् के रहस्य को समझ लिया है, वे कहते हैं कि यह संसार सदा झूठा है, झूठा है, झूठा है, (अर्थात् यह सदा से तीनों कालों में झूठा ही है)। अरे मूर्ख! तू उसी संसार के करोड़ों संकट सहता है और उसीके लिये (जिससे-तिससे) हा हा करते हुए दाँत निकाल कर विनती करता है। तुझे अपने ज्ञानीपने का बड़ा घमंड है; परन्तु तुलसीदास के विचार से तू महा गँवार है। यदि तूने श्रीजानकीजी का जीवन परक ज्ञान (जिस ज्ञान के आधार पर उन्होंने लंका में अपना जीवन रक्खा था) नहीं जाना तो तू ज्ञानी कहलाते हुए भी क्या जाना; (अर्थात् कुछ नहीं जाना)।

विशेष—'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग...'—श्रीगोस्वामीजी ने माया के दो भेद माना है—विद्या और अविद्या। भगवान् की शरीर रूपा प्रकृति भगवान् की इच्छा से और उनकी प्रेरणा से जगत् (चराचर) की रचना करती है, यह विद्या माया है। भगवान् के शरीर रूप उस विद्या माया कृत जगत् में 'सुत-वित्त-देह-गेह-स्नेह' रूप अविद्यात्मक कल्पना को अविद्या माया कहा है। इसी अविद्या कल्पित नानात्व रूप जगत् को आपने सर्वत्र मिथ्या कहा है; यथा—"जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥ एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥ जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥" (मा० बा० ११६-११७);—इसके 'सिद्धान्त-भाष्य' में इसकी विशद व्याख्या देखिये।

विद्या माया कृत भगवान् के शरीर रूप जगत् को आपने प्रवाहतः नित्य

और स्वरूपतः अनित्य माना है; यथा—"पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ॥" (मा० उ० १२) इसका 'सिद्धान्त-भाष्य' देखिये ।

जगत् भगवान् श्रीरामजी का शरीर है; यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२७); तब 'सुत-वित्त-देह-नेह' भी उनके शरीर ही हैं। उन्हीं की प्रेरणा से मेरे कर्मानुसार वर्त्त रहे हैं, इस प्रकार ज्ञान होने पर ये ईश्वर के नियाम्य ही सिद्ध होते हैं। इनके रूपों से ईश्वर ही स्नेह पूर्वक बर्ताव कर रहा है, यह सिद्ध होता है। ऐसा जानने पर इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जातीं, तब इनमें फैला हुआ स्नेह सिमिट कर ईश्वर में ही होता है; यही ईश्वर का ज्ञान होने पर जगत् का न रह जाना एवं हेराय (खो) जाना है। यथा—"जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥" (मा० बा० १११); "येहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति-प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि यक ठाँई॥" (वि० १०३); "जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥" (मा० सुं० ४७); इस प्रकार जानने पर अविद्या कल्पित जगत् की नानात्व सत्ता नहीं रह जाती, यही जगत् का तीनों काल का मिथ्यात्व है।

'ताको सहै सठ संकट कोटिक'''''—जब अविद्यात्मक दृष्टि से जगत् की नानात्व सत्ता सत्य रहती है, तब ईश्वर के शरीर रूप जगत् में मन के द्वारा द्वैत कल्पना से शत्रुता, मित्रता एवं उदासीनता आदि भाव उत्पन्न होते हैं—अमुक ने मेरा अनहित किया है। अतः, वह मेरा शत्रु है। अमुक ने हित किया है। अतः, वह मित्र है, इत्यादि। इन राग-द्वेषात्मक भावों में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव नाना संकट सहता है। नाना प्रकार के नर देव आदि के समक्ष दीनता कह कर विनती करता है, पर किसी से सन्तोष नहीं पाता, यथा—"द्वार-द्वार दीनता कही, काढ़ि रद, परि पाहू। हैं दयाल दुनी दस दिसा, दुख-दोष-दलन-छम, कियो न संभाषन काहू॥''''''तुलसी तिहारो भये भयो सुख प्रीति-प्रतीति बिना हू। नाम की महिमा, सील नाथ को, मेरा भलो बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ॥" (वि० २७५), इसका तात्पर्य यह कि जब तक जीव सर्व शरीर ईश्वर को नहीं जानता, तभी तक यह जगत् का दास बन कर ठोकर खाता है। जब ईश्वर को जान कर उसकी अनन्य शरण होता है, तभी यह सुखी होता है।

'जानपनी को गुमान बड़ो···'—जब तक उक्त संकट-सहन-वृत्ति एवं द्वार-द्वार की याचकता बनी है, तब तक इसका ज्ञान केवल वाग्विलास ही है। वास्तव में जगत् का मिथ्यात्व केवल जानने मात्र से नहीं दृढ़ होता। प्रत्युत् उसके लिये विशेष ज्ञान की अपेक्षा है, वह ज्ञान श्रीजानकीजी ने प्रकट किया है, उसे आगे कहते हैं—

'जानकि-जीवन जान न जान्यो···'—'श्रीजानकी-जीवन-ज्ञान' की व्यवस्था इस प्रकार है—श्रीजानकीजी ने अपनी प्रतिबिंब रूपा (अंशभूता) विद्यामाया को लङ्का भेज कर श्रीरामनामाराधन की रीति और उससे संसार के भयंकर स्वरूप का ज्ञान और उस ज्ञान से संसार-निवृत्ति दिखाई है—

जैसे श्रीजानकीजी ने अपना प्रतिबिंब लङ्का भेजा, वैसे ही मुमुक्षु को श्रीसीता-रामजी की कृपा से निर्मल बुद्धि (सदसद्विवेकिनी, बुद्धि) मिलती है; यथा—"जनकसुता···जासु कृपा निर्मल मति पावौं ॥" (मा० बा० १७); तथा—"मच्चिता मद्गतप्राणा······ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥" (गीता १०।९-१०)। श्रीसीताजी लंका को शोकमय देखती थीं। वैसे ही इसे शरीरासक्ति रूपा अशोकवाटिका—जो मोहरूपी रावण की क्रीड़ा-स्थली है—वह इसे शोकमय दीखती है और प्रवृत्ति (उपर्युक्त अविद्यात्मक जगत्) रूपा लंका—यद्यपि मोहासक्तों के लिये स्वर्णमयी (बहुमूल्य रूपा) है—तथापि वह इसे दुःख रूपा एवं अप्रिय लगती है। प्रमाण—"बपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग रचित मन दनुज मय रूप धारी।···कुनप-अभिमान सागर भयंकर घोर···मोह दसमौलि··· जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।···प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजन तनय···" (वि० ५८)।

इस दुःख-निवृत्ति के लिये वहाँ श्रीजानकीजी ने श्रीरामनाम की आराधना स्वयं करके बतलायी है; यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छबि सीता राखि उर, जपति रहति हरि नाम ॥" (मा० अ० ३२); अर्थात् श्रीसीताजी ने स्वामी श्रीरामजी को मारीच के चर्म के लिये काँटों में दौड़ाया है, इसे वे दृश्य की भाँति देखती (पछताती) हुई रामनाम जपती थीं। वैसे मुमुक्षु की श्रीसीताराम-कृपा से प्राप्त निर्मल बुद्धि भी पछताती हुई रामनाम जपती है

कि मैंने मन रूपी मारीच के चर्म रूपी अभिलषित सुख के लिये अन्तर्यामी रूप श्रीरामजी को संसार-कान्तार की दुःखमय योनियों में दौड़ाया है।

तब जैसे वहाँ रावण-प्रेरित राक्षसियाँ नाना प्रकार के भयंकर रूप धर-धर कर श्रीजानकीजी को डराती थीं। वैसे इसका हृदय ज्यों-ज्यों शुद्ध होता जाता है, प्रारब्धानुसार रजोगुणी प्राकृत संकल्प नाना प्रकार के जो मोह प्रेरित होते हैं, उनसे इसकी बुद्धि को भय लगता है। फिर कुछ काल में श्रीराम-सम्बन्धी शुद्ध संकल्प होने लगते हैं; यथा—"रामेति-रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥" (वाल्मी० ५।३२।११)—इसका अर्थ छन्द ३७ के विशेष में लिखा गया। इस प्रसंग में श्रीरामनाम जप से संकल्पों का तदनुरूप होना और उससे कथा सुनने की भ्रान्ति कही गई है। उसी समय वहाँ श्रीहनुमान्‌जी आ गये। वैसे ही यहाँ श्रीराम-प्रेरित प्रबल वैराग्य प्राप्त होता है, उससे शरीरसक्ति उजाड़ और प्रवृत्ति राख के समान कुरूपा एवं हेय हो जाती है। श्रीहनुमान्‌जी के कर्त्तव्य से विभीषणजी ने श्रीरामजी का तेज-प्रताप जाना, तब वे श्रीराम-शरण हुए वैसे यह भी अनन्योपायता बुद्धि के साथ (अन्य उपायों का भरोसा छोड़ प्रभु को ही उपाय मान कर) शुद्ध शरणागति प्राप्त करता है।

तब श्रीरामजी इसके देहाभिमान रूपी सागर को बाँध कर मोह-परिवार रूपी विकारों को दैवी संपत्ति रूपी वानरों के द्वारा नाश करते हैं और इसे इसके शुद्ध स्वरूप का राजा बनाते हैं, जिससे यह च्युत हुआ था; यथा—"निष्काज राज बिहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह परयो।" (वि० १३६); मुक्त होने पर जीव का राजा होना कहा गया है; यथा—"स स्वराड् भवति ॥" (छान्दो० ७।२५।२); फिर श्रीविभीषणजी ने श्रीजानकीजी को लाकर श्रीरामजी को सौंपा और वे अग्नि परीक्षा-द्वारा श्रीरामजी की नित्य श्री में लीन हुईं। वैसे जीव भी ज्ञानाग्नि द्वारा पूर्वकार्य श्रीरामजी की ही आदिशक्ति के द्वारा होना निश्चित करता है।

श्रीविभीषणजी श्रीअयोध्या आकर दिव्यरूप से श्रीरामजी के परिकर हुए, वैसे यह भी निवृत्त हृदय में दिव्यधाम के साथ भगवान् के दिव्य शेषत्व (सेवा) का अनुभव करता है। वहाँ श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी को श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा भूषण-वस्त्र पहनवा कर लंका भेजा कि जिससे वे श्रीलक्ष्मणजी की भाँति रात-

दिन सेवा युक्त रहें तो कल्पान्त में नित्यधाम को जायँगे। वैसे यह भी श्रीराम-भजन के साथ अवशिष्ट आयु (प्रारब्ध) समाप्त कर अंत में नित्यधाम की प्राप्ति करता है।

श्रीगोस्वामीजी ने इस जानकी-जीवन-ज्ञान के साथ नामाराधन महत्त्व अन्यत्र भी कहा है; यथा—"ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं, श्रीमच्छम्भु-मुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा। संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकी जीवनं, धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥" (मा० कि० मंगलश्लोक २)।

इस प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रीरामनामाराधन करने से भव-भय निवृत्त होता है।

दुर्मिल सवैया [४०]

तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
तुलसी जेहि राम सो नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिखान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकि नाथ! जियै जग में तुम्हारो बिन ह्वै॥

शब्दार्थ—कछुवै=कुछ भी। बिखान (सं० विषाण)=सींग।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिनका श्रीरामजी में स्नेह नहीं है, वे सचमुच पशु ही हैं, उनमें केवल एक पूँछ और दो सींगे भर नहीं हैं। उन से तो गधे, शूकर और कुत्ते अच्छे हैं; क्योंकि वे अचेतनता होने के कारण भला-बुरा कुछ भी नहीं कहते। उनकी माँ उनके भार से दस महीने क्यों मरी? वह बाँझ क्यों न हो गई? अथवा, उसका गर्भपात क्यों नहीं हो गया? हे श्रीजानकीनाथ! यदि कोई व्यक्ति संसार में आपका हुए बिना जीता है तो उसका वह जीवन जल जाने योग्य है (अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ है, इससे तो उसका मर जाना अच्छा है)।

विशेष—'तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले…'—कर्मकाण्डी यदि श्रीराम-स्नेह से रहित हैं तो वे शुभाशुभ कर्म रूपी रस्सी में बँधे हुए कर्म-परिणाम जगत् का भार वहन करनेवाले गधे के समान हैं। योग-क्रियाभिमानी यदि राम-स्नेह-रहित हैं तो वे पुष्टाङ्ग शूकर के समान हैं और अकारणवादी एवं मुँहजोर ज्ञानी यदि राम-स्नेह-रहित हैं तो वे भूँकने वाले मुँहजोर कुत्ते के समान है, किन्तु फिर भी खर आदि इनसे अच्छे हैं; क्योंकि वे अचेतनता के कारण

कुछ कह-सुन नहीं सकते और ये तो अपने को धन्य मानते हैं। अतः, अनधिकार श्रेष्ठता के अभिमानी होने से उनसे भी ये गये-बीते हैं। तथा—"तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि, सठ हठि पियत विषय-विष माँगी। सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी॥" (वि० १४०)।

'जननी कत भार मुई...'; यथा—"पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥ नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम-बिमुख सुत ते हित जानी॥" (मा० अ० ७४)।

'जरि जाउ सो जीवन...'; यथा—"जेहि देह सनेह न रावरे सो ऐसी देह धराय कै जाय जियै।" (छंद ३८); तथा—"सब की न कहै तुलसी के मते..." (छंद ३७)—इनके विशेष देखिये।

श्रीरामजी का होकर रहना अनन्य शरणागति है। आगे छन्द में इसी की पुष्टि है—

[४१]

गज-बाजि-घटा, भले भूरि भटा, बनिता सुत भौंह तकैं सब कै।
धरनी धन धाम सरीर भलो, सुरलोकहु चाहि इहै सुख स्वै॥
सब फोकट साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ! जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥

शब्दार्थ—घटा=समूह। चाहि=अपेक्षाकृत बढ़कर। इहै=इस लोक में ही, यहीं पर। स्वै=अपना; निज का। फोकट=जिसका कुछ मूल्य न हो, निस्सार, व्यर्थ। साटक=भूसी, छिलका, तुच्छ एवं निकम्मी वस्तु।

अर्थ—हाथी-घोड़ों के समूह के समूह हों, बहुत-से अच्छे-अच्छे योद्धा हों और स्त्री-पुत्र आदि सब कोई भौंह ताकते रहते (आज्ञाकारी) हों। पृथिवी, धन, घर तथा शरीर भी सुन्दर एवं स्वस्थ प्राप्त हो और यहीं पर स्वर्गलोक से भी बढ़कर निज का सुख प्राप्त हो। किन्तु, श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि यह सब व्यर्थ और तुच्छ है, अपने कुछ नहीं हैं, सब दो दिन के स्वप्न हैं। अतः, हे श्रीजानकीनाथ! यदि कोई व्यक्ति संसार में आपका हुए बिना जीता है तो उसका यह जीवन जल जाने योग्य है (; अर्थात् व्यर्थ ही नहीं प्रत्युत् लोक-हानि-कर है, इसे देखकर और भी हरि-विमुख होते हैं)।

विशेष—'अपनो न कछू...'—संसार के सभी सम्बन्धी स्वार्थी हैं, इससे वे अपने नहीं हैं, स्वार्थ में अन्तर पड़ते ही विमुख हो जाते हैं। धरणी-धन आदि दो दिन के (अल्प दिनों के) सपने हैं, क्षणभंगुर हैं, इनके नष्ट होने में विलम्ब नहीं लगता।

'सब फोकट-साटक है...'—गज-बाजि आदि फोटक हैं और धरणी आदि साटक हैं। अथवा, दोनों ही फोटक-साटक हैं। अतः इनमें ममता करनी मूर्खता है—वि० १९८ इस विषय पर देखने योग्य है।

पूर्वोक्त छन्द ३८ के समान इन छन्द ४०-४१ के तुकान्त भी मध्यम कोटि के हैं।

[४२]

सुरराज-सों राज-समाज, समृद्धि बिरंचि, धनाधिप-सों धन भो।
पवमान सों, पावक-सों, जम-सोम-सों, पूषन-सों भव-भूषन भो॥
करि जोग, समीरन साधि, समाधि कै, धीर बड़ो, बसहू मन भो।
सब जाय सुभाय कहै तुलसी, जो न जानकी जीवन को जन भो॥

अर्थ— इन्द्र के समान राज्य-सामग्री हो, ब्रह्माजी के समान अधिक सम्पन्नता हो और कुबेर के समान धनवान् हो। वायु के समान वेगवान, अग्नि के समान तेजस्वी, यमराज के समान दण्डधारी, चन्द्रमा के समान प्रिय-दर्शन और सूर्य के समान संसार को भूषित (सुशोभित एवं प्रकाशित) करनेवाला हो। योग क्रिया करके प्राण-अपान आदि दसो पवनों को साधकर समाधि लगाता हो और जो बड़ा धैर्यवान् हो एवं जिसका मन भी उसके वश में हो। श्रीतुलसीदासजी सद्भाव से एवं सच्चे भाव से कहते हैं कि यदि वह श्रीजानकीनाथ का भक्त नहीं हुआ तो ये सब बातें व्यर्थ हैं।

विशेष—'सुरराज सो राजसमाज'; यथा—"मघवा-से महीप विषय सुख साने।" (छंद ४३); "सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (मा० लं० १२); राज्य के सातो अङ्ग सम्पन्न हों; यथा—"स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥" (मनु० ९। २९४); अर्थात् राजा, मंत्री, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और मित्र—ये सात प्रकृतियाँ हैं, इन्हीं अङ्गों से राज्य सप्ताङ्ग कहाता है।

'समृद्धि बिरंचि'; यथा—"बड़े बिधि से···" (छंद ४२); श्रीब्रह्मा का ही परिवार सारा जगत् है। अतः, समस्त ऐश्वर्य उन्हीं के वंश का है।

'समीरन साधि'—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान; तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय, ये कुल दस प्राण हैं, इनके स्थान क्रमशः—हृदय, गुदा, नाभी, कण्ठ और सब देह; तथा नाभी, नेत्र, क्षुधा, जँभाई और मृत्-शरीर हैं। प्राणायाम आदि क्रियाओं से इन्हें साधा जाता है। समाधि योग-साधन की चरम (अंतिम-पूर्ण) अवस्था है।

'धीर बड़ो'—काम-क्रोध आदि का सहन करनेवाला; यथा—"ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये ॥" (पार्वतीमंगल २७)। 'बसहू मन भो'—मन का वश करना अत्यन्त कठिन है। रामराज्य में भी इसके लिये उपाय की आवश्यकता थी; यथा—"जीतहु मनहिं सुनिय अस, रामचंद्र के राज ॥" (मा० उ० २२)। धीर होने पर ही मन जीता जाता है, इससे 'धीर बड़ो' कह कर तब मन का वश होना कहा गया है।

'सब जाय···'—जीव के मनुष्य तनु मिलने की सफलता श्रीराम-प्राप्ति से है, वह बिना भक्ति के नहीं होता, इससे उक्त दुर्लभ संघट्टों को भी भक्ति बिना व्यर्थ कहा गया है; यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥ भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे ॥" (मा० उ० ८३); श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं अनुभव करके कहा है; यथा—"कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो। राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो ॥" (वि० २७६)।

उपजाति सवैया [४३]

काम-से रूप, प्रताप दिनेस-से, सोम से सील, गनेस-से माने।
हरिचंद से साँचे, बड़े बिधि से, मघवा से महीप बिषै सुखसाने ॥
सुक से मुनि, सारद से बकता, चिरजीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने ॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यदि राजीवलोचन श्रीरामजी को नहीं जाना तो रूप में कामदेव के समान, प्रताप में सूर्य के समान, सर्वप्रिय शील-स्वभाव में चन्द्रमा के समान, मान्यता में गणेशजी के समान, सत्यवादिता में

हरिश्चन्द्र के समान, बड़ाई में ब्रह्माजी के समान, विषय-सुख में अनुरंजित इन्द्र के समान राजा, शुकदेवजी के समान मुनि, शारदाजी के समान वक्ता और चिरजीविता में लोमशजी से भी अधिक हो जाय तो भी ऐसा होने पर क्या लाभ हुआ ? अर्थात् कुछ नहीं।

विशेष—'जो पै राजिवलोचन राम न जाने।'—भक्तों की रक्षा में सावधान रहने से और उनके दुःख निवृत्त करने से श्रीरामजी राजीवलोचन कहे जाते हैं; यथा—"पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक ॥ राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक ॥" (मा० बा० १७); "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव-नयना ॥ बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ॥" (मा० सुं० ३१); आश्रितों को सामर्थ्य देने से भी राजीवलोचन कहाते हैं; यथा—"प्रभु-पद-पंकज नावहिं सीसा। गरजहिं भालु महाबल कीसा ॥ देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना ॥ राम कृपाबल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥" (मा० सुं० ३४)।

श्रीरामजी के ऐसे स्वभाव को जान कर उनका आश्रित (शरण) हो जायगा तो श्रीरामजी इसका कुल भार ले लेंगे, इसके सर्वोपाप हो जायँगे। यह निश्चिन्त हो जायगा। और यदि अपने उक्त गुणों के बल से भवपार होना चाहेगा तो इसका पार होना असंभव है; यथा—"सुनुमुनि तोहिं कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा ॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी ॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई ॥ प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता ॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी। जनहिं मोर बल निज-बल ताही। दुहुँ कहँ काम-क्रोध रिपु आही ॥ यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं ॥" (मा० अर० ४२)।

ऐसा विचार कर ग्रन्थकार ने उन श्रेष्ठ गुणों की अवहेलना की है।

'काम से रूप'; यथा—"धरम धाम राम कामकोटि रूप रूरो।" (वि० ८०); 'प्रताप दिनेस से'; यथा—"जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा ॥" (मा० उ० ३०); "जिन्ह के जस-प्रताप के आगे।

ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥" (मा० बा० २६१)। 'सोम से सील'; यथा—"सोमवत्प्रियदर्शनः ।" (वाल्मी० १।१।१८); 'गनेस-से माने'—श्रीगणेशजी प्रथम पूज्य हैं, यह प्रसिद्ध है; तथा—"महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम-प्रभाऊ ॥" (मा० बा० १८)। 'मघवा से महीप....'; यथा—"सुरराज-सो राज समाज" (छंद ४२)—इसके विशेष में ऊपर देखिये।

मत्तगयंद-सवैया [४४]

भूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मद अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल, पौन कै गौनहुँ ते बढ़ि जाते॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहेर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकीनाथ के रंग न राते॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि द्वार पर जंजीरों से जकड़े हुए और जिनके गण्डस्थलोंसे मद रूपी जल चू रहा है, ऐसे अनेक मतवाले हाथी झूमते हों। मन की गति के समान चंचल वेगवान् वायु के वेग से भी बढ़ जाने वाले घोड़े भी हों। अन्तःपुर में चन्द्रमुखी स्त्री भी रुख देखा करती हो और बाहर (दरबार पर) इतने राजा खड़े हों कि उनके खड़े होने का पर्याप्त स्थान न हो (अर्थात् अधीन में रहने वाले बहुत-से राजा हों)। परन्तु यदि श्रीजानकी नाथ के प्रेम रंग में (हृदय) न रँगा तो ऐसा होने पर भी क्या हुआ?

विशेष—'ऐसे भये तो कहा...'—जीव सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर का अंश होने से स्वयं भी सच्चिदानन्द स्वरूप हैं; यथा—"ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (मा० उ० ११६)। अतः, यह प्राकृत क्षणभंगुर विषयों से तृप्त नहीं हो सकता। अपने अंशी को पाकर ही सुखी और स्थिर होता है; यथा—"सरिता जल जल निधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥" (मा० कि० १३)। "आनद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥" (वि० १३६।२)।

इसके अतिरिक्त प्राकृत सुखों से इसकी तृप्ति नहीं हो सकती; यथा—"रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः। सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः॥" (भाग० ७।७।३६); अर्थात् धन, स्त्री, पशु, पुत्र आदि, भवन, भूमि, हाथी, खजाना, ऐश्वर्य अर्थ और काम,

ये सभी नाशवान् हैं। मनुष्य को इनके द्वारा चंचल जीवन में कितनी प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है ?

भगवान् को पाकर ही यह सुखी होता है, उनकी प्राप्ति भक्ति से होती है।

[४५]

राज सुरेस पचासक को, बिधि के कर को जो पटो लिखि पाये।
पूत सुपूत, पुनीत प्रिया, निज सुंदरता रति को मद नाये॥
संपति सिद्धि सबै तुलसी, मन की मनसा चितवैं चित लाये।
जानकि-जीवन जाने बिना जन ऐसेउ जीव न जीव कहाये॥

अर्थ—पचासों इन्द्रों के समान राज्य का पट्टा (प्रमाण पत्र) स्वयं ब्रह्मा जी के हाथ का लिखा हुआ पाया हो (भाव यह कि ब्रह्माजी की आयु तक कल्पान्त भर उस राज्य के नष्ट होने का भय न हो)। पुत्र भी सुपुत्र हो, पति-व्रता पत्नी हो, जो अपनी सुन्दरता से कामदेव की स्त्री रति के मद को भी नीचा दिखाने वाली हो। सारी सम्पत्तियाँ और आठो सिद्धियाँ उसके मन के रुख को ध्यानपूर्वक देखती रहती हों (कि यह कब कुछ कहे और मैं पूरा करूँ); किन्तु श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीजानकीनाथ श्रीरामजी को यदि नहीं जाना और उनका भक्त नहीं हुआ तो ऐसा जीव भी वास्तव में जीव कहलाने योग्य नहीं है।

विशेष—'जानकि जीवन जाने बिना•••'—ऊपर छन्द ३९ में जानकी जीवन रूप ज्ञान की व्याख्या हो आई। उस रीति से यदि यह जानकी जीवन को जानेगा तो संसार से डर कर अनन्य भाव से उनकी भक्ति ही करेगा। तब लङ्का की-सी विभूत रूप प्राकृत सुख से वह सुखी नहीं होगा और श्रीविभीषणजी के समान शरण होकर श्रीराम-भक्त होगा, तभी यह यथार्थ जीव संज्ञा से कहे जाने के योग्य होगा; यथा—"जीव भवदंघ्रि-सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता॥" (वि० ५८)। श्रीविभीषणजी ने जब रामदूत श्रीहनुमान्‌जी के कर्मों से श्रीरामजी का तेज जाना तब लङ्का के महान् ऐश्वर्य का त्याग कर श्रीराम शर-णागति की है। रावण ने कहा भी है; यथा—"करत राज लङ्का सठ त्यागी।" (मा० सुं० ५२)। "परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।" (वाल्मी० ६।१९।५); यह विभीषणजी ने ही कहा है। वैसे ही यह भी जब उक्त रीति से जानकी-जीवन-ज्ञान जानता है, तब सांसारिक सभी ऐश्वर्य छोड़ कर श्रीराम

शरण ही होता है और भक्ति ही करता है; तथा—"उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (मा० सुं० ३३)। "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१६) अर्थात् हे भारत ! जो असंमूढ़ पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और मुझको सर्वभाव से भजता है।

दुर्मिल-सवैया [४६]

कृसगात ललात जो रोटिन को, घरबात घरे खुरपा-खरिया।
तिन्ह सोने के मेरु-से ढेर लहैं, मनतौ न भर्‌यो घरपै भरिया॥
तुलसी दुख दूनो दसा दुहुँ देखि, कियो मुख दारिदको करिया।
तजि आस भो दास रघुप्पति को, दसरत्थको दानि दया-दरिया॥

शब्दार्थ—कृसगात = दुर्बल शरीर वाला। ललात = लालाइत रहता है, ललचाता रहता है। घरबात = घर का सामान। खुरपा = घास छीलने का औजार। खरिया = घास या भूसा बाँधने की पतली रस्सी की जाली। दरिया (फा०) = १ नदी, २ समुद्र।

अर्थ—जो दुर्बल शरीर हैं और रोटियों के लिए ललचाते रहते हैं तथा जिनके घर में एक खुरपा एवं खरिया ही सारी पूँजी है। उनको यदि सुमेरु पर्वत के बराबर सोने का ढेर मिल जाय तो उनका घर तो भर जाता है, पर मन की तृप्ति नहीं होती (तृष्णा बढ़ती ही रहती है)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इस रीति से दोनों अवस्थाओं (दरिद्रता और धनिकता) में दूना दुःख देखकर मैंने दरिद्रता का मुख काला कर दिया और सारी आशाओं का त्याग कर श्रीरघुनाथजी का दास हो गया, तब वे श्रीदशरथ महाराज के पुत्र दानी और दया के सागर रूप में मेरे सम्मुख हैं।

विशेष—'मन तौ न भर्‌यो घर पै भरिया'—अर्थ-कामनाओं की प्राप्ति पर तृष्णा बढ़ती ही जाती है; यथा—"बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते॥" (वि० १९८); "जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।" (मा० लं० १००)। जैसे अग्नि इंधन देने से उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, वैसे ही काम्य पदार्थों की प्राप्ति से कामना (तृष्णा) और बढ़ती ही जाती है; यथा—"न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्मेत्व भूय एवाभिव-

र्धते ॥" (मनु० २।६४, महा० आदि० ७५।५०, वि० पु० ४।१०।२३ तथा भाग० ६।१६।१४); अर्थात् कामनाओं से—प्राप्त विषयों के भोगने से—काम (इच्छा) की तृप्ति नहीं होती; प्रत्युत् जैसे घी डालने पर आग और भड़कती है, वैसे ही इच्छित-भोग-प्राप्ति से इच्छाएँ और बढ़ती ही जाती हैं। इस प्रकार; यथा—"कामं कामायमानस्य यदि कामः स सिद्धयति। तथान्यो जायते पुंसस्त-त्क्षणादेव कल्पितः ॥ न जातु कामी कामानां सहस्रैरपि तुष्यति। हविषा कृष्ण-वर्त्मेव वाञ्छा तस्य विवर्धते ॥ कामानभिलषन्मोहान्न नरः सुखमाप्नुयात्। श्येनालयतरुच्छायां व्रजन्निव कपिञ्जलः ॥ नित्यं सागरपर्यन्तां यो भुंक्ते पृथिवी-मिमाम्। तुल्याश्मकाञ्चनश्चैव स कृतार्थो महीपतेः ॥" (स्कन्द पु० नागर खण्ड ३२।५१-५४); अर्थात् भोग-कामी मनुष्य की यदि एक कामना सिद्ध हो जाती है तो उसी क्षण उसके हृदय में दूसरी कामना हो जाती है। सहस्रों कामनाओं के सिद्ध होने पर भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। घी डालने पर अग्नि के समान कामना भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। जिस वृक्ष पर बाज रहता है, उसकी छाया में जैसे कबूतर सुख से नहीं रह सकता, वैसे भोगी मनुष्य मोहवश सुखी नहीं रह सकता। जिसको पत्थर और सोने में समान बुद्धि है। वह ससमुद्र सारी पृथिवी के स्वामी से भी श्रेष्ठ कृतार्थ है।

इसी पर कहा है; यथा—"न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति। संप्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः।" (महा० शान्ति० १८०।२६); अर्थात् प्रिय (अभीष्ट) वस्तुओं के मिलने से कभी तृप्ति नहीं होती। बहुत (विषयरूपी) जल रहने पर भी तृष्णा (रूपी प्यास) शान्त नहीं होती। काष्ठ प्राप्त होने से अग्नि की भाँति प्रिय वस्तुओं के मिलने से विषय तृष्णा अत्यन्त ही बढ़ती है। तथा—"यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥" (वि० पु० ४।१०।२४); अर्थात् सम्पूर्ण पृथिवी में जितने भी धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी सन्तोषजनक नहीं है। इसलिए तृष्णा का त्याग ही करना चाहिये। तथा—"अजहुँ बिषय कहँ जतन करत जद्यपि बहु बिधि डहकायो। पावक काम भोग घृत ते सठ ! कैसे परत बुझायो ॥" (वि० १९८); 'तुलसी दुःख दूनो दसा दुहुँ देखि···'—ऊपर प्रथम चरण में दरिद्रता कही गई है, उसमें दुःख है ही

यथा—"नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं ॥" (मा० उ० १२०); तथा—"दारिद्र्यामिति यत्प्रोक्तं पर्याय मरणं हि तत् ॥" (महा० उद्योग० १३४।१३); अर्थात् दरिद्रता मरने के समान दुःखमय है। समृद्धिदशा में उत्तरोत्तर तृष्णा वृद्धि का दुःख ऊपर दूसरे चरण की व्याख्या में लिखा गया; तथा—"या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥" (महा० शान्ति० १७४।५५); अर्थात् दुर्बुद्धि लोग जिसे किसी भाँति परित्याग नहीं कर सकते। जो मनुष्यों के जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होती, जो प्राणान्तक रोग रूप से कही गई है, उस तृष्णा का त्याग करने से ही सुख होता है। "नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥" (महा० शान्ति० १७५।३५)।

इस प्रकार दोनों दशाएँ मरण तुल्य दुःख देने वाली हैं।

'कियो मुख दारिद को करिया।'—दोनों अवस्थाओं में दुःख देनेवाली आशा (तृष्णा) है, उसे समझकर हेय समझा, त्याज्य समझा; यही उसका मुख काला करना है, वही आगे कहते हैं—

'तजि आस भो दास रघुप्पति को…'–आशा का दारुण स्वरूप; यथा–"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये अभिराम ॥" (दोहावली २५८); "सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्। आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥" (महा० शान्ति० १७४।६२ तथा १७८।८); अर्थात् जिन्हें आशा नहीं है, वे ही सुख से सोते हैं; क्योंकि नैराश्य ही परमसुख है, पिंगला आशा को निराश करके ही सुख से सोती है। इसी प्रकार और भी कहा गया है; यथा—"आशाहि परमं दुःखं नैराश्यं परमं-सुखम्। यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥" (भाग० ११।८।४४); श्रीगोस्वामीजी ने श्रीराम-भक्ति का आधार लेकर इसका त्याग किया है, तब उनकी दया से सुखी हुए हैं, उसी उपकार का आपने यहाँ स्मरण किया है कि आप उदार दानी एवं दया के सागर हैं। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है; यथा—"कपि, सबरी, सुग्रीव, बिभीषन, को नहिं कियो अजाची। अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस-पिसाची ॥" (वि० १६३); अर्थात् श्रीरामजी ने जिस दया एवं उदारता से सुग्रीव-शबरी आदि को अयाची कर सुखी किया है, उसी

उदारता एवं दया से मेरी भी आशा रूपी दारुण-पिशाची का निवारण किया है। अतः, आप अत्यन्त उदार दानी और दया के सागर हैं।

आगे श्रीरामजी पर निर्भरता की शिक्षा देते हैं—

श्रीरामजी पर निर्भरता की शिक्षा

उपजाति-सवैया [४७]

को भरिहै हरि के रितये, रितवै पुनि को हरि जौ भरिहै।
उथपै तेहि को जेहि राम थपै ? थपिहै पुनि को हरि जो टरिहै ? ॥
तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहु ते डरिहै।
कुमया कछु हानि न औरन की जो पै जानकी नाथ मया करिहै ॥

अर्थ—श्रीभगवान् जिसको खाली कर देते हैं, उसे कौन भर सकता है और जिसको भगवान् भर देंगे, उसको कौन खाली कर सकता है ?; अर्थात् भगवान् श्रीरामजी के कोप और प्रसाद का कोई भी प्रतिघात नहीं कर सकता। (इसी प्रकार) जिसको भगवान् श्रीरामजी स्थापित कर देते हैं उसको कौन उखाड़ सकता है। और जिसको वे भगवान् स्थान से हटा देंगे, उसको कौन स्थापित कर सकता है ? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं अपने हृदय में यह सब जानकर स्वप्न में भी काल से नहीं डरता। यदि श्रीरामजी कृपा करेंगे तो औरों के क्रोध से कुछ हानि नहीं हो सकती।

विशेष—'को भरिहै...'—हरि श्रीरामजी ने रावण-पक्ष के राक्षसों की एवं रावण की संपत्ति को श्रीहनुमान्जी के द्वारा आग लगा कर जला दिया, खाली कर दिया, तब किसी से (ब्रह्मा-शिव आदि से) भी नहीं हो सका कि उसे फिर भर देते (यद्यपि पहले उन्हीं ब्रह्मा-शिव आदि ने ही उसे वह विभूति दी थी)। पुनः उन्हीं हरि श्रीरामजी ने जब श्रीविभीषणजी और सुग्रीवजी को सम्पत्ति से भर दिया, तब किसी ने उन्हें खाली करने का साहस नहीं किया। विभीषणजी को कल्प भर निर्विघ्न रहने का वरदान दिया है।

'उथपै तेहि को...'—जिन सुग्रीव-विभीषण आदि एवं ध्रुव-प्रह्लाद-अम्बरीष आदि को भगवान् श्रीरामजी ने स्थापित कर दिया है, उन्हें कोई उखाड़ नहीं सका और जिन वाली, रावण एवं हिरण्यकशिपु आदि को श्रीरामजी ने उखाड़

दिया है, उन्हें कोई स्थापित नहीं कर सका, यह प्रत्यक्ष है; तथा—"उथपे-थपन, उजारि-बसावन, गई-बहोर बिरद सदई है। तुलसी प्रभु आरत-आरति हर, अभय बाँह केहि-केहि न दई है॥" (वि० १३९)।

'यह जानि हिये अपने...कुमया कछु हानि न...'—श्रीराम-शरणागत को काल आदि किसी का भी भय नहीं है; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् श्रीरामजी ने तीर्थपति समुद्र के तट पर असंख्य भक्त वानरों के समाज में प्रतिज्ञापूर्वक कहा है कि जो मेरी शरण में आकर एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार (आत्म समर्पण) की याचना करता है। उसे सभी प्राणियों से अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है। प्रभु की श्रीमुख कथित प्रतिज्ञा पर विश्वास करके उन पर निर्भर रहना चाहिये; तथा—"जो पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहा सरै। होइ न बाँको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करै॥ तकै नीच जो मीच साधु की, सो पामर तेहि मीच मरै। बेद बिदित प्रह्लाद-कथा सुनि, को न भगति-पथ पाउँ धरै?॥ गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अविचल कबहूँ न टरै। अंबरीष की साप सुरति करि अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै॥ सो धौं कहा जो न कियो सुजोधन अबुध आपने मान जरै। प्रभु प्रसाद सौभाग्य बिजय जस, पांडवनै बरिआइ बरै॥ जोइ-जोइ कूप खनै गो पर कहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै। सपनेहु सुख न संत द्रोही कहँ, सुरतरु सोउ बिष-फरनि फरै॥ हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै। तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥" (वि० १३७)-इस पद को समझ कर हरि के बल पर निःशंक होकर उनका भजन करना चाहिये। किसी और देव के कोप का भय नहीं करना चाहिये।

मत्तगयंद सवैया [४८]

ब्याल कराल, महाबिष, पावक, मत्त गयंदन के रद तोरे।
साँसति संकि चली, डरपे हुते किंकर, ते करनी मुख मोरे॥
नेकु बिषाद नहीं प्रहलादहि, कारन केहरि के बल हो रे।
कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहैं राम तौ मारिहै को रे॥

अर्थ—हिरण्यकशिपु ने श्रीप्रह्लादजी को मारने के लिये भयङ्कर जहरीले

साँपों को आज्ञा दी, भोजन के साथ घोर बिष दिया, अग्नि में जलाने की चेष्टा की (इनसे श्रीप्रह्लादजी का कुछ नहीं बिगड़ा)। तब उसने मतवाले हाथियों से मरवाने एवं कुचलवाने की चेष्टा की, पर उन हाथियों के दाँत भले ही टूट गये, पर इन्हें उनसे कुछ पीड़ा नहीं जान पड़ी। (कहाँ तक कहा जाय ?) उस दुष्ट से प्रेरित सारी सासतें (दम घुटने के-से कष्ट) स्वयं डर कर भग चली। जो सेवक राजा हिरण्यकशिपु से डरे हुए थे (डरते हुए आज्ञाकारी थे), वे भी (आज्ञा पालन रूप) अपने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ लिये। श्रीप्रह्लादजी को कुछ भी विषाद नहीं हुआ; क्योंकि वे श्रीनृसिंह भगवान् के बल के आश्रित थे। फिर यह तुलसीदास किसका डर करे, यदि श्रीरामजी रक्षा करेंगे तो कौन मार सकता है ? (कोई नहीं)।

विशेष—श्रीप्रह्लादजी की कथा छन्द ८ के विशेष में लिखी गई है, वहाँ से यहाँ की बातों को समझें। 'साँसति संकि चली'; क्योंकि—"सीम की चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (मा० बा० १२५); यथा—"मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परै सुरराया॥" (मा० अ० २१७)। श्रीप्रह्लादजी राम नाम जपते थे, इसी से उनके प्रति आई हुई सारी साँसते डर कर स्वयं भग गईं; यथा—"नाम हरे प्रह्लाद बिषाद पिता भय साँसति-सागर सूको॥" (छन्द ६०)।

'नेकु बिषाद नहीं प्रहलादहि…'; यथा—"सत्त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः। न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसुस्थितः॥ दंष्ट्रा विशीर्णा मणयः स्फुटन्ति फणेषु तापो हृदयेषु कम्पः। नास्य त्वचः स्वल्पमपीह भिन्नं प्रशाधि दैत्येश्वर कार्यमन्यत्॥" (वि० पु० १। १७। ३६-४०); अर्थात् उन प्रह्लादजी को श्रीकृष्णचन्द्र में आसक्तचित्त रहने के कारण भगवत्स्मरण के परमानन्द में डूबे रहने से उन महासर्पों के काटने पर भी अपनी देह की कोई सुधि ही नहीं हुई। तब उन सर्पों ने हिरण्यकशिपु से कहा—हे दैत्यराज ! हमारी दाढ़ें टूट गईं, मणियाँ चटखने लगी, फणों में पीड़ा होने लगी और हृदय काँपने लगा; तथापि इसकी त्वचा भी कुछ न कटी, अब हमें कोई और काम बताइये।

इस उद्धरण से एक तो यह भाव स्पष्ट हुआ कि भक्त भगवान् के प्रेम में

मग्न रहते हैं, तब उन्हें शरीर कष्टों का भान ही नहीं होता; तथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख-सुख सुधि केही॥" (मा० अ० २७४); "बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही॥" (मा० सुं० ३१); इत्यादि। दूसरे यह कि भगवान् रक्षा करते रहते हैं, इससे बाधाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। हिरण्यकशिपु अग्नि और काष्ठ जलाकर उसमें प्रह्लाद को जलाने लगा, तब वह अग्नि शीतल होकर व्यर्थ हो गई; तथा—"तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्। पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥" (वि० पु० १।१७।४७); अर्थात् प्रह्लादजी ने कहा है, हे तात! यह पवन से प्रेरित भी अग्नि मुझे नहीं जलाती; प्रत्युत मुझे सारी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं, मानों मेरी ओर चारों तरफ कमल बिछे हुए हैं।

'कौन की त्रास करै तुलसी…'—जब स्वामी इस प्रकार रक्षा करते हैं और उनका प्रतिद्वन्दी कोई नहीं है, तब फिर किसका भय? तथा—"राम सोहाते तोहि जौ तू सबहिं सोहातो। काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहानो॥" (वि० १५१); अर्थात् सर्वात्मा श्रीरामजी के अनुकूल होने पर सब स्वतः अनुकूल हो जाते हैं।

उपजाति-सवैया [४६]

कृपा जेहि की कछु काज नहीं, न अकाज कछू जेहि के मुख मोरे।
करै तेहि की परवाहि ते, जाहि बिषान न पूँछि फिरै दिन दौरे॥
तुलसी जेहि के रघुबीर से नाथ, समर्थ सो सेवत रीझत थोरे।
कहा भव-भीर परी तेहि धौं, बिचरै धरनी तिनसो त्रिन तोरे॥

अर्थ—जिसकी कृपा से कुछ लाभ नहीं होता और न जिसके प्रतिकूल होने से कुछ हानि ही हो सकती है, उसकी परवा (आसरा एवं चिन्ता) वही करता है, जिसके सींग और पूँछ (भर) नहीं है (शेष बातें पशुवत् ही है), नित्य (पेट के धंधे में) मारा-मारा फिरता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिसके श्रीरघुवीर के समान समर्थ स्वामी हैं जो थोड़ी ही सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं, उसे संसार की क्या चिन्ता पड़ी है? वह तो वैसे लोगों से तृण तोड़ने की भाँति सम्बन्ध तोड़ कर पृथिवी पर बिचरता है।

विशेष—'कृपा जेहि की···'—सांसारिक स्वामी राजा आदि यदि कृपा करते हैं तो विषय सुख की ही सामग्री किंचित देते हैं और अप्रसन्न हो उसी की हानि करते हैं, उससे जीव के स्वरूपानुरूप कुछ हानि-लाभ नहीं है; यथा—"जाँचै को नरेस देस-देस को कलेस करै? देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौड़िये।।" (छंद २५); "येहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गौ स्वल्प अन्त दुखदाई।।" (मा० उ० ४३); "कृपणाः फल हेतवः।" (गीता २।४६)। अर्थात् फलासक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले दीन हैं; क्योंकि वे संसारी (विषयी) हैं।

'करै तेहि की परवाहि···'—पशु जैसे दिन-रात दौड़ कर पेट भरने में ही अपने को कृतार्थ मानता है, वैसे ही विषयी-मनुष्य भी हैं। यथा—"काम, कोह, मद, मोह, नींद, भय, भूख, प्यास सबही के। मनुज देह सुर साधु सराहत सो तो सनेह सिय-पीके।।" (वि० १७५); "भय-निद्रा, मैथुन-अहार सबके समान जग जाये। सुर-दुर्लभ तनु धरि न भजे हरि मद-अभिमान गँवाये।।" (वि० २०१); तथा—"आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।" (हितोपदेश मित्रलाभ २३) ऐसे विषयी ही विषय-स्पृहा से विषयी के स्वामियों की परवाह करते हैं। वे बिना-सींग पूँछ के पशु हैं। पशु में भी बाँड़े-बूँड़े हैं।

'जेहि के रघुबीर से नाथ···कहा भव-भीर···'—इतने बड़े समर्थ हैं, फिर भी थोड़ी ही सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं; यथा—"अति भाग बिभीषन के भले। एक प्रनाम प्रसन्न राम भये दुरित-दोष दारिद दले।।" (गी० सुं० ४१); "है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।···बलि-पूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति। सुमिरत ही मानै भलो, पावन सब रीति।। देहि सकल सुख, दुख दहै, आरत-जन-बंधु। गुन गहि, अघ-अवगुन हरै, अस करुनासिंधु।। देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु, सब में बसै, सबकी गति जान।। को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव। तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव।।" (वि० १०७), अर्थात् सामर्थ्य और सौलभ्य दोनों ही श्रीरामजी में ही हैं। अतः, इन्हीं पर निर्भर होना चाहिये। श्रीरामजी का होकर औरों की आशा करनी स्वामी में अविश्वास करना है; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करै तू

कहहु कहा बिस्वासा ॥'' (मा० उ० ४५)। अतः, दूसरों की आशा नहीं रखनी चाहिये।

'त्रिन तोरे'; यथा—''राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह-गेह सब सों तृन तोरे॥'' (मा० अ० ६६)।

श्रीरामजी का संकट-मोचन

मत्तगयंद-सवैया [५०]

कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाबिष, ब्याधि, दवा, अरि घेरे।
संकट कोटि जहाँ तुलसी, सुत मातु पिता हित बंधु न नेरे॥
राखिहैं राम कृपालु तहाँ, हनुमान से सेवक हैं जेहि केरे।
नाक, रसातल, भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वन में, पहाड़ पर, जल में, वायु (की आँधी) में, महाविष की बाधा पर, रोग में, दावाग्नि के मध्य पड़ जाने पर और शत्रु से घिर जाने पर तथा जहाँ और भी करोड़ों संकट आ पड़ें। और जहाँ माता, पिता, हितैषी, पुत्र और भाई-बन्धु कोई समीप न हों, वहाँ भी कृपालु श्रीरामजी मेरी रक्षा करें, जिनके श्रीहनुमान्-सरीखे सेवक हैं। स्वर्ग, पाताल और पृथिवी में केवल श्रीरामजी ही मेरे सहायक हैं।

विशेष—'कानन, भूधर…'—ऊपर छंद में भूमि पर विचारना कहा गया, उस पर यह आशंका हो सकती है कि भूमि पर भी तो अनेक-विघ्न बाधाएँ हो सकती हैं, उनको गिनाते हैं—वनों और पहाड़ों पर वर्षा एवं वायु के झकोरों से बड़े-बड़े दुःख आते हैं; यथा—''कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी॥ कुस कंकट मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पद त्राना… मारग अगम भूमिधर भारे॥ कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥ भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥…. लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥ ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर निकर नारि-नर चोरा॥'' (मा० अ० ६१-६२)। वनों और पहाड़ों पर वर्षा, गरमी और जाड़ा में उनमें भी विशेष कर वायु चलने पर अधिक कष्ट होते हैं। 'बयारि' के साथ 'महाबिष' कहने का भाव यह

कि वनों में विषों की बेलें एवं वृक्ष होते हैं, उनकी स्पर्श-वायु विषैली होती है, उससे मनुष्य मर जाता है। व्याधि भी वनों में अधिक होती है। दावाग्नि में घिर जाने पर कोई उपाय बचने का नहीं रहता। वन की नदियाँ भी बड़ी वेगवती एवं भयंकर होती हैं। शत्रु के घेरे में पड़ने पर भी भारी संकट रहता है।

'राखिहैं राम कृपालु…'—श्रीरामजी कृपा से ही रक्षा करते हैं, उन्हें इस जीव से कोई स्वार्थ नहीं रहता। 'हनुमान से सेवक….'—यह भी शंका नहीं कि इतने बड़े महाराज कैसे-कैसे सर्वत्र दौड़ेंगे; क्योंकि उनके सेवक श्रीहनुमान्जी ही उनके भक्तों के मनोरथ पूर्ण किया करते हैं; यथा—"राम के गुलामनि को कामतरु राम दूत…" (हनुमान बाहुक २२); श्रीहनुमान्जी का नाम भी भक्तों के मनोरथ पूर्ण करता है; यथा–"नाम कलि कामतरु केसरी किसोर को।", "नाम लेत देत अर्थ धर्म काम निरबान हो।" (हनुमान बाहुक ६,१४); "भगत कामतरु नाम रामपरिपूरन चंद चकोर को। तुलसी फल चारो करतल जस गावत गई-बहोर को॥" (वि० २१); "सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सबको सुढ़र ढरत॥" (वि० १३४); अर्थात् श्रीहनुमान्जी को भी श्रम नहीं पड़ता, इनका नाम लेने पर श्रीरामजी ही अन्तर्यामी रूप से सुसंयोग कर देते हैं।

'नाक रसातल भूतल में…'—तीनों लोकों में मेरी कहीं भी किसी रूप में स्थिति रहे, वहाँ सर्वत्र मेरे सहायक एक श्रीराम ही हैं; अर्थात् कहीं भी मैं अन्य किसी की आशा नहीं करूँगा। एक श्रीराम पर ही निर्भर हूँ। श्रीराम ही सर्वत्र मेरी सुव्यवस्था रक्खेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

उपजाति सवैया [५१]

जबै जमराज रजायसु ते तोहि लै चलिहैं भट बाँधि नटैया।
तब तात न मातु, न स्वामि-सखा सुत-बंधु बिसाल बिपत्ति बटैया॥
साँसति घोर, पुकारत आरत, कौन सुनै चहुँ ओर डँटैया।
एक कृपालु तहाँ तुलसी दसरत्थ के नंदन बंदि कटैया॥

शब्दार्थ—नटैया = गटई, गला, गर्दन। रजायसु (राज-आयसु)=राजाज्ञा।

अर्थ—जब यमराज की कड़ी आज्ञा से यमदूत योद्धा तुझको गर्दन बाँधकर ले चलेंगे। तब वहाँ न पिता, न माता, न स्वामी, न मित्र, न पुत्र और न भाई

ही उस बड़ी भारी विपत्ति को बँटाने वाले होंगे। वहाँ घोर साँसत सहनी पड़ती है, आर्त्त होकर तेरी पुकार को सुननेवाला कौन होगा? चारों ओर से सब डाँटनेवाले ही रहेंगे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वहाँ केवल कृपालु श्रीदशरथ-नन्दन ही उस बन्धन के काटनेवाले हैं।

विशेष—'जबै जमराज····'—पापी जीवों को यमदूत पाश से बाँध कर ले जाते हैं, ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध है, वहाँ सांसारिक सम्बन्धी कोई कुछ सहायता नहीं कर सकता।

'साँसति घोर····'—यमयातना की अत्यन्त पीड़ा प्रसिद्ध ही है, वहाँ इसकी आर्त्त-पुकार पर क्रुद्ध यमदूत और डाँटते हैं कि पाप करते समय नहीं समझा तो अब क्यों चिल्लाता है?

'एक कृपालु तहाँ···'—उस दुःख से रक्षण भगवान् श्रीराम ही करते हैं; यथा—"अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव ॥१९॥ यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलायनमनुत्तमम्। मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः ॥ २०॥ कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्त्तिप्रदं नृणाम्। प्रयाति विलयं सद्यः सकृद्यत्र च संस्मृते ॥२१॥" (वि० पु० ८।१९); अर्थात् जिनके नाम का विवश होकर कीर्त्तन करने से भी मनुष्य समस्त पापों से इस प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे सिंह से डरे हुए भेड़िये। हे मैत्रेय! जिनका भक्तिपूर्वक किया हुआ नाम-संकीर्तन सम्पूर्ण धातुओं को पिघलाने वाले अग्नि के समान समस्त पापों का सर्वोत्तम विलायन (लीन कर देने वाला) है। जिनका एक बार भी स्मरण करने से मनुष्यों को नरक-यातनाओं का देनेवाला अत्यन्त उग्र कलि-कल्मष तुरत नष्ट हो जाता है।

कलिङ्ग ब्राह्मण ने भीष्म-पितामह से कहा है; यथा—"स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले। परिहर मधुसूदन-प्रपन्नान्प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम् ॥" से "कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे। भवशरणमितीरयन्तिये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥ वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते। तव गतिरथवा ममास्ति-चक्रप्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः ॥" (वि० पु० ३।७।१४-३४)। अर्थात् अपने अनुचर को हाथ में पाश लिये हुए देख कर यमराज ने उसके कान में लग कर

कहा—"भगवान् मधुसूदन के शरणागतों को छोड़ देना; क्योंकि मैं अन्य अवैष्णवों का ही स्वामी हूँ।" से "हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणिधर! हे अच्युत! और हे शङ्खचक्रपाणे! आप हमें शरण दें, जो इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पापों को तुम अत्यन्त दूर से ही छोड़ देना। जिस पुरुष श्रेष्ठ के हृदय में अव्ययात्मा भगवान् विराजमान् रहते हैं; उसकी जहाँ तक दृष्टि पहुँचती है, वहाँ तक भगवान् के चक्र के प्रभाव से अपने बल और वीर्य नष्ट हो जाने के कारण तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं हो सकती। वह हरि-शरणागत तो अन्य (साकेत एवं वैकुंठ आदि) लोकों का ही पात्र है।

[५२]

जहाँ जमजातना, घोर नदी, भट कोटि जलचर दंत टेवैया।
जहाँ धार भयंकर वार न पार, न बोहित, नाव, न नीक खेवैया॥
तुलसी जहँ मातु-पिता न सखा, नहिं कोऊ कहूँ अवलंब देवैया।
तहाँ बिनु कारन राम कृपालु बिसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया॥

शब्दार्थ—जमजातना=यमकृत पीड़ा, मरने के समय का कष्ट, नरक की पीड़ा। घोर नदी=भयंकर नदी, वैतरणी। दंत टेवैया=दाँत पैना कर तेज करनेवाले।

अर्थ—जहाँ यमयातना देने वाले करोड़ों यमराज के योद्धा (दूत) हैं, भयंकर वैतरणी नदी है; जिसमें दाँत की धार पैनी करके काटनेवाले जलचर हैं, जिस नदी की भयङ्कर धारा है और जिस धारा का कोई वार-पार नहीं सूझता। वहाँ न कोई जहाज है, न नाव है और न कोई अच्छा खेने वाला केवट ही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जहाँ माता, पिता और सखा नहीं हैं तथा न कोई कहीं सहारा देने वाला ही है। वहाँ पर बिना कारण कृपा करने वाले श्रीरामजी ही अपनी लम्बी (आजानु) बाहुओं से पकड़ कर निकाल लेनेवाले हैं।

विशेष—'जम जातना घोर नदी···'; यथा—"ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वा अपाखण्डा धर्मसेतून् भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूय शोणित केशनखस्थिमेदोमांसवसावाहिन्यामुपतप्यन्ते॥" (भाग० ५।२६।२२); अर्थात्

जो राजा अथवा राजपुरुष अच्छे कुल में उत्पन्न होकर भी धर्म को दूषित करता है, वह मर कर वैतरणी नदी में गिरता है। यह नदी सब नरकों को खाँई के समान घेरे हुए है; वहाँ मगर आदि हिंस्र जीव इधर-उधर भ्रमण करते हैं एवं उसको भक्षण करते हैं, तो भी उसके प्राण नहीं निकलते और उस यमयातना शरीर का आत्मा से वियोग नहीं होता। वह पापी अपने पाप कर्मों के फलों का स्मरण करता हुआ विष्ठा, मूत्र, पीव, रुधिर, केश, नख, हड्डी, मेदा, मांस और वसा बहने वाली वैतरणी में गिर कर बहुत व्यथित होता है। तथा विष्णु पुराण अंश २, अ० ६ में भिन्न-भिन्न नरकों का और वैतरणी का भी वर्णन है।

'तहाँ बिनु कारन···'; यथा—"कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरहु सकल भव भीर॥" (वि० १४४); "हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥" (मा० उ० ४६)। "बालित्रास बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो।" (गी० सुं० ४३)।

[५३]

जहाँ हित, स्वामि, न संग सखा, बनिता, सुत, बंधु न, बाप न मैया।
काय-गिरा-मन के जन के अपराध सबै छल छाँड़ि छमैया॥
तुलसी तेहि काल कृपाल बिना दूजो कौन है दारुन दुःख दमैया।
जहाँ सब संकट, दुर्घट सोच, तहाँ मेरो साहेब राखै रमैया॥

अर्थ—जहाँ कोई हितैषी एवं स्वामी नहीं है और कोई साथी तथा सखा नहीं है। स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु नहीं हैं और न माता-पिता ही हैं; अर्थात् कोई भी नहीं है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय कृपालु श्रीरामजी के बिना दारुन दुःख का दमन करनेवाला और कौन है? जहाँ ऐसे-ऐसे सब भाँति के संकट और दुर्घट (जिसका होना कठिन हो, ऐसे कार्यों का) सोच है, वहाँ मेरे स्वामी श्रीरामजी ही रक्षा करते हैं।

विशेष—'जहाँ हित····'—'जहाँ' इस पद का ऊपर के क्रम से यमपुरी का अर्थ है, क्योंकि वहाँ सांसारिक नाते कोई नहीं पहुँच सकते।

'काय-गिरा-मनके जन के···'—छन्द ६ देखिये। तथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन-मन लाई॥" (मा० उ० १२५)। "सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (मा०

मुं० ४३); "तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥ (मा० उ० ६१); तथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (मा० उ० २८) अर्थात् श्रीरामजी अपने नाम, रूप, लीला और धाम—इन चारों के द्वारा आश्रितों के पापों का नाश करते हैं।

'जहाँ सब संकट....'—द्रौपदीजी और गजेन्द्र की कथाएँ इसके उदाहरण हैं।

मत्तगयंद-सवैया [५४]

तापस को बरदायक देव, सबै पुनि बैर बढ़ावत बाढ़े।
थोरेहि कोप कृपा पुनि थोरेहि, बैठि कै जोरत तोरत ठाढ़े॥
ठोंकि बजाय लखे गजराज, कहाँ लौं कहौं केहि सों रद काढ़े।
आरत के हित, नाथ अनाथ के, राम सहाय सही दिन गाढ़े॥

अर्थ—देवगण तपस्वियों को वर देनेवाले हैं। परन्तु (उस आश्रित के) बढ़ने पर (जब वह प्रमादी हो जाता है, तब) वे सब उसी से बैर बढ़ाते हैं। वे थोड़े ही में क्रोध और थोड़े ही में कृपा करते हैं, (ऐसे क्षणिक बुद्धि हैं कि) वे बैठ कर (प्रीति) जोड़ते हैं और फिर खड़े होते ही उसे तोड़ देते हैं (; अर्थात् उनकी प्रीति बहुत थोड़े समय तक ही ठहरने वाली होती है)। ग्राह के द्वारा पकड़े जाने पर गजेन्द्र ने (समस्त देवताओं को) ठोंक बजा कर (भली-भाँति परीक्षा लेकर) देख लिया है (पर सभी खोटे निकले) कहाँ तक कहूँ, उसने किस-किसके सामने दाँत नहीं काढ़े (; अर्थात् किस-किस से गिड़गिड़ा कर प्रार्थना नहीं की) ! (परन्तु अन्त में उसने यही निश्चित करके देखा—) दुःखी लोगों के हितकारी और अनाथों के स्वामी श्रीरामजी ही विपत्ति के दिनों में सच्चे सहायक हैं।

विशेष—'तापस को बरदायक देव...'—पूर्वोक्त छन्द १२ के 'और बेसाहि के बेचनिहारे।' इसका विशेष देखिये। 'बाढ़े'—जब वह बढ़ जाने पर धन-बल आदि के मद से प्रमादी हो जाता है, तब फिर उसी का नाश कराने के लिये ये देव उससे बैर बढ़ाते हैं। 'बैठि के जोरत...'—बैठ कर खड़ा होने भर में उनकी प्रीति समाप्त हो जाती है।

'ठोंकि बजाय लखे...'—जैसे रुपये ठोंक कर और बजा कर खरे-खोटे

देखे जाते हैं। वैसे ग्राह के संघर्ष के संकट पड़ने पर गजेन्द्र ने सभी देवों का आवाहन किया, परन्तु सभी आ-आकर उसकी विपत्ति को तमाशा की भाँति देखने लग जाते थे और हार-जीत पर ताली बजा-बजा कर हँसते थे, किसी को इसके दुःख पर तरस नहीं आई, तब इसने समझ लिया कि ये कोई मेरे स्वामी नहीं हैं; क्योंकि पिता को पुत्र की दुर्दशा पर हँसी नहीं आती; इस प्रकार उन कपट से बने हुए स्वामियों को खोटा एवं बिराना समझ कर उसने त्याग दिया और अन्त में श्रीहरि की शरणागति की, तब उसकी विपत्ति दूर हुई; यथा--"रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक। सोक सरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक ।। बिपुल भूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यो प्रभु पाहि। सकल समरथ रहे काहु न बसत दीन्हों ताहि ।।" (वि० २१७)। 'केहि सो रद काढ़े'—आर्त हो गिड़गिड़ाकर माँगने में लोग मुख खोल दाँत दिखा कर माँगते हैं; यथा—"आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो। हाहा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार मुँह बायो ।।" (वि० २७६); "द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ।" (वि० २७५)।

'आरत के हित...'; यथा—"हौं अनाथ प्रभु तुम्ह अनाथ-हित, चित यह सुरति कबहुँ नहिं जाई ।। हौं आरत, आरति-नासक तुम, कीरति निगम-पुराननि गाई ।।" (वि० २४२)। 'राम सहाय सही दिन गाढ़े' इस पर वि० २१६-२१७ देखने योग्य हैं।

दुर्मिल सवैया [५५]

जप जोग बिराग महा-मख-साधन दान दया दम कोटि करै।
मुनि, सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस-से सेवत जन्म अनेक मरै।।
निगमागम ज्ञान, पुरान पढ़ै, तपसानल में जुग-पुंज जरै।
मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ?

अर्थ—चाहे कोई जप, योग, वैराग्य, बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान, दान, दया और वाह्य-इन्द्रिय-निग्रह आदि करोड़ों साधन करे; तथा मुनि, सिद्ध, इन्द्र, गणेश और शिवजी-सरीखे देवताओं का अनेक जन्मों तक सेवन करते-करते मर जाय; वेदों और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे, अष्टादश पुराणों का अध्ययन करे और तपस्या रूपी अग्नि में अनेक युगों तक जलता रहे, परन्तु तुलसीदास हृदय से

प्रण रोप कर (दृढ़तापूर्वक) कहता है—श्रीरामजी के बिना कौन दुःख दूर कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

विशेष—'जप'; यथा—"मनो मध्ये स्थितं मन्त्रं मन्त्रमध्ये स्थितं मनः। मनो मंत्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते ॥" अर्थात् मंत्र के विशद अर्थ-विचार में मन लगाये हुए मंत्र-वर्णों का बार-बार मनन करना एवं गुप्त उच्चारण करना जप है; तथा—"मननात्त्राणनान्मन्त्रः।" (रा० पू० ता० १।१२); "जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुंदर स्याम सरीर ॥" (मा० बा० ३४)।

'जोग'; यथा—"यम नियमासनप्रत्याहारप्राणायाम धारणाध्यानसमाधि इत्याङ्ग योग। चित्त वृत्ति रोकने का उपाय। यथा—"बैठे बट तर करि कमलासन ॥ संकर सहज सरूप सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा ॥" (मा० बा० ५७); "जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ। बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत, ममता मल जरि जाइ ॥" (मा० उ० ११७)। "अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।" (मा० बा० ६३)।

'बिराग'; यथा—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥" (मा० अर० १४); तथा—"वैराग्यमाद्यं यतमानसञ्ज्ञकचिद्धिरागो व्यतिरेकसञ्ज्ञम्। एकेन्द्रियाख्यं हृदि रागसौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम् ॥" अर्थात् 'यतमान' (विषयों को पूर्ण रीति से न त्याग सकने पर भी उनके मिलने की आग्रह छोड़ देना) यह पहला वैराग्य है। 'व्यतिरेक' (किसी-किसी विषय को छोड़ देना, जैसे बिना नमक के भोजन करना, आदि) यह दूसरे प्रकार का वैराग्य है। 'एकेन्द्रिय' (प्रवृत्ति रहने पर भी मन में विषयों के अनुराग की शिथिलता होने के कारण केवल बाह्य इन्द्रियों से ही विषय-ग्रहण करना) यह तीसरे प्रकार का वैराग्य है और 'वशीकृत' (बाह्येन्द्रिय-विषय-सेवन का भी अभाव) यह चौथे प्रकार का वैराग्य है।

'महा मखसाधन'; यथा—"दच्छ लिये मुनि बोलि सब, करन लगे बड़ जाग।" (मा० बा० ६०); अश्वमेध, गोमेध, नरमेध एवं वाजपेय आदि; इन यज्ञों का अनुष्ठान। निष्काम यज्ञानुष्ठान परम्परया मोक्ष-प्रापक भी होता है; यथा—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।" (बृह० ४।४।२२)।

'दान'; यथा—"जेन-केन बिधि दीन्हें, दाय करै कल्यान।" (मा०उ०१०३)

'दया'; यथा—"धर्म कि दया सरिस हरिजाना।" (मा० उ० १११)। "दया में बसत देव सकल धरम।" (वि० २४६)।

'दम'; यथा—"दान्तिस्तु दमथो दमः" (अमर कोष); अर्थात् दान्ति, दमथ और दम वाह्येन्द्रिय निग्रह के नाम हैं। तथा—"दम अधार रजु सत्य सुबानी।" (मा० उ० ११६), इत्यादि।

'निगमागम ज्ञान'—वेद चार हैं, आगम (शास्त्र) छः हैं।

'पुरान'—पुराण अठारह हैं।

'मन सो पन रोपि...'—अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि जीव के दुःख श्रीरघुनाथजी से ही निवृत्त होते हैं, उनकी अनुकूलता भक्ति-प्रपत्ति से होती है; यथा—"जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुःख ते निर्बहे। भव खेद, छेदन दच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे॥...करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं। मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥" (मा० उ० १२)—यह वेदों ने कहा है। तथा—"जब कब राम कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई॥" (वि० १२७)।

कृतज्ञता

मत्तगयंद सवैया [५६]

पातक पीन, कुदारिद दीन, मलीन धरे कथरी करवाहै।
लोक कहै बिधिहू न लिख्यो सपनेहूँ नहीं अपने बर बाहै॥
राम को किंकर सो तुलसी समुझे ही भलो कहिबो न रवाहै।
ऐसे को ऐसो भयो कबहूँ न भजे बिनु बानर को चरवाहै॥

शब्दार्थ—पीन=मोटा। बर बाहै = बाहुओं में बल। रवा (फा०)=उचित।

अर्थ—लोक (मेरे विषय में) कहता था कि यह पापों में मोटा (बड़ा भारी पापी) है, बुरी दरिद्रता से दीन रहता है और यह मलिन कंथा और करवा (मिट्टी का जलपात्र) धारण करता है। विधाता ने इसके भाग्य रूप में कुछ सुख-साज नहीं लिखा, तथा स्वप्न में भी इसकी अपनी बाहुओं में बल नहीं है (जिससे उद्यम करके भी यह अपना कल्याण करता)। वही तुलसीदास अब

श्रीरामजी का सेवक हो गया है, इस बात का समझना ही अच्छा है, कहना उचित नहीं है। (यह तो निश्चित है कि) ऐसे (दीन और पापी) को ऐसा (महामुनि वाल्मीकि-सरीखा होने का सौभाग्य) विना वानरों के चरवाहे (श्रीरामजी) का भजन किये नहीं हुआ।

विशेष—'विधिहू न लिख्यो'; यथा—"विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।" (छंद ५७); तथा—"लिखी न बिरंचिहू भलाई भूलि भाल है।" (छंद ६५)।

'राम को किंकर सो तुलसी'—वही तुलसीदास अब रामदास हो गया, जिसका सौभाग्य शिव-ब्रह्मा आदि को भी दुर्लभ है; यथा—"शिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (मा० लं० २१); तथा—"तुलसी से बाम को भो दाहिनो दयानिधान, सुनत सिहात सब सिद्ध-साधु-साधको॥ राम नाम ललित ललाम कियो लाखनि को…" (छंद ६८)। "जो सुमिरत भयो भाँगते, तुलसी तुलसीदास॥" (मा० बा० २६); "राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी से जग मानियत महामुनी सो।" (छंद ७२)। "कलि कुटिल जीव निस्तारहित वाल्मीकि तुलसी भयो।" (भक्तमाल-नाभाजो)।

'समुझे ही भलो'—स्वामी के महान् उपकार का समझना ही अच्छा है, कृतज्ञता है, यथा—"समुझि-समुझि गुनग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास राम-पद पाइहै प्रेम पसाउ॥" (वि० १००)।

'कहिबो न रवाहै'—कहना उचित नहीं; क्योंकि इसमें अपना महत्त्व कहना आत्मश्लाघा रूप दोष है। सन्तों का लक्षण तो ऐसा है; यथा—"निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥" (मा०अर० ४५)।

'ऐसे को ऐसो…'—इतने गये-बीते को ऐसी महिमा की प्राप्ति असम्भव-सी है, पर वानर-भालू की चरवाही करनेवाले स्वामी ही ऐसा करते हैं। जिन्होंने वानरों को अपनी बराबरी दी, उन्होंने ही उसी सौलभ्य गुण से मुझे भी वैसे से ऐसा बनाया है; तथा—"कहूँ कोऊ भो न चरवाहो कपि भालु को।" (छंद १७)—इसका विशेष भी देखिये।

[५७]

मातु-पिता जग जाय तज्यो, बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच, निरादर-भाजन, कादर, कूकर टूकन लागि ललाई॥
राम-सुभाउ सुन्यों तुलसी, प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ-सों साहिब खोरि न लाई॥

अर्थ—इस संसार में माता-पिता ने मुझे जन्म देकर छोड़ दिया, विधाता ने भी मेरे ललाट में कुछ भलाई के लक्षण नहीं लिखे। इससे मैं नीच निरादर का पात्र था, कायर होने से कुछ उद्यम भी नहीं कर सकता था, कुत्ते के समान टुकड़े के लिये ललचाता फिरता था। ऐसे तुलसीदास ने जब श्रीरामजी का स्वभाव सुना तो इसने एक बार प्रभु श्रीरामजी से अपने पेट को खाली दिखाकर (लोक-परलोक-सुख की कांक्षा प्रकट कर) कहा, इस पर श्रीरघुनाथजी-सरीखे स्वामी ने स्वार्थ (लोक सुख) और परमार्थ (परलोक सुख) को पूरा करने में खोंटाई (त्रुटि) नहीं रक्खी।

विशेष—'मातु-पिता जग जाइ तज्यो'; यथा—"तनुज तऊ तज्यो कुटिल कीट ज्यों मातु-पिता हूँ।" (वि० २७५); तथा—"स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को-सो टोटक औचट उलटि न हेरो॥" (वि० २७२)।

'बिधि हू न लिखी कछु...'; यथा—"बिधहू न लिख्यो" (छंद ५६)-इसका विशेष देखिये।

'कूकर टूकन लागि ललाई।'; यथा—"चाटत रह्यों स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।" (वि० २२६); तथा—"द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहू। हैं दयालु दुनी दस दिसा, दुख-दोष-दलन-छम, कियो न संभाषन काहू॥" (वि० २७५)।

'राम सुभाउ सुन्यो तुलसी'; यथा—"दुखित देखि सतन्ह कह्यो सोचै जनि मन माहूँ। तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न, सरन गये रघुबर ओर निबाहूँ।" (वि० २७५); तथा—"हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाइ साधु-समाज। मोहुँ से कहुँ कतहुँ कोउ, तिन्ह कह्यो कोसलराज॥ दीनता-दारिद दलै को कृपाबारिधि बाज। दानि दसरथ राय के, तू बानइत सिरताज॥" (वि० २१९)।

'प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई'; यथा—"जनम को भूखो भिखार

हौं गरीब-निवाज। पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा-सुनाज ॥" (वि० २१६), एक बार ही शरण होकर अपने कल्याण की कांक्षा प्रकट की, बस उसी के प्रति प्रभु ने मेरा पूर्ण भार ले लिया।

'स्वारथ को परमारथ को···'; यथा—"तुलसी तिहारो भये भयो सुखी, प्रीति प्रतीति बिनाहूँ। नाम की महिमा, सील नाथ को, मेरो भलो बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ ॥" (वि० २७५); तथा—"रामनाम-महिमा करै काम-भूरुह आको। साखी बेद-पुरान है तुलसी तन ताको॥" (वि० १५२), तथा आगे छन्द ६८, ७२, ७३, ७४ भी देखिये।

इस पद में श्रीगोस्वामीजी ने अपने जीवन-वृत्तान्त का भी लक्ष्य कराया है विनय-पत्रिका का अन्तिम पद भी स्वामी की कृपा का प्रत्यक्ष करनेवाला है।

अलङ्कार—'प्रहर्षण' है; क्योंकि इस पद में विना उद्योग के अनायास ही वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति कही गई है।

[५८]

पाप हरे, परिताप हरे, तन पूजि भो हीतल सीतलताई।
हंस कियो बक ते बलि जाउँ, कहाँ लौं कहौं करुना अधिकाई॥
काल बिलोकि कहै तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई।
जन्म जहाँ तहाँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह सगाई॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हे श्रीरामजी! आपने मेरे पापों का नाश कर दिया, दुःखों का हरण किया, मेरे शरीर को पूज्य बना दिया और मेरे हृदय-पटल में शान्ति भी प्राप्त कराई है। मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ, आपने मुझे बगुले की भाँति दंभी से हंस की भाँति विवेकी बना दिया, मैं आपकी करुणा की अधिकता कहाँ तक कहूँ? हे प्रभो! मेरे मन में आपका पूरा भरोसा है। अतः, मैं अपना मरण काल निकट देखकर प्रार्थना करता हूँ कि मेरा जहाँ कहीं भी जन्म हो, वहाँ देह की आयु भर आपसे मेरे स्नेह का सम्बन्ध निबह जाय।

विशेष—'पाप हरे, परिताप हरे···'; यथा—"जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ। पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥" (मा० उ० १२९)। "तुलसी से जग मानियत महामुनी सो।" (छन्द ७२), "ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपालु तेरे नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिये॥" (छंद७९)

'हंस कियो बक ते…'; यथा—"रामनाम-महिमा करै कामभूरुह आको। साखी बेद-पुरान है तुलसी तन ताको ॥" (वि० १५२)।

'काल बिलोकि कहै…'; यथा—"तुलसिदास अपनाइये कीजै न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे ॥" (वि० २७३), "तुलसी को भलो पै तुम्हारे ही किये, कृपालु ! कीजै न बिलंब, बलि, पानी भरी खाल है ॥" (छन्द ६५)।

'जन्म जहाँ तहाँ…'—भगवान् के भक्त उनके कर्म-भोग-विधान को मिटाना नहीं चाहते, इसलिये वे अपने कर्मानुसार जन्म होना भी चाहते हैं, पर उसमें इतना ही माँगते हैं कि मैं जहाँ-जहाँ शरीर पाऊँ, आपका ही रहूँ; यथा—"अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहू जो बर माँगऊँ। जेहि जोनि जनमउँ कर्म-बस तहँ राम-पद अनुरागऊँ ॥" (मा० कि० ६)—यह वाली ने माँगा है। तथा—"खेलिबे को खग-मृग, तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं ॥" (वि० २३१)—यह श्री-गोस्वामीजी ने कहा है।

उक्त निष्ठा पर यदि यह शंका हो कि जन्म लेने पर संसार में ही रहेंगे तो कहीं अनवधानता से नरक भी होगा। तथा जन्म-मरण रूप भव-दुःख तो रहेगा ही, इसका समाधान यह है कि भक्त का पतन होने नहीं पाता; यथा—"कौन्तेय प्रतिजानीहिं न मे भक्तः प्रणश्यति ॥" (गीता ६।३१); "ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंगबर ॥" (मा० उ० ७८); तथा नैष्ठिक भक्त का जन्म-मरण भी नहीं होता; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७। २३); "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥" (गीता ६।२५); "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥…मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥" (गीता ८।१५-१६), अर्थात् भगवान् का भक्त भगवान् को ही प्राप्त करता है, फिर उसका कभी जन्म-मरण नहीं होता।

शंका = तब वैसी याञ्चा क्यों की जाती है कि जहाँ जन्म हो आपका ही रहूँ?

समाधान—यदि भक्ति करके मुक्ति आदि कोई भी याञ्चा की जाती है, तो वह फल स्वरूपा हो जाती है और भक्ति तथा भगवान् भी साधन रूप में रह जाते हैं। इसमें उनका अपमान है। अतः, वैसी कामना नहीं की जाती, भक्ति से भगवान् की ही प्राप्ति होगी तो मुक्ति वहीं है ही; तथा—"परहुँ नरक फल

चारि सिसु, मीच डाकिनी खाहु। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाहु॥" (दोहावली ६२)। मा० अ० २०४ में त्रिवेणी में खड़ा होकर श्री-भरतजी ने भी ऐसा ही माँगा है।

[५६]

लोग कहैं, अरु हौंहूँ कहौं, 'जन खोटो-खरो रघुनायक ही को'।
रावरी राम ! बड़ी लघुता, जस मेरो भयो सुखदायक ही को॥
कै यह हानि सहौ, बलि जाउँ, कि मोहूँ करौ निज लायक ही को।
आनि हिए हित जानि करो, ज्यों हौं ध्यान धरौं धनुसायक ही को॥

अर्थ—लोग कहते हैं और मैं भी कहता हूँ कि 'बुरा-भला जैसा भी हूँ, श्रीरघुनाथजी का ही भक्त हूँ। हे श्रीरामजी ! इसमें आपकी तो बड़ी लघुता है, परन्तु आपके समान अत्यन्त बड़े स्वामी का सेवक होने का जो यश मुझे प्राप्त हुआ है, वह मेरे लिये सुखदायक ही है। मैं बलिहारी जाता हूँ, अब, या तो आप इस लघुता की हानि को सहिये, अथवा मुझको अपना सेवक होने योग्य बना लीजिये। अपने हृदय में यह विचार कर और मेरे लिये हितकारी जान कर ऐसा कर दीजिये, जिससे मैं आपके धनुर्धारी स्वरूप का ही ध्यान किया करूँ।

विशेष—'लोग कहैं अरु···'; यथा—"हौं हुँ कहावत सब कहत, राम सहत उपहास। साहिब सीता नाथ सों, सेवक तुलसीदास॥" (मा० बा० २८), "खोटो-खरो रावरो हौं, रावरी सौं, रावरे सों झूठ क्यों कहौं गो, जानो सब ही के मन की। करम-बचन-हिये, कहौं न कपट किये, ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे सन की॥" (वि० ७५)।

'रावरी राम बड़ी लघुता···'—उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार उपहास की लघुता है, कि कहाँ तो 'उमा-रमा ब्रह्मादि-वंदिता' श्रीसीताजी के नाथ ऐसे बड़े स्वामी और कहाँ तुलसी ऐसा तुच्छ सेवक ! ऐसे बड़े महाराज को अच्छा सेवक भी नहीं जुड़ता, ऐसा कह कर लोग हँसेंगे।

'कै यह हानि···'—प्रायः अपनी मर्याद-रक्षा बड़े लोग अवश्य करते हैं, अतः आप भी अपनी मर्याद-रक्षा करें तो मुझे योग्य बनावें। अब तो संसार में मैं आपके भक्त रूप में प्रसिद्ध हो गया हूँ।

'ज्यों हौं ध्यान···'—बस, इसी ध्यान की दृढ़ता कर दीजिये, इसी में

मुझे वह योग्यता आजायगी; क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी इसी ध्यान से आपके योग्य सेवक हैं; यथा—"सेवक भये पवनपूत साहिब आहिब अनुहरत।" (वि० १३४); "प्रनवौं पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञान घन। जासु हृदय आगार। बसहिं राम सर चाप धर॥" (मा० बा० १७); श्रीविभीषणजी ने भी कहा है; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप-सायक कटि भाथा॥" (मा० सुं० ४६); यही ध्यान सब साधनों का फल है; यथा—"सब साधन को एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनु-बान॥" (दोहावली ६०)।

[६०]

आपु हौं आपु को नीके कै जानत, रावरो राम ! भरायो गढ़ायो।
कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकी नाथ पढ़ायो॥
सोई है खेद जो बेद कहै, न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।
हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो॥

शब्दार्थ—भरायो-गढ़ायो=गुण भर कर बढ़ा कर सुडौल बनाया हुआ।

अर्थ—हे श्रीरामजी ! मैं स्वयं अपने को भलीभाँति जानता हूँ कि आपका गुण देकर सँवारा हुआ हूँ। यह तुलसीदास तोते की भाँति आपका नाम रटता है और सारा संसार यही कहता है कि इसे श्रीरामजी ने ही पढ़ाया है, अर्थात् जैसे पाठक तोते को पढ़ाता है और फिर उससे सुन कर स्वयं प्रसन्न होता है, वैसे ही आप ही श्रद्धा एवं सद्‌गुण देकर नाम-आराधन कराते हैं, उसमें भी मुझ से तोते की भाँति केवल जीभ से रटन मात्र होता है, अर्थानुसंधान नहीं ही हो पाता, इसी का मुझे खेद है। परन्तु वेद तो ऐसा कहते हैं कि जिस भक्त को श्रीरघुनाथ-जी बढ़ाते हैं, फिर उसकी अवनति नहीं होती। (मुझ में तो यह बात प्रत्यक्ष है—) मैं तो सदा गधे पर चढ़ने वाले रजक (अन्त्यज) के समान (प्रतीत) था, पर आपके ही नाम ने मुझे हाथी पर चढ़ाया; अर्थात् महाराज के समान पूज्य बनाया है (अब आप अपने उक्त वेद-कथन के अनुसार मुझे घटने न देंगे, यह मुझे विश्वास है)।

विशेष—'रावरो राम भरायो गढ़ायो'; यथा—"बाप बलि जाउँ आपु

करिये उपाय सो। तेरे ही निहारे परै हारेउ सुदाउ सो॥ तेरे ही सुझाये सुझै असुझ सुझाउ सो। तेरे ही बुझाये बूझै अबुझ बुझाउ सो॥" (वि० १८२)।

'कीर ज्यों नाम रटै तुलसी···'—क्रिया योगसार में गणिका की कथा है, वह कथा और उसका पारमार्थिक भाव छन्द ७ के विशेष में देखिये। नाम-रटन कीर्तन है, इससे शीघ्र हरि प्राप्ति कही गई है; यथा—"स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति-अनुभावयति च भक्तान्।" (नारद भक्ति सूत्र ८०); अर्थात् वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) कीर्तित होने पर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तों को अपना अनुभव करा देते हैं।

'सोई है खेद'—अपने हृदय की त्रुटि पर खेद रहना उचित ही है, पर श्रीरामजी इस त्रुटि पर ध्यान नहीं देते; यथा—"दंभ हू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोषु॥" (वि० १५६)।

'बेद कहै न घटै'—उपर्युक्त छंद ५८ के 'जन्म जहाँ तहाँ···' इसके विशेष में इसके प्रमाण आ गये हैं।

'हौं तो सदा खर को असवार···'—यह आपकी कृतज्ञता है, इसकी पुष्टि में आगे के छन्द ६६, ६७, ६८ आदि देखिये। हाथी पर 'राजा' चढ़ते हैं, नाम जापक एवं साधु को लोग 'महाराज' कहते हैं, यह लोक-प्रसिद्ध है।

कवित्त [६१]

छार ते सँवारि कै पहारहू तें भारी कियो,
गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ कै।
हौं तो जैसो तब तैसो अब अधमाई कै-कै,
पेट भरौं, राम! रावरोई गुन गाइ कै॥
आपनी बिरुद की तौ कीजै लाज, महाराज!
मेरी ओर हेरि कै न बैठिये रिसाइ कै।
पालि कै कृपाल! ब्याल-बालको न मारिये,
औ काटिये न, नाथ! बिषहू को रूख लाइ कै॥

शब्दार्थ—छार = धूल। पंच = सब मनुष्यों में। रूख = वृक्ष।

अर्थ—आपने धूल के समान तुच्छ मुझको सजाकर (सद्गुणों से अलंकृत कर) पहाड़ से भी भारी (गौरवयुक्त) बना दिया। आपका पवित्र पक्ष पाकर

मैं सब लोगों में गौरवान्वित हो गया। मैं तो जैसा पहले था, वैसा ही अब भी हूँ; क्योंकि, हे श्रीरामजी! आपका ही गुण गा-गाकर अधमता से पेट पालता हूँ। हे श्रीमहाराज! आप अपनी विरुद (यश कीर्त्ति) की तो लज्जा कीजिये! मेरी ओर देख अप्रसन्न होकर न बैठ जाइये। हे कृपालु! स्वयं पालकर सर्प के बच्चे को भी नहीं मारा जाता और, हे नाथ! विष का भी वृक्ष लगाकर नहीं काटा जाता।

विशेष—'छार ते सँवारि कै· · '—मैं पहले धूल के समान नीच था। अतः, निरादर के योग्य था; यथा—"नीच को धूरि समान।" (मा०अ० २२६); इसे आपने अपने नाम-जप में लगाकर सद्‌गुण दे गौरवयुक्त बना दिया। पहाड़ के समान अचल, उच्च एवं पूज्य बना दिया; आगे छन्द ६८, ७२, ७३ भी देखिये।

'गारो भयो पंच में····'; यथा—"जाको हरि दृढ़ करि अंग करयो। सोई सुसील पुनीत बेदबिद बिद्या गुननि भरयो॥" (वि० २३६); तथा—"महाराज रामादरयो धन्य सोई। गरुअ, गुनरासि, सर्वज्ञ, सुकृती, सूर, सीलनिधि, साधु तेहि सम न कोई॥" (वि० १०६); तथा—"लहै न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज? सो तुलसी महँगो कियो, राम गरीब नेवाज॥" (दोहावली १०८)।

'हौं तो जैसो तब तैसो अब···'—आपकी शरण होने से पहले जैसे पेट पालता था, वैसे ही अब भी आपका गुण गाकर पेट-पालन ही करता हूँ; तथा—"तेरे ही नाथ को नाम लै बेंचि हौं पातकी पामर प्राननि पोसो॥ एते बड़े अपराधी अघी कहुँ,···" (छन्द १३७); तथा—"अघ अनेक अवलोकि आपने··· भगति बिराग ज्ञान साधन कहि बहु बिधि डहकत लोग फिरौं। सिव-सरबस सुखधाम नाम तव, बेचि नरक प्रद उदर भरौं॥" (वि० १४१); "पेट भरिबे के काज महाराज को कहायों, महाराज हू कह्यो है प्रनत बिमोचु हौं। निज अघ जाल···" (छंद १२१)। आपके गुणगान को आपकी प्रसन्नता का साधन न कर पेट-साधन बनाना अधमता है; इन प्रमाणों से स्पष्ट है। यदि इस गुणगान में स्वतः द्रव्य आये और उसे परमार्थ में लगा दे तो अच्छा ही है।

'आपनी बिरुद की····'—आप अपनी कृपालुता आदि विरुदों पर दृष्टि दें,

इनकी लज्जा रक्खें। आप महाराज हैं, बड़े लोग जिसका ग्रहण करते हैं, उसे गिरने नहीं देते; यथा—"सोई है खेद जो बेद कहै न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।" (छंद ६०); तथा—"जन्म जहाँ तहाँ रावरे सों..." (छंद ५८)-इसका विशेष देखिये; यही विरुद की लज्जा रखनी है। आधुनिक प्रतियों में 'आपने नेवाजे की पै' पाठ है, पर मेरा उक्त पाठ ही ठीक एवं प्राचीन है। 'मेरी ओर हेरि कै न बैठिये रिसाइ कै'—इसी की पुष्टि में आगे के दो दृष्टान्त देते हैं।

'पालि कै कृपाल.....'—मैं आपका ही पाला-पोसा हूँ; यथा—"आपु हौं आपु को नीके कै जानत रावरो राम भरायो-गढ़ायो।" (छंद ६०)। जब अपना पाला साँप भी नहीं मारा और अपना रोपा विष-वृक्ष भी नहीं काटा जाता तो फिर मेरा पालन कर आप स्वयं मेरा नाश कैसे करेंगे ? उपर्युक्त "सोई है खेद जो...", (छंद ६०)—इसका विशेष देखिये। तथा—"मोदेत साधुरपि वृश्चिक-सर्पहत्या।" (भाग० ७।६।१४); अर्थात् साधु भी हिंसक बिच्छू और सर्प की हत्या से प्रसन्न होते हैं; यद्यपि ऐसी रीति है, तथापि अपने पाले हुए सर्प को भी कोई हृदयवान् नहीं मारता।

[६२]

बेद न पुरान गान, जानौं न बिज्ञान-ज्ञान,
ध्यान, धारना, समाधि, साधन-प्रवीनता।
नाहिंन बिराग, जोग जाग भाग तुलसी के,
दया दान दूबरो हौं, पाप ही की पीनता॥
लोभ-मोह-काम-कोह-दोस-कोस मोसो कौन ?
कलिहू सिखि लई है मेरिऐ मलीनता।
एक ही भरोसो, राम! रावरो कहावत हौं,
रावरे दयालु दीनबंधु मेरी दीनता॥

अर्थ—मैं न तो वेदों और पुराणों का गान करना जानता हूँ और न विज्ञान एवं ज्ञान ही जानता हूँ। तथा न ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधनों में ही चतुराई रखता हूँ। मुझ तुलसीदास के भाग्य में वैराग्य, योग और यज्ञ आदि) नहीं हैं, मैं दया और दान में दुर्बल हूँ, मुझ में पाप ही की मोटाई

है। लोभ, मोह, काम और क्रोध रूप दोषों का भाण्डार मेरे समान और कौन है? (यहाँ तक कि) कलिकाल ने भी मुझ से मलिनता सीख ली है; परन्तु, हे श्रीरामजी ! मुझे केवल एक बात का भरोसा है, जो मैं आपका कहलाता हूँ। आप दयालु और दीनबन्धु हैं, (आपके समक्ष) मेरी यह दीनता है (अतः दया करके आप मेरी दीनता का हरण करेंगे ही, यह मुझे विश्वास है)।

विशेष—'विज्ञान'; यथा—"तब बिज्ञान-निरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ। चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दियटि बनाइ ।। तीनि अवस्था तीनि गुन, ते कपास ते काढ़ि। तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि ।। एहि बिधि लेसै दीप, तेजरासि बिज्ञानमय।" (मा० उ० ११७); 'ज्ञान'; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥" (मा० अर० १४)। ध्यान, धारणा और समाधि ये तीनों अष्टांग योग के अंग हैं।

'लोभ मोह…'—यह ग्रन्थकार का कार्पण्य है।

'एक ही भरोसो…'; यथा—"जैसो तैसो रावरो, केवल कोसलपाल। तौ तुलसी को है भलो, तिहूँ लोक तिहुँ काल ॥८४॥ है तुलसी के एक गुन, अवगुन निधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझिवे जोग ॥८५॥" (दोहावली)।

'रावरे दयालु…'—यदि आप सच्चे दयालु और दीनबन्धु हैं तो मुझ दीन की दीनता पर दया करके मेरे सहायक अवश्य होंगे; यथा—"जब लगि मैं न दीन दयालु तैं, मैं न दास तैं स्वामी। तब लगि जो कछु सह्यो कह्यो नहिं, जद्यपि अंतरजामी ॥ तैं उदार, मैं कृपन, पतित मैं, तैं पुनीत श्रुति गावै। बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहि, अब न तजे बनि आवै ॥" (वि० ११३)।

[६३]

रावरो कहावौं, गुन गावौं, राम ! रावरोई,
रोटी द्वै हौं पावौं, राम ! रावरिहि कानि हौं।
जानत जहान, मन मेरेहू गुमान बड़ो,
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं ॥
पाँच की प्रतीति न भरोसो मोहिं आपनोई,
तुम्ह अपनायो हौं तबै ही परि जानिहौं।

गढ़ि-गुढ़ि, छोलि-छालि, कुंद की-सी भाई बातैं,
जैसी मख कहौं, तैसी उर जब आनिहौं ॥

अर्थ—हे श्रीरामजी ! मैं आपका कहलाता हूँ और आपका ही गुन गाया करता हूँ। तथा हे श्रीरामजी ! आपकी ही मर्यादा (लिहाज) से मुझे दो रोटियाँ (भोजन-वस्त्र) भी मिल जाया करती हैं। मैंने आपके अतिरिक्त दूसरे स्वामी को न माना है, न मानता हूँ और न मानूँगा। मेरे मन में भी इसका बड़ा गर्व है, इस बात को सारा संसार जानता है। किन्तु, मुझे न तो पञ्चों की प्रतीति है (जो वे मुझे अनन्य राम भक्त मानते एवं ख्याति करते हैं) और न अपना (उपर्युक्त अनन्य भाव की हार्दिक धारणा का) ही भरोसा है। 'आपने मुझे अपनाया है', यह तो मैं निश्चयपूर्वक तभी जानूँगा; जब गढ़-गुढ़ (काट-छाँट) कर, छोल-छाल कर और खराद पर चढ़ाई (खरादी) हुई-सी (सुडौल) बातें जैसी मुख से कहता हूँ, वैसी ही हृदय में भी लाऊँगा।

विशेष—'रावरो कहावौं....'—शरणागत हूँ, इससे मैं आपका कहलाता हूँ; क्योंकि इसमें 'तवास्मि' इस भाव की याञ्चा कही गई है। 'रावरोई गुन गावौं, यह वृत्ति 'आनुकूल्यस्य-सङ्कल्पः' इस षट्-शरणागति में प्रथमा का अङ्ग है। इसी से आपका प्रेम बढ़ता है; यथा—"समुझि-समुझि गुन ग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥" (वि० १००)।

'जानत जहान, मन...'; यथा—"एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास। एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥" से "एक अंग जो सनेहता, निसि दिन चातक नेह। तुलसी जासों हित लगै, वहि अहार, वहि देह॥" (दोहावली २७७-३१२) तक। मुझे अपनी इस अनन्यता का बड़ा गर्व है; तथा—"सेये न दिगीस, न दिनेस, न गनेस-गौरी, हित कै न माने बिधि हरिउ न हरु। राम नाम ही सों जोग-छेम, नेम प्रेम-पन सुधा सों भरोसो यह, दूसरो जहरु॥" (वि० २५०); "तुलसी सरनाम गुलाम है राम को,..." (छंद १०६)।

'पाँच की प्रतीति न...'—लोग मुझे अनन्य राम भक्त कहते हैं और मैं भी उक्त त्रयकालिक अबाध्य अनन्यता की अपनी वृत्ति कहता हूँ, परन्तु इन वाचिक वृत्तियों की सिद्धि आपके अपनाने पर ही होगी; यथा—"तुम अपनायो

तब जानि हौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै ॥…" (वि० २६८)—यह पूरा पद देखिये।

'गढ़ि गुढ़ि, छोलि-छालि…'—'रावरो कहावौं…' इस चरण की बातें गढ़ी-गुढ़ि हैं, 'जानत जहान, मन…'—इस चरण की छोली-छाली हैं और 'पाँच की प्रतीति न…'—इस चरण की बातें कुंद की भाँई सरीखी हैं, इन वृत्तियों का स्वाभाविक हो जाना, यह आपके अपनाने पर होगा, यों तो कहता हूँ, पर इनकी दशाएँ हृदय में स्थिर नहीं रहतीं; यथा—"सुनिय, गुनिय, समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव-बिपति सतावै ॥" (वि० ११६); तथा—"जो कछु कहिय करिय भव-सागर तरिय वत्सपद जैसे। रहनि आन बिधि, कहिय आन, हरिपद-सुख पाइय कैसे ॥" (वि० ११८)।

[६४]

बचन बिकार, करतबउ खुआर, मन
बिगत-बिचार, कलिमल को निधान है।
राम को कहाइ, नाम बेंचि-बेंचि खाइ, सेवा
संगति न जाइ, पाछिले को उपखान है ॥
तेहू तुलसी को लोग भलो-भलो कहैं, ताको
दूसरो न हेतु, एक नीके के निदान है।
लोकरीति बिदित बिलोकियत जहाँ तहाँ,
स्वामी के सनेह स्वानहू को सनमान है ॥

शब्दार्थ—खुआर (फा० ख्वार)=खराब, सत्यानाश। उपखान (उपाख्यान)=कहावत। निदान=निश्चय।

अर्थ—जिस (तुलसीदास) के वचनों में विकार है, कर्तव्य भी बुरे हैं और जिसका मन विचार-विहीन एवं पापों का भाण्डार है। जो श्रीरामजी का कहला कर उनका नाम बेंच-बेंच कर पेट पालता है, जो भगवत्सेवा एवं सत्संग में नहीं जाता (जी चुराता है) जैसे कि पूर्वजों की कहावतें हैं—'काम का न काज का दुश्मन अनाज का'। उस तुलसीदास को भी लोग भला कहते हैं, उसका दूसरा कारण नहीं, प्रत्युत भलीभाँति यही निश्चित होता है। यह प्रसिद्ध लोक रीति है,

जहाँ-तहाँ देखने में भी आता है—"स्वामी के स्नेह से उसके कुत्ते का भी लोग सम्मान करते हैं"।

विशेष—'बचन बिकार…'—स्वामी का होकर उनका नाम बेंच-बेंच कर पेट पालता है; यह वचन का विकार है। जो उनके नाम का माहात्म्य सुना कर द्रव्य ले पेट-पालता है। उनकी सेवा में प्रवृत्त न होकर खराब कर्मों में प्रवृत्त रहता हूँ, ये कर्म के विकार हैं और सत्संग में रुचि नहीं, यह मन का विकार है, इस प्रकार जिसके वचन, कर्म और मन, तीनों दूषित हैं; यथा—"मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै जनम्यो जग, तब ते बेसाह्यो दाम लोह कोह-काम को। मन तिनहीं की सेवा, तिनहीं सो भाव नीको, बचन बनाइ कहौं हौं गुलाम राम को॥" (छंद७०)।

'तेहू तुलसी को लोग…'; यथा—"तुलसी को जग मानियत महामुनी सो।" (छंद ७२)।

'स्वामी के सनेह स्वान हू को सनमान है'—स्वामी का कुत्ता है, ऐसा समझ कर लोग कुत्ते का सम्मान करते हैं, इससे स्वामी प्रसन्न होता है, वैसे ही मुझे लोग श्रीरामजी का भक्त मान कर ही उनकी प्रसन्नता के लिये मेरा सम्मान करते हैं, यही निश्चित बात है। मेरे जैसे झूठे भक्तों की सेवा भी सफल होती है, यही स्वामी का प्रसन्न होना है; यथा—"जौ जहँ-तहँ पन राखि भगत को भजन प्रभाउ न कहते। तौ कलि कठिन करम मारग जड़ हम केहि भाँति निबहते?॥" (वि० ९७);

श्रीरामनाम-निष्ठा

[६५]

स्वारथ को साज न समाज परमारथ को,
मोसो दगाबाज दूसरो न जग जाल है।
कै न आयों, करौं न करौं गो करतूति भली,
लिखी न बिरंचिहू भलाई भूलि भाल है॥
रावरी सपथ, राम! नाम ही की गति मेरे,
इहाँ झूठो झूठो सो तिलोक तिहूँ काल है।
तुलसी को भलो पै तुम्हारे ई किये, कृपालु!
कीजै न बिलंब, बलि, पानी भरी खाल है॥

अर्थ—मेरे पास न तो स्वार्थ (लोक सुख-भोग) का ठाट बाट है और न परमार्थ की ही सामग्री है। इस विशाल संसार में मेरे समान दूसरा कोई धोखे बाज (कपटी) नहीं है। अच्छी करनी तो न मैं पहले कर आया, न इस समय करता हूँ और न आगे करूँगा, यहाँ तक कि ब्रह्माजी ने भूल कर भी मेरे ललाट में भलाई करने की रेखा नहीं लिखी। हे श्रीरामजी! आपकी शपथ करके कहता हूँ कि मेरे श्रीरामनाम ही का आश्रय (पहुँच-शरण) है, जो यहाँ (आपके समक्ष) झूठा है, वह तीनों लोकों और तीनों कालों में झूठा है (; अर्थात् कहीं भी और कभी उसका कोई विश्वास नहीं करेगा)। हे कृपालु श्रीरामजी! इस तुलसीदास का भला आपके ही करने से होगा। अतः, मैं बलिहारी जाता हूँ। विलम्ब न कीजिये, क्योंकि शरीर क्षणभंगुर है (जैसे पानी से भरी हुई खाल शीघ्र सड़ कर नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही यह देह शीघ्र ही जीर्ण होकर नष्ट होनेवाला है)।

विशेष—'स्वारथ को साज न'; यथा—"स्रग्गन्धं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूल भोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगस्त्वष्टविधः स्मृतः॥" अर्थात् माला, इत्र आदि सुगन्ध, सुन्दर स्त्री, उत्तम वस्त्र, भूषण, गान, ताम्बूलभोजन और हाथी-घोड़े आदि वाहन—ये आठ भोग के अंग हैं। ये ही स्वार्थ के ठाट बाट हैं। ये मेरे पास नहीं हैं।

'न समाज परमारथ को'—तीर्थाटन, व्रत निष्ठा, यज्ञानुष्ठान एवं जप-तप, आदि, वैराग्य, ज्ञान तथा योग आदि एवं भक्ति-प्रपत्ति आदि परमार्थ (मोक्ष) प्राप्ति की सामग्री हैं। ये मुझ में नहीं हैं।

'मोसो दगाबाज'…'—जीव गर्भ में भगवान् से प्रतिज्ञा करता है कि मैं जन्म धारण कर आपका भजन करूँगा। अतः, मुझे इस नरक-यातना से बाहर कीजिये; यथा—"तेहि ईस की हौं सरन…पुनि बहु बिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी॥ ऐसे हि करि बिचार चुपसाधी। प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी॥" (वि० १३६); यह जन्म होने पर इन्द्रिय-विषयों में मोहित होकर उस प्रतिज्ञा की अवहेलना कर ईश्वर-विमुख हो गया, यही इसकी भारी दगाबाजी है; यथा—"कीजै मोको जम जातना मई। राम! तुम से सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई॥…" (वि० १७१)—यह पूरा पद देखिये।

'रावरी सपथ रामनाम ही की गति मोरे'; यथा—"राम की सपथ सरबस मेरे रामनाम, ॥" (छंद १७८); "रामनाम को प्रताप जानियत नीके आप, मोको गति दूसरी न बिधि निरमई ॥" (वि० २५२); "तुलसी तिलोक, तिहूँ काल, तोसे दीन को। रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को ॥" (वि० ६८)।

'तुलसी को भलो…'; यथा—"जब कब राम कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥" (वि० १२७); "कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल।" (छंद ११०); "तुलसी को भलो-पोच हाथ रघुनाथ ही के,…" (छंद १०८)।

'कीजै न बिलंब, बलि…'; यथा—"तुलसिदास अपनाइये कीजै न ढील अब, जीवन अवधि अति नेरे ॥" (वि० २७३); "ह्वै है जब तब तुमहि ते तुलसी को भलेरो। दीन दिनहुँ दिन बिगरिहै, बलि जाउँ, बिलंब किये, अपनाइये सबेरे ॥" (वि० २७२); 'पानी भरी खाल है' इस पर यह शंका हो सकती है कि ईश्वर के समक्ष जीवात्मा का कल्याण माँगना चाहिये, देह की क्षणभंगुरता कहने का क्या प्रयोजन ? इसका समाधान यह है कि इस देह के रहते हुए ही हृदय में भक्ति-निष्ठा दृढ़ हो जानी चाहिये, तब तत्क्रतु न्याय से उसी धारणा के अनुसार हरि प्राप्ति होती है; यथा—"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥" (गीता ८।६); अर्थात् हे अर्जुन ! जिस-जिस भी भाव को अन्तकाल में स्मरण करता हुआ (मनुष्य) शरीर छोड़ता है, वह सदा (पूर्व से ही) उस भाव से भावित हुआ उस-उस भाव को ही प्राप्त होता है। तथा—"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥" (छन्दो० ३।१४।१); अर्थात् पुरुष निश्चय वाला है, यह इस लोक में जैसा निश्चय वाला होता है, वैसा ही मरने के पीछे होता है, इसलिये यहीं पर इसे अचल निश्चय करना चाहिये।

अलङ्कार—यहाँ साभिप्राय लोकोक्ति कही गई है, इससे 'छेकोक्ति' है।

[६६]

राग को न साज, न बिराग-जोग जाग जिय,
काया नहिं छाँड़ि देत ठाटिबो कुठाट को।

मनोराज करत अकाज भयो आजु लगि,
चाहै चारु चीर पै लहै न टूक टाट को॥
भयो करतार बड़े क्रूर को कृपालु, पायो
नाम-प्रेम-पारस, हौं लालची बराट को।
तुलसी बनी है, राम! रावरे बनाये, ना तो
धोबी कैसो कूकुर, न घर को न घाट को॥

अर्थ—मेरे पास न तो राग (सांसारिक सुख-भोग) की ही सामग्री थी और न मेरे हृदय में वैराग्य, योग और यज्ञ आदि ही थे। यह शरीर (भी अपनी विषय-स्पृहा पूरी करने में) अनुचित उपाय करना नहीं छोड़ता था। मनोराज्य (मन की कल्पना) करते-करते आज तक हानि ही होती आई थी। यह चाहता तो अच्छे-अच्छे वस्त्र (शाल-दुशाले आदि); परन्तु इसे टाट का टुकड़ा भी नहीं मिलता था। इतने बड़े क्रूर के लिये, हे कृपालो! आप विधानकर्त्ता हुए, अतः कौड़ी के लालची इसने (आपकी कृपा से) श्रीरामनाम-प्रेम रूपी पारस (स्पर्श-मणि) पाया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हे श्रीरामजी! (इस प्रकार) आपके ही बनाने से मेरी बनी है, नहीं तो मैं धोबी के कुत्ते के समान न घर का था और न घाट का (; अर्थात् आपकी कृपा बिना मैं लोक और परलोक—एक भी न सुधार पाता,)।

विशेष—'राग को न साज...'—उपर्युक्त छन्द के स्वार्थ के अर्थ में जो अष्टांग भोग-विभूति कही गई, वही राग की सामग्री है तथा वहाँ की परमार्थ सामग्री ही यहाँ विराग, योग आदि के रूप में कही गई है। अर्थात् पहले मेरे पास स्वार्थ-परमार्थ की सामग्री कुछ भी नहीं थी। 'काया नहिं....' अर्थात् शरीर से नित्य नये कुत्सित कर्म होते थे, इससे संसार नित्य नया बढ़ता था।

'मनोराज करत...'—लोक-परलोक-साधन के मनोरथ मात्र करता था, साधनों में प्रवृत्ति नहीं हो पाती थी। यथा—"चाटत रह्यों स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।" (वि० २२६); इससे हानि ही होती आई थी। बड़े-बड़े मनोरथों के प्रति तुच्छ सिद्धि भी नहीं होती थी; यथा—"आस बिबस खास दास है नीच प्रभुनि जनायो। हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार मुँह बायो॥" (वि० २७६)।

'भयो करतार बड़े…'—मैं तो कौड़ी समान तुच्छ विषय सुख का लालची था, आपने कृपा कर मुझे श्रीरामनाम का प्रेम दे दिया है। पारस लोहे को सोना बना देता है, वैसे मैं भी ईश्वर-अंश स्वर्ण तुल्य था, पर कलियुग ने लोहा बना दिया था; यथा—"हौ सुबरन कुबरन कियो नृप ते भिखारि करि, सुमति ते कुमति कर्यो हौं।" (वि० २६६); श्रीरामनाम प्रेम से मैं पुनः पूर्वरूप में परिणत हो गया; यथा—"अपत उतार अपकार को अगार…राम नाम ललित ललाम कियो लाखनि को बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आध को॥" (छंद ६८); श्रीरामनाम-निष्ठा से पारमार्थिक सभी गुण आ जाते हैं; यथा—"धर्मकल्पद्रुमाराम, हरिधाम पथि-संबलं, मूलमिदमेव एकं। भक्ति-वैराग्य विज्ञान सम दान दम नाम-आधीन साधन अनेकं॥ तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालं॥" (वि० ४६)।

'तुलसी बनी है…'—इस चरण में ग्रन्थकार ने कृतज्ञता प्रकट की है।

'धोबी कैसो…'; यथा—"घाटै जाय धोबिनियाँ मारै घर मा दीन्हों फरका। धोबी केरो कूकुर ऐसो घाटक भयो न घर का॥" अर्थात् नाम-प्रेम विना मुझे लोक में दुर्दशा होती थी और परलोक में तो फरका बंद था, वहाँ की आशा ही न थी। वही मैं नाम द्वारा दोनों लोकों के सुखों का अधिकारी हो गया हूँ।

अलंकार—छेकोक्ति।

[६७]

ऊँचो मन, ऊँची रुचि, भाग नीचो निपटहि,
लोकरीति लायक न लंगर लबारु है।
स्वारथ अगम, परमारथ की कहा चली,
पेट की कठिन जग जीव को जवारु है॥
चाकरी न आकरी, न खेती, न बनिज-भीख,
जानत न कूर कछु किसब कबारु है।
तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, न तु
भेंट पितरन को न मूड़हू में बारु है॥

शब्दार्थ—लंगर = ढीठा, नटखट। लबार = झूठा। जबारु (फा० जवाल) = जंजाल, आफत। चाकरी = नौकरी। आकरी = खान खोदने का काम। किसब

= १ परिश्रम, २ व्यवसाय। कबारु (कबार) = व्यवसाय, व्यापार। बाजी = प्रतिज्ञा, दाँव।

अर्थ—इस (तुलसीदास) का मन ऊँचा (ऊँचे मनोरथ वाला) है। रुचि ऊँची है, परन्तु इसका भाग्य नितान्त नीचा है, यह लोक व्यवहार के योग्य भी नहीं है; क्योंकि यह नटखट और झूठा है। इसके लिये तो स्वार्थ (भोजन वस्त्र आदि) की प्राप्ति भी कठिन है, परमार्थ प्राप्ति की कौन बात कही जाय? यहाँ तक कि पेट की कठिनाई के कारण संसार इसके जीव का जञ्जाल हो रहा है। यह न तो नौकरी कर सकता है, न खान खोदाई कर सकता है, न खेती कर सकता है, न वाणिज्य कर सकता है और न भिक्षा वृत्ति ही कर सकता है; यह क्रूर किसी प्रकार का कुछ परिश्रम (कारीगरी आदि) एवं व्यवसाय भी नहीं जानता है। इस तुलसीदास की बाजी (दाँव) तो श्रीरामजी के नाम ने रख ली है; अन्यथा इसके पास तो पितरों को भेंट देने के लिये इसके शिर पर बाल भी नहीं हैं; अर्थात् इसके पास कुछ भी नहीं है।

विशेष—'ऊँचो मन···'; यथा—"मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिअ जग जुरइ न छाँछी॥" (मा० बा० ७); भाग्यहीनों के बड़े-बड़े मनोरथ पूरे तो होते नहीं, उसे उनसे दुःख ही होता रहता है।

इनकी पूर्ति के लिये लोकरीति की निपुणता चाहिये, मुझमें उसकी योग्यता भी नहीं है, नटखट और झूठे से लोग व्यवहार भी नहीं करते। इन कारणों से—'स्वारथ अगम' है, तो फिर परमार्थ की कौन बात चलाई जा सकती है।

'पेट की कठिन···'—जहाँ भोजन-वस्त्र की तंगी होती है, वहाँ संसार का जीवन ही जञ्जालमय बना रहता है, इस जीने से मरना अच्छा।

'चाकरी न आकरी···'—इस शरीर की जैसी वृत्ति बन गई है, इससे चाकरी आदि कुछ नहीं बन पाते। 'जानत न क्रूर···'—क्रूर स्वभाव होने के कारण इसे किसी ने कारीगरी एवं व्यवसाय आदि की रीतियाँ भी नहीं बतलाई। इससे यह इनमें अनभिज्ञ है।

तात्पर्य यह कि मैं लोक-परलोक के सुखों से सब भाँति हीन था।

'तुलसी की बाजी राखी···'—जुए एवं चौपड़ आदि खेलों में बाजी रक्खी जाती है। वैसे ही मैं चौरासी लाख योनि रूप कोठा घूम कर आया तब

नर देह प्राप्ति हुई, इस पर चौपड़ की बाजी आई। श्रीरामनाथ के प्रसाद से मेरा पासा पड़ गया, मैं श्रीराम-शरण हो गया, यही दाँव जीतना है। यदि श्रीरामनाम की अनुकूलता न होती तो मेरी वही व्यवस्था थी-'भेंट पितरन को...'।

पितरों को भेंट देने के लिये वृषोत्सर्ग, तेरही, नित्यकुम्भ, बरषी, श्राद्ध एवं गया में श्राद्ध करना आदि उपाय हैं। इनमें वृषोत्सर्ग के साथ क्षौरकर्म भी होता है। इन और बड़े-बड़े कर्मों की कौन कहे? मेरे शिर में बाल (केश) भी नहीं हैं कि पितरों के निमित्त क्षौर तो करा लूँ, भाव यह कि मुझ में हरि प्राप्ति के उपायों के कोई अंग भी नहीं था, केवल रामनाम ने ही मेरी दाँव रख ली, सद्-गति की योग्यता प्राप्त करा दी।

अलंकार— छेकोक्ति।

[६८]

अपत उतार, अपकार को अगार, जग
जाकी छाँह छुए सहमत व्याध बाधको।
पातक पुहुमि पालिबे को सहसानन सो,
कानन कपट को पयोधि अपराध को॥
तुलसी-से बाम को भो दाहिनो दया-निधान,
सुनत सिहात सब सिद्धि साधु साधको।
रामनाम ललित ललाम कियो लाखनि को
बड़ो क्रूर कायर कपूत कौड़ी आध को॥

शब्दार्थ—अपत = अप्रतिष्ठित, निर्लज्ज। उतार (उतारा) = न्योछावर, (उतारन) = निकृष्ट। सहमत = डरते हैं। वाम = कुटिल।

अर्थ—मैं निर्लज्जों की न्योछावर और बुराइयों का स्थान हूँ, जिनकी छाया का स्पर्श होने पर जीव-हिंसक व्याध भी डरते हैं। पाप रूपी पृथिवी का पालन करने के लिये शेषनाग के समान हूँ, कपट का वन और अपराधों का समुद्र हूँ। ऐसे मुझ तुलसीदास-सरीखे कुटिल के लिये भी दयासागर श्रीरामजी अनुकूल हो गये—यह सुनकर समस्त सिद्ध, साधु और साधक सिहाते हैं; (जो कि) श्रीरामनाम ने बड़े क्रूर, कादर, कुपुत्र और आधी कौड़ी के मोलवाले (मुझ) को भी लाखों के मोल का सुन्दर रत्न कर दिया।

विशेष--'अपत उतार'—निर्लज्जों की न्योछावर का तात्पर्य यह कि निर्लज्जों के विकारांश का ही निर्मित मेरा शरीर है। इस शरीर से बुराइयाँ ही हुआ करती हैं, इसीसे संसार के हिंसक व्याध आदि भी मेरे पापों के कारण मुझसे ऐसी घृणा करते हैं कि मेरी छाया छूने से भी डरते हैं। आगे अपने पापों का कुछ लक्ष्य कराते हैं—

'पातक पुहुमि''''—जैसे शेषनाग पृथिवी का धारण रूप में पालन करते हैं, वैसे ही मैं पापमयी बुद्धि का धारण करता हूँ, पृथिवी से विविध अन्न, लता आदि उपजते रहते हैं, वैसे ही मेरी बुद्धि से पाप के विविध भेद प्रकट होते रहते हैं। शेष इतने बड़े बोझ से नहीं थकते, वैसे मैं इन पापों के बोझा से नहीं थकता।

'कानन कपट को'—वन में भाँति-भाँति के वृक्ष आदि रहते हैं, वैसे ही मुझमें भाँति-भाँति के कपट भरे पड़े हैं। 'पयोधि अपराध को'—समुद्र में अगाध जल रहता है, वैसे ही मुझमें अपराध भरे हैं।

'तुलसी से बाम को···'—उपर्युक्त दोषों के होने से अपनी वामता कही, ऐसे प्रतिकूल पर भी श्रीरामजी अनुकूल हुए; क्योंकि वे दया के सागर हैं। इसे सुनकर सिद्ध आदि सिहाते (ललचाते हुए सराहते) हैं। अपनी इस महत्ता का आगे लक्ष्य कराते हैं—

'राम नाम ललित ललाम कियो''''—क्रूर अर्थात् निर्दय एवं तीक्ष्ण स्वभाव। कायर अर्थात् धर्म-कर्म करने में कादर और कपूत अर्थात् कुलधर्म से रहित, इन दोषों से मैं आधी कौड़ी के मोल का भी नहीं था। श्रीरामनाम-निष्ठा से मैं प्रतिष्ठित एवं पूज्य हो गया, लाखों के मोल वाले रत्न के समान महार्हत्व का पात्र बन गया।

श्रीबैजनाथजी ने कपूत [का = जल, पूत=पुत्र]= अर्थात् आसमानी पत्थर (ओला) भी अर्थ किया है, इससे उन्होंने यह भाव प्रकट किया है-ओला बड़ा क्रूर होता है; क्योंकि वह जहाँ गिरता है, वहाँ की खेती नष्ट कर देता है। वह कादर भी होता है; क्योंकि थोड़ी धूप एवं वायु के लगते ही गल जाता है, उसका मोल आधी कौड़ी भी नहीं होता। वह यदि किसी उपाय से हीरा बन जाता है तो लाखों के मोल का हो जाता है। तंत्रों में हिमोपल के हीरा होने की

क्रिया लिखी है; यथा—"चनखारस्य खवदै पुटं वस्त्रे हिमोपले। वेष्टिं मधूक तैलेग्नि स्वपक्कं हीरकं भवेत्॥"

इसी प्रकार श्रीरामनाम ने कपूत क्रूर और कायर तुलसीदास को हिमोपल से हीरा के समान बना दिया है, यह सुख-पुष्ट हीरा होकर लोक में प्रकाशित है।

[६६]

सब अँग हीन, सब साधन-बिहीन, मन,
बचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं।
बुधि-बल-हीन, भाव-भगति-बिहीन, हीन
गुन, ज्ञान हीन, हीनभागहू बिभूति, हौं॥
तुलसी गरीब की गई-बहोर रामनाम,
जाहि जपि जीह राम हू वैठो धूति हौं।
प्रीति रामनाम सों, प्रतीति रामनाम की,
प्रसाद रामनाम के पसारि पाय सूतिहौं॥

अर्थ—मैं (अष्टाङ्ग योग के) सभी अङ्गों से रहित हूँ, समस्त साधनों से रहित हूँ, मन और वचन का भी मलिन हूँ तथा कुलोचित कर्त्तव्य से भी रहित हूँ। व्यावहारिक बुद्धि एवं शारीरिक बल से हीन हूँ, शृङ्गारादि भाव की भक्ति से रहित हूँ। शील-सन्तोष-विवेक-विराग आदि गुणों से रहित हूँ, ज्ञान रहित हूँ तथा भाग्य-विभूति से भी रहित हूँ। इस प्रकार के गरीब (दीन-निर्धन) मुझ तुलसीदास की खोई हुई वस्तु (स्व-स्वरूप वृत्ति) का देने वाला श्रीरामनाम है, जिसे जिह्वा से जप कर मैं श्रीरामजी को भी छल कर बैठा हूँ। उसी श्रीरामनाम में मेरी प्रीति है, उसी श्रीराम नाम का मुझे विश्वास है। अतः, उसी श्रीरामनाम के प्रसाद से मैं पैर पसार कर (निश्चिन्त होकर-निश्शङ्क) सोता हूँ।

विशेष—'सब अंग हीन....';—योग के आठो अङ्गों का प्रमाण छंद ५५ में लिखा गया। 'सब साधन-बिहीन'—साधन चतुष्टय शुष्क ज्ञान के साधन हैं—'विवेक, विराग, षट् सम्पत्ति (शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) तथा मुमुक्षुता भक्ति के साधन नवधा आदि हैं; तथा—"भगति के साधन कहउँ बखानी।" से "काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥" (मा० अर० १५) तक।

'मन बचन मलीन···'; यथा—"मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै जनम्यो जग, तब ते बेसाह्यो दाम, लोह कोह काम को। मन तिनहीं की सेवा। तिनही सो भाव नीको, बचन बनाइ कहौं 'हौं गुलाम राम को'॥" (छंद ७०)।

'हीन कुल-करतूति हौं'—कुल का अर्थ वंश एवं जाति होता है। श्रीगोस्वामीजी के शरीर का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ है। अतः, यहाँ ब्राह्मणोचित कर्तव्य से रहित कहने का भाव है। तथा शरणागति सम्बन्ध में आत्मा के जन्म का कुल श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव समाज में आपकी वंश परम्परा है। अतः, साम्प्रदायिक उचित कर्तव्यों से रहित कहने का भाव है।

'हीन भागहू बिभूति हौं'; यथा—"द्वार-द्वार दीनता कही, काढ़ि रद, परि पाहू। हैं दयालु दुनी दस दिसा, दुख-दोष-दलन-छम, कियो न संभाषन काहू। तनुज तज्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु-पिता हू। काहे को रोष, दोष काहि धौं, मेरे ही अभाग मोसों सकुचत सब छुइ छाँहू॥" (वि० २७५)।

'तुलसी गरीब की गई बहोर रामनाम···'; यथा—"हौं तो, बलि जाउँ, रामनाम ही ते लह्यो हौं।" (वि० २६०), "संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो। अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहि समुझि परो॥" (वि० २२६)।

'जाहि जपि जीह···'—अर्थानुसंधान के साथ जप नहीं, केवल जीभ से (तोता-रटन) जप कर भी मैं श्रीरामजी को ठग कर बैठा हूँ। भाव यह कि कुछ न देकर अमूल्य वस्तु ले लेना ठगना है, मैं नाम-जप भी तोता-रटन से करके परम पुरुषार्थ रूपी मोक्ष का अधिकारी बन गया। पुण्य मुझमें कुछ था ही नहीं, पापों का मोट ही श्रीरामजी को पचाना पड़ा है, इस प्रकार मैं श्रीरामनाम के बल पर सर्वज्ञ श्रीरामजी को ठग कर बैठा हूँ। कहा भी है, यथा—"कीर ज्यौं नाम रटै तुलसी···" (छंद ६०)।

'प्रीति रामनाम सों···'—श्रीरामनाम के उक्त प्रत्यक्ष गुणों से मेरी श्रीरामनाम में प्रीति एवं प्रतीति है और इसीसे मैं पाप रूपी शत्रुओं तथा काम आदि चोरों से निश्शङ्क होकर सोता हूँ, श्रीरामनाम के अनुराग रूपी सुषुप्ति निद्रा में सोता हूँ। पाँय पसार कर सोना निश्शंकता से होता है।

[७०]

मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै जनम्यो जग,
तब ते बेसाह्यो दाम लोह कोह काम को।
मन तिनही की सेवा, तिनहि सों भाव नीको,
बचन बनाइ कहौं "हौं गुलाम राम को" ॥
नाथ हू न अपनायो, लोक झूठी ह्वै परी, पै
प्रभुहू ते प्रबल प्रताप प्रभु नाम को।
आपनी भलाई भलो कीजै तो भले ही भलो
तुलसी को खुलै गो खजानो खोटे दाम को ॥

शब्दार्थ—जीव ह्वै = प्राण धारण करनेवाला होकर; यथा—"जीवोऽसु-धारणम्।" (अमर कोष), अर्थात् जीव और असु धारण, ये दो प्राण धारण के नाम हैं। लोह=लोभ। कोह=क्रोध। गुलाम (अ०)=दास। खुलै गो खजानो··· = लोभ आदि की अप्रकट खोटाई खुल जायगी, प्रकट हो जायगी।

अर्थ—"मेरी समझ में जब से मैंने प्राण धारण करनेवाला होकर जगत् में जन्म लिया है, तब से (जगत् रूपी हाट में) लोभ, क्रोध और काम के सिक्के ही खरीदे हैं। मेरा मन उन्हीं लोभ आदि की सेवा (सार सँभाल) में लगा रहता है। क्योंकि उन्हीं से मेरा गहरा प्रेम है। वचन मात्र से बना कर (झूठ बना कर) कहता हूँ कि मैं श्रीरामजी का सेवक हूँ"। (अयोग्य जान कर) स्वामी (आप) ने भी मुझे अपना नहीं बनाया, परन्तु लोक (जगत्) में झूठ ही ख्याति हो गई (कि मैं श्रीरामजी का दास हूँ)। किन्तु प्रभु श्रीरामजी के नाम का प्रताप प्रभु से भी प्रबल है (अतः, इस नाम प्रताप की प्रबलता से) आप यदि अपनी भलाई से मेरा भला कर दें तो भले ही मेरा भला हो सकता है; अन्यथा, इस तुलसीदास के उक्त खोटे सिक्कों का खजाना खुल जायगा, अर्थात् छिपे हुए लोभ आदि प्रकट हो जायँगे, तब आपका भी नाम धरा जायगा; कि रामदास भी लोभी-क्रोधी और कामी होते हैं, दम्भ से अपने भावों को छिपाये रहते हैं इत्यादि।

विशेष—'मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै···'—जीव तत्त्व नित्य है, वह कभी होता नहीं; यथा—"जीव नित्य तुम्ह केहि लगि रोवा।" (मा० कि० १०);

तथा—"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो..." (गीता २।२०); अर्थात् यह जीवात्मा अजन्मा, नित्य, सनातन और पुराण है। अतः, यहाँ जीव होने में इसके प्राणधारी होने का भाव है, प्रमाण ऊपर लिखा गया।

श्रीगोस्वामीजी पूर्व जन्म में वाल्मीकि रूप में थे; यथा—"कलि कुटिल जीव-निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।" (भक्तमाल नाभाजी); वहाँ भी आप पूर्वावस्था में काम-क्रोध और लोभ में रत थे, यह वाल्मीकिजी की कथा से प्रसिद्ध है। वासना-परम्परा विचारने से यह सिद्ध है कि आप जब से प्राण धारण करते हुए, तब से ये कामादि आपके धन हैं।

यह भी भाव है कि ब्रह्माजी के अवतार वाल्मीकिजी हैं; यथा—"वाल्मीकिरभवृद्ब्रह्मा वाणी वक्तृत्वरूपिणी। चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः॥" (स्कन्द पु० शिव वाक्य); ब्रह्मा रूप में आप प्राणधारी न थे, वाल्मीकि रूप से प्राणधारी हुए, तभी से इन लोभादि की प्रवृत्तियाँ हैं। तथा—"जनम-जनम जानकीनाथ के गुन गन तुलसिदास गाये।" (गी० लं० २३)। इस प्रसंग में भी श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं स्पष्ट कहा है।

'बेसाह्यों दाम'—जैसे कोई रुपया आदि सिक्का एकत्र करता है, वैसे ही मैंने क्रमशः लोभ आदि के संस्कारों का संचय किया है।

'मन तिनहीं की सेवा...'—'बेसाह्यों दाम' इस प्रसंग में कर्म द्वारा कामादि-संसर्ग कहा गया है। 'मन तिनहीं...' इसमें मन द्वारा और आगे 'बचन बनाइ कहौं...' इसमें कामादि का मर्म छिपा झूठ बोल कर राम-दास बनने में वचन द्वारा कामादि का पोषण सिद्ध है। अतः, मैं मन, वचन, कर्म से कामादि में रतहूँ, यह सिद्ध किया।

'नाथ हू न अपनायो...'—स्वामी ने नहीं अपनाया, यह इस प्रकार जाना गया कि अभी मुझमें वह वृत्ति नहीं आई; यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। ज्यों सुभाय विषयनि लग्यो त्यों सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥" (वि० २६८)—यह पूरा पद देखें, परन्तु जगत् में झूठी ही ख्याति हो गई कि तुलसीदास रामजी का दास है। प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी ने जो काम नहीं किया, उसे उनका नाम सम्पन्न करेगा; क्योंकि मैं नाम लेता हूँ। अतः, नाम-लज्जा रखने के लिये विवश होकर प्रभु को वह कार्य

सम्पन्न करना पड़ेगा, यथा--"सो धौं को जो नाम-लाज ते नहीं राख्यो रघुबीर।" (वि० १४४), "तब तुम्ह मोहू से सठनि को हठि गति देते। कैसेहु नाम लेहि कोउ पाँवर सुनि सादर आगे ह्वै लेते॥" (वि० २४१); "अंतरजामिहु ते बड़ बाहर जामी हैं राम जो नाम लिये ते। धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये ते॥" (छंद १२६)।

नाम के प्रबल-प्रताप से ऐसे कार्य होते हैं, यथा---"जान आदि कवि नाम-प्रतापू। भयो सुद्ध करि उलटा जापू॥" (मा० बा० १८), आगे छन्द ७६ भी देखिये। तथा--"नाम-प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो। जो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृत सील भील-भामो॥...राम ते अधिक नाम-करतब जेहि किये नगर-गत गामो। भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास-से बामो॥" (वि० २२८)।

'आपनी भलाई भलो...'--नाम के द्वारा आराधित होने पर रूप ही उसका प्रतिफल देता है। अतः, श्रीरामजी अपने नाम की मर्यादा रखते हुए यदि मेरी भलाई कर दें तो भला हो ही जायगा, अन्यथा अभी जो दम्भ आदि के द्वारा हृदय के लोभ आदि अप्रकट हैं, वे भी संयोग पा-पा कर प्रकट होने लगेंगे, तो भंडाफोड़ हो जायगा। या तो शीघ्र अपनाइये, जिससे अभी की देखावट वृत्ति स्वाभाविक हो जाय।

देखावटी दम्भात्मक वृत्ति रूपी खोटे दाम का रूपक--

लोभ का सिक्का पाखंड है, देखाव में सुवेष अशरफी के समान रहता है, पर भीतर तृष्णा रूपी कुधातु भरी रहती है। खुलने पर विडम्बना रूपी खोटाई प्रकट होती है; यथा--"केहि कै लोभ बिडम्बना, कीन्ह न येहि संसार।" (मा० उ० ७०); काम का सिक्का सौहार्द्य है, देखाव में प्रीति रूपी ताँबा है, पर भीतर लोलुपता रूपी कुधातु (लोह) भरी रहती है। खुलने पर खोटाई के समान कलङ्क प्रकट होता है। क्रोध का प्रतिकार सिक्का है, देखाव में स्व-मर्याद-रक्षण रूपी चाँदी का रुपया दीखता है। पर भीतर ईर्ष्या-द्वेष रूपी खोटाई भरी रहती है। खुलने पर भय होता है, यथा--"पर द्रोही कि होंहिं निःसंका। कामी पुनि कि रहहिं अकलंकार॥" (मा० उ० १११)।

अन्यत्र भी कहा है, यथा--"देव! दिनहूँ दिन बिगरि है बलि जाउँ बिलंब

किये अपनाइये सबेरो ॥" (वि० २७२); "तुलसीदास अपनाइये कीजै न ढील अब जीवन-अवधि अति नेरे ॥" (वि० २७३)।

[७१]

जोग न बिराग, जप, जाग, तप, त्याग, व्रत,
तीरथ न धर्म जानौं, बेदबिधि किमि है।
तुलसी-सो पोच न भयो है, नहिं ह्वै है कहूँ,
सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहै ॥
मेरे तौ न डर रघुबीर सुनौ साँची कहौं,
खल अनखैहैं तुम्हें, सज्जननि गमिहै।
भले सुकृती के संग मोहू तुला तौलिये तौ,
नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमिहै ॥

शब्दार्थ—गमिहै = प्रवेश है, पहुँच है [सं० गम्य = किसी वस्तु या विषय में प्रवेश]

अर्थ—अष्टांग योग, वैराग्य, जप, यज्ञ, तपस्या, त्याग, तीर्थ और धर्म मैं नहीं जानता और न यही जानता हूँ कि वेद का विधान कैसा है। इन कारणों से मुझ तुलसीदास के समान नीच न कोई हुआ है और न कहीं होगा ही। इसी से सब लोग सोचते हैं कि प्रभु (दंड देने में परमसमर्थ) श्रीरामजी इसके पापों को कैसे क्षमा करेंगे ? परन्तु, हे श्रीरघुनाथजी ! सुनिये, मैं आपसे सत्य ही कहता हूँ, मेरे हृदय में तो इसका कुछ भी डर नहीं है। (मेरी यह बात सुनकर) दुष्ट लोग तो आपसे अप्रसन्न होंगे (कि नाम लेने मात्र पर प्रभु ने इसे क्यों क्षमाकर दिया ?) पर सज्जनों को तो (नाम-प्रभाव में) प्रवेश है (अतः, वे प्रसन्न ही होंगे)। यदि आप अच्छे पुण्यात्मा के साथ तराजू पर तौलेंगे तो आपके नाम की कृपा से मेरी ओर का ही भार (पलड़े का बोझ) झुकेगा, अर्थात् मैं ही अधिक पुण्यात्मा समझा जाऊँगा।

विशेष—'जोग न बिराग ...'—मनुष्य शरीर साधन धाम है; यथा—"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो परत्र दुख पावै, सिर धुनि-धुनि पछिताइ।..." (मा० उ० ४२-४३); इस शरीर से भी इन साधनों में न लगना नीचता है, इसी से आगे कहा है—

'तुलसी सो पोच...'—अर्थात् तीनों कालों में तीनों लोकों में इसके समान नीच नहीं है।

'सोचैं सब याके अघ...'—जब मैं रामनाम के बल पर निश्शंक होकर रहता हूँ, तब सब लोग बड़े सोच में पड़ जाते हैं कि जो प्रभु हैं, पापियों को दंड देने में परम समर्थ हैं, वे इसके प्रति कैसे अपना स्वभाव छोड़ देंगे जो मान कर यह निर्भय है। इसके पापों के मोट वे कैसे पचावेंगे?

'मेरे तो न डर...'—शास्त्रों एवं गुरुओं से नाम-प्रभाव जानकर मुझे तो डर नहीं है, यथा—"तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥" (मा० उ० ६१), "प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं हरिनाम हरेदघम्॥" (स्कन्द पु० का० पू० २१।५७), अर्थात् जैसे अनवधानता से भी छू जाने से अग्नि कण जलाता है, वैसे ही ओठ से उच्चरित मात्र हरिनाम पाप-भस्म करता है। "अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव॥१६॥ यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलायनमनुत्तमम्। मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः॥२०॥ कलिकल्मष-मत्युग्रं नरकार्त्तिप्रदं नृणाम्। प्रयाति विलयं सद्यः सकृद्यत्र च संस्मृते॥२१॥" (वि० पु० ६।८), अर्थात् जिन (भगवान्) के नाम का विवश होकर कीर्तन करने से भी मनुष्य सब पापों से इस प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे सिंह से डरे हुए भेड़ियों के द्वारा (भाव यह कि सिंह के डर से भेड़िये स्वयं मनुष्य के पास से भागते हैं, वैसे नाम के डर से पाप भागते हैं)। हे मैत्रेय! भक्तिपूर्वक किया हुआ जिनका नाम-कीर्तन सम्पूर्ण धातुओं को पिघलाने वाले अग्नि के समान समस्त पापों का सर्वोत्तम विलायन (लीन कर देनेवाला) है। जिनका एक बार भी स्मरण करने से मनुष्यों को नरक यातनाओं का देनेवाला अत्यन्त उग्र कलियुग का पाप तुरत नष्ट हो जाता है। यदि कहा जाय कि पाप क्रिया-त्मक रूप में किये गये हैं, वे वाणी मात्र से कहे हुए नाम से कैसे शुद्ध होंगे। नाम के अक्षरों में पुण्य की व्यवस्था कहाँ है? तो कहते हैं—

'भले सुकृती के संग मोहू...'; अर्थात् श्रीरामनाम में सभी पुण्यों का तत्त्व सन्निहित है, यथा—"जथा भूमि सब बीज मय, नखत-निवास अकास। रामनाम सब धर्ममय, जानत तुलसीदास॥" (दोहावली २६), पूर्वोक्त छन्द

६६ के 'भयो करतार.....' के विशेष में भी प्रमाण दिये गये हैं। तथा—"कृष्ण-कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम्। नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम्॥" (स्कन्द पु० द्वा० मा० ३८।४५); अर्थात् जो कलियुग में नित्य प्रति 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का उच्चारण करेगा, उसे प्रतिदिन दस सहस्र यज्ञों और करोड़ों तीर्थों का पुण्य प्राप्त होगा। तथा—"कृष्णकृष्णेति यो ब्रूयात् सद्भक्त्या प्रत्यहं नरः। हेलया सोऽश्वमेधानां शतानां लभते फलम्॥" (स्कन्द पु० द्वा० मा० ४६।२७); अर्थात् जो मनुष्य प्रतिदिन उत्तम भक्ति से 'कृष्ण कृष्ण' का कीर्तन करता है, वह अनायास ही सौ अश्वमेध यज्ञों का फल पा लेता है।

[७२]

जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागिबस,
खाए टूक सब के बिदित बात दुनी सो।
मानस-बचन-काय किए पाप सतिभाय,
राम को कहाय दास दगाबाज पुनी सो॥
रामनाम को प्रभाउ, पाउ, महिमा, प्रताप,
तुलसी-सो जग मनियत महामुनी-सो।
अतिहि अभागे, अनुरागत न राम पद,
मूढ़ एतो बड़ो अचरज देखि-सुनी सो।

शब्दार्थ—पेटागि बस=जठराग्नि वश, भूख से। पुनी=फिर। पाउ (पाद)= चरण, गति, गमन-शीलता। दुनी = दुनियाँ, संसार।

अर्थ—भूख के वश मैंने अपनी जाति, अपने से ऊँची जाति और अपने से नीची जाति (सब) से रोटी के टुकड़े माँग-माँग कर खाये हैं, यह बात सारे संसार में प्रसिद्ध है। मन, वचन और शरीर से मैंने अपने सत्य भाव से अनेक पाप किये हैं। श्रीरामजी का दास कहलाकर (शरणागत होकर) भी मैं वही धोखे-बाज बना रहा। परन्तु यह श्रीरामनाम का प्रभाव, प्रगति-शीलता, महिमा और प्रताप है, जो कि वही तुलसीदास अब जगत् में महामुनि वाल्मीकि के समान माना जाता है। अरे मूर्ख (मन)! तू इतना बड़ा भारी आश्चर्य देख-सुनकर भी श्रीरामजी के चरणों में अनुराग नहीं करता, इससे तू अत्यन्त अभागा है।

विशेष--'जाति के, सुजाति के....'—श्रीगोस्वामीजी ने बचपन में मधुकरी वृत्ति भी की है। जैसे मधुकर (भ्रमर) नाना पुष्पों से रस लेता है, पुष्पों पर विवर्णता नहीं आने देता, वैसे तीन, पाँच एवं सात घरों से आटा एवं अन्न की चुटकी भिक्षा लेना मधुकर वृत्ति है। आजकल वैष्णवों के घरों से सिद्धान्न (रोटी, भात, दाल आदि) की भिक्षा लेने को भी मधुकरी वृत्ति कहा जाता है। श्रीगोस्वामीजी के शब्दों में दोनों प्रकार की वृत्तियाँ सिद्ध होती हैं; यथा—"खायों खोंची माँगि कै तेरो नाम लिया रे।" (वि० ३३); इसमें चुटकी माँगने का प्रमाण है। तथा—"माँगि मधुकरी खात ते, सोवत गोड़ पसारि।" (दोहावली ४६४); इसमें सिद्धान्न की भिक्षा वाली मधुकरी वृत्ति है।

अगले छंद में भी 'बारे ते...' इस चरण में यही भाव कहा गया है।

'मानस वचन काय...'; यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम वचन मन भव कवि कहहीं" (मा० अ० १६६)।

'राम को कहाइ दास...'—जब शरणागत होकर दास कहाया, तब से सचेत रहना चाहिये, पर फिर भी मेरा पूर्व स्वभाव बना ही रहा। भगवान् के समक्ष शरण हुआ, शरणागति एक प्रकार का बृहत् प्रायश्चित्त है। अतः, भगवान् के सामने प्रतिज्ञा की कि अब तक के पाप क्षमा हों, अब मैं आपका शेषत्व (सेवन) ही करूँगा, फिर भी पापाचरण करना उनके समक्ष दगाबाजी है।

'रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप....' श्रीरामनाम का प्रभाव सुनकर इसमें लगा, इससे मेरे पूर्व के पाप नष्ट हुए, प्रमाण छन्द ७१ के विशेष में लिखे गये। 'पाउ' अर्थात् उसी नाम की प्रगति-शीलता से मुझमें बुद्धि-विकाश आदि से प्रगति हुई, यह प्रगति नाम की ही है। 'महिमा' अर्थात् मुझे श्रीमद्रामायण का रचयिता होने का श्रेय मिला, यह नाम की ही महिमा है। तत्पश्चात् जगत् के लोग मुझे महामुनि वाल्मीकि के समान कहने लगे, इसमें नाम का प्रताप है; क्योंकि महर्षि के महत्त्व का लेश भी मुझमें नहीं है, फिर भी नाम के आतंक से मुझे लोग वह तुलना देते हैं।

कोई-कोई यों भी इसका अर्थ करते हैं कि 'यह रामनाम का ही प्रभाव है, जिससे मैंने महिमा और प्रताप पाये, जो लोग मुझे महामुनि वाल्मीकिजी के समान मानते हैं। मेरे विचार में नाम के प्रभाव से महिमा मिलना कहना तो

संगत है, पर प्रताप नहीं। इससे 'पाउ' पद का मैंने वैसा अर्थ किया है। उस अर्थ में क्रमशः प्रगति भी युक्त है।

'अतिहि अभागे...'—इस प्रत्यक्ष उदाहरण से भी यदि नहीं समझ पड़ता, तो आश्चर्य मूर्खता है, इसका कारण अत्यन्त अभाग्य है। तथा—"बाल्मीकि केवट कथा, कपि-भील-भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १६३)। "ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन-पद विमुख अभागी॥" (वि० १४०)।

[७३]

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो, सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारिफल चारि ही चनक को॥
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को।
नाम, राम! रावरो सयानो कै धौं बावरो,
जो करत गिरी ते गरू तृन ते तनक को॥

अर्थ—मैं भिक्षा माँगने वाले (ब्राह्मण) कुल में पैदा हुआ, उस उपलक्ष में बधावा बजाया गया; यह सुनकर मेरे माता-पिता को सन्ताप और दुःख हुआ (अर्थात् मेरे कुलक्षणों को सुनकर मेरे माता-पिता को संताप एवं दुःख हुआ)। फिर बचपन से ही (भूख से) दीन होकर मैं लोगों के द्वार-द्वार पर ललचाता हुआ भटकता फिरता था, उस समय मैं चने के चार दानों को चार फल के समान जानता था। वही तुलसीदास (मैं) अब समर्थ स्वामी श्रीरामजी का उत्तम सेवक हो गया है, यह सुनकर ब्रह्मा-सरीखे गणक (ज्योतिषी) सिहाते हैं, उन्हें सोच हो गया है (कि मैंने तो इसके भाग्य में एक भी अच्छी रेखा नहीं लिखी, इसे यह विभूति कहाँ से प्राप्त हो गई)। अतः, हे श्रीरामजी! आपका नाम चतुर है कि बावला है (कुछ जान नहीं पड़ता); क्योंकि यह तृण से भी तुच्छ (व्यक्ति) को पहाड़ से भी भारी (अत्यन्त प्रतिष्ठित) बना देता है।

विशेष—'जायो कुल मंगन...'—श्रीगोस्वामीजी के अन्यत्र के वचनों से

भी सिद्ध होता है कि आपके जन्म समय मूल नक्षत्र आदि किन्हीं कुयोगों से
माता-पिता ने पश्चात्ताप किया था; वही यहाँ के 'भयो परिताप'—इस वचन से
सिद्ध होता है; तथा—"तनुज तऊ कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु-पिताहूँ। काहे
को रोष दोष काहि धौं, मेरे ही अभाग, मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ॥" (वि०
२७५); "अगुन अलायक आलसी जानि अधन अनेरो। स्वारथ के साथिन्ह
तज्यो तिजरा को-सो टोटक, औचट उलटि न हेरो॥" (वि० २७२); एवं—
"जननि जनक तज्यो जनमि करम बिनु, बिधिहुँ सृज्यो हौं अवडेरे।" (वि०
२२७); इन वचनों का अभिप्राय यह है कि मूल-शान्ति एवं गोमुख प्रसव
शान्ति आदि होने पर कुछ काल इनका माता-पिता से संसर्ग था, फिर इनका
घर के काम-धन्धों में चित्त न देखकर माता-पिता ने अलग कर दिया था; अथवा,
वे मृत्युवश हो गये हों; क्योंकि 'अगुन अलायक आलसी जानि अधन अनेरो
स्वारथ के साथिन्ह तज्यो...' यह बिना कुछ काल साथ रक्खे नहीं हो सकता।
तथा—"गरभ बास दस मास पालि पितु-मातु रूप हित कीन्हों।" (वि० १७१);
इस वचन से भी सिद्ध है कि जन्म-काल के पश्चात् कुछ काल तक आपका
माता-पिता से संसर्ग था।

उक्त बातों के कुछ अंशों को लेकर जो कहा जाता है कि जन्मते ही माता-
पिता ने अभुक्त मूल में जन्म होने के कारण इन्हें त्याग दिया था, ऐसी निर्दयता
का बर्ताव भारतवर्ष में नहीं बर्ता जाता, प्रत्युत् बहुत-से लड़के मूल नक्षत्र में
जन्मते हैं तो उनकी शान्ति कराई जाती है। कहीं भी ऐसे लड़के अनाथ की
भाँति त्यागे नहीं जाते।

श्रीवियोगी हरिजी ने विनय-पत्रिका की टीका में इन प्रसंगों पर लिखा है कि
'अनिष्ट ग्रहों के कारण त्याग देना'—यह मत ज्योतिष के किसी प्राचीन ग्रंथ में
नहीं पाया जाता। केवल 'मुहूर्त्त चिन्तामणि' नामक ग्रंथ में इसकी चर्चा है,
परन्तु 'मुहूर्त्त-चिन्तामणि' श्रीगोस्वामीजी के पीछे का बना हुआ है। अतः,
उसकी बात इनके जीवन काल में नहीं लगाई जा सकती।

'बारे ते ललात...'—बचपन ही से माता-पिता से रहित हो द्वार-द्वार
मारा फिरता था, पश्चात् सन्तों की शिक्षा से श्रीराम-शरण हुआ; यथा—"दुखित
देखि संतन्ह कह्यो सोचै जनि मन माहूँ। तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न,

सरन गये रघुबर ओर निबाहूँ ।। तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति-प्रतीति बिनाहूँ । नाम की महिमा, सील नाथ को, मेरो भलो बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ ।।" (वि० २७५); तथा वि० २१६ एवं ७६ में इन्हीं भावों की पुष्टि है।

'तुलसी सो…'—तुलसीदास तो वही है, पर अब परम-समर्थ श्रीरामजी के उत्तम सेवकों में यह हो गया, जिसे देखकर ब्रह्मा-सरीखे गणक चिन्तित हैं; यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई । चाहत जासु चरन सेवकाई ।।" (मा० लं० २१) । इतना बड़ा महत्त्व नाम ने दिया है, उस पर कहते हैं—

'नाम, राम ! रावरो सयानो…'—मैं तृण के समान हलका था, उसे नाम ने पहाड़ से भी भारी (अत्यन्त बड़ा-प्रतिष्ठित) बना दिया, ऐसा बर्त्ताव स्वाभाविक तो नहीं कहा जाता । अतः, इसे चाहे तो नाम की अत्यन्त चतुरता कही जाय और चाहे पागलपना, इसे आप ही जाने ।

यहाँ रामनाम की पतित-पावनता की काष्ठा कही गई है ।

[७४]

वेद हू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत,
रामनाम ही सों रीझे सकल भलाई है ।
कासी हू मरत उपदेसत महेस सोई,
साधना अनेक चितई न चित लाई है ।।
छाछी को ललात जे, ते रामनाम के प्रसाद
खात खुनसात सोंधे दूध की मलाई है ।
रामराज सुनियत राजनीति की अवधि,
नाम रावरे जो दाम चाम की चलाई है ।।

शब्दार्थ—रीझे=मन लगाने से । खुनसात=क्रोध करते हैं, नाक-भौं सिकोड़ते हैं । सौंधे=परिपक्व सुगंधित, रुचिकर । दाम=सिक्का । दाम चाम की चलाई है (मुहा०)=अधिकार या अवसर पाकर मनमाना अंधेर कर रहा है ।

अर्थ—पुराणों और वेदों में भी कहा गया है और लोक में देखा जाता है कि श्रीरामनाम में ही मन लगाने में सबकी एवं सब भाँति की भलाई है । काशी में मरते समय भी श्रीमहादेवजी भी उसी (श्रीरामनाम का) उपदेश करते हैं । (मोक्ष देने के लिये) और अनेक साधनों की ओर उन्होंने चित्त लगाकर (ध्यान

देकर) देखा भी नहीं (यह तो वेदों-पुराणों की बातें हैं; आगे लोक की प्रत्यक्ष बात कहते हैं-)। जो मट्ठा पाने के लिये ही लालाइत रहते थे, वे अब श्रीराम नाम के प्रसाद से (इतने समृद्धिशाली हो गये हैं कि) पके हुए सुगंधित दूध की मलाई खाने में भी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। श्रीरामजी के राज्य में राजनीति की पराकाष्ठा सुनी जाती है; परन्तु, (हे श्रीरामजी !) आपके नाम ने तो चमड़े का सिक्का चला दिया है; (अर्थात् इसने अधमों को पुण्यात्माओं के पदों पर प्रतिष्ठित कर दिया है, इस प्रकार इसने मनमानी अंधेर मचा रक्खी है)।

विशेष—'बेद हू पुरान कही...'; यथा—"तुलसी सुमिरत राम, सुलभ फल चारि। वेद-पुरान पुकारत कहत पुरारि॥" (बरवा रा० ५६); "राम नाम कामतरु देत फल चारि रे। कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि, रे॥" (वि० ६७) वेद-कथन; यथा—"यस्य नाम महद्यशः न तस्य प्रतिमास्ति।" (यजुर्वेद); अर्थात् जिसका नाम और यश महान् है; उनकी बराबरी का और नहीं है। तथा वेद की शिरोभाग रूपा उपनिषदों का कथन है; यथा—"स्वभूर्ज्योतिर्मयोनंतरूपी स्वैनैव भासते।" से "यथा नामी वाचकेन नाम्नायोभिमुखो भवेत्। तथा बीजात्मको मंत्रो मंत्रिणोऽभिमुखो भवेत्॥" (श्रीराम तापनीय उ० २।१४-२१)—इन आठ श्रुतियों में रामनामार्थ की विशद व्याख्या है। पुराण-कथन; यथा—"नाम चिन्तामणी रामश्चैतन्यपराविग्रहः। पूर्णः शुद्धो नित्ययुक्तो न भिन्नो नाम नामिनोः॥" "राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनामता तुल्यं रामनाम वरानने॥ जपतः सर्व वेदांश्च सर्वमंत्रांश्च पार्वति। तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते॥" (पद्म पुराण, सी० ना० प्र० प्र०); तथा—"विष्णोरेकैकनामापि सर्व वेदाधिकं मतम्। तेभ्यश्चातन्तनामभ्योऽधिकं नाम्नां सहस्रकम्॥ तादृङ्नामसहस्रेण रामनामसमं मतम्॥" (स्कन्द पु० वैष्णव खंड, वै० मा० २१।५३-५४); अर्थात् भगवान् विष्णु का एक-एक नाम भी सम्पूर्ण वेदों से अधिक महत्त्वशाली माना गया है। ऐसे अनन्त नामों से अधिक है-भगवान् विष्णु का सहस्र-नाम; उस सहस्र नाम के समान राम राम माना गया है।

'कासी हू मरत उपदेसत...'; यथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अविनासी॥" (मा० कि० ६); "मरत महेस उपदेस हैं कहा करत, सुरसरि-तीर कासी धरम धरनि। रामनाम को प्रताप कहैं हर जपैं आप,

जुग-जुग जानै जग बेद हू बरनि ॥" (वि० १८४); अर्थात् काशी स्वयं धर्ममय भूमि है, पुनः समीप ही परम पावन गंगाजी हैं, मोक्षोपयोगी इन साधनों की ओर न देख कर वे प्राणियों की सद्गति के लिये उन्हें श्रीरामनाम का ही मरते समय उपदेश देते हैं। इसकी कथा श्रीराम तापनीय उपनिषत् में है।

'छाँछी को ललात जे ते…'—भाव यह कि जो पतित सुकर्म रूपी मट्ठे को ललचाते थे, वे श्रीरामनाम के प्रसाद से पराभक्ति के भोक्ता हो गये, तब उन्हें परमधर्म रूपी सोंधे दूध की मलाई रूपी ज्ञान नीरस लगता है, इससे उसकी चर्चा पर खुनसाते हैं। जैसे बड़े धनवान् बहुत पक्व दूध की मलाई से अप्रसन्न होते हैं कि अधिक पक्व होने पर दूध की माधुरी कम पड़ जाती है। तथा—"चाटत रह्यों स्वान पातरि ज्यों कबहूँ न पेट भरो। सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो ॥" (वि० २२६)।

'राम राज सुनियत…'—श्रीरामजी के राज्य में राजनीति की पराकाष्ठा थी, इससे यथायोग्य वर्त्ताव होता था; यथा—"रामराज बैठे त्रयलोका। हरषित भए गए सब सोका ॥ बयर न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई ॥" से "विधु महिपूर मयूखन्ह, रवितप जेतनहि काज। माँगे बारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज ॥" (मा० उ० २३) तक।

श्रीराम राज्य में पैसे, रुपये और मोहर आदि सिक्के तो थे नहीं; यथा "बस्तु बिनु गथ पाइये।" (मा० उ० २७); किन्तु परमार्थ पक्ष के सिक्के-पैसा रूपी कर्म काण्ड, रुपया रूपी नवधा आदि भक्ति एवं योग आदि तथा मोहर रूपी सरसज्ञान पर्याय पराभक्ति-चलते थे। यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा, पावहिं सुख, नहिं भय सोक न रोग ॥" (मा० उ० २०); इन सिक्कों का यथायोग्य ही फल मिलता था।

परन्तु आपका नाम तो कर्म, ज्ञान और उपासना हीन (ताँबा, चाँदी और सोना-रहित) चमड़े की चकती के समान अधमों को भी उन्हीं मोहर आदि उत्तम सिक्कों के फल दे रहा है। जैसे सर्वतंत्र स्वतंत्र राजा चमड़े पर भी मोहरों के अङ्क छाप कर उन्हें मोहरों के स्थान पर चला दे, वैसे ही नाम ताँबा, चाँदी एवं सोने के समान कांडत्रय की अपेक्षा न रख स्वतंत्र रूप से मोक्ष पद दे रहा है। नाममात्र से एवं उसके भी जैसे-तैसे उच्चारण मात्र से लोग सुकृत एवं मोक्ष

के भागी होते हैं—प्रमाण कुछ छंद ७१ के विशेष में लिखे गये हैं; तथा—
"अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ॥" (मा०
बा० २५); "स्वपच सबर खस जवन जड़, पाँवर कोल-किरात। राम कहत
पावन परम होत भुवन बिख्यात॥ नहिं, अचरज जुग-जुग चलि आई। केहि न
दीन्ह रघुबीर बड़ाई॥ रामनाम-महिमा सुर कहहीं।" (मा० अ० १६४)।

अलङ्कार—लोकोक्ति एवं व्याजस्तुति।

[७५]

सोच संकटनि सोच संकट परत, जर
जरत, प्रभाउ नाम ललित ललाम को।
बूड़ियो तरति, बिगरियो सुधरति बात,
होत देखि दाहिनो सुभाउ बिधि बाम को॥
भागत अभाग, अनुरागत बिराग, भाग
जागत आलसि तुलसीहू-से निकाम को।
धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारि होति,
आई मीचु मिटति जपत रामनाम को॥

शब्दार्थ—धारि = आक्रमण करनेवाला (लुटेरों का) झुंड। गोहारि =
रक्षक। मीचु (सं० मृत्यु, प्रा० मिच्चु) = मौत।

अर्थ—सुन्दर रत्न रूप श्रीरामनाम का ऐसा भारी प्रभाव है कि इससे
शोचों और संकटों को भी शोच और संकट पड़ जाता है (मिट जाते हैं) ज्वर भी
जलने लगता है (दूर हो जाता है) डूबी हुई (नाव) भी तर जाती है, बिगड़ी
हुई बात भी सुधर जाती है और नाम-जापक को देख कर प्रतिकूल विधाता का
स्वभाव भी अनुकूल हो जाता है। अभाग्य भग जाता है, वैराग्य प्रेम करने
लगता है और तुलसीदास जैसे आलसियों और निकम्मों का भी भाग्य-उदय हो
जाता है। (आक्रमण करनेवाली लुटेरों की) सेना भी लौट कर रक्षा करने
वाली और हितकारिणी हो जाती है। (यहाँ तक कि) श्रीरामनाम का जप
करने से आई हुई मृत्यु भी मिट जाती है (; अर्थात् सारे अमंगल मंगल हो
जाते हैं)।

विशेष—'सोच संकटनि···'—यहाँ श्रीरामनाम को सुन्दर रत्न कह कर

इसके गुण कहते हैं; यथा—"पायों नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं।" (वि० १०५); चिन्तामणि जहाँ रहता है, उसके इस प्रकार गुण रहते हैं; यथा—"राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर।।…मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहि ताहि बुतावा।।" से "व्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।।" (मा० उ० ११६) तक। वैसे ही यहाँ कहते हैं कि जहाँ यह रत्न रहता है, वहाँ शोचों और संकटों को भी शोच और संकट आ जाते हैं, अर्थात् वे भय से भग जाते हैं। शोच और संकट आधि (मानसी रोग) हैं, ये दूर हो जाते हैं। ज्वर को ज्वर आ जाता है। ज्वर आदि शारीरिक रोग हैं, ये श्रीरामनाम के जप से दूर हो जाते हैं। यहाँ ज्वर से त्रिविध ज्वर (त्रिविध ताप) का भी अर्थ है; यथा—"राम रावरो नाम साधु सुरतरु है। सुमिरे त्रिविध घाम हरत पूरत काम सकल सुकृत सरसिज को सरु है।। लाभ हू को लाभ, सुख हू को सुख सरबस, पतित पावन डरहू को डरु है।" (वि० २५१); "तुलसी जागे ते जाय ताप तिहुँ तायरे। रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे।।" (वि० ७३)। "राम राम राम जीय जौ लौं तून जपि है। तौ लौं तू कहूँ ही जाय तिहूँ ताप तपि है।" (वि० ६८); "ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपाल तेरे नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिये।।" (छन्द ७६)।

रत्न जहाँ रहता है, उसका गुण वहाँ स्वतः प्रकट होता है, वैसे ही राम नाम का महत्त्व जान कर अथवा बिना जाने भी जप करने पर फल मिलता है; यथा—"जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।" (वि० १६०)। अजामिल-यवन आदि इसके उदाहरण हैं। अतः, नाम-निष्ठा से दुष्ट कर्म-भोग का शोच और यम-यातना के संकट दूर हो जाते हैं। लोक में तीनों तापों का भय भी नहीं रहता।

'बूड़ियो तरति…'—भव-सागर में डूबी हुई बुद्धि भी उससे ऊपर होकर तैरने लगती है; अर्थात् निर्लिप्त हो जाती है। अथवा, कलि-प्रेरणा से परीक्षित की बुद्धि पाप में डूब चुकी थी, परन्तु श्रीरामनाम के अर्थाभूत चरित में रति होने से वही बुद्धि उन्हें तारनेवाली हो गई। 'बिगरियो सुधरति…'—श्रीसुग्रीवजी से बात बिगड़ गई थी, उनकी सुधर गई। तथा नाम-जापक पर बिमुख-विधाता भी

सम्मुख हो जाते हैं; यथा—"रामनाम सों बिराग, जोग, जप जागि है। बाम बिधि भालहु न कर्म दाग दागि है ॥" (वि० ७०); "राम ते अधिक नाम कर तब जेहि कियो नगर गत गामो। भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो ॥" (वि० २२८); अर्थात् रामनाम-निष्ठा से ब्रह्मा प्रतिकूल भी अनुकूल हो जाते हैं; क्योंकि नाम-जापक की पापमय प्रकृति शुद्ध होकर अनुकूल हो जाती है। इसके भावानुसार ईश्वर-प्रवृत्ति का होना भी इस प्रकार संगत हो जाता है; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सो, ज्यों दरपन मुख कांति ॥" (वि० २३३)।

'भागत अभाग, अनुरागत बिराग···'; यथा—"भाग है अभागेहू को, गुन, गुनहीन को।" (वि० ६६); "रामनाम सों बिराग जोग जागि है। बाम-बिधि भालहू न कर्म दाग दागि है ॥" (वि० ७०); "भक्ति-बैराग्य-विज्ञान-सम-दान-दम, नाम-आधीन साधन अनेकम् ॥" (वि० ४६)। 'भाग जागत आलसि तुलसिहु से निकाम के।'; यथा—"छाँछी को ललात जे, ते रामनाम के प्रसाद खात खुनसात सोंधे दूध की मलाई है ॥" (छंद ७४); "पतित-पावन रामनाम सों न दूसरो। सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी-सों ऊसरो ॥" (वि० ६६); "साधन बिनु सिद्धि सकल बिकल लोग लपत। कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम नगर खपत ॥" (वि० १३०)।

'धाई धारि फिरि कै···'—जैसे नामजापक श्रीहनुमान्‌जी पर लङ्किनी ने आक्रमण किया था, वही उनकी सहायिका बन गई; यथा—"नाम लङ्किनी एक निसिचरी।" से "प्रविसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा ॥" (मा० सुं० ३-४) तक। इस प्रसंग की पूर्ति पर कहा भी गया है; यथा—"गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥" इत्यादि।

इस छन्द में श्रीरामनाम का 'मङ्गल भवन-अमङ्गलहारी' स्वरूप कहा गया है, यथा—"मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥" (मा० बा० ६); "सुभ को सुभ, मोद मोद को 'राम' नाम सुनायो ॥" (गी० बा० ६)।

'आई मीचु मिटत जपत रामनाम के'—जैसे श्रीप्रह्लादजी के लिये मृत्यु के समान अनेक बाधाएँ आईं और वे रामनाम के प्रसाद से व्यर्थ हो गईं। पुत्र के नाम के बहाने भी भगवान् का नाम लेने पर मृत्यु के लिये आये हुए

यमदूत भी लौट गये—ये दोनों कथाएँ पूर्व लिखी जा चुकी हैं—छन्द ७-८ देखिये।

[७६]

आँधरो, अधम, जड़, जाजरो जरा जवन,
सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग मैं।
गिरो, हिये हहरि, 'हराम हो हराम हन्यो'
हाय-हाय करत परीगो काल-फँग मैं॥
तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो
नाम के प्रताप, बात बिदित है जग मैं।
सोई रामनाम को सनेह सो जपत जन
ताकी महिमा क्यों कही है जाति अग मैं॥

शब्दार्थ—जवन (यवन)=म्लेच्छ, मुसलमान। ढका=धक्का।

अर्थ—एक शूकर के बच्चे ने किसी अंधे, नीच, मूर्ख और वृद्धावस्था के कारण जर्जर (निर्बल) शरीर वाले यवन को धक्का देकर मार्ग में ढकेल दिया, वह गिर गया और हृदय में डर के मारे घबरा कर 'अहो! हराम ने मार डाला हराम (शूकर) ने मार डाला' इस प्रकार कहा, तथा हाय-हाय करता हुआ वह काल के फँदे में पड़ गया; अर्थात् मर गया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वह श्रीरामनाम के प्रताप से शोक-रहित होकर त्रिलोकीनाथ भगवान् श्रीरामजी के लोक (साकेतधाम) को गया; यह बात सारे संसार में प्रसिद्ध है। उसी श्रीराम नाम को जो मनुष्य स्नेहपूर्वक जपता है, उसकी अगाध महिमा कैसे कही जा सकती है?

विशेष—'आँधरो अधम…'—इसकी कथा वाराह-पुराण में है वहीं का एक प्रसिद्ध श्लोक है, यथा—"दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जरा-जर्जरो हारामेण हतोस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्। तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो नाम्नः प्रभावादहो किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यान्ति रामास्पदम्।" (सी० रा० ना० प्र० प्र० से उद्धृत, अर्थात् (श्रीशिवजी ने श्रीपार्वतीजी से कहा है-) दैवयोग से एक म्लेच्छ (यवन) जो कि बुढ़ापे से जर्जर था, उसे एक शूकर के बच्चे ने मारा, "हाराम (हराम=शूकर) ने मुझे मारा एवं हा! राम ने मुझे

मारा" ऐसा कहता हुआ वह भूमि पर गिर पड़ा और शरीर छोड़ दिया। वह गौ के खुर के समान भवसागर को तर गया। अहो! श्रीरामनाम का प्रभाव आश्चर्य स्वरूप है। यदि श्रीरामनाम के प्रेमी श्रीरामजी के धाम को जाते हैं तो इसमें कौन आश्चर्य है? श्रीगोस्वामीजी ने इसी का आधार लेकर यह छन्द लिखा है किन्तु 'आँबरो' आदि विशेषणों से आपने उसमें कई विशेषताएँ दिखला दी हैं, साथ ही 'नाम्नः प्रभावात्' के स्थान पर अनुवाद रूप 'नाम-प्रभाव' न लिख कर 'नाम के प्रताप' लिख कर इसमें नई जान डाल दी है। जो काम किसी के शरीर एवं उसके अंगभूत सेवक आदि के द्वारा हो, वह उसका प्रभाव है, और जो काम किसी के आतङ्क से हो जाय, उसे उसका प्रताप कहते हैं, यहाँ 'हराम हो हराम हन्यो' इस वाक्यखंड में 'हराम' पद शूकर के ही लिये है, इसमें 'ह' पद को पृथक् कर 'हा!' का रूप देना एवं आगे के 'राम' पद को श्रीराम नाम परक माना जाना, यह श्रीरामनाम का प्रताप है। अपने नाम की लज्जा रखने के लिये श्रीरामजी ने वैसा मान लिया है, यथा—"सो धौं को जो नाम लाज ते, नहिं राख्यो रघुबीर।..." (वि० १४४)—यह पूरा पद देखने योग्य है। अजामिल की कथा से इसमें कई विशेषताएँ हैं, वह जाति का ब्राह्मण था और यह यवन (म्लेच्छ), उसने 'नारायण' इस नाम का शुद्ध उच्चारण किया है। इसने 'हाराम' एवं 'हराम' मात्र कहा है। उसकी यमदूतों से रक्षा हुई है, फिर पीछे अजामिल ने हरिद्वार में एक वर्ष हरि-भजन करके मुक्ति पाई है और यवन ने तो तत्काल उसी 'हराम' उच्चारण मात्र से सद्गति पाई है।

इस कथा का पारमार्थिक लक्ष्य यह है कि यवन (यौन) के समान योनि-रत (व्यभिचारी) जीव है। म्लेच्छ के समान मलिन है। परन्तु श्रीरामनाम रटता है, तब भी उसकी वृत्ति व्यभिचार पर रहती है। वह जब मुमुक्षु हो सत्संग द्वारा काम विकार को मलभोगी शूकर रूप समझ कर इसे हराम (अत्यन्त त्याज्य) मान इसके स्पर्श रूप धक्के से डरता हुआ श्रीरामनाम की शरण लेता है, नाम जपता है और पूर्व के स्पर्श विषय पर ग्लानि कर और घबरा कर भय-भीत रहता है, तो श्रीरामजी इसके नामार्थ पर वृत्ति एवं अन्तःकरण शुद्धि की अपेक्षा न कर अपनी निर्हेतु-करुणा से इसे सद्गति दे देते हैं। ऐसे पामर जीवों को सद्गति देने में नाम का प्रताप है।

इस लक्ष्य पर अपने करोड़ों जन्मों के काम-विकारों की शुद्धि का भरोसा रख कर श्रीरामनाम-निष्ठा का यथाशक्ति निर्वाह करना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है, यथा—"आभीर जवन किरात खस श्वपचादि अति अघ रूप जे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते॥" (मा० उ० १३०)।

[७७]

जाप की न तप खप कियो, न तमाइ जोग,
जाग न बिराग, त्याग, तीरथ न तनको।
भाई को भरोसो न खरो-सो बैरु बैरीहू सों,
बल अपनो न, हितू जननी न जनको॥
लोक को न डर, परलोक को न सोच, देव-
सेवा न सहाय, गर्व धाम को न धन को।
राम ही के नाम ते जो होइ सोई नीको लागै,
ऐसोइ सुभाउ कछु तुलसी के मन को॥

शब्दार्थ—खप कर = पच कर, कष्ट सह कर। तमाइ (तमअ अरबी) = लालच। तन को = थोड़ा भी, कुछ भी। खरो-सो = तृण भर भी, कुछ भी।

अर्थ—मैंने न तो (मन्त्र का) जप किया, न कष्ट सह कर तपस्या की, और न मुझे कुछ भी योग (के द्वारा सिद्धि-प्राप्ति), यज्ञ, वैराग्य, त्याग एवं तीर्थ का ही लालच है। मुझे भाई का भरोसा नहीं है और न वैरी से भी कुछ भी वैर है। मुझमें अपना बल नहीं है और न मेरे अपने हितैषी माता-पिता ही हैं। न मुझे इस लोक का डर है, न परलोक की ही चिन्ता है। आज तक न मैंने किसी देवता की सेवा की कि वह मेरी सहायता करता है, न मुझे घर का गर्व है और न धन का। इस तुलसीदास के मन का कुछ ऐसा ही स्वभाव पड़ गया है कि श्रीरामजी के ही नाम से जो कुछ भी हो, वही इसे अच्छा लगता है।

विशेष—प्रथम चरण में सब साधनों का भरोसा त्याग है, दूसरे में माता, पिता, भाई एवं अपने बल का भरोसा तथा शत्रु के वैर के डर का त्याग है। तीसरे चरण में लोक-परलोक की चिन्ता, देव आदि का आश्रय एवं धन-धाम के गर्व का त्याग है। तब चौथे चरण में नाम-निष्ठा में पूर्ण अनन्यता कही गई है; क्योंकि जब तक अन्य-आश्रय का कुछ भी भरोसा एवं किसी का भी डर रहता है,

तब तक इष्ट देव में विश्वास एवं निर्भरता नहीं सिद्ध होती और पूर्ण विश्वास एवं निर्भरता के विना शरणागति की सिद्धि भी नहीं होती।

'राम ही के नाम तें...'—इसी प्रकार की अनन्यता रूप के विषय में आगे छन्द ११० में है। आगे भी इसी नाम-निष्ठा की पुष्टि है।

[७८]

ईस न, गनेस न, दिनेस न, धनेस न,
सुरेस सुर गौरि गिरापति नहिं जपने।
तुम्हरेई नाम को भरोसो भव तरिबे को,
बैठे उठे जागत बागत सोए सपने॥
तुलसी है बावरो सो रावरोई, रावरी सौं,
रावरेऊ जानि जिय, कीजिये जु अपने।
जानकी जीवन! मेरे, रावरे बदन फेरे,
ठाउँ न, समाउँ कहाँ, सकल निरपने॥

अर्थ—मुझे शिवजी, गणेशजी, सूर्य भगवान्, कुवेरजी, देवों के स्वामी इन्द्र, देवता, गौरि और वाणी के स्वामी बृहस्पति का जप करना नहीं है। संसार सागर से तरने के लिये उठते-बैठते, जागते, चलते, सोते हुए—एवं स्वप्न देखते हुए, केवल आपके ही नाम का भरोसा है। यह तुलसीदास यद्यपि बावला है, तथापि आपकी शपथ, यह आपका ही (शरणागत) है। इसकी इस अनन्य-निष्ठा को हृदय से जानकर आप भी इसे अपना कर लीजिये; अन्यथा; हे श्री-जानकीजी के प्राणाधार श्रीरामजी! आपके मुख फेर लेने (विमुख होने) पर मेरे लिये कहीं भी ठिकाना नहीं है, मैं कहाँ प्रवेश करूँगा? क्योंकि सभी तो विराने हैं।

विशेष—'ईस न...'—शिवजी महादेव हैं, गणेशजी अग्रपूज्य हैं, सूर्य भगवान् जगत् भर के संध्या आदि से आराध्य हैं, कुवेर धनाधिपति हैं, इन्द्र देवराज ही हैं, देवता मनुष्यों के पूज्य हैं, गौरि पञ्चदेवों में हैं और बृहस्पति इन्द्र के भी गुरु हैं। 'गिरापति' इस पद से कोई-कोई ब्रह्माजी का अर्थ करते हैं, पर मुझे इसका प्रमाण नहीं मिला। बृहस्पति का प्रमाण है; यथा—"बृहस्पतिः सुराचार्यो गीर्पतिर्धिषणो गुरुः" (अमरकोष)।

'तुम्हरेई नाम…'—सभी अवस्थाओं में मुझे नाम का ही भरोसा है।

'तुलसी है बावरो…' देवताओं के अधिकारानुसार उनकी उपासना न करना भले ही इसका पागलपन हो, परन्तु इसकी यह वृत्ति आपकी शरणागति पर विश्वास कर आपके ही बल पर है, परन्तु इस का निर्वाह तभी हो जब आप अपनी ओर से भी इसे अपना लें, अन्यथा मैं कहीं का न रहूँगा।

'जानकी जीवन ! मेरे…'—'जानकी-जीवन' इस सम्बोधन से पूर्वोक्त छन्द ३६ में कहे हुए 'जानकी-जीवन-जान' पर लक्ष्य है। भाव यह कि मेरी भी वही दशा है। मेरी सदद्विवेकिनी बुद्धि प्रवृत्ति रूपी लंका में मोहरूपी रावण के द्वारा वन्दी है। इसने भी उसी लक्ष्य से आपके नाम की शरण ले रक्खी है। यदि आप कृपा दृष्टि न करेंगे तो मैं कहीं का न रह जाऊँगा। क्योंकि जगत् में आपके अतिरिक्त सभी विराने हैं; यथा—"ऐसेहि जनम समूह सिराने। प्राननाथ रघु-नाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने॥" (वि० २३५); "ठोंकि बजाय लखे गजराज कहा लौं कहौं केहि सों रद काढ़े। आरत के हित नाथ अनाथ के राम सहाय सही दिन गाढ़े॥" (छंद ५४) "जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ, देव ! दुखित-दीन को ?।" (वि० २७४) मैंने खोटा समझ कर सबसे सम्बन्ध तोड़ रक्खा है, इसीसे सभी मेरे विराने हैं।

[७६]

जाहिर जहान में जमानो एक भाति भयो,
बेंचिये बिबुध धेनु रासभी बेसाहिये।
ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपाल तेरे,
नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिये॥
तुलसी तिहारो मन-बचन-करम, तेहि
नातो नेम-नेह निज ओर ते निबाहिये।
रंक के निवाज रघुराज राजा राजनि के,
उमर दराज महाराज तेरी चाहिये॥

शब्दार्थ—जाहिर=प्रकट। ज़माना=१ समय, २ प्रताप या सौभाग्य का समय, ३ दुनियाँ, संसार। रासभी=गदही। दराज (फ़ा०)=दीर्घ।

अर्थ—संसार में प्रकट है कि 'कामधेनु बेंच कर गदही खरीदी जाय' इस

वृत्ति की एक प्रकार की दुनियाँ हो रही है। ऐसे भयङ्कर कलिकाल में भी, हे कृपालो! आपके नाम के प्रताप से त्रिताप (दैहिक, दैविक और भौतिक तापों) से किसी का भी शरीर दग्ध नहीं होता। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं तो मन, वचन और कर्म से आपका (शरणागत) हूँ। अतः, आप उसके इस सम्बन्ध, नियम और स्नेह को अपनी ओर से आप निर्वाह करा दें। हे दीन-दयालो! हे राजाओं के राजा श्रीरघुनाथजी! हे महाराज! मुझे तो आपकी दीर्घायु चाहिये (कि आप सदैव इस राजगद्दी पर विराजमान रहें)।

विशेष—'**जाहिर जहान में**…'—और युगों में सुकृती और दुष्कृती दोनों भाँति के लोग रहते थे, किन्तु इस कलियुग में एक भाँति की ही दुनियाँ हो रही है। सभी सदसद्विवेकिनी बुद्धि रूपिणी कामधेनु को तो विषय-सुख रूपी द्रव्य लेकर बेच देते हैं और व्यावहारिक बुद्धि को श्रम रूपी द्रव्य देकर सम्पन्न करते हैं। भाव यह कि यदि कुछ पारमार्थिक गुण प्राप्त होते हैं तो उन्हें उदर-भरने का साधन बना लेते हैं और फिर व्यावहारिक विद्याओं के अर्जन में श्रम करते हैं। इस प्रकार के लोगों से पूर्ण इस कराल कलिकाल में भी आपकी कृपा से आप के नाम-जापक त्रिताप से बचे हुए हैं; यथा—"जो मन, प्रीति-प्रतीति सों राम नाम हि रातो। तुलसी राम प्रताप ते तिहुँ ताप न तातो॥" (वि० १५१); "रामनाम-महिमा करै कामभूरुह आको। साखी बेद पुरान है, तुलसी तन ताको।" (वि० १५२)। "कलि नाम कामतरु राम को। दलनिहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घन घाम को॥" (वि० १५६)।

'**तुलसी तिहारो**…'—जो मन, वचन, कर्म से शरणागत होता है, उसके उपाय रूप श्रीरामजी हो जाते हैं, यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत्। शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाद्विवेकिभिः॥" (नारद पांचरात्र), इस रीति के अनुसार आप मेरे सम्बन्ध आदि का निज ओर से, केवल अपनी कृपा दृष्टि से निबाहिये, क्योंकि मुझमें शरणागति की वृत्ति की भी दृढ़ता नहीं है। शरणागति में 'तवास्मीति च याचते' का यही भाव है कि भक्त 'मैं आपका हूँ' इस भाव की दृढ़ता की याचना इष्ट से करता है। वही याचना यहाँ है कि मैं जो मन, वचन, कर्म से आपका हूँ, इसे अपनी ओर से ही निबाहिये (मुझमें कोई वैसी योग्यता नहीं है,) तभी मैं सफलता पा सकता हूँ। गीता ७।२१-२२ में यह नियम भी

कहा गया है कि भक्त की श्रद्धा युक्त निष्ठा को भगवान् निबाहते हैं और फिर उसका फल भी देते हैं।

'रंक के निवाज...'—बड़े बड़े राजाओं के राजा हैं और दीनों पर दया भी करते हैं। अतएव आप बहुत दिन जियँ—यह कवि भाव से आशीर्वाद है। 'रंक निवाज', यथा—"रंक निवाज रंक राजा किये, गए गरब गरि गरि गनी। राम प्रनाम महा महिमा खनि सकल सुमंगलमनि जनी॥" (गी० सुं० ३६)।

[८०]

स्वारथ सयानप, प्रपंच परमारथ,
कहायो राम रावरो हौं, जानत जहानु है।
नाम के प्रताप, बाप! आजु लौं निबाही नीके,
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजानु है॥
कलि की कुचालि देखि दिन-दिन दूनो देव!
पाहरूई चोर हेरि हिय हहरानु है।
तुलसी की, बलि, बार-बार ही सँभार कीबी,
जद्यपि कृपानिधान सदा सावधानु है॥

अर्थ—मेरे स्वार्थ-साधन करने में चतुराई और परमार्थ के साधन में पाखण्ड भरा रहता है। तो भी, हे श्रीरामजी! मैं आपका कहलाता हूँ, इस बात को सारा संसार जानता है। हे पिताजी! आपने अपने नाम के प्रताप से आज तक भली-भाँति निबाह दी है और, हे गोसाईं! आगे के लिये भी आप समर्थ एवं सुजान स्वामी हैं ही (तो निबाह देंगे, ऐसी आशा है)। परन्तु, हे देव! कलियुग की कुचालें दिन-दिन दूनी बढ़ती देखकर और पहरेदारों को ही चोर देखकर हृदय दहल गया है। मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ, इस तुलसीदास की बार-बार सार-सँभार कीजियेगा, यद्यपि, हे कृपानिधान! आप इसके रक्षण में सदा सन्नद्ध हैं।

विशेष—'स्वारथ सयानप...'—मेरे स्वार्थ और परमार्थ दोनों में दोष भरे हैं, फिर भी मैं आपका कहलाता (शरणागत कहलाता) हूँ, सारा संसार इसे जानता है; अर्थात् चराचर रूप से आप ही ने इसकी ख्याति कर रक्खी है। इससे सिद्ध है कि मुझ झूठे भक्त को भी आपने महत्त्व दे रक्खा है।

'नाम के प्रताप, बाप !…'—जैसे पिता अपने पुत्र को वात्सल्य से उत्तम ही बनाना चाहता है, वैसे ही आपने मुझे अपने नाम में लगाकर उसके प्रताप से आज तक मेरी प्रतिष्ठा निबाह दी है, अभी तक भली निबाही है तो आगे भी निबाहेंगे; क्योंकि आप सबल और सुजान स्वामी हैं; यथा—"स्वामि सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥ प्रनत पाल पालहिं सब काहू। देव दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥ अस मोहिं सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचार न सोच खरो-सो॥" (मा० अ० ३१३)—यह श्रीभरतजी ने कहा है। सुजानता से आप मेरी अपेक्षाओं को जानेंगे और सबलता से उन्हें पूरी करेंगे, आपमें दोनों गुण साथ ही हैं; अन्यत्र प्रायः दोनों बातें नहीं मिलतीं; यथा—"प्रभु अकुशल कृपाल अलायक जहँ-जहँ चितहिं डोलावौं।" (वि० २३२)।

'कलि की कुचालि देखि…'—कलियुग अपने स्वभाव से कुचाल करता है। हृदय के संरक्षक भजन को यह दम्भ रूप में परिणत कर देता है। वह रही-सही सुकृत को भी चुरा ले जाता है; यथा—"करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दया निधि दंभ लेत अँजोरि॥" (वि० १५८)—यही पहरेदार का चोर होना है। इस प्रकार की हानि से हृदय दहल जाता है। अतः, आपसे भयभीत होकर रक्षणार्थ प्रार्थना करता हूँ कि मेरी सँभाल रक्खें, जिससे ऐसी अनवधानता न आने पावे। आप सदा से सावधान हैं, इसीसे अभी तक का संरक्षण होता आया है, यह आपकी कृपा-निधानता है।

यहाँ कृतज्ञता के साथ गोप्तृत्ववरण शरणागति है।

[८१]

दिन-दिन दूनो देखि दारिद, दुकाल, दुख,
दुरित, दुराज सुख-सुकृत सकोच है।
माँगे पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
काल की करालता, भले को होत पोच है॥
आपने तो एक अवलम्ब अंब डिंभ ज्यों,
समर्थ सीतानाथ सब संकट बिमोच है।
तुलसी की साहसी सराहिये कृपालु, राम!
नाम के भरोसे परिनाम को निसोच है॥

शब्दार्थ—दुरित = पाप। दुराज=दुष्ट राज्य, कुराज्य। अंब=माता। डिंभ=बच्चा। पोच=बुरा। दिन-दिन=दिनोदिन, प्रतिदिन।

अर्थ—दिनोदिन दरिद्रता, अकाल, दुःख, पाप और कुराज्य (राज्य विप्लव) दूने होने (बढ़ते) जा रहे हैं, यह देख कर सुख और पुण्य संकुचित हो रहे हैं। समय की भयंकरता ऐसी हो गई कि बड़े-बड़े पापी डाँट-डपट कर माँगने से अपना दाँव पा लेते हैं, परन्तु अच्छे मनुष्यों का बुरा ही होता है। जैसे बच्चे को एकमात्र माँ का ही सहारा होता है, वैसे ही अपने को तो समस्त संकटों से छुड़ाने वाले समर्थ श्रीसीतानाथ का ही सहारा है। हे कृपालु श्रीरामजी! इस तुलसीदास के साहस की सराहना कीजिये, जो कि यह (आपके) नाम के भरोसे परिणाम के प्रति निश्चिन्त है।

विशेष—'दिन-दिन दूनी···'; यथा—"आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है। प्रजा पतित, पाखंड-पाप-रत, अपने-अपने रंग रई है॥ साहिति सत्य सुरीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है॥ सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है॥ परमारथ स्वारथ साधन भये अफल सकल नहिं सिद्धि सई है। कामधेनु धरनी कलि-गोमर-बिबस बिकल जामति न बई है॥ कलि करनी बरनिये कहाँ लौं करत फिरत बिनु टहल टई है।" (वि० १३९)।

'आपने तो एक अवलंब···'—इस चरण में अपनी अनन्य वृत्ति की शरणागति कही है; यथा—"सेवक सुत पति-मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥" (मा० कि० २)। 'समर्थ सीतानाथ'; यथा—"साहिब सीतानाथसो, सेवक तुलसीदास॥" (मा० बा० २८); "उमा-रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥ जासु कृपाकटाच्छ सुर, चाहत चितवन सोइ। रामपदारविंदरति करत सुभावहि खोइ॥" (मा० उ० २३-२४)। 'सब संकटविमोचु'; यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); इत्यादि।

'तुलसी की साहसी···'—इसमें नामाधार पर पूर्ण निर्भरता कही गई है। पूर्ण विश्वास बिना ऐसी निर्भरता नहीं होती, जैसे शिवजी ने नाम के विश्वास पर हालाहल पी लिया है; यथा—"नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥" (मा० बा० १८); इसी से वे विश्वास रूप कहे गये हैं; यथा—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ ॥" (मा० ब्रा० मं०)। शिवजी ने श्रीरामनाम के साथ विष पी लिया, वह अमृत का काम किया, वैसे ही श्रीगोस्वामी-जी नाम-जप के साथ विषय-सम्बन्धी आयु (श्वासें) पान करते हुए इसे (आयु को) अमृत बनाते जायँगे। सारी आयु पीकर नित्य अमरता पा जायँगे। श्रीरामनाम में 'र' अग्नि बीज है। 'म' चन्द्र बीज है। वाणी पर भी अग्नि का निवास है। रकाराग्नि उसे प्रज्वलित करता है। चन्द्रबीज मकार सब ओषधि-रस से पूर्ण है। इसके संयोग से विषयिणी आयु रूपी कालकूट अमृत हो जाती है। आयु के अंत तक माम रत रहने से श्रीराम प्राप्ति हो जाती है, यही नित्य अमरत्व है। इस प्रकार परिणाम के प्रति निश्चिन्त हैं। यथा—"अति अनन्य जे हरि को दासा। रटैं नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥ तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सब लोई॥" (वैराग्य संदीपनी ४०)।

[८२]

मोह-मद-मात्यो, रात्यो कुमति-कुनारि सो
बिसारि बेद-लोक-लाज, आँकरो अचेतु है।
भावै सो करत, मुँह आवै सो कहत, कछु
काहू की सहत नाहिं, सरकस हेतु है॥
तुलसी अधिक अधमाई हू अजामिल तें
ताहू में सहाय कलि कपट-निकेतु है।
जैबे को अनेक टेक, एक टेक ह्वैबे की, सो
पेट-प्रिय-पूत-हित रामनाम लेतु है॥

शब्दार्थ—आँकरो = १–गहरा, २–बहुत अधिक। सरकस (फ़ा० सर-कश)=१ उद्धत, उद्दंड, २ विरोध में शिर उठानेवाला। टेक = बानि, स्वभाव।

अर्थ—यह तुलसीदास मोह रूपी मदिरा से उन्मत्त रहता है, कुमति रूपी कुलटा स्त्री में रत है और लोक-वेद की लज्जा का त्याग कर बड़ा अचेत (बेसुध, बेवरवाह) रहता है। इसे जो भाता है, वही कर डालता है (उसमें सदसद् का विचार नहीं करता) और जो मुँह में आता है, वही कहता है (बोलने में विचार नहीं है) तथा उद्दण्डता के कारण यह किसी की कुछ नहीं सहता। इसमें अधमाई भी अजामिल से अधिक है, उसमें भी कपट का स्थान कलिकाल इसका

सहायक है (वह उक्त मोह, कुमति और निर्लज्जता आदि में सहायता से वृद्धि करता है)। इसके जाने के (नष्ट होने के) अनेक स्वभाव हैं, एक ही स्वभाव इसके होने (बनने) का है, वह यह कि जो यह पेट रूपी प्यारे पुत्र के लिये (पालनार्थ) श्रीरानाम लेता हैं।

विशेष—इस छन्द में अजामिल से रूपक बाँधा गया है। अजामिल की कथा अयोध्या कांड छंद ५ में लिखी जा चुकी है। अजामिल मदिरा पीता था, मैं मोह रत हूँ; यथा—"जिन्ह कृत महामोह मद पाना।" (मा० बा० ११४); वह वेश्या में रत था, मैं कुमति में रत हूँ। कुमति वेश्या के समान है; यथा—"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहु शाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धियोऽव्यवसायिनाम्॥" (गीता २।४१); निष्काम कर्मों द्वारा आत्मनिष्ठ बुद्धि एक होती है और सकाम कर्मों के द्वारा विषय रत बुद्धि इन्द्रिय-देवों में रत होने के कारण वेश्या-सी बहु शाखा वाली होती है। उसने लोक-वेद की लज्जा छोड़ दी थी। मैं भी साधु वेष बनाकर संतों का-सा बर्त्ताव नहीं करता, इससे लोक हँसता है, मुझमें संतों के गुण नहीं हैं, इससे वेद पक्ष की हँसी है; यथा—"तुलसी जो पै राम सों, नाहिं न सहज सनेह। मूँड़ मुँड़ायो बादि ही; भाँड़ भयो तजि गेह॥" (दोहावली ६३)। 'आँकरो अचेतु है'—मनुष्य शरीर श्रीराम-प्राप्ति के लिये मिला है। इस पर चित्त नहीं रहता है, यही गहरी अनवधानता है।

'भावै सो कहत···'—पापाचरण से अजामिल में उद्दण्डता थी, वैसा ही अनेक जन्मों के पापों से मेरे चित्त में दोष हैं।

'अधिक अधमाई हू'—अधमता भी उससे कहीं अधिक है। कलिकाल की सहायता से दोष और भी बढ़ते हैं। कपट-निकेत कलि का कपट सुमति (विवेक) से जाना जाता है और सामर्थ्य (वैराग्य) से उसका नाश होता है; यथा—"कालनेमि कलि कपट-निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥" (मा० बा० २७); मुझमें विवेक-विराग भी नहीं हैं कि कलि के छलों से बच सकूँ।

'जैबे की अनेक टेक···' उपर्युक्त अनेक स्वभाव मेरे नष्ट होने के हैं; परन्तु मेरे बनने का, बस, एक ही स्वभाव है, जो मैं पेट-पालनार्थ भी श्रीराम-नाम लेता हूँ। अजामिल ने बेटे के प्रियत्व से नारायण नाम लिया था, वैसे मैं भी पेट-पालनार्थ नाम लेता हूँ, इसी से मेरी बन जायगी; यथा—"दम्भ हू

कलि नाम कुंभज सोच-सागर सोसु ॥" (वि० १५६); तथा—"विबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥" (मा० बा० ११८); "भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥" (मा० बा० २७); "अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव ॥" (वि० पु० ६।८।१६)। "अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोक नाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥" (भाग० ६।२।१८); अर्थात् जैसे अग्नि जाने अथवा विना जाने छू जाने से लकड़ी को जला देता है। वैसे ही अज्ञान से अथवा ज्ञान से संकीर्तित हरिनाम पापों को जला देता है। तथा—"नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े ॥" (अ० ५)—इसका विशेष भी देखिये।

कलि-कुचाल का वर्णन

[८३]

जागिये न सोइये, बिगोइये जनम जाय,
दुख रोग रोइये, कलेस कोह काम को।
राजा, रंक, रागी औ बिरागी भूरिभागी, ये
अभागी जीव जरत, प्रभाव कलि बाम को ॥
तुलसी कबंध-कोसो धाइबो बिचारु अंध !
धंध देखियत जग, सोक परिनाम को।
सोइबो जो राम के सनेह की समाधि-सुख,
जागिबो जो जीह जपै नीके रामनाम को ॥

अर्थ—(इस संसार में) हम न तो जागते हैं और न सोते हैं, जीवन व्यर्थ खो रहे हैं, दुःखों और रोगों से रोते हैं और (मानसिक रोग) काम-क्रोध आदि के क्लेशों से रोते हैं। राजा-रङ्क, रागी-विरागी, महाभाग्यवान् तथा अभागी, सभी जीव जल रहे हैं—ऐसा प्रतिकूल कलियुग का प्रभाव व्याप्त हो रहा है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—अरे अन्धे ! विचार कर, इस संसार के धंधे जितने देखे जाते हैं, ये सब कबन्ध (विना शिर वाले रुंड) की दौड़ के समान हैं, इनका परिणाम चिन्ता ही है। श्रीरामजी के स्नेह की समाधि का जो सुख है, वही तो

सोना है और जिह्वा से भली-भाँति (प्रीतिपूर्वक) जो श्रीराम-नाम का जपना है, वही जागना है।

विशेष—'जागिये न सोइये…'—जागना; यथा—"एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी॥ जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय-बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह-भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥" (मा० अ० ६२); इस प्रकार की वृत्ति मुझ में नहीं आती है। अतः मैं जागता नहीं हूँ। ठीक-से सोता भी नहीं, अर्थात् सांसारिक सुख से सुखी भी नहीं हूँ; यथा—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥" (मा० अ० ६२): अर्थात् मोह रूपी रात में सोता तो हूँ, पर अनेक प्रकार के द्वन्द्वों (राग-द्वेष, हर्ष-विषाद आदि) का अनुभव रूपी सपना देखता हूँ, इस से विषय सुख से भी सुखी नहीं हूँ। तथा—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" (गीता २।६६); अर्थात् जो सब प्राणियों की रात्रि है, उसमें संयमी जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं, उसमें आत्मदर्शी मुनि की रात है।

'बिगोइये जनम जाय'; यथा—"कछु ह्वै न आइ गयो जगम जाय। अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय॥" (वि० ८३);

'दुख रोग रोइये…'—आधि-व्याधि के दुःख में दिनरात रोना है; अर्थात् दुःख ही दुःख है।

'राजा-रंक, रागी'—विरागी एवं भूरिभागी, अभागी' ये सभी दुःख ही पा रहे हैं। द्वन्द्व वृत्ति वाले जब सब दुःखी ही हैं, तब तो कलि में सुखी कोई भी नहीं है। अतः, कलि सभी के लिये प्रतिकूल ही है।

'कबंध कैसो धाइबो…'—युद्ध में वीरों का शिर कट जाता है, तब उनके हृदय में जो रणोत्साह रहता है, उससे उनका धड़ कुछ काल तक तलवार आदि शस्त्र चलाते हुए युद्ध करता है, वह केवल मारता है, आँख तो रहती ही नहीं। वैसे ही जगत् कलिकाल में विचारहीन अंधा हो रहा है, अतः, इसके सभी धन्धे विचारहीन कबन्ध-युद्ध-सरीखे होते रहते हैं, क्योंकि कोई लक्ष्य का निश्चय नहीं रहता। चराचर रूप से हमारे कर्मानुसार भगवान् ही वर्त्त रहे हैं जगत् भगवान् का शरीर है, यह ज्ञान नहीं रहता है, यही इसका अन्धापना है। फिर हितैषियों के प्रति रागात्मक वर्त्ताव और विरोधियों के प्रति द्वेषात्मक वर्त्ताव करन

कबंध का-सा युद्ध है। वर्त्ताव में परस्पर दोनों पक्षों का जीवन व्यर्थ जाता है, उन्हीं संस्कारों से अन्त में मर कर फिर जन्म-मरण में पड़ता है, यही इनका मरना है। इस प्रकार जगत् का वर्त्ताव कबंध का-सा युद्ध है।

इस अज्ञान पर श्रीगोस्वामीजी ने स्वतंत्र एक पद लिखा है, उससे उसका रहस्य स्पष्ट हो जाता है; यथा—"आपनो हित रावरे सों जो पै सूझै। तौ जनु तनु पर अछत सीस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै? निज अवगुन, गुन, राम! रावरे लखि सुनि मति-मन रूझै। रहनि, कहनि, समुझनि तुलसी की को कृपालु बिनु बूझै॥" (वि० २३८); अर्थात् चराचर रूप से इस जीव का हित श्रीरामजी करते हैं, यदि ऐसा समझ पड़े तो चराचर रूप से हित करने वाले श्रीरामजी में प्रेम हो, क्योंकि जगत् अधिकांश में सहायक ही रहता है। यह विचार नहीं रहता है, इसी से लोग राग-द्वेष के वर्त्ताव में जन्म व्यर्थ करते हैं। भविष्य के लिये भी कर्म-बीज संचय करते हैं।

जीव पुरुष है; यथा—"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।" (गीता १५।१६); इसमें बद्ध और मुक्त जीव वर्ग को पुरुष कहा गया है और—"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥" (गीता १५।१७); इसमें ईश्वर को पुरुषोत्तम कह कर साथ ही कारण भी कह दिया गया है कि परमात्मा ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है, इसी से वह पुरुषोत्तम है।

समूह जीव वर्ग पुरुष रूप हैं, भगवान् उनके भरण-पोषण करने वाले होने से पुरुषोत्तम कहलाने वाले इनके शिर रूप हैं। शिर उत्तमाङ्ग कहा भी जाता है। अतः जगत् भगवान् का व्यष्टि जगत् अंग रूप है और वे स्वयं शिर रूप हैं। उन्हें चराचर रूप से अपना हितकारी न समझना अपने धड़ से शिर को पृथक् समझना है। इस अज्ञान से चराचर के प्रति राग-द्वेष होना स्वाभाविक है। नानात्व जगत् में जिससे हित समझा जाता है, उसमें राग होता है, जिससे अहित समझा जाता है, उसमें इसका द्वेष होता है। राग में पड़ने से उनकी ममता में और द्वेष में वैर भाव निवाहने में जीवन नष्ट होता है, भविष्य के लिये जन्म-मरण के संस्कार बनते हैं, इस प्रकार कबन्ध का-सा युद्ध है और इसमें मरना है।

'सोइबो जो राम के सनेह की समाधि सुख'; यथा—"सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी। सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत बियोगी॥" (वि० १६७); अर्थात् इस सारे दृश्यमान् (भ्रमात्मक नानात्व रूप कल्पित) जगत् को अपने हृदय में रख कर (अर्थात् सारे जगत् के नाना रूपों से वही हृदयस्थ परमात्मा वर्त्त रहा है, ऐसी वृत्ति हृदय में दृढ़तापूर्वक रखकर) मोह रूपी रात की नानात्व दृष्टि रूपी निद्रा छोड़ कर (साधक) योगी (स्थिर चित्त) होकर (श्रीरामचरणानुराग रूपी निद्रा में) सोवे; अर्थात् श्रीरामानुराग में नानात्व जगत् के व्यवहारों को सर्वथा भूल जाय। वही (जगत् के शत्रु-मित्र आदि) द्वैत भावों से अत्यन्त पृथक् रहनेवाला हरिपद प्राप्ति के परम सुख का अनुभव करता है।

'जागिबो जो जीह जपै नीके रामनाम को।'—ऊपर 'जागिये न...' इसके विशेष में जागने की वृत्ति कही गई, उसके पश्चात् यदि श्रीरामनाम में निष्ठा हो तो वह जागना जागना है; अन्यथा भ्रम से इसने अपने को जागा हुआ माना है, अभी यह सोता ही है; क्योंकि श्रीरामनाम ही जागर्ति का आधार है; यथा—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि-प्रपंच बियोगी॥" (मा० बा० २१); तथा—"जागु, जागु, जीव जड़ ! जोहै जग जामिनी। देह-गेह-नेह जानि जैसे घन दामिनी॥ सोवत सपने सहै संसृति संताप रे। बूड्यो मृगबारि खायो जेंवरी को साँप रे॥ कहैं बेद बुध, तू तौ बूझि मन माहिं रे। दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥ तुलसी जागे ते जाय ताप तिहुँ ताय रे। राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥" (वि० ७३); इस पद में जागने के फल स्वरूप में श्रीरामनाम की पवित्र निष्ठा कही गई है। अतः, यदि जागर्त्ति में फल रूपा नाम-निष्ठा नहीं हुई तो उसमें दोष है, यह स्पष्ट है।

[८४]

बरन-धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो-सो है।
करम उपासना कुबासना बिनास्यो ज्ञान
बचन, बिराग बेष, जगत हरो-सो है॥

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो कलिहि छरो-सो है।
काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि,
रामनाम को भरोसो, ताहि को भरोसो है॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारो वर्णों के लोगों ने अपना-अपना धर्म छोड़ दिया है, इससे वर्ण धर्म चला गया। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमों का निवास (अर्थात् इनके नियमों में रह कर जीवन व्यतीत करना) भी लोगों ने छोड़ दिया है। (अधर्म के) भय से चकित होकर (इन वर्णाश्रम धर्मों में) भगदड़-सी पड़ गई है। कर्म और उपासना को तो कुत्सित वासनाओं ने नष्ट कर दिया है। वचन मात्र के ज्ञान और वेष मात्र के वैराग्य ने जगत् को ठग-सा लिया है। गोरखनाथजी ने (हठ) योग क्या जगाया (प्रचार किया, फैलाया), लोगों को भक्ति मार्ग से विमुख कर दिया; (इसमें गोरखनाथ का क्या दोष कहा जाय?) वह योग तो वेद की आज्ञा है, उन (गोरखनाथ) के रूप से कलियुग ने ही (वैदिक साधन योग की ओट से) जगत् को ठग लिया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कर्म वचन और मन से स्वाभाविक ही जिसे श्रीरामनाम का भरोसा है, उसी का (वास्तविक) भरोसा है।

विशेष—'बरन धरम'—शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता (ये सब) ब्राह्मण के स्वभावज कर्म (धर्म) हैं। शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और ईश्वर भाव (जन समुदाय को शासन करने का सामर्थ्य), क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं। खेती, गोरक्षा और व्यापार—ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं। सेवा रूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज है।" (गीता १८।४२-४४)। आश्रम धर्म वि० पु० ३।६ और मनुस्मृति से विस्तारपूर्वक कहे गये हैं।

'त्रासन चकित सो…'; यथा—"सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ। पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुभ ग्रंथ॥" (दोहावली ५५६); "सब लोग बियोग बिसोक हए। बरनास्रम-धर्म अचार गए॥" (मा० उ० १०१); "आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग लोक-बेद-मरजाद गई है। प्रजा पतित

पाखंड पापरत, अपने-अपने रंग रई है ॥'' (वि० १३६); ''धर्म सबै कलि-काल ग्रसे, जप जोग-बिराग लै जीव पराने ॥'' (छंद १०५)।

'करम उपासना कुबासना बिनास्यो····'; यथा—''रामनाम के जपे जाइ जिय की जरनि। कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए, जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ॥ करम कलाप परिताप पाप साने सब, ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि। दंभ लोभ लालच उपासना बिनास नीके, सुगति साधन भइ उदर भरनि ॥ जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग-ज्ञान बचन बिसेष बेष कहूँ न करनि ॥'' (वि० १८४)।

'गोरख जगायो जोग···'—बहुत से पन्थ भक्ति-विरोधी हैं, गोरख का ही नाम दिया गया है, क्योंकि और वेद-वाह्य हैं, पर गोरखनाथ ने योग के साथ भ्रष्टाचार चलाया है। योग वैदिक है, इससे लोगों ने विश्वास मान कर उनके अनुसार भक्ति का त्याग किया है। भ्रष्ट क्रियाओं से हृदय मलिन होने पर लोग हरि-विमुख होकर नष्ट हो रहे हैं। कलिकाल ने ही छल से गोरखनाथ के द्वारा जगत् को ठग-सा लिया है। जैसे कलियुग ने राजा परीक्षित के शिर पर बैठ कर उनकी मति नष्ट कर दी है, वैसे ही गोरखनाथ की भी बुद्धि में उसने परिवर्त्तन कर दिया है।

'काय मन बचन सुभाय···'—भाव यह कि कलिकाल में और साधन निबह नहीं सकते और नाम अपनी निष्ठा-रक्षा में स्वयं समर्थ है; यथा—''नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू ॥ कालनेमि कलि कपट-निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥ रामनाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल ॥'' (मा० बा० २६-२७); ''नाम राम को अंक है, सब साधन हैं सून। अंक गये कछु हाथ नहिं, अंक रहे दस गून ॥ नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास। जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास ॥'' (दोहावली १०–११); ''नाम राम रावरोई हित मेरे।····साधत साधु लोक परलोकहि, सुनि गुनि जतन घनेरे। तुलसी के अवलंब नाम को, एक गाँठि कइ फेरे ॥'' (वि० २२७); इत्यादि।

मत्तगयंद-सवैया [८५]

बेद-पुरान बिहाय सुपंथ, कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल, नृपाल कृपाल न, राज-समाज बड़ोई छली है॥
बर्न-बिभाग न आश्रम-धर्म, दुनी दुख-दोष-दरिद्र दली है।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम-प्रताप बली है॥

अर्थ—(कलियुग के कारण) वेदों और पुराणों के सुन्दर मार्गों को लोगों ने त्याग दिया है और कुमार्गों की करोड़ों कुचालें चल पड़ी हैं। एक तो समय (कलिकाल) भयंकर है, राजा कृपा-रहित हैं और राज-समाज (राज्य कर्मचारी मन्त्री आदि) बड़ा ही छली है (इससे प्रजा को चूसने के लिये कपट-भरे हुए भाँति-भाँति के विधान बनाता है) वर्ण-विभाग और आश्रम धर्म रह नहीं गये, दुःख, दोष और दरिद्रता ने संसार को पीड़ित कर दिया है। (ऐसे घोर) कलि-काल में भी स्वार्थ और परमार्थ (लोक-परलोक-सुख) के लिये श्रीरामजी के नाम का प्रताप बड़ा बलवान् है।

विशेष—'बेद-पुरान बिहाय सुपंथ…'—वेदों और पुराणों के बतलाये हुए मार्ग ही सुमार्ग हैं, इनके प्रतिकूल कल्पित पंथ कुमार्ग हैं; यथा—"पूरब कलप एक प्रभु, जुग कलिजुग मलमूल। नर अरु नारि अधर्म रत, सकल निगम प्रतिकूल॥…कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सदग्रंथ। दंभिन्ह निज मति कल्पि करि, प्रगट किये बहुपंथ॥…बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नरनारी॥" (मा० उ० ९६–९७)।

'काल कराल नृपाल कृपालु न…'; काल की करालता; यथा—"पूरब कलप एक प्रभु, जुग कलिजुग मलमूल।" से "सुनु ब्यालारि कराल कलि, मल अवगुन आगार।" (मा० उ० ९६–१०२) तक। दया-रहित राजा और छली राज समाज; यथा—"नृप पाप-परायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितही॥" (मा० उ० १००); "राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पित कलुष कुचालि नई है।" (वि० १३९)।

'बरन बिभाग न आश्रम धर्म….'—वर्णाश्रम धर्म से ही सुख होता है, इसकी अवहेलना से दुःख दोष एवं दरिद्रता छा गई है; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम-निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय सोक

न रोग ॥" (मा० उ० २०); "भए बरन संकर कलिहि, भिन्न सेतु सब लोग। करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग ॥" (मा० उ० १००)।

'स्वारथ को परमारथ को कलि···'; यथा—"ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपाल तेरे नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिये।" (छंद ७६)—इसका विशेष देखिये। तथा—"नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान-निवास। जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास ॥" (मा० बा० २६); "मीठो अरु कठवति भरो, रौताई अरु खेम। स्वारथ परमारथ सुलभ, रामनाम के प्रेम ॥" (दोहावली १५)।

'नाम-पताप-बली है'—भाव यह कि संकेत से एवं विवशता से भी नाम निकल जाय तो उससे रक्षा होती ही है।

दुर्मिल-सवैया [८६]

न मिटै भव संकट दुर्घट है, तप तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलि में न बिराग न ज्ञान कहूँ, सब लागत फोकट झूठ जटो ॥
नट ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक कोटिक ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुख चाहिय तौ रसना निसि बासर राम रटो ॥

शब्दार्थ—दुर्घट=जिसका होना कठिन हो, कष्टसाध्य। अटो=घूमो। फोकट=निस्सार। जटो = जटित, जड़ा हुआ। कुपेटक = बुरे पेटारे से (जैसा बाजीगर रखते हैं)। चेटक = जादू या इन्द्रजाल की विद्या।

अर्थ—चाहे अनेक जन्म तपस्या किया करो और तीर्थ घूमा करो, परन्तु जन्म-मरण का संकट नहीं मिट सकता; क्योंकि इसका मिटना अत्यन्त कठिन है। इस कलिकाल में कहीं न वैराग्य है और न ज्ञान है, सब झूठ से जड़ा हुआ और निस्सार जान पड़ता है। नटों के समान अपने पेट रूपी बुरे पेटारे से करोड़ों इन्द्रजाल की विद्याएँ और करोड़ों आडंबर रचना मत किया करो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो सदा सुख चाहते हो तो जिह्वा से दिन-रात राम नाम रटा करो।

विशेष—'न मिटै भव-संकट··'—भव संकट; यथा—"आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा।

काल कर्म सुभाय गुन घेरा ॥" (मा० उ० ४३); इसका पार होना जीव की शक्ति से बाहर है, ईश्वर की कृपा से ही संभव है; यथा—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां" (मा० बा० मं०); अन्यथा दुर्घट ही है।

'कलि में न बिराग न ज्ञान कहूँ...'; यथा—"नाहिं न आवत आन भरोसो। यहि कलिकाल सकल साधन तरु हैं श्रम-फलनि फरो-सो ॥ तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो। पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि बेद परोसो ॥ आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो-सो। सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो ॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ज्ञान-बिराग हरो-सो। बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥" (वि० १७३); "कलि नहिं ज्ञान, बिराग, न जोग-समाधि।" (बरवै रा० ४८)।

'नट ज्यों जनि...'—जैसे नट के पेटारे में इन्द्रजाल विद्या के सामान रहते हैं, उन्हीं से वह पेट-पालता है। वैसे पेट रूपी पेटारे में करोड़ों प्रकार के चेटक और आडंबर की युक्तियाँ भरी रहती हैं, उन्हीं का विस्तार कर जगत् को रिझा कर पेट-पालन किया जाता है; यथा—"सुगति-साधन भई उदर भरनि।" (वि० १८४); ऐसा मत कर; साधु बेष कर; भगवत्तत्त्व बेंचकर जीविका चलाना पाप है; यथा—"भगति-बिराग-ज्ञान-साधन कहि बहु बिधि डँहकत लोग फिरौं। सिव-सरबस सुखधाम नाम तव, बेंचि नरक प्रद उदर भरौं ॥" (वि० १४१)।

'जो सदा सुख चाहिय तौ...'; यथा—"रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत। सुमिरत सुख-सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत ॥" (वि० १२९)। "जपत जीह रघुनाथ को नाम नहिं अलसातो। बाजीगर के सूम ज्यों खल खेह न खातो ॥ जो तू मन ! मेरे कहे राम नाम कमातो। सीतापति संमुख सुखी सब ठाँव समातो ॥" (वि० १५१); "राम नाम जपु तुलसी होइ बिसोक। लोक सकल कल्यान, नीक परलोक ॥" (बरवै रा० ५१)। 'निसि बासर'; यथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती ॥" (मा० बा० १०७); "रटति निसिबासर निरंतर राम राजिव नैन।" (गी० सुं० २)। "सुभ को सुभ, मोद मोद को 'राम' नाम सुनायो।" (गी० बा० ६)।

[८७]

दम दुर्गम, दान, दया, मख-कर्म, सुधर्म अधीन सबै धन को।
तप तीरथ साधन जोग-बिराग सो होइ नहीं दृढ़ता तन को॥
कलिकाल कराल में, राम कृपालु ! यहै अवलंब बड़ो मन को।
तुलसी सब संजम हीन सबै एक नाम अधार सदा जन को॥

अर्थ—दम (इन्द्रिय-निग्रह) कठिन है। दान, दया, यज्ञकर्म और उत्तम धर्म—ये सब धन के अधीन हैं। तपस्या, तीर्थाटन, योग-साधन और वैराग्य, ये होते नहीं; क्योंकि (मन में) दृढ़ता तनिक (कुछ) भी नहीं है। हे कृपालु श्रीरामजी ! इस भयङ्कर कलिकाल में मन को यही एक बड़ा सहारा है जो श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सभी लोग सब प्रकार के संयमों से रहित हैं, परन्तु इस जन को एक (मुख्य) आधार श्रीरामनाम का सदा रहता है (अतः, विश्वास है कि इससे इसका कल्याण हो जायगा)।

विशेष—**'दम दुर्गम'**—काम दुर्जय है इन्द्रिय-निग्रह ही उसके जींतने का साधन है, इससे अत्यन्त कठिन है; यथा—"तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥" (गीता ३।४१); अर्थात् दम से इन्द्रियों को वश कर ज्ञान-विज्ञान नाशक पापी काम को निश्चय ही मारना चाहिये।

'दान, दया, मखकर्म, सुधर्म'; यथा—"करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।" (वि० १५५); तथा—"अर्थेभ्योऽथ प्रवृद्धेभ्यः संवृतेभ्यस्ततस्ततः। क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य ईवापगाः॥" से "हर्षः कामश्च दर्पश्च धर्मः क्रोधः शमो दमः। अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप॥" (वाल्मी० ६।८३।३२-३६) तक। अर्थात् इधर-उधर से बढ़ाये हुए धन से सभी क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, जैसे पहाड़ों से नदियाँ।"...हर्ष, काम, दर्प, धर्म, क्रोध, शम और दम ये सब धन से ही प्रवृत्त होते हैं।

'तप तीरथ साधन जोग बिराग...'; यथा—"ज्ञान बिराग जोग जप तप, भय लोभ मोह कोह काम को॥" (वि० १५५); अर्थात् मन की दुर्बलता से ही ज्ञान को मोह का, विराग को लोभ का, योग को क्रोध का और जप-तप को काम का भय रहता है।

'सब संजम हीन सबै'—इन्द्रिय-निग्रह आदि संयम एवं अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि साधनों से सब कोई हीन हो गये हैं।

'यक नाम अधार सदा जन को···'; यथा—"कलि पाखंड-प्रचार, प्रबल पाप पाँवर पतित। तुलसी उभय अधार, राम नाम सुरिसरि सलिल ॥" (दोहावली ५६६); "नाम के प्रताप, बाप! आजु लौं निबाही नीके।" (छंद ८०); "नाम पाहरू राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट ॥" (मा० सुं० ३०); इत्यादि रीतियों से भक्तों को नाम का अधार रहता है।

श्रीराम-नाम पर निर्भरता

[८८]

पाइ सुदेह बिमोह-नदी-तरनी न लही, करनी न कछू की।
राम कथा बरनी न बनाइ, सुनी न कथा प्रह्लाद न ध्रू की ॥
अब जोर जरा जरि गात गयो, मन मानि गलानि कुबानि न मूकी।
नीके कै ठीक दई तुलसी, अवलंब बड़ी उर आखर दू की ॥

अर्थ—विशेष मोह रूपी सरिता की नाव रूपी सुन्दर (नर) शरीर पाकर इसकी शोभाप्राप्ति नहीं की, इसके उपयुक्त कर्त्तव्य नहीं किया (अर्थात् हरिभक्ति से शरीर सुशोभित नहीं किया और न कर्त्तव्य परोपकार ही किया)। श्रीरामजी की कथा का प्रसंग बनाकर वर्णन नहीं किया और श्रीप्रह्लादजी की एवं श्रीध्रुवजी की कथा (गुरुजनों से) नहीं सुनी (उसकी तरुणाई तक की आयु व्यर्थ गई)। अब पूर्ण वृद्धावस्था के कारण शरीर जल (जर्जर हो) गया, तब भी मन में ग्लानि मानकर अपने बुरे स्भाव नहीं छोड़े। ऐसे इस तुलसीदास ने इस अवस्था के लिये भी भली-भाँति विचार कर यह निश्चित कर रक्खा है कि रामनाम के दोनों अक्षरों का ही हृदय में बड़ा अवलंब है।

विशेष—'पाइ सुदेह बिमोह-नदी-तरनी···'; यथा—"नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥ करनधार सदगुरु दृढ़नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥ जो न तरइ भवसागर···"। (मा० उ० ४३); "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥" (भाग० ११।२०।१७) अर्थात् नर-शरीर की शोभा जीव के भव-सागर पार होने में है। वह काम भक्ति से होता है। अतः, भक्ति में ही इस शरीर की शोभा एवं सफलता है; यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पीके।" (वि० १७५); "भगति-हीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥" (मा० अर० ३४); इसका कर्त्तव्य परोपकार है; यथा-"सातैं सप्तधातु-निर्मित तनु करिअ बिचार। तेहि तनु केर एक फल कीजिय पर-उपकार ॥" (वि० २०३)।

'राम कथा बरनी न···' भगवत-भागवत की कथा कहने-सुनने में भी शरीर की सफलता है; अन्यथा व्यर्थता है; यथा—"कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय।···सुनै न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंस राय ॥" (वि० ८३); "जनम गयो बादिहिं बर बीति।···कहे न सुने गुन गन रघुबर के भइ न रामपद प्रीति ॥" (वि० २३४)।

श्रीप्रह्लादजीकी कथा छन्द ८ में लिखी गई।

श्रीध्रुवजी की कथा

श्रीस्वायंभूव मनु और उनकी रानी शतरूपाजी के उत्तानपाद नाम के पुत्र हुए। उत्तानपाद राजा की सुनीति और सुरुचि नाम की दो रानियाँ थीं। सुनीति के पुत्र का नाम ध्रुव और सुरुचि के पुत्र का नाम उत्तम था। उत्तानपाद राजा को सुरुचि अधिक प्यारी थी और सुनीति प्रिय न थी। एक दिन राजा उत्तम को गोद में लिये हुए खेला रहे थे, ध्रुव भी आ गये और पिता की गोद में चढ़ने लगे, परन्तु सुरुचि के भय से राजा उन्हें गोद में न ले सके। गर्व से भरी हुई सुरुचि ने सौति पुत्र ध्रुव से ईर्ष्या के वचन कहे—ध्रुव ! तुम राजा के पुत्र हो, यह ठीक है, पर तुम राजा की गोद एवं राज्यासन के योग्य नहीं हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म मेरी कोख से नहीं है। यदि राजा के आसन पर बैठने को इच्छा हो तो ईश्वर की तपस्या करके उसकी अनुग्रह से मेरे कोख में जन्म-ग्रहण करो।"

विमाता सुरुचि के कठोर वचन बालक ध्रुव के हृदय में बाण के समान बिंध गये। वे अपमानित क्रुद्ध साँप के समान बड़ी-बड़ी साँसें लेकर रोने लगे। स्त्री के वशीभूत पिता ने कुछ भी नहीं कहा, तब ध्रुवजी माता सुनीति के पास

रोते हुए आये। देखकर माता ने गोद में उठा लिया। दासियों ने वहाँ की सारी बातें कहीं। सौत की बातों को सुनकर सुनीति को बड़ी व्यथा हुई। वह अधीर हो रोने लगी, फिर वह बड़ी-बड़ी सासें ले ध्रुव से कहने लगी—"बेटा, इसमें दूसरे को दोष देना योग्य नहीं, यह अपने ही कर्मों का भोग है। सुरुचि ने सत्य ही कहा है, मुझ अभागिन के गर्भ से तुम्हारा जन्म हुआ है और मेरे ही दूध से पले हो। मुझे दासी कहकर भी अंगीकार करने में राजा को लज्जा लगती है। तुम्हारी विमाता सुरुचि ने बहुत ही ठीक कहा है—'तुम्हें यदि उत्तम के समान राज्यासन पाने की इच्छा हो तो हरि के चरण-कमलों की आराधना करो।' मैं भी कहती हूँ कि तुम ईर्ष्या छोड़कर उसी का कहा करो। वह भगवान् विष्णु विश्व-पालक हैं। उन्हीं के चरणों की सेवा करके ब्रह्माजीने ब्रह्मपद पाया। तुम्हारे बाबा मनु ने भी उन्हीं की उपासना से उभय लोक के सुख प्राप्त किये हैं। तुम भी उन्हीं के चरणों की शरण ग्रहण करो; क्योंकि मुमुक्षु मुनिगण उन्हीं के चरणों का मार्ग खोजते हैं। तुम एकाग्र चित्त कर उन्हीं का भजन करो। उनके अतिरिक्त तुम्हारे दुःखों का निवारक और कोई नहीं है। और लोग जिस लक्ष्मी की बड़ी चाह से खोज करते हैं, वह लक्ष्मी दीपकतुल्य कमल हाथ में लिये हुए उन्हीं को खोजती है।"

ध्रुवजी ने माता के वचन सुनकर वैसा ही करनेका निश्चय किया। वे पुर से बाहर निकल पड़े। श्रीनारदजी ने ध्रुवजी की सारी व्यवस्था ध्यान से ही जान ली, इनका उद्देश्य भी जान लिया। वे मार्ग में ही आकर मिले। ध्रुव के शिर पर अपना कर-स्पर्श कर मन में आश्चर्य मानकर कहने लगे। 'अहो! क्षत्रियों का तेज देखिये, जो थोड़ा भी अनादर नहीं सह सकते। यह पाँच वर्ष का बालक है, इसे भी सौतेली माता के कटु वचन नहीं भूलते। ऐसा मन में विचार कर उन्होंने ध्रुवजी से कहा—तुम अभी बालक हो, तुम्हें मान-अपमान क्या? यदि है भी तो अपने कर्मों का फल है। तब यह समझना कि इसने मेरा-अपमान किया, केवल बुद्धि का मोह है। दैव-विहित-विधान को उद्यम से टालने की चेष्टा मूर्खता है। ईश्वर की उपासना अजितेन्द्रिय के लिये अत्यन्त दूरूह है। वह तो योगियों को भी दुर्लभ है। अतः, तुम अभी गृह में रहो और कर्मफलों को भोग द्वारा समाप्त कर मोक्ष प्राप्त करो।

ध्रुवजी ने कहा कि मैं अपने घोर क्षत्रिय-स्वभाव के वश हूँ। इससे विमाता के कठोर वचन मैं नहीं भूल सकता। अब तो मैं वह पद प्राप्त करना चाहता हूँ, जहाँ मेरे पूर्वज भी नहीं पहुँच सके और न अन्य कोई ही पहुँच सका है। आप कृपा कर उसकी प्राप्ति का मार्ग बतलावें। आप ब्रह्माजी के पुत्र हैं। अतः, समर्थ हैं।

श्रीनारदजी ध्रुव के वचन सुन और इनका धैर्य देख प्रसन्न हुए, फिर दया-पूर्वक ध्रुवजी से बोले। तुम्हारी माता ने जो कहा है, वही तुम्हारे कल्याण का मार्ग है। तुम श्रीहरि का भजन करो। चारों फलों की प्राप्ति उन्हीं से होती है। तुम मधुवन (मथुरा) में जाकर वहाँ नित्यस्थित हरि का भजन करो। फिर श्रीनारदजी ने भगवान् का ध्यान एवं उसके करने की रीति बतलाई। तत्पश्चात् परम गुप्त मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर का विधि से उपदेश दिया। यह भी कहा कि सात रात इसके जपने से देवगण का दर्शन होता है। इस मंत्र से श्रीहरि की आराधना करो। श्रीहरि की मूर्त्ति में उनकी पूजा करो। स्वल्प फलाहार आदि से रहना चाहिये। अनन्य भक्तियोग से श्रीहरि की पूजा करो।

मन्त्र और विधि सुनकर ध्रुवजी ने गुरुजी की प्रदक्षिणा और प्रणाम किया। तब मथुरा प्रस्थान किया। श्रीनारदजी वहाँ से राजा उत्तानपाद के यहाँ गये। राजा ने मुनि की पूजा की। मुनि ने राजा से उनकी उदासी का कारण पूछा। राजा ने अपनी स्त्री-वशता एवं पुत्र पर निर्दयता कही, फिर पुत्र के चले जाने का पश्चात्ताप करने लगे कि वन में उसकी क्या दशा होगी ? नारदजी ने कहा, उसकी रक्षा दैव करेगा, उसका प्रभाव तुम नहीं जानते, उसको जगत् में यश प्राप्त होगा। जिसे बड़े-बड़े लोकपाल भी नहीं पा सकते। वहाँ बड़ा दुष्कर कर्म कर शीघ्र ही आकर मिलेगा, तुम्हें भी यश प्राप्त होगा।

ध्रुवजी ने पहले मास में कैथा और वेर का आहार किया, दूसरे महीने में छठे दिन सूखे पत्ते एवं तृण का आहार रक्खा, तीसरे महीने में नवें दिन केवल जल का आधार रक्खा, चौथे महीने में बारहवें दिन केवल वायु-भक्षण करके प्राणायाम द्वारा हरि-भजन किया, पाँचवें महीने श्वास रोक कर बालक ध्रुव, एक पैर खंभे के समान अचल रह गये। केवल हरि रूप में तन्मय हो गये।

तब तीनों लोक काँप उठे। पृथिवी डगमगाने लगी। विश्वमूर्त्ति हरि के ध्यान से सभी जीवों की श्वासें रुक गईं। देवों ने श्रीहरि की शरण ली। भगवान् ने आश्वासन दिया, वे स्वर्ग गये।

भगवान् ध्रुवजी के पास गये, तब उनके हृदय का ध्यान टूट गया, उन्होंने बाहर श्रीहरि को देखा। प्रणाम कर अत्यन्त प्रेम से उनके दर्शन करने लगे। स्तुति करनी चाही, पर कुछ पढ़े न होने से वे स्तुति न कर सके। अन्तर्यामी भगवान् ने जान कर उनके कपोल में अपनी शंख का स्पर्श करा दिया, तब उन्हें वेद-तत्त्व का ज्ञान हो गया। फिर उन्होंने विशाल स्तुति की। भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा—मैं तुम्हारा मनोरथ जानता हूँ। यद्यपि वह दुर्लभ है; तथापि वही देता हूँ। मेरी कृपा से तुम को ध्रुव पद मिलेगा। जिसे आज तक किसी ने नहीं पाया। वह लोक परम-प्रकाशयुक्त है। उसी के आश्रय ग्रह, नक्षत्र, तारागण एवं ज्योतिश्चक्र सब अवस्थित हैं। कल्पान्त में नाश होने वाले लोकों के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होगा। नक्षत्र, अग्नि, इन्द्र एवं सप्तर्षि आदि इसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं।

इस लोक में तुम्हें राज्य देकर तुम्हारे पिता वन को चले जायँगे। तुम छत्तीस सहस्र वर्ष पृथिवी मंडल की रक्षा करोगे, फिर भी मेरी कृपा से विषय-निर्लिप्त रहोगे। तुम्हारे भाई उत्तम की वन में यक्ष के हाथ मृत्यु होगी। उसकी माता सुरुचि उसकी खोज में वन की दावाग्नि में जल जायगी। तुम बड़े-बड़े यज्ञ करोगे, फिर लोक सुख भोग करोगे। अन्त में मेरा स्मरण करते हुए ध्रुव लोक जाओगे। वह लोक सप्तर्षियों के ऊपर है। योगी वहाँ जाकर फिर नहीं लौटते।

ऐसा कह ध्रुव से पूजित हरि अपने लोक चले गये। ध्रुव अपने पुर लौटे, पर उनका चित्त बहुत प्रसन्न नहीं हुआ; क्योंकि विमाता की ईर्ष्या से उन्होंने हरि से मोक्ष न माँग कर भोग माँगा, इसी से उन्हें संताप हुआ। सोचने लगे कि बालब्रह्मचारी सनकादि ने अनेक जन्म समाधि लगा कर जिनको जाना है; उन्हें मैंने केवल छः महीना की उपासना में पाकर फिर छोड़ दिया; भोग मिला। श्रीहरि से मैंने वह माँगा; जो कभी नष्ट न होगा। इत्यादि रीति से शोक किया।

इधर ध्रुव का आना सुन कर पिता उत्तानपाद बड़े हर्ष एवं समारोह से पुत्र की अगवानी की। इनकी दोनों माताएँ और उत्तम भी पालकी पर ध्रुव से मिलने

चले। पिता ने मिल कर अत्यन्त आनन्द पाया। सुरुचि और सुनीत ने ध्रुव को मिल आशिष दे अपने को कृतार्थ माना। उत्तम कुमार मिला। सब हर्षित अपने नगर आये। कुछ काल में तरुण होने पर पिता ने ध्रुव को राज्य दे वन की राह ली–यह कथा भाग० ४।८-९ के अनुसार है।

'अब जोर जरा जरि गात गयो···'—वृद्धावस्था में भी विषय-स्पृहा दूर नहीं हुई, इसी से कुबानि (राग-द्वेष आदि) नहीं निवृत्त हुई क्योंकि विषय-भोग में राग-द्वेष एवं तृष्णा तरंग बढ़ते ही रहते हैं; यथा—"सो प्रगट तन जर्जर जरा बस ब्याधि सूल सतावई।····ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्ना तरंग बढ़ावई॥" (वि० १३६।८)।

'नीके कै ठीक दई····'—इस प्रकार अकृतार्थ जीवन के अंत में भी एक श्रीराम-नाम जीव का कल्याण कर सकता है; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (मा० अर० ३०); 'बिगरी जन्म अनेक की, सुधरै अबहीं आज। होहि राम को, नाम जपु तुलसी तजि कुसमाज॥" (दोहावली २२); "अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥" (गीता ८।५); अर्थात् अन्तकाल में भी जो मेरा स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है; वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।

मत्तगयंद सवैया [८६]

राम बिहाय 'मरा' जप ते बिगरी सुधरी कवि कोकिलहू की।
नामहि ते गजकी गनिका की अजामिल की चलिगै चल चूकी॥
नाम-प्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पांडुबधू की।
ताको भलो अजहूँ तुलसी जेहि प्रीति-प्रतीति है आखर दू की॥

शब्दार्थ—कवि-कोकिल=श्रीवाल्मीकिजी; यथा—"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि कोकिलम्॥" यह प्राचीन श्लोक प्रसिद्ध है। चल-चूक [सं० चल=चंचल + चूक=धोखा]=चंचलता और धोखा।

अर्थ—सीधा 'राम' इस नाम को छोड़ कर 'मरा' इस उल्टे नाम का जप करने से भी महामुनि श्रीवाल्मीकिजी की बिगड़ी हुई सारी बातें सुधर गईं। श्रीरामनाम ही से गजेन्द्र की और जीवन्ती वेश्या की तथा अजामिल की चञ्चलता

और धोखा की धाँधली चल गई। श्रीरामनाम के प्रताप से ही बड़े भारी कुत्सित-समाज (दुर्योधन की सभा) में श्रीद्रौपदीजी की लाज डंके की चोट पर बनी रही। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिसको दो अक्षर 'रा' और 'म' पर प्रीति और विश्वास है, उसका भला अब भी है।

विशेष—'राम बिहाइ मरा जप ते···'; यथा—"उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥" (मा० अ० १९३); "जान आदिकवि नाम-प्रतापू। भयो सुद्ध करि उलटा जापू॥" (मा० बा० १८); "जहाँ बालमीकि भये ब्याध ते मुनीन्द्र साधु, 'मरा-मरा' जपे सुनि सिष ऋषि सात की॥" (छं० १३८); इत्यादि।

श्रीवाल्मीकिजी की कथा

महर्षि वाल्मीकिजी की कथा स्कन्द पुराण, आवन्त्यखंड, अ० मा० में है और फिर अध्यात्म रामायण, अयो० अ० ६ में भी है। अध्यात्म रा० की कथा में उल्टे नाम के उपदेश और जप का प्रसंग है, वही कथा श्रीगोस्वामीजी ने ग्रहण की है। स्कन्द पुराण में 'महामन्त्र (रामनाम)' का ही उपदेश एवं जप है। शेष कथाभाग समान ही है। यहाँ अध्यात्म्य रा० की कथा लिखी जाती है—

त्रेतायुग में जब श्रीरामजी वनवास में श्रीवाल्मीकिजी के यहाँ पधारे थे, उस समय महर्षिजी ने अपनी कथा स्वयं कही थी—"हे श्रीरामजी! आपके नाम की महिमा कैसे कही जा सकती है, जिसके प्रभाव से मैं ब्रह्मर्षि पद को प्राप्त हुआ। मैं पहले किरातों में पाला गया। जन्म मात्र से तो मैं ब्राह्मण था, पर मेरा आचार शूद्रों का-सा था। शूद्रा स्त्री से मेरे बहुत पुत्र हुए। मैं चोरों के साथ से चोर हो गया। धनुष-बाण लिये हुए मैं काल के समान जीवों का घात करता था। एक समय वन में मुझसे सप्तर्षि लोगों से भेंट हुई, वे बड़े तेजस्वी थे। उनका सर्वस्व हरण करने के लिये मैंने उन पर धावा किया। उन्होंने कहा, द्विजाधम! तू क्यों आ रहा है? मैंने कहा, मेरे पुत्र आदि बहुत हैं और वे भूखे हैं। मैं उनकी रक्षा करने के लिये वन में विचरता हूँ। उन्होंने कहा कि तू अपने कुटुम्बियों से जाकर पूछ कि जो मैं नित्य पाप करके धन लाता हूँ, इसके पाप में भी आप भागी होंगे या नहीं। जब तक तू आवेगा, हम लोग निश्चय यहाँ रहेंगे। मैंने घर जाकर स्त्री-पुत्र आदि से वैसा ही पूछा। उन्होंने कहा कि पाप आपके

ही हैं, हम लोग तो केवल फल (चोरी से लाये हुए धन आदि) के ही भागी हैं। यह सुनकर मुझे उनसे वैराग्य हुआ। मैं फिर वहाँ आया, जहाँ पर वे मुनि थे। करुणापूर्ण उन मुनियों के दर्शन से मेरा हृदय शुद्ध हो गया।

मैंने धनुर्बाण त्याग कर उनको दण्डवत्-प्रणाम किया और प्रार्थना की कि मुझे नरक-सागर से बचाइये। उन्होंने कहा, उठ, उठ, तुझे संत-समागम सफल हुआ। हम तुझे उपदेश देंगे, जिससे तू मोक्ष पायेगा। उन्होंने विचारा कि यह द्विजाधम यद्यपि उपेक्ष्य है; तथापि शरण में आया है। अतः, रक्ष्य है। उन्होंने मुझे आपका नाम उलट कर 'मरा' इस नाम के जप करने का उपदेश दिया, फिर कहा कि हम जब तक लौट कर न आवें, तू इसी प्रकार जप किया कर। वे चले गये और मैं उनकी आज्ञा के अनुसार एकाग्र मन कर उसी नाम का जप करने लगा। मुझे अपनी वाह्य दशा भूल गई। बहुत काल में मेरे ऊपर वल्मीकि (बाँबी) हो गई।

सहस्र युग बीतने पर वे सप्तर्षि फिर आये [स्कन्द पुराण में १३ वर्ष के पश्चात् ही सप्तर्षियों का लौट कर आना लिखा है] और मुझसे बोले, निकल, मैं तुरत उस वल्मीकि से निकल आया, जैसे कुहरे से सूर्य। उन्होंने कहा कि तेरा दूसरा जन्म वल्मीकि से हुआ है। अतः, तू वाल्मीकि नाम का मुनीश्वर है। हे श्रीरामजी! मैं श्रीरामनाम के प्रभाव से ऐसा हुआ कि मुझे श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ आपके साक्षात् दर्शन हुए।"

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकिजी व्याध वृत्ति के पापों से उल्टे नाम के जप से शुद्ध हुए और उन्होंने ऐसा विवेक प्राप्त किया कि वे ब्रह्माजी के समान आदिकवि कहाये। ब्रह्माजी के मुख से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ और वाल्मीकिजी के मुख से वेदोपबृंहण रूप रामायण का प्रादुर्भाव हुआ; यथा–"तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।" (भाग० मङ्गलाचरण); इसमें ब्रह्माजी को आदिकवि कहा गया है और वाल्मीकिजी के प्रति आदि कवि का प्रमाण ऊपर उद्धृत है।

'नामहि ते गज की गनिका की···'—गजेन्द्र, गणिका और अजामिल की कथाएँ छन्द ७ में लिखी गई हैं। गजेन्द्र ने संकेत से नाम लिया, गणिका ने तोते को नाम रटाने के व्याज से नाम लिया और अजामिल बेटे के बदले में भगवान् का नाम लिया है। वाल्मीकिजी ने उल्टा नाम लिया (जप किया)

था। इनमें किसी ने नाम की साक्षात् आराधना नहीं की। अतः, इनके प्रसंगों में नाम का प्रताप ही है।

'नाम-प्रताप बड़े कुसमाज...'—श्रीद्रौपदीजी की कथा छन्द ८ में लिखी जा चुकी है। द्रौपदीजी ने रजस्वला अवस्था में आर्त्त दशा आ जाने पर भगवान् के नाम 'गोविन्द, केशव, जनार्दन और कृष्ण' आदि कह कर उनकी शरणागति की है। अशुचि अवस्था का नाम जप अविधि से है, उस जप से भी उनकी रक्षा हुई है, इससे वहाँ नाम का प्रताप कहा गया है। 'बड़े कुसमाज'—यद्यपि उस समाज में भीष्म-द्रोण आदि एवं पाँचों पाण्डव धर्मात्मा भी थे, फिर भी उसे बड़ा कुत्सित समाज कहा गया है; क्योंकि इन लोगों ने सामर्थ्य रहते हुए अनाथ अबला की धर्म-रक्षा नहीं की थी। द्रौपदीजी ने सभा से भी बार-बार अपने उचित प्रश्नों के उत्तर माँगे, पर किसी ने कुछ नहीं कहा, इससे उस पाप में सब भागी हुए। इसी से महाभारत करा कर भगवान् ने सबका वध करवाया था। उन्हीं में पांडवों की रक्षा की; क्योंकि उनके मरने पर द्रौपदीजी विधवा होतीं। अतः, उस शरणागत की माँग-रक्षा में पांडवों की रक्षा हुई है।

'बजाइ रही...'—इस बात की सारे संसार में ख्याति है कि भगवान् द्रौपदी के वस्त्र रूप में बढ़ने लगे थे, इससे वस्त्रों का पहाड़ लग गया था, दस सहस्र हाथी के बलवाला दुःशासन थक गया, पर दस गज चीर नहीं घटी; यथा—"तुलसी परखि प्रतीति-प्रीति गति आरत-पाल कृपालु मुरारी। बसन बेष राखी बिसेषि लखि बिरुदावलि मूरति नर-नारी॥" "सिथिल-सनेह मुदित मन ही मन बसन बीच-बिच बधू बिराजी। सभा सिंधु जदुपति जयमय जनु रमा प्रगटि त्रिभुवन भरि भ्राजी॥ जुग-जुग जगसा के केसव के समन-कलेस कुसाज-सुसाजी। तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्न कृपालु भगति-पथ राजी॥" (कृष्ण गीतावली ६०-६१)।

इस छन्द के दूसरे चरण में गज आदि तीन को साथ रक्खा है; क्योंकि तीनों अपत हैं; यथा—"अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥" (मा० बा० २५)। इसके साथ पहले वाल्मीकि को रक्खा है; क्योंकि वे व्याध रूप में हिंसक वृत्ति के महान् पापी थे और पीछे तीसरे चरण में

द्रौपदी को लिखा है; क्योंकि इन्होंने रजस्वला दशा में नाम लिया था, उस दशा में स्त्री अपत रूप में ही कही जाती है।

'ताको भलो अजहुँ तुलसी…'—वाल्मीकिजी ने उल्टा कहा, गजेन्द्र ने संकेत से कहा, गणिका ने तोता-रटन (केवल वाणी मात्र से अर्थानुसंधान बिना) एवं वेश्या वृत्ति से कहा और अजामिल ने बेटे के बदले में नाम लिया। द्रौपदीजी ने अशुचि अवस्था में नाम लिया, तब भी नाम के प्रताप से सब का कल्याण ही हुआ है। यदि प्रतीति और प्रीतिपूर्वक कोई भी नाम लेगा तो अब भी (इस घोर कलिकाल में भी) उसका भला ही होगा।

इस कलिकाल में मन व्याध के समान उल्टी वृत्ति से नाम रटता है, अहंकार गजेन्द्र के समान अहंकार पूर्ण रहता है। चित्त अजामिल के समान पेटपोषण पर ही वृत्ति रखता है और अव्यवसायात्मिका बुद्धि गणिका के समान रह कर जीभ मात्र से नाम लेती है, मन विषयी होने से इसकी वेश्या वृत्ति रहती है! व्यवसायात्मिका बुद्धि द्रौपदीजी के समान है, यह काम रूपी दुःशासन से अपनी लाज बचाना चाहती है। श्रीरामजीने जिन गुणों से उन सबकी रक्षा की है, उन्हीं से इसकी भी रक्षा करेंगे। यह समझ कर इसे प्रीति-प्रतीतिपूर्वक नामाराधन करना चाहिये; कहा भी है, यथा—"भाय-कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥" (मा० बा० २७); तथा छन्द ७१,८२ में उद्धृत प्रमाण भी देखिये।

[९०]

नाम अजामिल-से खल तारन, तारन बारन-बारबधू को।
नाम हरे प्रहलाद-बिषाद, पिता-भय-साँसति-सागर सूको॥
नाम सों प्रीति-प्रतीति-बिहीन गिल्यो कलिकाल कराल, न चूको।
राखि हैं राम सो जासु हिये हुलसै तुलसी बल आखर दूको॥

शब्दार्थ—बारन (वारण)=हाथी। बारबधू=वेश्या। गिल्यो=निगल गया।

अर्थ—नाम (श्रीरामनाम) ने अजामिल सरीखे पापियों को तारा है, हाथी और वेश्या को भी तारा है। श्रीरामनाम ने ही श्रीप्रह्लादजी के दुःख दूर किये हैं; उनके पिता के द्वारा होने वाले भय और साँसति का सागर सूख गया। श्रीराम नाम से प्रीति और प्रतीति रहितों को कराल-कलिकाल निगल ही गया,

चूका नहीं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिसके हृदय में उन्हीं दो अक्षरों
(श्रीरामनाम) का बल उमँगता है, उसकी रक्षा श्रीरामजी करेंगे ही।

विशेष—'नाम अजामिल से…'—अजामिल, गणिका और गजेन्द्र की
कथाएँ छन्द ७ में लिखी गईं।

'नाम हरे प्रह्लाद विषाद…'—छन्द ८ में इनकी कथा देखिये।

'नाम सों प्रीति-प्रतीति-विहीन…'; कलियुग के कपटों से एवं कलियुग
से रक्षा श्रीरामनाम ही कर सकता है; यथा—"कालनेमि कलि कपट-निधानू।
नाम सुमति समरथ हनुमानू॥ राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल॥" (मा० बा० २७)। छंद
७१ और ८२ में उद्धृत प्रमाण भी देखिये।

'राखि हैं राम सो जासु…'—आगे के छन्द १२७-१२९ देखिये, तथा—
"सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुबीर।……" (वि० १४४)—
यह पूरा पद देखिये।

उपजाति सवैया [९१]

जीव जहान में जायो जहाँ, सो तहाँ तुलसी तिहुँ दाह दहो है।
दोष न काहू, कियो अपनो, सपनेहु नहीं सुख लेस लहो है॥
राम के नाम ते होउ सो होउ, न सोऊ हिये, रसना ही कहो है।
कियो न कछू, करिबो न कछू, कहिबो न कछू, मरिबोइ रहो है॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि संसार में जीव जहाँ भी उत्पन्न होता
है, वहाँ ही यह तीनों तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक तापों) से जलता (पीड़ित
होता) रहता है। इसमें किसी (और) का दोष नहीं है, अपने किये हुए कर्मों
का ही तो फल-भोग है जो स्वप्न से भी थोड़ा-सा सुख नहीं मिला। श्रीरामनाम
के प्रभाव से जो हो सो भले ही हो; उस रामनाम को भी तो मैंने हृदय से
अर्थानुसंधान पूर्वक नहीं जपा, केवल जीभ से ही कहा है। (बस, इसके अति-
रिक्त) आज तक मैंने न कुछ किया है और न आगे मुझे कुछ करना है तथा न
कुछ कहना है; बस, अब केवल मरना रह गया है।

विशेष—'जीव जहान में…'; यथा—"मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि
भ्रम ते दारुन दुख पायो॥ पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख लेस सपनेहु नहिं

मिल्यो।" (वि० १३६।१); "राम राम राम जीह जौं लौं तू न जपि है। तौ लौं तू कहूँ ही जाय तिहूँ ताप तपि है॥" (वि० ६८)।

'दोष न काहू कियो अपनो···'; यथा–"तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं॥ ताते परबस परयो अभागे। ता फल गर्भवास दुख आगे॥" (वि० १३६।३)।

'राम के नाम ते होइ···'—रामनाम रसना से उच्चरित हो जाने मात्र से हित करता है, विधि आदि के साथ जप की प्रतीक्षा नहीं करता; इसी का भरोसा है—छन्द ७१ और ८२ में कुछ प्रमाण लिखे गये।

'कियो न कछू···'—मरने तक नाम-निष्ठा के अतिरिक्त अन्योपाय का सहारा न लूँगा, इस प्रकार अपनी प्रपत्ति-निष्ठा कही है।

[६२]

जीजै न ठाउँ, न आपनो गाउँ, सुरालयहू को न संबल मेरे।
नाम रटौं, जम बास क्यों जाऊँ, को आइ सकै जम किंकर नेरे॥
तुम्हरो सब भाँति, तुम्हारिअ सौं, तुम्हहीं बनिहौ मोको ठाहर हेरे।
बैरख बाँह बसाइए पै तुलसी घर ब्याध-अजामिल खेरे॥

शब्दार्थ—बैरख (तु० बैरक)=पताका, झंडा, प्राचीन काल में यदि किसी को घर बनाने की राजा की आज्ञा होती थी, तो वह राज-स्वीकृति का झंडा लगा देता था, जिससे कोई बाधा न करे। खेरा = छोटा टोला, छोटा गाँव।

अर्थ—मेरे जीवित रहने के लिये कोई स्थान नहीं है; न मेरा कोई अपना गाँव है और न मेरे पास देव लोक जाने का ही सामान है। श्रीरामनाम रटता हूँ, इससे यमालय कैसे जा सकता हूँ ? कौन यमदूत मेरे समीप आ सकता है ? मैं सब प्रकार आपका हूँ, आपकी ही शपथ करके कहता हूँ, इससे आप ही मेरी ओर देख कर मेरे लिये ठिकाना बनोगे। अपनी बाँह का आश्रय रूपी झंडा देकर मुझे बसाइये, जिस खेरे में व्याध (वाल्मीकि) और अजामिल रहते हैं, उसी में इस तुलसीदास का भी घर हो।

विशेष—'जीजै न ठाउँ···'—संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर चुका हूँ। अतः, यहाँ मेरा गाँव नहीं रहा, इससे यहाँ जीवन-निर्वाह कैसे करूँ। सुकृत मैंने कुछ नहीं किये, इससे स्वर्ग के लिये संबल नहीं है, तो वहाँ भी नहीं जा सकता।

'नाम रटौं जमवास क्यों जाउँ...'—नाम जापक 'आनुकूल्यस्यसङ्कल्पः' इस शरणागति का आश्रित है, उसके पास यमदूत नहीं आ सकते। अतः, वह यमालय नहीं जा सकता—छन्द ५१ में प्रमाण लिखे गये।

"तुम्हरो सब भाँति..."—इसमें पहले शपथपूर्वक अपनी अनन्य-निष्ठा की शरणागति कही है और फिर तदनुसार श्रीरामजी का उपाय बनना भी कहा है। 'ये यथा मां...' (गीता ४।११) छंद १२ में देखिये, इस प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीरामजी शरणागत की अभिरुचि पूरी करते ही हैं।

'वैरख बाँह बसाइये पै...'—व्याध (वाल्मीकि) के समान मेरा मन है, यह विषयोन्मुख वृत्ति से (उल्टी वृत्ति) से राम नाम रटता है, जीव को मनुष्य शरीर ब्रह्म ज्ञान एवं ब्रह्म-प्राप्ति के लिये मिलता है, इससे परमार्थ दृष्टि से ब्राह्मण है, मन का मृत्युमय संसार में जन्म-मरण का हेतु बनना जीवात्मा रूप ब्राह्मण की हिंसा है। मन रूपी व्याध ने संसार रूपी वन में ऐसी बहुत-सी ब्रह्महत्याएँ की हैं। अतः, जिस गुण से उल्टे नाम जप से वाल्मीकि को सद्‌गति मिली है, उसका मैं भी अधिकारी हूँ। अजामिल ने बेटे के लक्ष्य से भगवान् का नाम लिया है, वैसे ही मेरा चित्त पेट-पालनार्थ आपका नाम लेता है – छं० ८२ देखिये। अतः, अजामिल खेरे (लोक) का मैं भी अधिकारी हूँ। अतः, कृपा करके आप मुझे इन्हीं के साथ बसावें; अन्यथा उक्त रीति से मुझे कहीं ठाँव नहीं है।

[९३]

का कियो जोग अजामिल जू, गनिका कबहीं मति प्रेम पगाई ?।
व्याध को साधुपनो कहिये, अपराध अगाधनि मैं ही जनाई॥
करुनाकर की करुना कर नाहित, नाम सुहेत जो देत दगाई।
काहे को खीझिय ? रीझिय पै, तुलसी हूँ सों है बलि सोइ सगाई॥

अर्थ—अजामिलजी ने क्या योग किया था ? गणिका ने क्या कभी अपनी बुद्धि प्रेम में अनुरक्त की थी ? व्याध (वाल्मीकि) के साधुपने को क्या कहा जाय, वह तो उसके अगाध अपराधों में जान पड़ता है (जब नर-हत्या से उसकी जीविका थी, तब उसके पापों की सीमा ही कहाँ ?)। करुणा के खान श्रीरामजी की दया ने दया की है, नहीं तो करुणा के लिये जो सुन्दर कारण नाम-निष्ठा है, उसमें भी इन लोगों ने धोखा ही दिया है; श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं बलि-

हारी जाता हूँ। मुझ से भी वही नाता है (भाव यह कि मैं भी तो नाम निष्ठा की वञ्चना ही करता हूँ)। तब आप मुझ से क्यों अप्रसन्न होते हैं, मुझ पर उन्हीं लोगों के समान निश्चय प्रसन्नता ही करनी चाहिये।

विशेष—'का कियो जोग···व्याध को साधुपनो···'; यथा—"महाराज रामादरयो धन्य सोई। गरुअ गुनरासि सर्वज्ञ सुकृती सूर सील निधि साधु तेहि सम न कोई ॥ कीस केवट उपल भालु निसिचर सबरि गीध सम दम दया दान हीने। नाम लिये राम किए परम पावन सकल तरत नर तिनके गुनगान कीने ॥ व्याध अपराध की साध राखी कौन? पिंगला कौन मति भक्ति भेई? कौन धौं सोमजाजी अजामिल अधम? कौन गजराज धौं बाजपेई? ॥" (वि० १०६); भाव यह कि आप ही करुणा करके जिसे आदर दें, वह सत्पात्र बन जाता है।

'नाम सुहेत जो देत दगाई'—भगवान् श्रीरामजी की करुणा के लिये नाम सुन्दर कारण है; यथा—"अंतरजामिहु ते बड़ बाहेरजामी हैं राम जो नाम लिये ते। धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये ते॥" (छन्द १२९); उसमें भी इन अजामिल, गणिका और व्याध ने धोखा ही दिया है। अजामिल ने पुत्र के बदले में, गणिका ने तोता पढ़ाने में और व्याध ने उल्टा जप कर नाम-निष्ठा की वञ्चना ही की है, फिर भी आपने इन पर अपनी ओर से करुणा की है। अपने नाम की लज्जा रक्खी है।

'तुलसी हू सों है बलि सोइ सगाई'–छन्द ८९ में इनकी निष्ठा से मिलान देखिये। जब मुझ में भी वही बातें हैं, तब तो मुझ पर वैसी ही करुणा होनी चाहिये, इसके लिये मैं बलिहारी जाता हूँ। तथा—"खग गनिका गज व्याध पाँति जहँ तहँ हौं हूँ बैठारो। अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो टारो ॥" (वि० ९४); अच्छा राजा अपनी सारी प्रजा के प्रति एक समान दृष्टि रखता है; आप तो कृपानिधान हैं, फिर मेरे प्रति वैसी करुणा क्यों नहीं करते? 'काहे को खीझिय रीझिय पै'—तब फिर क्यों खीझते हैं, निश्चय प्रसन्न ही हों, क्योंकि मैं ठीक उन्हीं की श्रेणी में हूँ।

श्रीराम गुणगान

मत्तगयंद सवैया [९४]

जे मद-मार-बिकार भरे ते अचार-बिचार समीप न जाहीं।

है अभिमान तऊ मन में जन भाषिहै दूसरे दीनन पाहीं ॥
जौं कछु बात बनाइ कहौं, तुलसी तुम्ह में, तुम्ह हूँ उर माहीं ।
जानकी जींवन जानत हो, हम हैं तुम्हरे, तुम्ह में, सक नाही ॥

अर्थ—जो पुरुष गर्व और काम-विकार से भरे रहते हैं, वे आचार-विचार के पास भी नहीं फटकते। (यह तुलसीदास भी ऐसा ही है—) इसके मन में फिर भी यह अभिमान है कि यह आपके अतिरिक्त दूसरे दीनों (अन्य देवों एवं मनुष्यों) से याचना नहीं करेगा। यदि मैं कुछ बात-बनाकर (झूठ) कहता होऊँ तो यह तुलसीदास आप में है और आप भी इसके हृदय में हैं (अतः, झूठ बात छिप नहीं सकती)। हे श्रीजानकी जीवनजी ! आप यह जानते हैं कि मैं आपका हूँ और आप (की शरण-पालकता) में मुझे सन्देह नहीं है; अर्थात् महाविश्वास-पूर्वक मैं आपका शरणागत हूँ।

विशेष—'जे मद-मार-बिकार भरे····'—मद और काम शरणागति के विरोधी हैं; यथा—"निज हित सुनु, सठ ! हठ न करहि, जो चहहि कुसल परि-वार। तुलसिदास प्रभु के दासन्ह तजि भजहि जहाँ मद मार ॥" (वि० १८८); मद और मार दासों में नहीं रहते, मद से शरणागति होती ही नहीं और काम-विकार से उसकी निष्ठा नहीं रह पाती; यथा —"कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बए फल जथा ॥" (मा० सुं० ५७)। 'ते अचार-बिचार समीप न जाहीं'—साधुओं के आचरण ही सदाचार हैं; यथा—"साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः। तेषामाचरणं यत्तु सदाचारस्स उच्यते ॥" (वि० पु० ३।११।३); अर्थात् 'सत्' शब्द का अर्थ साधु है और साधु वही है, जिसमें दोष न हो, उस साधु का जो आचरण होता है, उसी को सदाचार कहते हैं और विचार का अर्थ यहाँ सदसद्विवेक है; इससे देह धर्मों से उपेक्षावृत्ति रह कर श्रीराम-भक्ति दृढ़ होती है। मद से विवेक नहीं रहता और मार से सदाचार नहीं रहता। इन्हीं से रक्षार्थ मैं आपकी शरण हुआ हूँ।

'है अभिमान तऊ···'—शरण्य पर निर्भरता है, इसी के बल पर मैं अन्य देव-मनुष्य आदि से बात भी नहीं करता। क्योंकि देव-मनुष्य तो स्वयं दीन हैं।

'दूसरे दीनन पाहीं'—श्रीरामजी के अतिरिक्त अन्य देव आदि स्वयं उन्हीं के भिखारी हैं। अतः; दीन हैं; यथा—"सुर नर मुनि असुर नाग साहिब तौ

घनेरे। तौं लौं जौं लौं रावरे न नेकु नयन फेरे ॥'' (वि० ७८); तथा श्रीजानकीजी की कृपा दृष्टि से लोक पाल होते हैं—छंद २६ देखिये।

'जौं कछु बात बनाइ कहौं···'; यथा—''ज्ञानहू-गिरा के स्वामी, बाहर-अंतरजामी, इहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हीय की ? । तुलसी तिहारो, तुमहीं पै तुलसी के हित, राखि कहौं हौं तो जो पै ह्वै हौं माखी घीय की ॥'' (वि० २६३)। मैं आप में हूँ; क्योंकि आप व्यापक और मैं व्याप्य हूँ। व्याप्य वस्तु व्यापक में रहती है। अंतर्यामी रूप से आप मेरे हृदय में हैं।

'जानकी जीवन ! जानत हौ···'—ऊपर 'तुलसी तुम्ह में' इस वाक्य में व्याप्य-व्यापक भाव का कथन आ ही गया है, इससे चौथे चरण के 'तुम्ह में' इस पद का अर्थ 'तुम्हारे विषय में=तुम्हारी शरण-पालकता में' ऐसा अर्थ किया गया है; अन्यथा पुनरुक्ति होती। 'हम हैं तुम्हरे तुम्ह में सक नाहीं' इस वाक्य खंड में अपनी विशुद्ध शरणागति कह दी और साथ ही 'जानकी जीवन ! जानत हौ' ऐसा कहा है। इस सम्बोधन में छन्द ३६ के 'जानकी जीवन जान' का भाव है कि जैसे श्रीजानकीजी वहाँ अनन्य भाव से शरण थी, तब आप उनके जीवन हुए, वैसे ही मेरी भी शरणागति है। अतः, मेरे जीवन भी हों। इस मेरे भाव को आप जानते हैं। अतः, मेरी रुचि रक्खें।

उपजाति सवैया [६५]

दानव-देव, अहीस-महीस, महामुनि-तापस, सिद्ध-समाजी।
जग जाचक,दानि दुतीय नहीं,तुम्हही सबकी सब राखत बाजी ॥
एते बड़े तुलसीस ! तऊ सबरी के दिये बिनु भूख न भाजी।
राम गरीब-नेवाज ! भये हौ गरीब नेवाज गरीब-नेवाजी ॥

शब्दार्थ—समाजी = साम्प्रदायिक लोग। निवाज (फा०) = रक्षक। गरीब-नेवाज = दीन दयालु, दीनों पर कृपा करनेवाला।

अर्थ—दैत्य और देवता, शेषनाग और पृथिवी के राजा, महान् मुनि और तपस्वी लोग और अन्य साम्प्रदायिक लोग—इन सबके साथ सारा संसार याचक है, इन सबको देनेवाला आपके अतिरिक्त दूसरा नहीं है। आप ही सबके सब मनोरथ पूर्ण करते हैं। हे तुलसीदास के ईश्वर ! आप इतने बड़े हैं, तो भी

श्रीशबरीजी के दिये हुए फलों के विना आपकी भूख दूर नहीं हुई। हे दीन दयालु श्रीरामजी ! आप दीनों की रक्षा करके ही 'गरीब-निवाज' हुए हैं।

विशेष—'दानव-देव, अहीस महीस···जग जाचक···'; यथा—"करत बिचार सार पैयत न कहूँ कछू, सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत ?।" (वि० २५६); "मनसा को दाता कहै श्रुति प्रभु प्रवीन को।" (वि० २६९)। "एकै दानि-सिरोमनि साँचो।···" (वि० १६३)।

'एते बड़े तुलसीस तऊ···'—बड़े होते हुए भी सौलभ्य इतना है कि प्रेम के वश होकर शबरी के फलों के भूखे हो गये; तथा—"केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि-माँगि प्रभु खात ! प्रभु खात माँगत, देति सबरी राम भोगी जाग के।···बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के। सुनु समुझि तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के।।" (गी० अर० १७)।

'राम गरीब-नेवाज···'—आपने दीनों की रक्षा कर-करके जिस विरुद को सम्पन्न किया है। उसकी रक्षा करनी ही चाहिये। अतः, मुझ दीन पर भी दया हो।

कवित्त [९६]

किसमी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट, चोर, चार, चेटकी।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेट की।।
ऊँचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही ते,
आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।।

शब्दार्थ—किसमी (अ० कसंबी) = श्रम जीवी, कुली। चार = गुप्त दूत। चेटकी = बाजीगर, तमाशा करनेवाले। बड़वागि=समुद्र की अग्नि, बड़वानल। आगि पेट की=जठराग्नि। अटत=चलत। अखेटकी = शिकारी।

अर्थ—श्रम जीवी, कृषक गण (किसान समूह), व्यापारी, भिक्षुक, भाट, सेवक, चञ्चल नट, चोर, गुप्त दूत और बाजीगर, ये सब पेट ही के लिये पढ़ते हैं

और अपने मन से अनेक गुण गढ़ते (प्रकट करते) हैं, पहाड़ों पर चढ़ते हैं और शिकारी लोग दिन-दिन भर सघन वनों में चलते (भटकते) हैं। पेट ही के लिये सब लोग ऊँचे-नीचे कर्म तथा धर्म-अधर्म करते हुए पचते (मरे मिटते) हैं; यहाँ तक कि बेटा-बेटी भी बेंच देते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह पेट की अग्नि (जठराग्नि) वडवानल से भी बड़ी है और एक मात्र श्याममेघ रूपी श्रीरामजी ही से बुझ सकती है।

विशेष—**'अटत गहन-गन'**—के स्थान पर कुछ प्रतियों में 'अटत गहन-वन' भी पाठ है, पर 'गहन' पद मात्र में भी 'वन में गुप्त स्थान' का अर्थ रहता है—हिं० श० सा०। अतः, गहन-गन पाठ में अधिक भाव है, वैसे स्थानों के समूह का अर्थ है।

'आगि बड़वागि ते···'—उदर भी समुद्र के समान है; यथा—"उदर उदधि अघगो जातना।" (मा० लं० १४); अतः पेट (उदर) की आग और समुद्र की आग की तुलना सुन्दर है। जैसे वह जल के बीच में रहती हुई भी नहीं बुझती, वैसे यह जठराग्नि भी भोजन-जल नित्य करती हुई भी कभी तृप्त नहीं होती, नित्य क्षुधा-तृषा बनती ही रहती है।

'बुझाइ एक राम घनस्याम ही ते'; यथा—"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रस वर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।" (गीता २।५९); अर्थात् निराहारी (विषयों से इन्द्रियों को समेट लेने वाले) पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग के अतिरिक्त (राग की निवृत्ति नहीं होती)। इस (स्थित धी) का तो विषय-राग भी परम (सुखरूप आत्मस्वरूप) का साक्षात्कार होने पर निवृत्त हो जाता है। "रागः अपि आत्मस्वरूपं विषयेभ्यः परं सुखतरं दृष्ट्वा विनिवर्तते ॥"—रामानुज भाष्य। तथा—"जो मोहिं राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ॥ बंचक बिषय बिबिध तनु धरि अनुभवे सुने अरु डीठे। यह जानत हौं हृदय आपने सपने न अघाइ उबीठे ॥ तुलसिदास प्रभु सों एकहि बल बचन कहत अति ढीठे। नाम की लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे ॥" (वि० १६९)-इस पद में श्रीराम-प्रेम द्वारा विषय से अरुचि होना कह दिया, तब विषय-तृष्णा की नित्य तरुणता कही और फिर नामाश्रित पर रामकृपा कह कर उससे उक्त व्यवस्था की विधि कही गई है। श्याम

मेघ वर्षा करके आग बुझाते हैं, वैसे ही श्रीरामजी कृपा-वारि धर रूप अपने श्याम शरीर के ध्यान से आश्रितों की विषय-स्पृहा दूर करते हैं।

[६७]

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान, सोच बस,
कहैं एक एकनि सों "कहाँ जाई, का करी ?॥"
वेदहू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत,
साँकरे सबै पै; राम ! रावरे कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु !
दुरित दहत देखि 'तुलसी' हहा करी॥

शब्दार्थ—सीद्यमान (सं० सीदति) = दुःखित। दुरित-दहन=पापों से जलता हुआ। हहा करना=बिनती करना।

अर्थ—(श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि) हे श्रीरामजी ! मैं आपकी बलि जाता हूँ। (इस समय) किसानों की खेती नहीं होती, भिखारी को भीख नहीं मिलती, बनियों का वाणिज्य नहीं चलता और न नौकरों को कहीं नौकरी ही मिलती है। (इस भाँति) लोग जीविका से हीन होने के कारण दुःखित हो रहे हैं और शोक के वश होकर एक दूसरे से कहते हैं कि 'हम अब कहाँ जायँ और क्या करें ? (कुछ समझ नहीं पड़ता)'। वेदों और पुराणों ने भी कहा है तथा संसार में देखा भी जाता है कि संकट पड़ने पर आपने ही सब पर कृपा की है। (इस समय) दारिद्य रूपी रावण ने संसार को पीड़ित किया है। अतः, संसार को पापों से जलता हुआ देख कर यह तुलसीदास आप से हाहा करता है; (अर्थात् अत्यन्त कातर होकर प्रार्थना करता है कि आप सहायता करें)।

विशेष—'खेती न किसान को···'—कलिकाल में पापाचारी हो जाने से लोग भाँति-भाँति के दुःख पाते हैं; यथा—"भए बरन-संकर कलिहि, भिन्न सेतु सब लोग। करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग॥···सुनु खगेस कलि कपट हठ, दंभ द्वेष पाखंड। मान मोह मारादि मद, ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥

तामस धर्म करहिं नर, जप तप ब्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनि पर, बए न जामहिं धान॥" (मा० उ० १००-१०१); इत्यादि।

'बेदहू पुरान कही...'; यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ करहि अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ तब-तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥ असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥" (मा० बा० १२०-१२१); गीता ४।७-८ में तथा पूर्वोक्त छंद ८-११ में भी यही कहा गया है।

'दारिद दसानन दबाई दुनी...'—दारिद्य दसो दिसाओं से लोगों को जला रहा है, इससे यह दसानन रूप है, यह लोगों के पापों का फल है, इससे सिद्ध है कि सब अपने-अपने पापों के फल रूप में त्रिविध तापों से जल रहे हैं, यह देख दया से द्रवीभूत हो श्रीतुलसीदासजी कातर हो प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि जैसे आपने देवों और सिद्धों की प्रार्थना सुन कर संसार को दसानन से दुख पाते हुए बचाया है, वैसे ही इस समय भी रक्षा कीजिये।

इसी प्रकार की प्रार्थना वि० १३६ में भी की गई है, वहाँ साथ ही सफलता भी कही गई है। महापुरुषों की प्रार्थना पर भगवान् जगत् का कल्याण करते हैं।

अलंकार—रूपक ('दारिद-दसानन')।

[९८]

कुल करतूति भूति कीरति सरूप गुन
जौवन ज्वर जरत, परै न कल कहीं।
राज काज कुपथ, कुसाज भोग रोग को है,
बेद-बुध बिद्या बाय बिबस बलकहीं॥
गति तुलसीस की लखै न कोऊ, जो करत
पब्बय ते छार, छार पब्बय पलक ही।
कासों कीजै रोष, दोष दीजै काहि, पाहि, राम!
कियो कलिकाल कुलि खलल खलक ही॥

शब्दार्थ—बलकहीं = प्रलाप करते हैं। पब्बय = पर्वत। कुलि = समस्त। खलक (अरबी) = संसार। खलल (अ०) = बाधा, रोक, अस्त-व्यस्त।

अर्थ—यौवन रूपी ज्वर में सब लोगों के कुल, करनी, ऐश्वर्य, कीर्त्ति, स्वरूप और गुण जल रहे हैं; अर्थात् नष्ट हो रहे हैं, किसी को कहीं भी कल (सुख) नहीं मिलता। (उक्त ज्वर में) राज्य-कार्य कुपथ्य है और नाना प्रकार के भोग रोग-बढ़ाने वाली कुत्सित सामग्रियाँ हैं। वेद के विद्वान् विद्या के चातुर्य से अंड बंड बकते हैं, यही बात (वायु) के वश होकर प्रलाप करना है। तुलसीदास के स्वामी श्रीरामजी की गति को कोई नहीं जानता; जो पल मात्र में पहाड़ से धूल और धूल से पहाड़ बना देते हैं। (ऐसी स्थिति में) किससे क्रोध किया जाय और किसे दोष दिया जाय? हे श्रीरामजी ! मेरी रक्षा कीजिये। इस कलि-काल ने तो समस्त संसार को बाधा-ग्रस्त कर दिया है।

विशेष—'कुल करतूति भूति…'—यौवन ज्वर के समान है; यथा—"जौबन ज्वर केहि नहिं बलकावा।" (मा० उ० ७०)। जवानी के मद में काम वश नीच जाति की स्त्री में रत होने पर कुल-मर्यादा नष्ट होती है। भले कर्त्तव्य भी नहीं हो पाते; यथा—"जप तप नेम जलासय भारी। होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी॥" (मा० अर० ४३)। पाप कर्म से ऐश्वर्य नष्ट होता है, और अकीर्त्ति भी होती है; अत्यन्त विषयासक्ति से स्वरूपता का नाश होता है और सद्‌गुण जाते रहते हैं; यथा—"जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुखनाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजौ चौथि के चंद कि नाईं॥" (मा० सुं० ३७); "पाप-उलूक-निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥ बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम तिय कहहिं प्रबीना॥" (मा० अर० ४३)।

इस प्रकार के यौवन रूपी ज्वर की दाह में कुपथ्य रूपी स्त्री की बड़ी चाह रहती है। स्त्री-भोग के साथ अष्ट भोग स्वतः आ जाते हैं। अष्ट भोग; यथा—"स्रग्गंधं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगास्त्वष्टविधः स्मृतः॥" इनकी पूर्त्ति राज्य कार्य एवं उसके वैभव से होती है, इससे यहाँ राज्य कार्य को कुपथ्य कहते हैं और फिर उससे त्रिदोष होना; यथा—"जौबन ज्वर जुबती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥" (वि० ८३)।

'राज काज कुपथ कुसाज भोग…'—चढ़े ज्वर में दूध, दधि और मिठाई आदि कुपथ्य हैं। इनमें ऐश्वर्य प्राप्ति दूध है, शासनाधिकार दही और

तन-पोषण मिठाई हैं; इन राजसी कुसाजों से यौवन ज्वर प्रबल होता है। स्त्री आदि भोग से वह ज्वर बिगड़ जाता है; इन में स्त्री-भोग दिन का सोना है, सुगन्ध लगाना दुर्गन्ध-स्थान निवास है, गान-तान पवन लगना है, भूषण-वस्त्र आदि मैले वस्त्र के समान हैं, उत्तम भोजन धूप लगना और गज आदि वाहन परिश्रम करना है। ये कुभोग त्रिदोष रोग के कारण हैं।

'वेद-बुध बिद्या-बाय-बिबस…'—उक्त कारणों के साथ यदि वेद-शास्त्र की विद्या भी कुछ प्राप्त हो गई तो वातुलों का-सा प्रलाप बकने लगते हैं; यथा—"बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥" (वि० ११४)।

'गति तुलसीस की लखै न कोऊ…'—जिन अधिकारों का गर्व रहता है, जिससे उक्त प्रमाद की व्यवस्थाएँ हैं, वे ईश्वर की भौंह बदलते ही क्षण में नष्ट हो जाने वाले हैं, यह कोई नहीं देखता; इसी से निर्भय होकर प्रमाद किया जाता है; यथा—"सुर नर मुनि असुर नाग साहेब तौ घनेरे। तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥" (वि० ७८); "मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन॥" (मा० उ० १२२)। तात्पर्य यह कि जब कोई ईश्वर की इस गति को जानता है तब वह उनकी भक्ति करता है, इससे उसकी सद्भावनाएँ सिद्ध होती हैं, वह धूल से पहाड़ के समान हो जाता है। गीता ७।२१–२२ तथा १०।६–११ देखिये। और जो ईश्वर की गति न जान कर मोह वश भोग ही में रत होता है तो उक्त रीति से त्रिदोष वश नष्ट होता है—गीता १६।१८–२० देखिये।

'कासों कीजै रोष…'—लोगों की वैसी दशाएँ क्यों हो रही हैं, इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी पर क्रोध करना एवं किसी को दोष देना व्यर्थ है। कलिकाल ने संसार का वातावरण ही दूषित कर दिया है, इसी से सब पतन की ही ओर जा रहे हैं। जैसे जाड़ा, गर्मी और वर्षा के अनुकूल जगत् की वृत्ति प्रवर्तित होती रहती है, वैसे ही शुभ-अशुभ काल के अनुसार शुभ-अशुभ वृत्तियाँ बढ़ती हैं। कलिकाल अशुभ काल है, इसी की प्रेरणा से सारे संसार के अधिकांश लोगों की वृत्तियाँ उसी के अनुकूल हो रही हैं; यथा—"सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥ कलिमल ग्रसे धरम सब, लुप्त

भये सद्ग्रंथ। दंभिन्ह निज मति कल्पि करि, प्रगट किये बहु पंथ ॥ भए लोग सब मोह बस, लोभ ग्रसे सुभकर्म।" (मा० उ० ६७)।

अलंकार—रूपक (पहले के दो चरणों में)।

[६६]

बबुर बहेरे को बनाइ बाग लाइयत,
रूँधिबे को सोऊ सुरतरु काटियतु है।
गारी देत नीच हरिचंदहू दधीचहू को,
आपुन चना चबाइ हाथ चाटियतु है ॥
आपु महापातकी, हँसत हरि-हरहू को,
आपु हैं अभागी भूरिभागी डाँटियतु है।
कलि को कलुष मन मलिन किये महत
मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियतु है।

अर्थ—(इस कलिकाल के वश होकर लोग ऐसे हो रहे हैं कि) बबूल और बहेरे का बाग भली-भाँति लगाकर उसके रूँधने के लिये कल्पवृक्ष काटते हैं। नीच ऐसे हैं कि राजा हरिश्चन्द्र और महर्षि दधीच को भी गाली देते हैं और स्वयं चने चबाकर हाथ चाटते हैं। स्वयं तो महापापी हैं; परन्तु विष्णु भगवान् और शिवजी को भी हँसते हैं। स्वयं भाग्यहीन हैं, परन्तु बड़े-बड़े भाग्यवानों को डाँटते हैं। इस प्रकार कलियुग के पापों ने मन को तो अत्यन्त मलिन कर रक्खा है, फिर भी सर्वश्रेष्ठ होने का गर्व रहता है, मानों मच्छर की पसुलियों से समुद्र को पाटना चाहते हैं (कि हम बड़े सुकृती हैं, इसी से भवसागर पार हो जायँगे)।

विशेष—'बबुर बहेरे को...'—बबूल और बहेड़े के वृक्षों के नीचे तंत्रागम की आज्ञानुसार पिशाच आदि की आराधना की जाती है। मलिन बुद्धिवाले लोग लोक में पुजाने के लिये भूत-पिशाच की सिद्धि प्राप्ति के लिये अच्छा स्थल बना कर वहाँ बबूल और बहेड़े का बाग लगाते हैं, उसकी रक्षा के लिये देव वृक्ष पीपल, आम और बेल आदि काटते हैं। तथा अधर्मियों से स्नेह कर उन्हें प्रसन्न करने के लिये धर्मात्माओं को दंड देते हैं, यह कलिकाल में पूजकों एवं अधि-कारियों के कर्तृत्व हैं।

'गारी देत नीच···'—राजा हरिश्चन्द्र और महर्षि दधीच बड़े भारी दानी थे, इनकी कथाएँ लिखी जाती हैं—

राजा हरिश्चन्द्र की कथा

श्रीनाभाजी के भक्तमाल की टीका में श्रीप्रियादासजी ने लिखा है; यथा—"सुनो हरिचंद कथा, ब्यथा बिनु द्रव्य दियो, तथा नहिं राखी बेचि सुत तिया तन है।" अर्थात् महाराज श्रीहरिश्चन्द्रजी की कथा सुनिये, उन्होंने दुःख-रहित मन से (श्रीविश्वामित्रजी को) द्रव्य (तीन भार सोना) दिया, पुत्र, अपनी रानी और अपना शरीर तक भी नहीं रक्खा, तीनों को बेंच डाला।

श्रीहरिश्चन्द्रजी श्रीअयोध्याजी के सूर्यवंशी राजा थे; धर्म-अर्थ-निष्ठा में दृढ़ और प्रतापी थे। एक समय श्रीवसिष्ठजी की अनुपस्थिति में श्रीविश्वामित्रजी ने इनका यज्ञ कराया। दक्षिणा में राज्य और तीन भार (इक्कीस मन) सोने का संकल्प करा लिया। फिर तीन भार सोना बड़ी कड़ाई से माँगा (किसी-किसी का मत है कि स्वप्न में विश्वामित्र ने सब राज्य दान में लिया था—उस दान को भी राजा ने सत्य किया)।

श्रीवशिष्ठजी आ गये, उनकी अनुमति से राजा अपनी रानी और पुत्र के साथ काशी पुरी गये। वहाँ पुत्र रोहिताश्व और धर्मपत्नी तो एक ब्राह्मण के यहाँ बिके तथा स्वयं राजा एक चांडाल के यहाँ बिका। इस प्रकार सम्पूर्ण दक्षिणा दे डाली।

कालिया चांडाल ने राजा हरिश्चन्द्र को मृतक का कर लेने के लिये श्मशान घाट पर नियत कर दिया। श्रीविश्वामित्रजी ने साँप बन कर रोहिताश्व को काटा, वह मर गया। रानी पुत्र को लेकर रोती हुई श्मशान घाट पर गई। उससे धर्मात्मा एवं दुखी राजा ने डोम के लिये कर माँगा। उसने आधी साड़ी फाड़ कर दी। इन्द्र और विश्वामित्रजी ने इस परीक्षा में इन्हें खरा पाकर दूसरी चाल चली। काशिराज के पुत्र को मारकर और हरिश्चन्द्र की निर्दोष रानी को डाकिनी बता उस पर कुमार-वध का कलंक लगाया। काशी नरेश ने श्रीहरिश्चन्द्र को ही उस रानी को मार डालने की आज्ञा दी। राजा इस परीक्षा में खरे उतरे, उन्होंने जैसे रानी पर शस्त्र उठाया, सूर्य भगवान् ने जयघोष किया और इन्द्र

आदि देवों ने फूल बरसाये। श्रीविष्णु भगवान् एवं श्रीशिवजी ने दर्शन दिये और राजा का हाथ पकड़ लिया। इन्होंने उस राजकुमार को जिला दिया। विष्णु भगवान् ने भक्ति का वर दिया। विश्वामित्रजी ने रोहिताश्व को भी जिला दिया। उन्होंने अपनी करतूत कह राजा का सर्वस्व एवं राज्य लौटा दिया। राजा ने पुर में भक्ति करते हुए राज्य किया, अन्त में उसी पुत्र को राज्य दे परधाम यात्रा की।

यह कथा भक्त-माल टीका के आधार पर लिखी गई है।

महर्षि दधीच की कथा

वृत्रासुर के मारने में असमर्थ होकर देवगण श्रीब्रह्माजी के पास गये, ब्रह्माजी ने उन्हें महर्षि दधीच के पास भेजा। ये अथर्वा ऋषि के पुत्र हैं, इन्हीं का दूसरा नाम अश्वशिरा भी है। वे ऋषि बड़े उदार बुद्धि थे। श्रीनारायण के साथ सब देव वहाँ गये। उनका आश्रम सरस्वती नदी के उस पार था। वहाँ ब्रह्मा और सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि दधीच विराजमान थे। देवों ने प्रणाम कर अपना प्रयोजन सुनाया। महर्षि दधीच ने प्रसन्न होकर दिया और कहा कि हम अपनी इच्छा से अपना शरीर छोड़ते हैं। जब उन्होंने प्राण छोड़ दिया, तब देवों ने ब्रह्माजी के आदेशानुसार उनकी हड्डियों को ग्रहण किया। वे हड्डियाँ तप के प्रभाव से दृढ़ एवं तेजस्विनी हो गई थीं। विश्वकर्माजी ने उन हड्डियों से बलपूर्वक शस्त्र बनाया, उसका नाम बज्र रक्खा और इन्द्र को दिया, इन्द्र ने उसी से वृत्रासुर का वध किया है। यह कथा महाभारत वनपर्व अध्याय १००-१०१ के अनुसार है।

इस प्रकार श्रीहरिश्चन्द्रजी ने अपना सर्वस्य दे डाला और महर्षि दधीच ने देह और प्राण दिया है। ये कलिकाल के नीच प्राणी इन्हें हँसते हैं कि ये लोग मूर्ख थे जो अपने सर्वस्व और प्राण गँवा दिये हैं।

इतने बड़े दानियों की तो निन्दा करते हैं और स्वयं ऐसे दरिद्र एवं कृपण हैं कि चना चबा कर हाथ चाटते हैं कि कुछ रह तो नहीं गया।

दोहावली में भी कहा है; यथा—"ठाढ़ो द्वार न दै सकैं, तुलसी जे नर नीच। निंदहिं बलि हरिचंद को, 'का कियो करन दधीच' ॥" (३८२)।

'आप महापातकी हँसत हरि हरहू को'—विष्णु भगवान् और शिवजी ऐसे पवित्रात्मा हैं कि इनकी उपासना से लोग पवित्र हो जाते हैं। कलिकाल के

ये महापापी इन्हें हँसते हैं कि विष्णु ने तो लोभवश बलि से एवं वृन्दा से छल किया है और शिवजी तो कामवश होकर मोहनी के पीछे दौड़े थे। वास्तव में विष्णु भगवान् ने तो वलि और वृन्दा पर कृपा की है और मोहनी रूप में तो साक्षात् भगवान् ही थे। भगवान् की क्रीड़ाएँ दिव्य हैं; यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यम्" (गीता ४।६)।

'आपु हैं अभागी··'—भूरिभागी पूर्व के सुकृती हैं और ये अभागी पूर्व के पापी हैं। अतः, इनके द्वारा आदर के पात्र हैं, पर ये नीच उन्हें डाँट कर उनका अपमान कर पाप करते हैं (कि हम तुम्हें कुछ नहीं समझते)।

'कलि को कलुष···'—इस प्रकार कलि के पापों से लोगों के मन की मलिनता है, पर अपने में सर्वश्रेष्ठ होने का अभिमान रखते हैं कि हम तो भव-सागर तर जायँगे। इनका यह मनोराज्य वैसा ही असम्भव है जैसे मच्छर की पसलियों से समुद्र का पाटा जाना।

अलंकार—छेकोक्ति।

कलिकाल को फटकार

[१००]

सुनिये कराल कलिकाल! भूमिपाल तुम्ह
जाहि घालो चाहिये कहौ धौं राखै ताहि को?
हौं तो दीन दूबरो, बिगारो-ढारो रावरो न,
ताको हहु तुम्ह हू सकल जग जाहि को।
काम कोह लाइ कै देखाइयत आँखि मोहिं
एते मान अकस कीबे को आपु आहि को?
साहिब सुजान जिन स्वानह को पच्छ कियो,
रामबोला नाम हौं गुलाम राम-साहि को॥

शब्दार्थ—घालो चाहिये=नाश करना चाहते हो। मान=परिमाण। अकस (सं० आकर्ष)=वैर, द्वेष, विरोध, बुरी उत्तेजना।

अर्थ—हे भयङ्कर कलिकाल! सुनिये, (आज दिन) तुम राजा हो, इससे तुम जिसे नष्ट करना चाहो, उसकी रक्षा, भला! कौन कर सकता है? मैं तो

दीन और दुर्बल हूँ और फिर मैंने आपका कुछ बिगाड़ा एवं गिराया नहीं, तुम भी उसी के हो, जिसका यह सारा संसार है (; अर्थात् हमारा-तुम्हारा स्वामी एक ही है)। फिर इतने परिमाण में (अर्थात् अत्यन्त अधिक) बुरी उत्तेजना प्रस्तुत करने के लिये आप होते कौन हैं, जो काम-क्रोध को लगाकर (प्रेरित कर) मुझे आँख दिखाते हैं ? (क्या तुम नहीं जानते ? कि) मेरे स्वामी श्रीरामजी बड़े सुजान हैं, जिन्होंने एक श्वान (कुत्ते) का भी पक्ष किया था, मेरा 'राम बोला' नाम है और मैं शाह (महाराज) श्रीरामजी का सेवक हूँ।

विशेष—यह सुना जाता है कि एक मेघा नामक भक्त की स्त्री ने श्रीगोस्वामीजी की परीक्षा लेने के लिये एकान्त में आकर कई बार प्रणय की प्रार्थना की थी। परन्तु श्रीगोस्वामीजी ने उससे प्रार्थना पूर्वक समझा कर लौटा दिया था, ये छंद (१००,१०१,१०२) उसी समय के हैं। यह घटना सत्य हो और चाहे न हो, ऐसी घटनाएँ काल की प्रेरणा से होती हैं। जीवों के कर्मानुसार फल देने को प्रस्तुत ईश्वर की इच्छा काल है; यथा—"भृकुटि विलास भयंकर काला।" (मा० लं० १४); "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिहप्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥" (गीता ११। ३२)। इसीसे काल बलवान् कहाता है, यही विचार कर श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

'तुम्ह जाहि घालो चाहिये…'-काल जिसे नष्ट करना चाहता है, उसकी बुद्धि विपरीत ही निश्चित करती है; यथा—"न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्। कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम्॥" (महा० सभा० ८१।११); अर्थात्—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धरम बल बुद्धि बिचारा॥ निकट काल जेहि आवत साँई। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाईं॥" (मा० लं० ३५)।

कलिकाल में जब काल प्रभाव से बहुत लोग दूषित आचरण के देखने में आते हैं, तब अपनी बुद्धि भी उन्हीं को प्रमाण दिला वैसा ही आचरण करना निश्चित कर लेती है। जगत् की व्यवस्था समष्टि जीवों के कर्मानुसार ईश्वर-प्रेरणा से होती है, यही काल की करालता है; यथा-"न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम। न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वं कालः प्रकर्षति॥ कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥" (महा० स्त्री० २।२३-२४)।

'हौं तो दीन दूबरो…'—जब तुम राजा हो तो नीति के अनुसार दुर्बलों का पालन और बलमद के मतवालों को दंड देना चाहिये। पर तुम ऐसा नहीं करते, तब तो फिर हमारे और सर्व जगत् के स्वामी के द्वारा तुम्हें दंड मिलेगा; क्योंकि उनकी प्रजा सारा जगत् है और तुम भी हो। जब मैं तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं करता, तब तुम अनीति से सताने का फल पाओगे।

आगे कलिकाल का अन्याय दिखाते हैं —

'काम कोह लाइ कै देखाइयत आँखि मोहिं…'—जगत् के द्वारा काम और क्रोध के संयोग लगाकर मुझे तंग करते हो, यही आँख दिखाना अर्थात् डाँटना एवं नष्ट करने की धमकी देना है।

'एते मान अकस कीबे को आपु आहि को'—जगत् ही कलिकाल का राज्य है, इससे पृथक् मैं विरक्त रूप में रहता हूँ। ईश्वर का अंश हूँ, मैं अपने अंशी की भक्ति करता हुआ भिक्षावृत्ति से रहता हूँ, तब तुमसे मेरा कोई संबंध नहीं है, फिर मुझसे वैर बाँध ऐसी बुरी उत्तेजनाओं का संयोग लगा कर मुझे तङ्ग करनेवाले आप कौन होते हैं? स्मरण रक्खो —

'साहिब सुजान जिन्ह स्वानहू को पच्छ कियो…'—हमारे स्वामी सुजान हैं। अतः, अपने आश्रितों की रुचि रखते हुए उनका पालन करते हैं; यथा—"स्वामि सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जीकी॥ प्रनत-पाल पालहिं सब काहू। देव दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥" (मा० अ० ३१३)। उन्होंने प्रजा मात्र के सम्बन्ध से एक कुत्ते का भी पक्ष किया था, उसकी रुचि रखते हुए उन्होंने ब्राह्मण को दंड दिया था, फिर तुम्हारी कौन गिनती है?

श्वान के पक्ष करने की कथा

एक समय श्रीरामजी के यहाँ एक कुत्ता कुछ प्रार्थना (फरियाद) करने आया। श्रीरामजी ने उसे बुलाकर पूछा। उसने राजा की उचित स्तुति करके कहा कि सर्वार्थ-सिद्धि नाम के एक भिक्षुक ब्राह्मण ने विना अपराध एवं विना कारण मेरे शिर पर डंडे से मारा है (उससे मेरा मस्तक फूट गया है)। श्रीरामजी ने बुला कर उस ब्राह्मण से पूछा। उसने कहा कि मैंने क्रोधवश होकर इसे मारा है। मैं भूखा था और भिक्षार्थी फिर रहा था। यह कुत्ता बीच मार्ग में बैठा था, मैंने इसे वचनों से हटाया, यह मार्ग के विषम स्थल में भूँकने लगा,

इस पर क्रोधवश मैंने इसे मारा है। अतः, मैं अपराधी हूँ। मुझे दंड देकर शुद्ध कर दीजिये, जिससे मुझे इसके फलभोग के रूप में नरक का भय न हो।

इस पर मंत्री लोग विचारने लगे कि ब्राह्मण दंड से अवध्य है, तब कौन दंड देकर इसे शुद्ध किया जाय? इस पर कुत्ते ने ही श्रीरामजी से कहा कि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और आपने यह भी कहा है कि मैं तुम्हारा कौन काम करूँ? अतः, मैं यही चाहता हूँ कि इस ब्राह्मण को मठपति (महान्त) बना दिया जाय। कालिञ्जर के मठ (शिवालय) की महान्ती इसे दी जाय। इस पर श्रीरामजी ने उसे महान्ती पद का अभिषेक किया और हाथी पर चढ़ा कर कालिञ्जर मठ पर भेजा, वह प्रसन्न होकर गया।

इस दंड-विधान पर मंत्रियों ने पूछा—यह तो दंड नहीं; प्रत्युत प्रसाद है। श्रीरामजी ने कहा, कुत्ता जानता है। कुत्ते ने कहा कि मैं पूर्व उसी मठ का महान्त था, विधिवत् बर्त्ताव करता हुआ भी (किसी अज्ञात चूक पर), इस गति को पहुँचा (क्योंकि शिव-निर्माल्य का भोक्ता कुत्ता होता ही है) और यह ब्राह्मण तो क्रोधी एवं अन्यायी है। अतः, यह तो अपनी सात-सात पीढ़ियों को भी पतित करेगा, यही इसके लिये भारी दंड है—यह कथा वाल्मी० ७।५६ के पास प्रक्षिप्त सर्ग १०२ की है।

श्वान की कथा का परमार्थ पक्ष

शरणागत जीव ईश्वर के द्वार पर स्थित कुत्ते के समान है; यथा—"द्वार हौं भोर हो को आज। रटत रिरिहा आरि और न कौर ही के काज॥" (वि० २१६); "सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं।....कहिहौं बलि रोटिहा रावरो....," (गी० सुं० ३०) कुत्ता बीच मार्ग में स्थित था, उस पर उस यती ने दंडप्रहार किया। वैसे शरणागत जीव भगवान् का होने से ऋणत्रयाधिकारी जमीन्दारों के अधिकार से बाहर है। मार्ग की भूमि राजा की होती है। वैसे ही शरणागत मार्गरूपी भगवान् के आधार पर रहते हैं, इन पर किसी का अधिकार नहीं है। कर्मरूपी ब्राह्मण का इस पर दंड-प्रहार वैसा ही अन्याय है। श्रीरामजी ने न्याय करके उस यती को पुर से बाहर कर दिया; यथा—"स्वान कहे ते कियो पुर बाहर जती गयंद चढ़ाई।" (वि० १६५); वैसे ही श्रीरामजी इस शरणागति रूपी पुर से कर्म-शासन दूर कर देते।

यहाँ श्रीगोस्वामीजी कलि से कहते हैं कि मैं तो प्रजा मात्र ही नहीं; प्रत्युत् श्रीरामजी का सेवक हूँ, मेरा पक्ष वे क्यों न करेंगे, जब कि वे सुजान साहिब हैं। मेरे प्रति कर्म-शासन न रहने देंगे, तब तुम्हारा अधिकार मुझ पर कैसे रहेगा? 'साहि'—शाही शासन प्रसिद्ध है। बादशाह के नौकर को आँख दिखाने वाला कड़ा दण्ड पाता है। सेवकाई भी 'राम बोला' इस अपने नाम से सूचित करते हैं कि मैं 'राम' वह नाम बोला (रटा) करता हूँ। इस सेवा का श्रीरामजी के यहाँ बड़ा गौरव माना जाता है; यथा—"आरत पाल कृपाल हैं राम जोईं सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।"; "अंतरजामिहु ते बड़ बाहरजामि हैं राम, जे नाम लिये ते। धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये ते।" (छंद १२७,१२९); तथा—"राम नाम नर केसरी, कनक कसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल॥" (मा० बा० २७)। वि० १४६ में भी कलियुग की ऐसी ही बाधा पर प्रार्थना की गई है, यहाँ भी नाम-ओट से अपनी वृत्ति कह कर रक्षा का विधान कहा गया है।

मत्तगयंद सवैया [१०१]

साँची कहौ कलिकाल कराल मैं, ढारो-बिगारो तिहारो कहा है।
काम को, कोह को, लोभ को, मोह को मोही सो आनि प्रपंच रहा है॥
हौ जग नायक लायक आजु, पै मेरिऔ टेंव कुटेंव महा है।
जानकीनाथ बिना, तुलसी, जग दूसरे सों करिहौं न हहा है॥

अर्थ—हे भयङ्कर कलिकाल! सत्य ही कहो, मैंने तुम्हारा क्या ढाला एवं बिगाड़ा है? क्या काम का, क्रोध का, लोभ का और मोह का जाल मुझ पर ही फैलाना था? तुम आज दिन संसार के स्वामी और सब कुछ करने में समर्थ हो; परन्तु श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मेरी भी तो बानि बड़ी बुरी (हठीली) है कि श्रीसीतानाथ श्रीरामजी के बिना संसार में किसी दूसरे से मैं रक्षार्थ प्रार्थना नहीं करूँगा।

विशेष—साँचो कहौ···'—यों तो किसी से झगड़ा ठानने में लोग कुछ न कुछ हेतु बना लेते हैं, परन्तु मैं सत्य हेतु पूछता हूँ। मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? कुछ तो नहीं, फिर मेरे पीछे आप क्यों पड़े हैं? दोष आगे कहते हैं—

'काम को, कोह को···'—काम का प्रपञ्च लोलुपता, क्रोध का प्रपञ्च

अविचार, लोभ का प्रपंच पाखण्ड और मोह का प्रपञ्च शरीर पोषण, इन वृत्तियों का जाल फैला कर आप मुझे तंग करते हैं, क्या संसार में आपको और कोई नहीं मिला ? संसार बहुत बड़ा है, एक मुझे छोड़ ही दोगे तो आपकी साहिबी से कौन-सी कमी पड़ जायगी ?

यदि कहो कि एक भी व्यक्ति शासन से छूटा रहेगा तो और लोग भी ढिठाई करेंगे, इसलिये मैं तुम्हें बिना अधीन किये नहीं छोड़ूँगा तो सुनिये—

'हौ जग नायक लायक आजु···'—जब कलियुग की प्रारम्भ अवस्था थी, तभी इसने परीक्षित महाराज को छल से तंग किया है, फिर आज दिन तो इसमें अधिक तरुणता आ गई है, इससे यह सब कुछ करने में समर्थ है, फिर भी अपनी प्रपत्ति-निष्ठा के बल पर आप उसकी उपेक्षा करते हैं, कि मैं श्रीजानकीनाथ से ही हाहा करूँगा, तुम्हें न गिनूँगा। भाव यह कि श्रीजानकीजी ने रावण ऐसे प्रबल शासक का तिरस्कार कर श्रीरामजी के स्वामित्व से सफलता पाई है, वैसे ही मुझे कलिकाल का तिरस्कार करने पर भी स्वामी के द्वारा सफलता मिलेगी, इस प्रकार यहाँ स्वामी के आश्रित-रक्षण पर पूर्ण निर्भरता है।

[१०२]

भागीरथी जल पान करौं, अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
मो सन लेनो न देनो कछू, कलि ! भूलि न रावरी ओर चितैहौं॥
जानि कै जोर करौ, परिनाम तुम्हें पछितैहौ पै हौं न भितैहौं।
ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि; हौं त्यों ही तिहारे हिये न हितैहौं॥

शब्दार्थ—भितै-हौं = डरूँगा। हिये=हृदय, (यहाँ पर—) पेट। हितै हौं= हितकारक हूँगा, पचूँगा।

अर्थ—मैं श्रीगङ्गाजी का जल पीता हूँ और नित्य ही श्रीरामजी के दो नाम लेता हूँ। हे कलिकाल ! मुझ से तुम्हारा कुछ लेना-देना (सरोकार) नहीं है। मैं भूल कर भी आपकी ओर नहीं देखूँगा (तुम्हारा आश्रित नहीं बनूँगा)। यदि तुम (मुझे श्रीरामजी का आश्रित) जान कर भी मुझ पर जोर (अत्याचार) करोगे, तो परिणाम (फल-स्वरूप) में तुम्हीं पछताओगे, पर मैं न डरूँगा। जिस प्रकार श्रीगरुड़जी ने (उस) ब्राह्मण को (न पचा सकने के कारण

उगल दिया था, वैसे मैं भी तुम्हारे पेट में नहीं पचूँगा (अन्त में तुमको मुझे छोड़ना ही पड़ेगा)।

विशेष—'भागीरथी जल पान…'—श्रीगङ्गाजल-पान और श्रीराम-नाम का आश्रयण, ये दोनों प्रबल आधार हैं; यथा—"कलि पाखंड-प्रचार, प्रबल पाप पाँवर पतित। तुलसी उभय अधार, राम नाम, सुरसरि-सलिल ॥" (दोहावली ५६६); इनका बल दिखा कलि को अपना बल दिखाते हैं।

'मोसन न लेनो न देनो कछू'—ऐसा कह कर कलि के प्रति अपनी उपेक्षा प्रकट की।

'भूलि न रावरी…'—भविष्य के लिये भी उपेक्षा रखने की प्रतिज्ञा है।

'जानि कै जोर…'—ऊपर छन्द के अंत में इसके प्रमाण लिखे गये कि नाम जापक के पक्ष से श्रीरामजी कलि के कपट एवं सामर्थ्य सब का नाश कर देते हैं। अतः, यदि वह जान-बूझ कर जोर करेगा तो उसे पछताना पड़ेगा, यह समझा कर उसे धमकी दी। 'हौं न भितैहौं'—इस वाक्य से इष्ट बल पर निर्भीकता कही है।

'ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो…'—इसकी कथा आगे लिखी जाती है—

गरुड़ के ब्राह्मण उगलने की कथा

गरुड़जी छल से हारी हुई अपनी माता विनता को छुड़ाने के लिये सर्पों को अमृत लाने की प्रतिज्ञा कर जाने लगे। उस समय उन्होंने माता से क्षुधा-निवृत्ति का उपाय पूछा। माता ने कहा कि समुद्र के एकान्त स्थानों में निषाद रहते हैं, उन सहस्रों को खा लेना, पर ब्राह्मणों को बचाना। फिर ब्राह्मणों की बहुत महिमा कही और यह भी बतलाया कि तुम्हारे खाते समय जो काँटे के समान गले में अटक जायँ और जलते हुए अंगार के समान जलाने लगें, उन्हें तुम ब्राह्मण जान लेना; एवं जो तुम्हारे पेट में न पचें, उन्हें अच्छे ब्राह्मण जान लेना।

अनन्तर माता से आज्ञा ले गरुड़जी वहाँ पहुँच कर यमराज के समान उन निषादों को खाने लगे, उन्होंने अगणित निषादों को खा लिया। उन्हीं निषादों के साथ एक ब्राह्मण अपनी निषादी भार्या के साथ समा गया, वह उनके गले को जलाने लगा और कंठ में ही अटक रहा। गरुड़जी ने उससे कहा—"हे

द्विजोत्तम ! मैं मुख खोलता हूँ, तुम शीघ्र निकल आओ; क्योंकि ब्राह्मण सदा पाप में रत होने पर भी मेरे वध योग्य नहीं है।" उस ब्राह्मण ने कहा कि "मेरी स्त्री यह निषादी (धीवरी) भी साथ निकले, तभी मैं निकलूँगा।" गरुड़जी ने कहा—"मेरे तेज से पच जाने के पहले उस अपनी धीवरी को लेकर शीघ्र निकलो।" पीछे वह ब्राह्मण अपनी धीवरी के साथ निकल आया और गरुड़जी को आशीर्वाद देकर स्व-इच्छित देश को गया। यह कथा महा० आदि० २८-२९ के अनुसार है।

अपने धर्म से पतित भी ब्राह्मण गरुड़जी के पेट में नहीं पचा, उन्हें उसे उगलना ही पड़ा। वैसे ही ब्रह्मज्ञान (ईश्वर-प्राप्ति)—निष्ठा मुमुक्षु ब्राह्मण हैं; ईश्वर-प्राप्ति-निष्ठ शरणागत भी ब्राह्मण हैं; यथा - "ब्रह्मज्ञान प्रतिष्ठं हि तं देवा ब्राह्मणं विदुः। शब्दब्रह्मणि निष्णातं परे च कृतनिश्चयम्॥" (महा० शान्ति० २३८।२२); अर्थात् ब्रह्मज्ञान में जिसकी प्रतिष्ठा है और वेदों-शास्त्रों में जो दक्ष हैं तथा अन्य शास्त्रों में जो कृतनिश्चय हैं, उन्हें देवता भी ब्राह्मण समझते हैं (ब्राह्मण जाति की व्यवस्था इससे भिन्न है, वह तो जन्मना ही मानी जाती है)।

जैसे वह पतित ब्राह्मण भी जन्मना ब्राह्मण होने से गरुड़जी से अवध्य रहा, उन्हें उगलना पड़ा, वैसे मैं पतित शरणागत भी कलिकाल के पेट में नहीं पचूँगा। इसे मुझे उगलना ही पड़ेगा। हरि-शरणागत पर तो यमराज का भी अधिकार नहीं रहता—छन्द ५१ में वि० पु० के प्रमाण देखिये।

इस प्रकार कलिकाल के प्रति तीन छन्दों में फटकार बताई है। आगे कलि-युग के प्रभाव से फैले हुए कुछ अनाचारों का वर्णन करते हैं—

[१०३]

राज मराल को बालक पेलि कै पालत लालत खूसर को।
सुचि सुंदर सालि सकेलि सुबारि कै बीज बटोरत ऊसर को॥
गुन ज्ञान गुमान भभेरि बड़ो, कलपद्रुम काटत मूसर को।
कलिकाल बिचार अचार हरो, नहिं सूझै कछू धमधूसर को॥

शब्दार्थ—खूसर=१—खूसट, उलूक, २—शुष्क हृदय, अरसिक, मनहूस। सुबारि कै=भली-भाँति जला कर। भभेरि (भभकना)=उबाल, उत्तेजना धम-धूसर=निर्बुद्धि, मूर्ख।

अर्थ—(इस कलिकाल में) लोग राजहंस के बच्चे को ठेल कर उल्लू के बच्चे का लालन-पालन करते हैं; (अर्थात् विवेकियों का निरादर और अविवेकियों का आदर करते हैं)। पवित्र और सुन्दर धान को बटोर और भली-भाँति जला कर ऊसर भूमि के (घास के) बीज (खाने के लिये) बटोरते फिरते हैं; (अर्थात् इन्द्रियों को तृप्त करने वाली हरि-भक्ति का त्याग कर इन्द्रियों को विषय-सेवन से तृप्त करना चाहते हैं)। गुण और ज्ञान के अभिमान की उत्तेजना बड़ी भारी है, पर मूर्ख ऐसे हैं कि मूसल बनाने के लिये कल्पवृक्ष को काटते हैं; (अर्थात् अल्प शारीरिक सुखों के लिये गुरुजनों का घात करते हैं)। इस प्रकार कलिकाल ने लोगों के विचार (सदसद्विवेक) और आचार (सदाचार) का हरण कर लिया है, इस निर्बुद्धि को कुछ नहीं सूझता।

विशेष—'राज मराल के बालक···'—विवेकी संत हंस के समान हैं; यथा—"संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥ अस बिवेक जब देइ बिधाता।" (मा० बा० ६) उल्लू को दिन में नहीं सूझता, इससे वह रात में ही विचरता है। वैसे ही अविवेकियों की अज्ञान रूपी रात में ही प्रवृत्ति रहती है; अर्थात् देह-पोषण में ही लगे रहते हैं; यथा—"सेवहिं लखन सिय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं ॥" (मा० अ० १४१)।

'सुचि सुंदर सालि सकेलि···'—श्रीराम भक्ति चिन्तामणि के समान है; यथा—"राम भगति चिंतामनि सुंदर।" (मा० उ० ११६); इससे इन्द्रियों की कामनाओं को भगवान् में लगाता हुआ जीव तृप्ति लाभ करता है; यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआई ॥" (मा० उ० ११८); उन इन्द्रियों को विषयों में लगाना ऊसर के बीज बटोर कर उससे तृप्ति चाहने के समान है। इन्द्रिय-भोग मोह का कार्य है, मोह दरिद्र कहा गया है; यथा—"मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (मा० उ० ११६)।

'गुन ज्ञान गुमान भभेरि बड़ो···'; यथा—"गुन कृत सन्निपात नहि केही।" (मा० उ० ७०); "ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, करहिं न दूसरि बात। कौड़ी लागि लोभ बस, करहि बिप्र-गुरु घात ॥" (मा० उ० ६८); गुरुजनों एवं ब्राह्मणों का आशीर्वाद कल्पवृक्ष के समान है, उनका घात करना काटना है। उससे द्रव्य ले देह-पोषण करना मूसल बनाना है; क्योंकि मूसल से अन्न

आदि पर प्रहार होता है, वैसे ही हृष्ट-पुष्ट शरीर से प्रमाद होता है, जिससे औरों को कष्ट पहुँचता है।

'कलिकाल बिचार-अचार हरो....'—आचार-विचार युक्त प्रजा से देश की शोभा होती है, पर यह कलिकाल राजा निर्बुद्धि है, इससे इसको कुछ नहीं सूझना, यह अविचार एवं अनाचार में ही सुख मानता है। कलि को ऊपर राजा कहा गया था, वही प्रसंग चला आता है, इससे 'धमधूसर' इस पद को उसी में लगाना युक्त है।

[१०४]

कीबे कहा, पढ़िबे को कहा, फल बूझि न बेद को भेद बिचारै।
स्वारथ को परमारथ को कलि कामद राम को नाम बिसारै॥
बाद बिबाद बिषाद बढ़ाइ कै, छाती पराई औ आपनी जारै।
चारिहु को, छहु को, नव को दस-आठ को पाठ कुकाठ-सों फारै॥

शब्दार्थ—चारिहु=चारो वेद-ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। छहु=छहो शास्त्र—मीमांसा, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग और वेदान्त। नव=नवो व्याकरण-इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, शाक्टायन, पिशालि, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और सरस्वती—इन नव आचार्यों के चलाये हुए नव व्याकरण इन्हीं के नामों से प्रसिद्ध हैं। दस-आठ=अठारह पुराण; यथा—"म द्वयं भ द्वयं चैव ब्र त्रयं व चतुष्टयम्। अ ना प लिं ग कू स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक॥" अर्थात् दो मकार (आदि)—मत्स्य और मारकण्डेय; दो भकार-भविष्य और भागवत; तीनो ब्र—ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्मांड; चार व-विष्णु, वायु, वामन और वाराह; अ-अग्नि; ना--नारद; प—पद्म, लिं—लिङ्ग, ग-गरुड़, कू-कूर्म और स्क—स्कन्द। ये सब १८ हैं।

अर्थ—क्या करना चाहिये और क्या पढ़ना चाहिये, इनके फलों को समझ कर जो इनके रहस्यों का विचार नहीं करता तथा कलिकाल में स्वार्थ और परमार्थ की सभी कामनाओं को देने वाले श्रीरामनाम को जो भुला देता है, जो वाद-विवाद के विषादों को बढ़ा कर अपनी और दूसरों की छाती जलाता है। वह चारो वेदों, छहो शास्त्रों, नवो व्याकरणों और अठारहो पुराणों के पाठ को कुकाठ

के समान फाड़ता है (;अर्थात् कुकाठ फाड़ने पर उससे काम की लकड़ी नहीं निकलती वैसे इसने वेदादि से अपेक्षित रहस्य नहीं पाया)।

विशेष—'कीबे कहा, पढ़िबे को कहा…'—अन्त के चरण में वेद आदि के तात्पर्य को समझने की बात स्पष्ट कही गई है कि तदनुसार ही कर्तव्यों एवं विद्या का लक्ष्य रहना चाहिये। वेदों शास्त्रों के अनुसार कर्त्तव्य कैसा होना चाहिये और विद्या का फल क्या है, इस प्रत्येक कर्त्तव्य और समस्त वेद आदि के पढ़ने के फलों को देख कर उनका भेद समझना चाहिये कि इनमें सार क्या है और असार क्या है। पहले श्रीगोस्वामीजी के वचनों से समझना चाहिये; यथा—"बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम-सनेहू॥" (मा० बा० २६); तथा—"देखु बिचारि, सार का साँचो, कहा निगम निज गायो। भजहि न अजहुँ समुझि तुमसी तेहि, जेहि महेस मन लायो॥" (वि० २००); अर्थात् इस असार संसार में सार तत्त्व ब्रह्म है, वही चराचर रूप से परस्पर संयोग करके सबके कर्मानुसार सबका पालन करता है। अतएव सब रूपों से पालन करनेवाले उसी ब्रह्म का भजन करना चाहिये। अब यही बात वेदों के मुख से भी सुनिये—

"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥" (छान्दो० ६।८।४), अर्थात् हे सौम्य! यह सब प्रजा सत् कारणवाली, सत्-आश्रयवाली और अन्त में सत् में ही प्राप्त होनेवाली है। तथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तजलानिति शान्त उपासीत।" (छान्दो० ३।१४।१); अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म है, इसी से सब उत्पन्न होते हैं, इसी में लीन होते हैं और इसी में चेष्टा करते हैं; अतएव शान्त होकर इसी की उपासना करनी चाहिये। एवं—"पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।…करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह वर माँगहीं। मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं।" (मा० उ० १२)—यह मूर्तिमान होकर स्वयं वेदों ने कहा है।

जैसे किसी खेत को जो बोता है, रक्षा करता है और जिसके यहाँ उस खेत का अन्न जाता है, वही उस खेत का स्वामी होता है और वही उस खेत के अन्न का भोक्ता होता है, अन्न उसी का भोग्य है। वैसे ही जगत् रूपी खेत की उत्पत्ति पालन और संहारकर्त्ता ईश्वर है, अंत में सब उसी में लीन होते हैं, तो वही सब जीव रूपी अन्नों का स्वामी एवं भोक्ता है, सभी उसके भोग्य हैं।

जीवों के भोग्यत्व की सिद्धि उपासना द्वारा ही होती है। इसमें ये सब इन्द्रियों से ईश्वर के लिये एवं उसकी सेवा में रत रहते हैं। यही बात वेदों ने स्पष्ट कही है, यह ऊपर लिखा गया। अतएव हरि-भजन ही यथार्थ कर्त्तव्य है और यही सारी विद्याओं का फल है एवं वेदों का भेद (रहस्य) है; तथा—"वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयते॥" (महा० स्वर्गा० ६।६३); इत्यादि।

श्रीशिवजी ने भी कहा है; यथा-"उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब सपना॥" (मा० अर० ३८)।

'फल बूझि कै...'—फल बतला कर वेदों ने रहस्य समझा दिया है; यथा-"परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥" (मुण्डक० १।२।१२); अर्थात् (सकाम) कर्म से प्राप्त किये जानेवाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त हो जाय, (यह समझ ले कि) किये जानेवाले सकाम कर्मों से वह स्वतः सिद्ध नित्य परमेश्वर नहीं मिल सकता। वह, उस परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हाथ में समिधा लेकर वेद को भलीभाँति जाननेवाले (और) परब्रह्म में स्थित गुरु के पास ही विनय पूर्वक जाय।

"नाशवान् द्रव्यों से सम्पन्न होनेवाले कर्मों के फलस्वरूप लोक एवं सभी फल नाशवान ही हैं। हाँ, निष्काम कर्म परमार्थ का साधन अवश्य है।" (वि० पु० २।१४।२३-२५)।

कर्म फल रूप में प्राप्त होनेवाले सभी लोक नाशवान् हैं। भगवान् निष्काम कर्म एवं उपासना से प्राप्त होते हैं। अतः, उनका एवं उनके लोक का नाश नहीं है, इसी से उनको प्राप्त करने पर पुनर्जन्म नहीं होता; यथा—"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥" (गीता ८।१६); अर्थात् हे अर्जुन! ब्रह्मभुवन से लेकर सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं। कुन्ती पुत्र! मुझे पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता।

इस प्रकार फलों की व्यवस्था समझकर ईश्वरांश अविनाशी जीव को अविनाशी पद के लिये ही चेष्टा करनी चाहिये, वह पद श्रीराम भक्ति से ही प्राप्त

होता है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७।२३); "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥" (गीता ६।२५); इत्यादि।

'स्वारथ को परमारथ को···'—श्रीराम-भक्ति में भी कलिकाल में सुलभ और निर्विघ्न निबहने वाला श्रीरामनामाराधन है; यथा—"राम नाम जपु जिय सदा सानु-रागरे। कलि न बिराग जोग जाग तप त्याग रे॥" (वि० ६७); "स्वारथ साधक परमारथ-दायक नाम, राम नाम सारिखो न और हितु है॥" (वि० २५४); "राम नाम कामतरु जोइ जोइ माँगि है। तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥" (वि० ७०); "कलि नहिं ज्ञान बिराग न जोग समाधि। राम-नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥" (बरवै रा० ४८); कलियुग के छल एवं सामर्थ्य का श्रीरामनाम नाशक है–छन्द ८४ में प्रमाण लिखे गये।

'बाद बिबाद बिषाद बढ़ाइ कै···'—यद्यपि यह भी नियम है–'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' वह वाद जिज्ञासु भाव का है। किन्तु जहाँ अपनी विद्वत्ता का अभिमान लेकर अपने पक्ष की जीत का लक्ष्य रहता है, वहाँ वाद-विवाद में क्रोध एवं विषाद ही बढ़ता है। पक्षपातान्धों के वाद में सिद्धान्त का निश्चय नहीं होता; परिणाम में क्रोध एवं विषाद होता है। अपने-अपने हठ की सिद्धि के लिये बहुत लम्बी-लम्बी दौड़ें लगानी पड़ती हैं। कहा भी है; यथा—"वादो नावलम्ब्यः॥ बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥" (नारद भक्ति सूत्र ७४-७५); अर्थात् (भक्त को) वाद-विवाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि (वाद में) बाहुल्य का अवकाश है और वह अनियत है। वाद-विवाद में किसी को समय पर प्रमाण की न स्मृति से एवं थक जाने से उसकी हार समझी जाती है। वह सिद्धान्त नहीं है। भगवत्तत्त्व का तर्क से निर्णय होता भी नहीं; यथा—"तर्काप्रतिष्ठानात्" (ब्रह्मसूत्र २।१।११); अर्थात् तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (काठको० १।२।६); अर्थात् बुद्धि के तर्क से उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

भगवत्तत्त्व का ज्ञान तो उनकी भक्ति करने पर उनकी कृपा से होता है; यथा—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ पगनि परत।" (वि० २५१); "सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (मा० अ० १२६); गीता १०।६-११ में इसकी प्रक्रिया बतलाई गई है कि इस प्रकार भक्ति से भगवान् इस प्रकार कृपा कर अपना ज्ञान कराते हैं।

'चारिसु को, छहु को…'—इन सबका उपर्युक्त ही तात्पर्य है। पर वास्तविक तात्पर्य हरि-भक्त ही जानते हैं। और लोग तो व्यर्थ वाद में जन्म नष्ट करते हैं। जैसे कुकाठ (उकठे हुए काठ) को चीरने पर किसी काम की लकड़ी नहीं निकलती क्योंकि उसमें रेशे नहीं रहते। अतः, उसे फाड़ने पर वे टुकड़े जलाने के ही काम में आते हैं। वैसे ही भक्ति-हीन विद्वानों के चुने हुए प्रमाण दूसरों को विषाद बढ़ा कर जलाने वाले ही होते हैं, अपना पक्ष गिरने पर अपना हृदय भी उन्हीं प्रमाणों के द्वारा जलता है। अतएव ऐसे वाद-विवाद सर्वथा त्याज्य हैं।

[१०५]

आगम, बेद, पुरान बखानत मारग कोटिन, जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने॥
धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग बिराग लै जीव पराने।
को करि सोच मरै तुलसी हम जानकी नाथ के हाथ बिकाने॥

अर्थ—शास्त्र, वेद और पुराण (मोक्ष प्राप्ति के) करोड़ों मार्गों (उपायों) का वर्णन करते हैं; परन्तु वे समझ में नहीं आते। जो मुनि हैं, वे अपने-आप को ही ईश्वर, सिद्ध और प्रवीण कहलवाते हैं। इस कलियुग ने समस्त धर्मों को ग्रस (लील) लिया है, इसमें जप, योग और वैराग्य आदि अपना-अपना जीव लेकर भग गये; (अर्थात् कलि के डर से लुप्त हो गये हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इनका शोच करके कौन मरे? (व्यर्थ चिन्ता में हृदय को कष्ट कौन दे?) हम तो श्रीजानकीनाथजी के हाथों बिक गये हैं (अर्थात् श्रीरामजी की शरण हो जाने से निश्चिन्त हैं)।

विशेष—'**आगम बेद पुरान बखानत**…'; यथा—"नाना पथ निर्बान के नाना पुरान बहु भाँति। तुलसी तू मेरे कहे जपु राम नाम दिनराति॥" (वि० १९२); "छ–मत विमत, न पुरान मत, एक मत, नेति-नेति-नेति नित निगम करत।" (वि० २५१); "बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो। गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो॥" (वि० १७३); तथा—"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥" (महा० वन० ३१३।१८); इत्यादि करोड़ों मार्गों के प्रमाण हैं। शास्त्रों में केवल ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) पर ही

छः मत प्रधान है—केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और अचिन्त्यभेदाभेद। ऐसे ही और शास्त्रों के भी भिन्न-भिन्न मत हैं। चारों वेदों के मत उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य तथा स्मार्त आदि मत भी मार्ग हैं। ऐसे परिणामवाद, मायावाद एवं सद्वाद आदि भी मार्ग ही हैं।

'जे मुनि ते पुनि···'—भिन्न-भिन्न मतों के संस्थापक मुनि अपने ग्रन्थों में ऐसे वाक्य कह गये हैं कि उनके आधार पर उनके अनुयायी उन्हें ईश्वर के अवतार कह कर उनके मत पर गौरव स्थापित करते हैं। तथा कोई-कोई रुक्ष ज्ञानवादी मुनि 'अहं ब्रह्मास्मि', एवं 'सोऽहमस्मि', आदि के नैष्ठिक होने से अपने को ब्रह्म कहते हैं, तदनुसार उनके नाम होते हैं, इस प्रकार वे भी अपने को ईश्वर ही कहते हैं। अणिमादि सिद्धि वाले मुनि अपने को सिद्ध कहलवाते हैं। कर्मकाण्डी आचार्य अपने को सयाने कहलवाते हैं। विधि पूर्वक थोड़े श्रम और थोड़े द्रव्य के व्यय से बहुत लाभ कर लेते हैं, यह उनमें सयानपना है।

'धर्म सबै कलिकाल ग्रसे···'—किन्तु कलिकाल ने उक्त सभी धर्मों को लील लिया है; यथा—"कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सद्ग्रंथ। दंभिन्ह निज मति कल्पित करि, प्रगट किये बहु पंथ॥" (मा० उ० ९७); "जो पै जानकी-नाथ सों नातो नेह न नीच। स्वारथ-परमारथ कहा, कलि कुटिल बिगोयो बीच॥ धरम बरन आश्रमनि के पैयत पोथिही पुरान। करतब बिनु बेष देखिये, ज्यों सरीर बिनु प्रान॥" (वि० १९२); तथा—"नाहिन न आवत आन भरोसो। यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम-फलनि फरोसो॥···" (वि० १७३) यह पूरा पद देखने योग्य है।

'को करि सोच मरै···'—शरणागत के उपाय भगवान् ही हो जाते हैं, इससे वह निश्चिन्त रहता है, षडाङ्ग-शरणागति में अपनी स्थिति रखता हुआ वह भगवान् का भोग्य भूत रहता है। फिर इसका कुल सार-सँभार भगवान् ही करते हैं; यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत्। शरणागतिरित्युक्ता शास्त्र-मार्नाद्विर्वेकिभिः॥" (नारद पंचरात्र); तथा—"नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहै हौं। है छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं॥" (वि० १०४); "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयि-

ष्यामि माशुचः ।।" (गीता १८।६६); "देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥ स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ।।" (भाग० ११।५।४१-४२); अर्थात् जो मनुष्य सम्यक् प्रकार से शरण्य भगवान् के शरण होता है, वह देव, ऋषि, पितृगण, कुटुम्बी एवं और किसी मनुष्य का ऋणी या सेवक नहीं रहता । जो अन्य विषयों की चिन्ता छोड़ कर भगवान् की शरण हो उनकी सेवा करता है, उससे यदि कभी कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो वे हरि उसके हृदय में प्रकट होकर उस दोष का नाश कर देते हैं । 'हाथ-बिकाना'–उनका हो जाना, शरण होना है । यहाँ शरण्य पर अपनी निर्भरता कही है, यह उत्तम गुण है ।

स्वाभिमान-कथन

उपजाति-सवैया [१०६]

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ ।
काहूकी बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।
माँगि कै खैबो, मसीद को सोइबो लेनो है एक न देनो है दोऊ ॥

शब्दार्थ—धूत=धूर्त्त । अवधूत=साधु, परम हंस, भिखमंगा । सरनाम=प्रसिद्ध । मसीद=मसजिद (देवालय) । 'लेना एक न देना दो' यह मुहावरा है, इसका अर्थ है—'कुछ प्रयोजन नहीं', 'कुछ सरोकार नहीं' ।

अर्थ—चाहे मुझे कोई धूर्त कहे, चाहे साधु कहे, चाहे क्षत्रिय कहे और चाहे जोलहा कहे (मुझे इसकी चिन्ता नहीं है); क्योंकि मुझे किसी की बेटी से अपना बेटा व्याहना नहीं है और न मैं अपना सम्पर्क रख कर किसी की जाति ही बिगाड़ना चाहता हूँ । यह तुलसीदास तो श्रीरामजी के सेवक रूप में प्रसिद्ध है, जिसको जो रुचे वह (और) भी कुछ कहा करे । मुझे तो माँग कर खाना और किसी देवालय में सो रहना है, किसी से कोई प्रयोजन नहीं है ।

विशेष—ऊपर छन्द में श्रीरामजी के हाथ-बिकाना कह कर अपने को शुद्ध-शरणागत कहा । उसमें अन्य-आश्रय-त्याग अत्यावश्यक है, वही वहाँ से दो छन्दों में कहते हैं—

'धूत कहौ···'—साधु वेष बना कर ठगने वाला कहे और चाहे सच्चा साधु कहे, जगत् की निन्दा-स्तुति से मेरा कुछ बनना-बिगड़ना नहीं है। रजपूत कह कर चाहे कोई उत्तम धैर्यवान् कहे और जोलहा कह कर चाहे नीच-कादर कहे।

'काहू की बेटी सो···'—जो बेटी व्याहता है, वही बेटे वाले के कुल-प्रतिष्ठा आदि की याँच करता है; क्योंकि उसे सम्बन्ध-स्थापित करना रहता है, न्यूनता में उसकी हानि रहती है; यथा—"जौ घर वर कुल होइ अनूपा। करिय बिवाह सुता अनुरूपा॥" (मा० बा० ७०)। मुझे जगत् में किसी जाति वाले के साथ सम्पर्क भी रखना नहीं ही है, तब उसकी जाति का हम से बिगाड़ भी क्यों कर होगा। अतः, मुझे किसी के कुछ भी कहने-सुनने की चिन्ता नहीं।

'तुलसी सरनाम गुलाम है राम को···'—यहाँ स्वाभिमान कहा है।

'माँगि कै खैबो···'—माँग कर खाता हूँ; अर्थात् तीन, पाँच या सात घरों से चुटकी भिक्षा लाकर खा लेता हूँ; यथा—"खायों खोंची माँगि कै···" (वि० ३३); अतः, किसी एक का आश्रित नहीं हूँ। दूध-भिक्षा उत्तम धान्य है। देवालय में सोता हूँ, किसी के द्वार पर नहीं; यथा—"का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को॥" (छन्द १०७); इस प्रकार मेरा किसी से कोई सरोकार नहीं है।

कवित्त [१०७]

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को॥
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
'साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को'।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच, सोच कहा,
'का काहू के द्वार परौं ?' जो हौं सो हौं राम को॥

शब्दार्थ—जाति-पाँति = सरवरिया (सरयूपारीण) ब्राह्मणों में जाति के अंतर्गत मिश्र-शुक्ल आदि भेद होते हैं। साथ ही उनमें पाँति की भी व्यवस्था है। पाँति वालों का खान पान एवं व्याह आदि पाँति वालों में ही होता है। वे उत्तम कहाते हैं, उनमें यदि किसी ने पंक्ति से भिन्न खा लिया या व्याह किया, तो

वह 'पंक्ति टूट' कहाता है। उपखानो (उपाख्यान)=कहावत को। साह=बाद-शाह, स्वामी, महाराज, महान्।

अर्थ—मेरे (हृदय में अपनी) जाति-पाँति का घमंड नहीं है और न मैं किसी की (उत्तम) जाति-पाँति चाहता हूँ। कोई मेरे काम का नहीं है और न मैं ही किसी के काम का हूँ। मेरा लोक-परलोक तो सब श्रीरामजी के ही हाथ में है; मुझ तुलसीदास को तो एक श्रीरामनाम का ही बड़ा भारी भरोसा है। लोग बड़े ही अज्ञान हैं, कहावतें भी नहीं समझते कि 'जो गोत्र स्वामी का होता है, उसके सेवक का भी वही गोत्र होता है'। मैं साधु हूँ, अथवा असाधु हूँ, भला हूँ, अथवा बुरा हूँ, इसका क्या शोच है ? मैं क्या किसी के द्वार पर पड़ा हूँ (उसका आश्रित बना हूँ) ? मैं जो कुछ भी हूँ, वह श्रीरामजी का हूँ (; अर्थात् मैं श्रीरामजी का ही अनन्य-आश्रित हूँ)।

विशेष—'मेरे जाति-पाँति न ...'—इस चरण में अन्याश्रय त्याग कहा गया है कि मेरा जाति-पाँति से प्रयोजन नहीं है; किसी से कुछ प्रयोजन साधना नहीं है और न मैं ही किसी का प्रयोजन सिद्ध करने का उत्सुक हूँ।

'लोक-परलोक...'—इस चरण में लोक-परलोक के उपाय श्रीरामजी को ही कह कर शरणागति का स्वरूप कहा है। नाम-निष्ठा का भरोसा कह कर 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' इस शरणागति में अपनी स्थिति कही है और इसी पर पूर्ण निर्भरता भी प्रकट की है। नाम के भरोसा पर वि० १७३, २२५, २२६ देखिये।

'साह ही को गोत...'—स्वामी श्रीरामजी का अच्युत गोत्र है, वही मेरा भी है।

'साधु कै असाधु...'—किसी को मेरे सुधार का प्रयोजन ही क्या, मैं श्रीरामजी का हूँ, वे ही मेरा सुधार करें और चाहे जैसे रखें; यथा—"जैसो तैसो रावरो, केवल कोसलपाल। तौ तुलसी को है भलो, तिहूँ लोक तिहुँ काल॥" (दोहावली ८४); "तुलसी तिहारो। तुमही पै तुलसी के हित, राखि कहौं हौं तो जो पै ह्वै हौं माखी घीय की॥" (वि० २६३); "ह्वै है जब तब तुमहि ते तुलसी को भलेरो।" (वि० २७२); "है तुलसी के एक गुन, अवगुन-निधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझिवे जोग॥" (दोहावली ८५); यही

इष्ट पर पूर्ण निर्भरता है, शरणागति में उत्तम वृत्ति है। इसी की पुष्टि आगे भी करते हैं—

[१०८]

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
साधु जानैं महासाधु, खल जानै महाखल,
बानी झूठी-साँची कोटि उठत हबूब है॥
चहत न काहू सों, न कहत काहू की कछु,
सब की सहत उर अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो-पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥

शब्दार्थ—हबूब (अ० हुबाब—पानी के बुलबुले)=१ पानी का बुल्ला, २—झूठ-मूठ की बात। ऊब=उद्वेग, घबराहट।

अर्थ—कोई कहता है कि यह तुलसीदास कुसाज (ठगने का बेष करके छल) करता है। अतः, यह बड़ा दगाबाज है और कोई कहता है कि यह श्रीरामजी का खूब सच्चा सेवक है। साधु मुझे परम साधु जानते हैं और दुष्ट मुझे महादुष्ट ही समझते हैं, इस प्रकार झूठी-सच्ची करोड़ों बातों के बुल-बुले उठा करते हैं (और मिटा करते हैं)। मैं न तो किसी से कुछ भी चाहता हूँ और न किसी की (भली-बुरी बात) कुछ कहता ही हूँ। सब की बातें सह लेता हूँ; मेरे हृदय में इसकी घबराहट नहीं है; क्योंकि इस तुलसीदास का भला-बुरा होना तो श्रीरघुनाथजी के ही हाथों में है (इसलिये) श्रीरामजी की भक्ति रूपी भूमि के आश्रित मेरी बुद्धि दूब की भाँति संलग्न है।

विशेष—'कोऊ कहै करत…'—इस चरण में दो विरुद्ध दृष्टिवाले कहे गये। इसका समाधान अगले चरण में करते हैं कि एक ही व्यक्ति दो विरुद्ध भावों में कैसे देख पड़ता है ?

'साधु जाने महासाधु, खल जानै महाखल'; यथा—"युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन्पापमात्मनि। स्वेनाऽनुमानेन परं साधुं समनुपश्यति॥" (महा०

आदि० १२६।४); अर्थात् धर्मात्मा युधिष्ठिर अपने में कोई पापबुद्धि नहीं रखते थे, अपने दृष्टान्त से शत्रु को भी साधु समझते थे।

'तुलसी को भलो-पोच...'—इसमें स्वामी में अनन्य भक्ति कह कर उसी से श्रीरामजी के द्वारा अपनी लोक-परलोक भलाई की भावना है; यथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता ६।२२); अर्थात् जो अनन्य भक्त जन मुझे चिन्तन करते हुए भली-भाँति मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य युक्त पुरुषों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। दूब जैसे भूमि में लपटी हुई रह कर हरी-भरी रहती है, वैसे ही अहर्निशि श्रीरामभक्ति में रत रह कर मैं प्रसन्न रहता हूँ। इस पर मेरा सार-सँभार श्रीरामजी करेंगे। ऊपर श्रीमुख वचन प्रमाण में कहे गये हैं। तथा उपर्युक्त छन्द १०७ के अंत में भी प्रमाण आ गये हैं।

[१०६]

जागैं जोगी जंगम, जती जमाती ध्यान धरैं,
डरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के।
जागैं राजा राजकाज, सेवक समाज साज,
सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बाम के॥
जागैं बुध बिद्या हित पंडित चकित चित,
जागैं लोभी लालची धरनि धन धाम के।
जागैं भोगी भोगही, बियोगी रोगी सोगबस,
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥

अर्थ—योगी, जंगम (परिव्राजक एवं लिङ्गायत साधु), संन्यासी और जमात (मंडली) बना कर विचरनेवाले साधु (ईश्वर का) ध्यान करते हुए जागते रहते हैं; क्योंकि वे हृदय में लोभ, मोह, क्रोध और काम के भारी डर से डरते रहते हैं (इन शत्रुओं से सजग रहते हुए जागते हैं कि कहीं हमारी हरि ध्यान रूपी संपत्ति इन ठगों से न लुट जाय,)। राजा लोग अपने राज-काज, सेवक समुदाय तथा अपेक्षित सामग्रियों के सुसज्जित करने में सतर्क रहते हुए जागते रहते हैं और बड़े-बड़े प्रतिकूल वैरियों के समाचार सुन कर (प्रतिकार के उपाय) सोचा करते हैं। बुद्धिमान् पंडित सावधान चित्त से विद्या के लिये

जागते (सजग) रहते हैं। लोभी पुरुष पृथिवी, धन और घर के लालच में जागते हैं। भोगी लोग भोग के लिये, वियोगी विरह में और रोगी रोगवश जागते हैं; परन्तु एक तुलसीदास ही श्रीरामजी के भरोसे सुख पूर्वक सोता है।

विशेष—'जागैं जोगी····'—ये लोभ आदि हरि-ध्यान करनेवालों को ठगनेवाले हैं; यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥" (गीता ३।३४); अर्थात् इन्द्रिय-इन्द्रिय के विषय में (समस्त इन्द्रियों के भोगों में) राग-द्वेष (एवं काम, क्रोध-लोभ, मोह आदि) स्थित हैं, उनके वश में नहीं होना चाहिये; ये दोनों इस (मुमुक्षु) के बटमार हैं (अतः, इनसे सावधान रहना चाहिये)।

'जागैं राजा राजकाज···'—राजा लोग राज्य के कार्यों में सजग रहते हैं। सेवक मण्डल से भी सजग रहते हैं कि वह एकमत हो मुझ पर ही कहीं घात न कर दे, तथा राज कार्य में अपेक्षित शस्त्र, अन्न एवं और भी सामग्रियों के सम्पन्न रखने में भी सजग रहते हैं। शत्रुओं से सजग रहना तो उन्हें बहुत ही अपेक्षित है; यथा—"करसि पान सोवसि दिन राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥" (मा० अर० २०), इससे राजा लोग इसका उपाय सोचने में सजग रहते हैं।

'जागैं बुध···'—बुद्धिमान् पंडित प्रतिपक्षी से वाद में कहीं मैं हार न जाऊँ, इसलिये सदा चकित चित से शास्त्र-मनन करते हुए सजग रहते हैं। लोभी पृथिवी, धन एवं घर के संपादन एवं संरक्षण में सजग रहते हैं।

'जागैं भोगी भोग ही···'—ये सब सजग रहते हैं कि भोग कैसे उत्तम रीति से भोगा जाय, वियोगी विरह-निवृत्ति-उपाय में सतर्क रहते हैं और रोगी रोगों की चिकित्सा में परम सावधान रहते हैं।

ये सब अपने-अपने व्यसनों में अनिष्ट की शंका से सजग रहते हुए जागते रहते है।

'सोवे सुख तुलसी भरोसे एक राम के।'—भगवान् श्रीरामजी ने तीर्थपति समुद्र के तट पर और स्वपरिकर (भक्त) अनन्त वानरों के मध्य में अपना व्रत कहा है; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अर्थात् जो मेरी शरण में आकर

एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार (आत्म समर्पण) की याचना करता है, उसे सभी प्राणियों से एवं उस प्रकार के सभी प्राणियों के लिये मैं अभय देता हूँ। यह मेरा व्रत है।

मर्यादा पुरुषोत्तम धर्म विग्रह श्रीरामजी की तीर्थ में एवं साधु में की हुई इस महा प्रतिज्ञा का बड़ा महत्त्व है; तथा—"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥" (गीता १८।६६); अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् ने परम भक्त अर्जुन से कहा है कि सब (सामान्य) धर्मों का त्याग करके मुझ एक की शरण में आ जा। मैं तुझे सारे पापों से छुड़ा दूँगा, शोक मत कर। यह धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में प्रतिज्ञापूर्वक कहा गया है।

इन प्रतिज्ञात्मक वचनों के द्वारा महाविश्वासपूर्वक श्रीरामजी की शरण हो उनके भरोसे श्रीगोस्वामीजी निश्चिन्त हो गये हैं, यह आपकी पूर्ण निर्भरता है। कहा भी है; यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकौ बाधा॥" (मा० कि० १६)।

छप्पय [११०]

राम मातु, पितु-बंधु सुजन, गुरु, पूज्य, परम हित।
साहिब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित॥
जाति पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति।
निसि-दिन रघुपति चरन सरन सपनेहु न आन गति॥
परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम ते सकल फल।
कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल॥

अर्थ—श्रीरामजी ही मेरे माता, पिता, आत्मीय बन्धु, गुरु, पूज्य और परम हितकारी हैं। श्रीरामजी ही मेरे स्वामी, सखा और सहायक हैं, एवं पवित्र चित से जितने स्नेह के सम्बन्धी हैं, वे सब श्रीरामजी ही हैं। जाति-पाँति आदि सब प्रकार की हमारी प्रतिष्ठा श्रीरामजी के सम्बन्ध से ही है। मैं रात-दिन श्रीरघुनाथजी के चरणों की शरण में रहता हूँ, स्वप्न में भी मुझे दूसरे का सहारा नहीं है। परमार्थ, स्वार्थ एवं सुयश सब फल मुझे एक श्रीरामजी से ही सुलभ हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अब जब कभी भी मेरा भला होगा, तो एक श्रीरामजी से ही होगा।

विशेष—'राम मातु पितु बंधु···'; यथा—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥" (मा० अर० १५); "गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू ॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति-प्रतीति निगम निज गाई ॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीन बंधु उर अन्तरजामी ॥" (मा० अ० ७१); "पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लागत जाके प्रेम सों बिनु हेतु हित नहि तैं लखा ॥" (वि० १३५); "जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचानि। ताते कछु समभयो नहीं कहा लाभ कह हानि ॥" (वि० १६०); भगवान् ने श्रीमुख से भी कहा है; यथा—"पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥ गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।" (गीता ६।१७-१८); इत्यादि।

सभा की प्रति एवं आधुनिक अन्य प्रतियों में उपर्युक्त 'निसि-दिन रघुपति चरन-सरन सपनेहुँ न आन गति।' के स्थान पर 'देस कोस, कुल, कर्म, धर्म, धन, धाम, धरनि गति।' ऐसा पाठ है और वह 'जाति-पाँति···' इस चरण के ऊपर है। मेरा उक्त पाठ श्रीरामगुलाम द्विवेदी, लाला छक्कनलाल एवं भागवत-दासजी की परम्परा से प्राप्त प्राचीन प्रति का है। इस पाठ में 'देस, कोस···' इसका भाव तो 'जाति-पाँति सब भाँति···' इसमें आ ही जाता है। स्पष्ट अनन्य-शरणागति भी आ गई है, इससे विशेष समीचीन है।

'परमारथ स्वारथ सुजस···'; यथा—"अजहूँ समुझि चित्त दै सुनु परमारथ। है हित सों जगहूँ जाहि तें स्वारथ ॥" (वि० १३५); "सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम बचन राम-पद-नेहू ॥ राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (मा० अ० ६२); "स्वारथ सीताराम सों, परमारथ सियराम। तुलसी तेरो दूसरे द्वार कहा कहु काम ॥ स्वारथ परमारथ सकल, सुलभ एक ही ओर। द्वार दूसरे दीनता, उचित न तुलसी तोर ॥" (दोहावली ५३-५४); राम-भक्ति से ही सुयश भी होता है; यथा—"धन्य, धन्य तैं धन्य बिभीषन। भएउ तात निसिचर कुल भूषन ॥ बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुख सागर ॥" (मा० अ० ६२)। तथा—"कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर। दूषन भे भूषन सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर ॥" (मा० अ० २६८)। "जब कब राम

कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहीं आन उपाई॥" (वि० १२७)। "अब, जब सब से सम्बन्ध त्याग कर केवल श्रीराम-शरण हुआ, तब उन्हीं से मैं अपना हित चाहताहूँ।

रामगुण-कथन

[१११]

महाराज, बलि जाउँ, राम! सेवक-सुखदायक।
महाराज, बलि जाउँ, राम! सुंदर, सब-लायक॥
महाराज, बलि जाउँ, राम! सब संकट-मोचन।
महाराज, बलि जाउँ, राम! राजीव-बिलोचन॥
बलि जाउँ, राम! करुनायतन, प्रनतपाल, पातकहरन।
बलि जाउँ राम! कलि-भय-बिकल तुलसिदास राखिय सरन॥

अर्थ—हे महाराज! हे सेवकों को सुख देनेवाले श्रीरामजी! मैं आपकी बलि जाता हूँ। हे महाराज! हे सब प्रकार से समर्थ सुन्दर श्रीरामजी! मैं आपकी बलि जाता हूँ। हे महाराज! हे सब संकटों से छुड़ाने वाले श्रीरामजी! मैं आपकी बलि जाता हूँ। हे महाराज! हे राजीवनयन श्रीरामजी! मैं आपकी बलि जाता हूँ। हे करुना के धाम, शरणागत पालक और पापों को दूर करने वाले श्रीरामजी! मैं आपकी बलि जाता हूँ। हे श्रीरामजी! मैं आपकी बलि जाता हूँ, कलिकाल के भय से व्याकुल इस तुलसीदास को अपनी शरण में रखिये।

विशेष—इस छन्द के प्रथम चरण में श्रीरामजी के करुण गुण की व्यवस्था कही गई है; करुणा; यथा—"सेवक को दुख देखि कै, स्वामि बिकल होइ जाय। दलि दुख सुख साजै सकल, करुना गुन सो आय॥" 'सेवक-सुखदायक' इस वाक्य में यह गुण है। दूसरे चरण में 'सुंदर सब लायक' कह कर शरणागत-पालकता कही है कि जो आपके सुन्दर शरीर पर मुग्ध होकर उपासना निष्ठ होता है, उस शरणागत का पालन करने में आप 'सब लायक' हैं; यथा—"पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक॥ राजिव नयन धरे धनु-सायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥" (मा० बा० १७); तथा—"सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो। सो एक राम अकाम हित निर्वान-प्रद सम आन को॥" (मा० उ० १२६)।

तीसरे चरण में 'सब संकट-मोचन' कह कर आपका 'पातक-हरण' गुण कहा है कि आश्रितों के पापों के फल-स्वरूप संकटों का आप नाश करते हैं, जैसे गजेन्द्र-द्रौपदी आदि के संकटों का आपने हरण किया है।

चौथे चरण में इन तीनों गुणों को प्रेरित करनेवाली आपकी दृष्टि कही गई है कि आप अपने राजीव-लोचन से देख कर उक्त करुणादि गुणों से रक्षण करते हैं, जैसे कि ऊपर 'पुनि मन बचन कर्म' ··राजिव नयन···' यह लिखा गया। तथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥ बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही॥" (मा० सुं० ३१); "देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना॥ राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छ जुत मनहुँ गिरिंदा॥" (मा० सुं० ३४)।

पाचवें चरण में उन्हीं तीनों (करुण आदि) गुणों से विशिष्ट श्रीरामजी पर फिर से बलिहारी कही है।

छठें चरण में उन्हीं गुणों से कलि-भय से अपनी रक्षणार्थ-प्रार्थना की है। कि मुझ पर करुणा कीजिये, अपना शरणागत जान कर मेरा पालन कीजिये, मेरे पापों के फल स्वरूप में आने वाले मेरे सङ्कटों का हरण कीजिये। तथा धर्म-प्रचार पर क्रुद्ध कलिकाल से मेरी रक्षा कीजिये।

[११२]

जय ताड़का - सुबाहु - मथन, मारीच - मानहर।
मुनि-मख-रच्छन-दच्छ, सिला-तारन, करुनाकर॥
नृप - गन - बल - मद - सहित संभु - कोदंड - बिहंडन।
जय कुठारधर - दर्प - दलन, दिनकर कुल - मंडन॥
जय जनक-नगर-आनंद-प्रद, सुखसागर सुखमाभवन।
कह तुलसिदास सुर-मुकुटमनि जय-जय-जय जानकिरवन॥

अर्थ—ताड़का और सुबाहु का नाश करनेवाले, मारीच का गर्व दूर करने वाले, श्रीविश्वामित्र मुनि के यज्ञ-रक्षण में निपुण, शिलारूपिणी अहल्या का उद्धार करनेवाले और करुणा की खानि; तथा नृपति गण के बल-मद के साथ शिवजी के धनुष को तोड़नेवाले (श्रीरामजी !) आपकी जय हो। परशुरामजी के घमंड का नाश करनेवाले, सूर्यकुल को सुशोभित करनेवाले (श्रीरामजी !)

आपकी जय हो। श्रीजनक नगर को आनन्द देने वाले, सुख के समुद्र और परम शोभा के स्थान (श्रीरामजी !) आपकी जय हो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि देवताओं में श्रेष्ठ श्रीजानकीनाथ (श्रीरामजी !) आपकी जय हो, जय हो जय हो।

विशेष—'जय ताड़का-सुबाहु-मथन...'—ताड़का-वध; यथा—"चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥ एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥ (मा० बा० २०८); सुबाहु-वध; यथा—"पावक सर सुबहु पुनि मारा।" (मा० बा० २०६); 'मारीच मान हर'; यथा—"सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनि द्रोही॥ बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥" (मा० बा० २०६); बिना गाँसी के बाण से भी मारीच की जो दशा हुई, वह उसी के मुख से सुनिये; यथा—"मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहिं मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बैर किए भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृङ्ग की नाईं। जहँ-तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥" (मा० अर० २४)।

'मुनि-मख-रच्छन-दच्छ'; यथा—"विप्र-हित-यज्ञ-रच्छन-दच्छ पच्छकर्त्ता।" (वि० ५०); इस कथा का प्रसंग; यथा—"प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय यज्ञ करहु तुम्ह जाई॥" से "मारि असुर द्विज निर्भय कारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥" (मा० बा० २०६) तक।

इस यज्ञ-रक्षण में दक्षता यह है कि दोनों भाइयों ने छः दिन और रात एक रस सावधानी से यज्ञ के चारों ओर से उसकी रक्षा की है। मारीच आदि राक्षस आकाश मार्ग से आये। आपने नीचे से ही बाणों के द्वारा उन्हें ऊपर वेध दिया था, उनके शरीरों में बाण बेधने से वे बरगद की सोरों के समान दीखते थे; यथा—"आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते।" (वाल्मी० १।३०।११); अर्थात् काली घटा के समान राक्षस सेना आकाश मार्ग से आई थी; तथा—"बेधे बरगद से बनाइ बान-बान हैं।" (हनु० बा० ३६); मारीच को (मान-वास्त्र योजित कर) बिना फर के बाण से उड़ा कर पुरुषार्थ-शून्य कर दिया और सुबाहु को पावकास्त्र से जला दिया, इस प्रकार बड़ी चातुरी से यज्ञ-रक्षा की है। इस प्रसंग में शौर्य गुण है।

'सिला तारन'; यथा—"साधन हीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि

तारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर साप ते तारी ॥" (वि० १६६); इसका चरित; यथा—"आश्रम एक दीख मग माहीं।" से "अस प्रभु दीन बंधु हरि, कारन-रहित कृपाल।" (मा० बा० २०६-२११) तक। इस प्रसंग में आपके निर्हेतु-कृपालुता एवं औदार्य गुण हैं। इसीसे साथ ही 'करुनाकर' कहा है।

'नृप गन बल मद सहित....'; यथा—"गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाइ लियो। नृपगन-मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥" (गी० बा० ८८); जब तक शिव-धनुष नहीं टूटा था, कुटिल राजाओं का बल गर्व बना था कि मुझ से नहीं टूटा तो किसी से नहीं टूटा। जब श्रीरामजी ने सहज में तोड़ डाला, तब उनका वह गर्व धनुष टूटने के साथ ही चला गया; यथा—"बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहिं संग सिधाई॥" (मा०बा० २६५)।

'जय कुठारधर दर्प दलन'; यथा—"उग्र भार्गवागर्व-गरिमापहर्त्ता।" (वि० ५०); "सहसबाहु-भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥ जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा॥ तासु गर्व जेहि देखत भागा।" (मा० लं० २५); 'दिन कर कुल भूषन'; यथा—"सुनि संदेश भानु-कुल भूषन।" (मा० लं० १०६); "भानुकुल कमल रवि।" (वि० ५०)।

'जय जनक नगर आनंदप्रद...'—पहले आपने अपने आनन्दमय विग्रह के दर्शन से श्रीजनकजी को परमानन्द दिया, फिर उनके नगर भर को उसी आनन्द का उपभोग कराया; क्योंकि श्रीजनकजी अपने नगर-वासियों को अपने समान ही सुखी देखना चाहते थे; यथा—"सुनु सखि भूपति भलोइ कियो, री। जेहि प्रसाद अवधेस-कुँवर दोउ नगर लोग अवलोकि जियो, री॥" (गी० बा० ७७); तत्पश्चात् धनुष तोड़ने पर श्रीजनकपुर और श्रीवध में भी आनन्द का सागर उमड़ पड़ा, इससे साथ ही 'सुख सागर' कहा है। फिर विवाह में आपने अपनी अद्भुत शोभा से सब को परम सुख दिया है, इससे 'सुखमा-भवन' भी साथ ही कहा गया है। यहाँ तक बालकाण्ड का प्रसंग हुआ।

'सुर मुकुट मनि'—इन पद से देवों की रक्षा के लिये वनयात्रा की है, यह भाव प्रकट किया है; यथा—"तुलसिदास जौं रहौं मातु-हित को सुर बिप्र भूमि भय टारे।" "मातु-बचन सुनि स्रवत नयन जल, कछु सुभाउ जनु नर तनु-पायक। तुलसिदास सुरकाज न साध्यो तौ तो दोष होय मोहिं महि आयक॥" (गी० अ०

१, ३); साथ ही 'जानकि रवन' पद देकर सूचित किया है कि श्रीजानकीजी का रमण साथ रहने में ही था, उनकी इच्छा पूर्ति करते हुए उन्हें साथ में रक्खा है; अन्यथा देवकार्य सम्पन्न ही न होता। वे जगन्माता हैं। अतः, जगत् का भार उतारने में ही सुख मानती हैं। यहाँ तीन बार 'जय' पद आया है; अर्थात् तीनों काल में आपकी जय हो। एवं तीन पद से बहुवचन हो जाता है। अतः, बहुत बार जय-जयकार प्रकट किया है। यहाँ तक अयोध्याकाण्ड के गुणों को संक्षेप में कह दिया है।

अलङ्कार—'आशिषालङ्कार' है, क्योंकि यहाँ सदा के जय प्राप्त होने की प्रार्थना है।

[११३]

जय जयंत-जयकर, अनंत-सज्जन-जन-रंजन।
जय बिराध-बध बिदुष, बिबुध-मुनिगन-भय-भंजन॥
जय निसिचरी-बिरूपकरन रघुबंस-बिभूषन।
सुभट चतुर्दस-सहस-दलन त्रिसिरा खर दूषन॥
जय दंडकवन-पावन-करन, तुलसिदास संसय-समन।
जगबिदित जगतमनि जयति जय जय जय जय जानकि रमन।

अर्थ—इन्द्र पुत्र जयन्त को जीतने वाले और असंख्य साधुजनों को आनंद देने वाले, श्रीरामजी की जय हो। विराध-वध में निपुण और देवगण एवं मुनिगण के भय दूर करने वाले श्रीरामजी की जय हो। राक्षसी शूर्पणखा को कुरूप करने वाले रघुवंश के विभूषण स्वरूप श्रीरामजी की जय हो। खर, दूषण, त्रिशिरा और उनके चौदह सहस्र योद्धाओं का वध करने वाले श्रीरामजी की जय हो। दण्डकवन को पवित्र करने वाले और तुलसीदास के संशयों का नाश करने वाले श्रीरामजी की जय हो। जगत् में प्रख्यात तथा जगत् के सर्वश्रेष्ठ श्रीजानकी-रमण श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो, जय हो, जय हो।

विशेष—'जय जयंत जयकर'; यथा—"सुरपति सुत धरि बायस बेषा। सठ चाहत रघुपति बल देखा॥" से "कीन्ह मोह बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर बध उचित। प्रभु छाडेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर सम।" (मा० अर० १-२)

तक। इस प्रसंग में श्रीजानकीजी का विरोधी के प्रति मातृत्व एवं पुरुषकारत्व तथा श्रीरामजी का प्रपन्न-रक्षण गुण प्रकट किया गया है।

'अनंत सज्जन-जन-रंजन'—उक्त जयंत-प्रसंग के द्वारा प्रकट किये हुए अपने गुणों से श्रीरामजी अनन्त सज्जन भक्तों का कल्याण करते हैं। भक्त लोग इस विरुद के आधार पर महाविश्वासपूर्वक शरण हो आपके इन गुणों से लाभ उठाते हैं।

'जय बिराध-बध-बिदुष';; यथा—"खर-दूषन-बिराध-बध पंडित।" (मा० उ० ५०); विराध किसी अस्त्र-शस्त्र से नहीं मरता था, तब आपने उसे भूमि में गाड़ दिया, इस प्रकार पांडित्य से उसे मारा है। यथा—"खनि गर्त गोपित बिराधा।" (वि० ४३); तथा—"मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता॥ तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥" (मा० अर० ६)।

'बिबुध मुनिगन भय भंजन'—निशाचर-वध की प्रतिज्ञा से देवगण और मुनिगण के भय का हरण हुआ है; यथा—"अस्थि समूह देखि रघुराया।" से "निसिचर हीन करौं महि, भुज उठाइ पन कीन्ह। सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥" (मा० अर० ८–६) तक। तथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुरनर मुनि सब के भय बीते॥" (मा० अर० २०)।

'जय निसिचरी बिरूप करन···'; यथा—"लछिमन अति लाघव सो, नाक-कान बिनु कीन्हि। ताके कर रावन कहँ, मनो चुनवती दीन्हि॥ नाक-कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥" (मा० अर० १७); तथा—"दिव्य-देवी-बेष देखि, लखि निसिचरी जनु बिडंबित करी बिस्वबाधा॥" (वि० ४३)। विधवा एवं कुल्टा स्त्री की प्रणय-याच्ञा पर उसे दण्ड दिया और ऐसा दण्ड दिया कि जिससे फिर कभी वह वैसा दुराचरण न कर सके, इससे रघुवंश-विभूषण कहा गया है; क्योंकि रघुवंशी पर-स्त्री पर मन और दृष्टि नहीं देते।

'सुभट चतुर्दस-सहस-दलन···'—रावण के समान बलवान खर-दूषण आदि का वध श्रीरामजी ने अकेले बहुत थोड़े ही समय में कर डाला, इसमें अप्रतिम शौर्य गुण है; यथा—"सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ

कोउ नाहीं ।। खर-दूषन मोहिं सम बलवंता । तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता ।।" (मा० अर० २२) ।

'जय दंडकबन पावन करन'; यथा—"दंडकबन पुनीत प्रभु करहू । उग्र साप मुनिवर कर हरहू ।।" (मा० अर० १२); "दंडक पुहुमि पायँ परसि पुनीत भई, उकठे बिटप लागे फूलन फरन ।" (वि० २५७); 'संसय-समन'; यथा—"संसय-समन दमन-दुख सुख-निधान हरि एक ।" (वि० २०३); "सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय-भ्रम-समुदाइ ।" (मा० कि० १६); अर्थात् श्रीरामजी प्रेरणा करके सद्गुरु का संयोग कर उनके द्वारा संशय दूर करते हैं ।

'जग बिदित...'; यथा—"पुरुष प्रसिद्ध प्रकासबिधि..." (मा० बा० ११६); "इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।" (वाल्मी० १।१); "तुलसिदास प्रभु त्रिभुवन-भूषन ।।" (मा० उ० ३४) ।

इस छन्द में कुल नव बार 'जय' पद आया है, नव संख्या में अंतिम संख्या है, इस प्रकार असंख्य जयकार सूचित किया । नव के पहाड़ा में प्रत्येक संख्या जोड़ने पर नव ही रहती है, इससे आपका सदा एक रस जय शील रहना सूचित किया ।

[११४]

जय माया - मृग - मथन गीध-सबरी - उद्धारन ।
जय कबंध - सूदन बिसालतरुताल - बिदारन ।।
दवन बालि बलसालि, थपन सुग्रीव, संत-हित ।
कपि कराल भट भालु कटक-पालन कृपाल चित ।।
जय सिय-वियोग-दुख हेतु कृत सेतुबंध-बारिधि, दमन ।
दससीस, बिभीषन-अभयप्रद जय जय जय जानकिरमन ।।

अर्थ—कपट से मृग बने हुए मारीच को मारनेवाले तथा गृध्र जटायु और शबरी का उद्धार करनेवाले श्रीरामजी की जय हो । कबन्ध राक्षस का वध करनेवाले और बड़े-बड़े ताल वृक्षों को विदीर्ण करनेवाले, बलशाली बाली का नाश करनेवाले, सुग्रीव का स्थापन करनेवाले, संतों का हित करनेवाले और कृपालु चित्त से भयङ्कर योद्धा वानर-भालुओं की सेना का पालन करनेवाले श्रीरामजी की जय हो । श्रीजानकीजी के वियोग-दुःख के कारण समुद्र पर पुल बाँध कर रावण

का दमन करनेवाले श्रीरामजी की जय हो। श्रीविभीषणजी को (शरण में रख कर) अभय देनेवाले श्रीजानकीरमण श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो।

विशेष—'जय माया मृग मथन'; यथा–"तेहि बन निकट दसानन गयऊ। तब मारीच कपट मृग भयऊ ॥···माया मृग पाछे सो धावा ॥···तब तकि राम कठिन सर मारा।····प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा ॥" (मा० अर० २६)। 'गीध सबरी उद्धारन'; यथा—"सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।" (मा० बा० २४); "सबरी सुखद गीध गति दायक, समन सोक कपिराज के।" (गी० अर० २६)। "अति प्रीति मानस राखि रामहिं, राम-धामहिं सो गई। तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जलअंजलि दई ॥" (गी० अर० १७); "पितु ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।" (गी० अर० १६)।

'जय कबंध-सूदन'; यथा—"आवत पंथ कबंध निपाता। तेहि सब कही साप कै बाता ॥" से "गयउ गगन आपनि गति पाई ॥ ताहि देइ गति राम उदारा।" (मा० अर० ३२-३३) तक। तथा—"जयति मद अंध कु कबंध बधि···" (वि० ४३)। यहाँ तक अरण्यकांड के गुण कहे गये।

'बिसाल तरु ताल-बिदारन'; यथा—"दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए ॥" (मा० कि० ६); "श्रीरामजी ने धनुष चढ़ाकर एक बाण चलाया। वह सातो ताल वृक्षों को फोड़ (काट) कर पर्वत और पृथिवी को फोड़ता हुआ पाताल चला गया। एक ही मुहूर्त में वह बाण फिर लौटकर श्रीरामजी के तरकश में आ गया।" (वाल्मी० ४।१२)।

'दवन बालि बलसालि, थपन सुग्रीव'; यथा—"बालि बली बलसालि दलि, सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपाल को, बिरद गरीब निवाज ॥" (दोहावली १५८); "बालि बलसालि बधि, करन सुग्रीव राजा ॥" (वि० ४३)।

'संत हित'; यथा—"बिप्र धेनु सुर संत-हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (मा० बा० १९२)।

'कपि कराल भट भालु-कटक पालन···'; यथा—"देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना ॥ राम-कृपा-बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥" (मा० सुं० ३४); "ए कपि सब सुग्रीव समाना

इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥ राम कृपा अतुलित बल तिन्हहीं । तृन समान त्रैलोकहि गनहीं ॥" (मा० सुं० ५४) ।

'जय सिय वियोग दुख हेतु....'—श्रीरामजी श्रीजानकीजी के विरह में दुखी थे ही, श्रीहनुमान्‌जी ने लङ्का से आकर कहा–"निमिष-निमिष करुनानिधि, जाहिं कलप जम बीति । बेगि चलिय प्रभु आनिय, भुजबल खल दल जीति ॥" (मा० सुं० ३१); इस पर श्रीरामजी ने सुग्रीवजी को तुरत सेना सजा कर चलने की आज्ञा दी । समुद्र तट पहुँचने पर श्रीविभीषणजी आकर शरण हुए, पश्चात् सागर से मार्ग की व्यवस्था कर शीघ्र ही सेतु-रचना की आज्ञा दी । "पाँच ही दिनों में १०० योजन सागर का सेतु बन गया । यह १० योजन चौड़ा था ।"–(वाल्मी० ६।२२।६४-७२) ।

'दमन दससीस'—रावण का परिवार के साथ नाश किया ।

'बिभीषन-अभयप्रद'; यथा—"राखि बिभीषन को सकत अस काल गहा को । आजु बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को ॥" (वि० १५२); "रावन-रिपुहि राखि रघुवर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहै ।" (गी० सुं० ३४); "सब भाँति बिभीषन की बनी । कियो कृपालु अभय कालहु तें, गइ संसृति साँसति घनी ॥" (गी० सुं० ३६); "भेंट्यो हरि भरि अंक भरत ज्यों, लंकापति मन भायो ॥ कर पंकज सिर परसि अभय कियों जन पर हेतु दिखायो ।" (गी० सुं० ४४) ।

[११५]

कनक - कुधर - केदार, बीज सुंदर सुरमनि बर ।
सींचि कामधुक-धेनु सुधामय पय बिसुद्ध तर ॥
तीरथपति अंकुर - सरूप, जच्छेस रच्छ तेहि ।
मरकत-मय साखा, सुपत्र मंजरि सुलच्छि जेहि ॥
कैवल्य सकल फल कल्पतरु सुभ सुभाव सब सुख बरिस ।
कह तुलसिदास रघुबंस मनि तौ कि होहि तुव कर सरिस ? ॥

अर्थ—सोने का पहाड़ (सुमेरु) थाल्हा हो, सुन्दर श्रेष्ठ चिन्तामणि बीज हो और कामधेनु के अमृतमय अत्यन्त शुद्ध दूध से उसे सींचा जाय । तीर्थराज प्रयाग उसके अङ्कुर स्वरूप होकर प्रकट हों, कुबेरजी उसके रक्षक (माली) हों, मरकत मणिमय उसकी शाखाएँ और पत्ते हों, तथा श्रीलक्ष्मीजी जिसकी मञ्जरी

(फूल) हों। समस्त मुक्तियाँ (सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य तथा एकत्व परक कैवल्य) उसके फल स्वरूप हों; ऐसा कल्पवृक्ष हो, फिर उसका केवल शुभ ही स्वभाव हो एवं सब प्रकार के सुखों की वर्षा वह स्वयं किया करे (माँगना भी न पड़े)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—हे रघुवंशमणि ! तब भी क्या वह कल्पवृक्ष आपके हाथ के समान (उदारदाता) हो सकता है ?।

विशेष—इस छन्द में अत्यन्त सुन्दर उपयुक्त और ऊँची कल्पना है, इस कल्पवृक्ष के निर्माण में तो ग्रन्थकार ने आश्चर्य कर दिखाया है। श्रीजानकीजी के लिये भी कुछ ऐसी ही कल्पना है; यथा—"जौं छबि सुधा पयोनिधि होई।" से "यहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल। तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल॥" (मा० बा० २४६-२४७) तक।

'कनक कुधर केदार...'—थाल्हा सुमेरु गिरि का हो, सर्व वस्तुओं की खान भूमि है, उसका वह मध्य (सारांश) भाग है। सोने का एवं बहुत बड़ा है। अतः उसका महाहत्व कैसे कहा जाय ? थाल्हा भूमि पर होता है, वह पहाड़ भी भूमि पर ही है।

'बीज सुंदर सुरमनि वर'—थाल्हा बन जाने पर उसमें बीज बोया जाता है। यहाँ सुन्दर एवं श्रेष्ठ चिंतामणि बीज रूप है, यह देवलोक में इन्द्र के पास रहता है और आश्रित की अभिलाषाओं को पूर्ण करता हुआ वह ज्यों का त्यों बना रहता है। चिंतामणि आकार में भी बीज के समान गोलाकार छोटा होता है। इसका महाहत्व भी अपरिमेय है।

'सींचि कामधुक धेनु...'—भूमि में जल की सर्दी पाकर बीज में अंकुर फूटता है। यहाँ मनः-कामना देने वाली कामधेनु का अमृतमय दूध जल के स्थान पर है, इसके संयोग से इस बीज में अंकुर फूटे। इसका महाहत्व भी वैसा ही है।

'तीरथपति अंकुर-सरूप'—तीर्थराज प्रयाग चारो फल देने वाले हैं; यथा "तीरथराज देखि प्रभु जाई॥...चारि पदारथ भरा भँडारू।" (मा० अ० १०४)। अंकुर भूमि से निकलता है, वैसे तीरथराज भी भूमि पर ही हैं। अंकुर में ही मोक्ष फल-दातृत्व भी है। अतः, वृक्ष सम्पन्न होने पर 'कैवल्य सकल फल' कहा जाना कैसा उपयुक्त है।

'जच्छेस रच्छ तेहि'—कुवेरजी यक्षों के राजा हैं, इससे यक्षेश कहाते

हैं, ये इन्द्र की नवनिधियों के भंडारी हैं, इससे धनेश कहाते हैं। ये अपरि-
मित धन के स्वामी हैं। अतः, रक्षक भी योग्य हैं।

'मरकत मय साखा सुपत्र'—शाखाएँ गहरे हरे एवं नीले रंग की होती
हैं, वैसे ही रंग की पत्तियाँ भी होती हैं। मरकतमणि का भी वैसा ही रंग होता
है। यथा—"बेनु हरित मनिमय सब कीन्हें।...हरित मनिन के पत्र-फल...,"
(मा० बा० २८६)। तथा—"सौरभ-पल्लव सुभग सुठि० किये नीलमनि कोरि।"
(मा० बा० २८७)।

'मंजरि सुलच्छि जेहि'—जैसे आम की मंजरी (बौर) सोने के रंग की
होती है, वैसे ही इस कल्पवृक्ष की भी मंजरियाँ होंगी, इसी से गौर एवं स्वर्ण-
वर्णा श्रीलक्ष्मीजी की उपमा दी गई है। श्रीलक्ष्मीजी की सुदृष्टि से बड़े बड़े लोक-
पाल हो जाते हैं, संसार भर की श्री की वे अधिष्ठात्री हैं। अतः, इस कल्पवृक्ष
की मंजरी के योग्य हैं।

'कैवल्य सकल फल'; यथा—"अति दुर्लभ कैवल्य परम पद..." (मा०
उ० ११८)-यह निर्गुण परक मोक्ष की प्रशंसा में कहा गया है। शेष उपर्युक्त
चार प्रकार की मुक्तियाँ सगुण परक हैं, इन सबकों यहाँ 'सकल' पद से सूचित
किया गया है।

'सुभ सुभाव'—स्वर्ग वाले कल्पवृक्ष में शुभ + अशुभ दोनों मनोरथ सिद्धि
का स्वभाव है, इसमें केवल शुभ ही हो। 'सब सुख बरिस'—उस कल्पवृक्ष में
माँगना पड़ता है। इसमें स्वतः सुखों की वर्षा हुआ करे, कांक्षा करने की आव-
श्यकता न हो।

'तउ कि होइ तुव कर सरिस'—उपर्युक्त मनोरथ देने वाले एवं चारों
फल देने वाले सभी संसार के एकत्र होकर एक कल्पवृक्ष बने, तब भी आपके
परम उदार दानी हस्तकमल के समान नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ये सब एक
ब्रह्माण्ड के हैं और आपकी इच्छा से होने वाले ऐसे अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, जो
रोम-रोम में विराजमान हैं, फिर यह एक ब्रह्मांड की ही विभूतियों से सम्पन्न
कल्पवृक्ष कैसे समान हो? यह छन्द राज्य-सिंहासनासीन होने के समय पर कहा
गया है।

अलङ्कार—समस्त-वस्तु-विषयक-सांगरूपक।

रामभक्ति-अपेक्षा

[११६]

जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै ।
जाय सो जती कहाय बिषय-बासना न छंडै ॥
जाय धनिक बिनु दान, जाय निर्धन बिनु धर्महि ।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महि ॥
सुत जाय मातु-पितु-भक्ति बिनु, तिय सो जाय जेहि पति न हित ।
सब जाय दास तुलसी कहत, जो न रामपद नेह नित ॥

अर्थ—वह समर्थ योद्धा व्यर्थ है जो संग्राम (का अवसर) पाकर लड़ाई से रणस्थल को सुशोभित नहीं करता । जो यति (संन्यासी एवं विरक्त) कहला कर विषयों की वासना नहीं छोड़ता, यह व्यर्थ है । विना दान का धनी और धर्माचरण शून्य निर्धन भी व्यर्थ है । जो पंडित पुराणों को पढ़ कर सत्कर्मों में रत नहीं है, वह व्यर्थ है । माता-पिता की भक्ति से रहित पुत्र व्यर्थ है, जिस स्त्री को पति प्यारा नहीं है, वह व्यर्थ है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो श्रीरामजी के चरणों में नित्य स्नेह नहीं करता, उसके सब कुछ व्यर्थ ही हैं एवं उपर्युक्त सभी गुण विशिष्ट व्यर्थ हैं; यदि वे राम-स्नेहरत नहीं हैं ।

विशेष—'जाय सो सुभट समर्थ···'; यथा—"छत्रिय तनु धरि समर सकाना । कुल कलंक तेहि पाँवर आना ॥" (मा० बा० २८३); तथा—"अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि । ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥" (गीता २।३३); अर्थात् अब यदि तू इस धर्म रूप संग्राम को नहीं करेगा, तो अपने धर्म और कीर्त्ति को खोकर पाप को प्राप्त करेगा ।

'जाय सो जती कहाइ···'—ब्रह्म-विचार-निष्ठ यति कहाते हैं, यदि उन्होंने विषय-वासना नहीं छोड़ी तो वे व्यर्थ हैं, उनकी निष्ठा व्यर्थ है; यथा—"बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू ।" (मा० अ० १७७); "सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम बिषय-बिलास ॥" (मा० अ० १४०); "राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं । बिषय-भोग बस करै कि तिन्हहीं ॥" (मा० अ० ८३) । तथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति । स्थितेऽरविन्दे मक

रंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते ॥" (आलवन्दार स्तोत्र); अर्थात् अमृत स्रवने वाले आपके चरण कमल में जिसका मन लीन हो रहा है, वह अन्य वस्तु की इच्छा कैसे कर सकता है ? जैसे मकरंदपूर्ण कमल पर बैठा हुआ भ्रमर ताल-मखाने के फूल की ओर नहीं देखता ।

'जाय धनिक···'—धन की तीन गतियों में दान देना उत्तम है; यथा—"सो धन धन्य प्रथम गति जाकी ।" (मा० उ० १२६); यदि धनी ने धन को उत्तम गति में नहीं लगाया, तो वह धन व्यर्थ में गया एवं जायगा । अतः, वही धनी व्यर्थ कहा गया । निर्धन यदि धर्म-निष्ठ होता है तो लोग उस पर विश्वास करते हैं, उसकी लोक में मर्यादा रहती है, परलोक में सुख तो मिलता ही है।

'जाय सो पंडित···'—पुराण पढ़ कर विवेक प्राप्त कर सुकर्म-रत होना चाहिये, तभी वह पढ़ना सफल होता है; अन्यथा तोता-रटन से कुछ लाभ नहीं। अतः, वह पंडित व्यर्थ कहा गया है; यथा—"विद्या बिनु विवेक उपजाये । श्रम फल पढ़े किये अरु पाये ॥" (मा० अर० २०) ।

'सुत जाय मातु पितु भक्ति बिनु'; यथा—"मातु-पिता गुरु स्वामि-सिख, सिर धरि करहिं सुभाय । लहेउ लाभ तिन्ह जन्म कर, न तरु जनम जग जाय ॥" (मा० अ० ७०); तथा—"को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान् । प्रति-कर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विन्दते परम् ॥ उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः । अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥" (भाग० ९।१८।४३-४४); अर्थात् पुरु ने ययाति से कहा है कि जिसकी कृपा से परमपद लाभ हो सकता है और जिससे जन्म होता है, इस लोक में उस पिता के उपकार का बदला कौन चुका सकता है ? जो कोई पिता की इच्छा विना कहे पूरी करता है वह उत्तम है, आज्ञा देने पर करने वाला मध्यम है, अश्रद्धा से करने वाला अधम है और आज्ञा पाकर भी पूरी नहीं करता, वह पुत्र पुत्र ही नहीं है किन्तु पिता का विष्ठारूप है ।

'तिय सो जाय जेहि पति न हित'; यथा—"नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ॥ विसृज्य धन सर्वस्वं भर्त्ता वै शरणं स्त्रियाः । न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ॥ पति हीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत ।" (महा० शान्ति० १४८।७-८); अर्थात् पति के समान स्वामी और पति-सुख के समान और सुख नहीं है । अतः, धन एवं सर्वस्व छोड़ कर स्त्री को पति का ही आश्रयण

करना चाहिये। हे नाथ ! आपके विना मेरा जीवन व्यर्थ है, पति विना भला कौन स्त्री जीना चाहेगी। यह कपोती ने कहा है।

'सब जाय दास तुलसी कहत…'—इसमें 'सब' इस पद के ऊपर दो प्रकार के अर्थ हैं। एक अर्थ में 'सब' का अर्थ एक व्यक्ति के जप-तप आदि, ये रामभक्ति बिना व्यर्थ हैं; यथा—"ज्ञान, बिराग, जोग, जप, तप, मख जग मुद मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल-जलधि हलोरे॥" (वि० १६४), दूसरा अर्थ यह है कि उपर्युक्त सुभट आदि यदि अपने गुणों से युक्त भी हैं, पर उनमें श्रीराम-स्नेह नहीं है, तो वे सब व्यर्थ हैं; यथा—"सोई सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥ धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता॥ नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना॥ सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा॥" (मा० उ० १२६)। तथा पूर्वोक्त छन्द ४२ भी देखिये।

[११७]

को न क्रोध निरदह्यो काम बस केहि नहिं कीन्हो ?।
को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो ?॥
कौन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि नयन सर ?।
लोचन जुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कौन नर ?॥
सुर-नागलोक महि मंडलहु, को जो मोह कीन्हो जय न ?।
कह तुलसिदास सो ऊबरै, जेहि राख राम राजिव नयन ?॥

अर्थ—क्रोध ने किसको नहीं जलाया ? काम ने किसको वश में नहीं किया ? लोभ ने दृढ़ फन्दे में बाँधकर किसको भयभीत नहीं कर दिया ? किसके हृदय में स्त्रियों का अत्यन्त तीक्ष्ण नेत्र रूपी बाण नहीं लगा ? नेत्रों के रहते हुए भी धन पाकर कौन मनुष्य अन्धा नहीं हुआ ? सुरलोक (स्वर्ग), नागलोक (पाताल) तथा पृथिवी मंडल में भी ऐसा कौन है, जिसको मोह ने नहीं जीता हो ? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इन (उपर्युक्त विकारों) से तो वही बच सकता है, जिसे राजीव-लोचन श्रीरामजी रख (बचा) लें।

विशेष—'को न क्रोध निरदह्यो'; यथा—"केहि कर हृदय क्रोध नहीं दाहा।" (मा० उ० ६६); 'काम बस केहि नहिं कीन्हों'; यथा—"को जग काम

नचाव न जेही ॥" (मा० उ० ६६); 'को न लोभ दृढ़ फंद···'; यथा—"ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्ह न एहि संसार ॥" (मा० उ० ७०); 'कौन हृदय नहिं लाग···लोचन जुत···' यथा— "श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि। मृगलोचनि के नयन सर, को अस लाग न जाहि ॥" (मा० उ० ७०); तथा—"नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥ लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह-समान रघुराया ॥" (मा० कि० २०)।

भाव यह कि बड़े-बड़े शान्त चितवालों को भी क्रोध जला देता है, बड़े-बड़े धैर्यवानों को कामलोलुप बना देता है और बड़े-बड़े त्यागियों को लोभ तृष्णा के दृढ़ फन्दे में बाँध कर चिन्ताग्रस्त कर देता है। सुन्दर स्त्री के वश प्रायः सभी हो जाते हैं और धन आदि श्रीवैभव एवं राज्यश्री के देश, कोष, सेना और वाहन आदि पाकर नेत्रों के रहते हुए प्रायः सभी मदान्ध हो जाते हैं।

'सुर-नागलोग महि मंडलहु···'—तीनों लोकों में ऐसा कौन समर्थ विवेकी है, जिसे मोह ने वश में न कर रक्खा है; यथा—"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी ॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (मा० उ० ६६)। मोहवश होकर देव, मनुष्य और नाग सभी ममता रूपी तरुण अन्धकार पूर्ण रात में राग-द्वेष रूपी उलूकों के क्रीड़ा-स्थल हो जाते हैं।

'सो ऊबरै, जेहि राख राम···'—राजीव-लोचन से करुणादृष्टि कर जब श्रीरामजी बचाते हैं, तभी कोई भी इन क्रोध आदि से बच सकता है; यथा— "पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक ॥ राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक ॥" (मा० बा० १७)। "धरी न काहू धीर, सब के मन मनसिज हरे। जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महँ ॥" (मा० बा० ८५); "तिन्ह की न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर बाँह ॥" (गी० अ० ४६); तथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ॥ ममता तरुन तमी अँधियारी। राग-द्वेष उलूक सुखकारी ॥ तब लगि बसत जीव उर माँही। जब लगि प्रभुप्रताप रबि नाहीं ॥" (मा० सुं० ४६)।

अलङ्कार—काकु वक्रोक्ति।

सवैया [११८]

भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि-बिलोकनि-बान ते बाँचे।
कोप-कृसानु गुमान-अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे॥
लोभ सबै नट के बस ह्वै कपि ज्यों जग में बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी, पै तेई रघुबीर के सेबक साँचे॥

अर्थ—जो (साधु) भौंह रूपी धनुष में भली-भाँति संधान किये हुए स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाणों से बच गये हों। अभिमान रूपी अँवाँ में क्रोध रूपी अग्नि की आँच से जिनके मन घड़े की भाँति नहीं तपे हों। सभी प्रकार के लोभरूपी नट के वश होकर वानरों की भाँति संसार में जो अनेक प्रकार के नाच न नाचे हों। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यों तो सभी साधु अच्छे ही हैं, परन्तु वे ही श्रीरघुनाथजी के सच्चे सेवक हैं।

विशेष—ऊपर के छन्द में कहे हुए विषयों की पुष्टि इसमें भी की गई है, इससे वहीं के प्रमाण यहाँ भी अपेक्षित हैं। 'सँधान सुठान' अर्थात् भली-भाँति संधान किया हुआ। 'नारि बिलोकनि बान'—इसके रूपक में भौंह रूपी धनुष स्पष्ट कहा गया है, नेत्र की पुतली वाण और काजल गाँसी हैं। चितवन का विशेष प्रकार 'सँधान-सुठान' है।

'क्रोध कृसानु…'—अवाँ में अग्नि पड़ कर व्याप्त होकर सम्पूर्ण अवाँ को संतप्त करती है। वैसे ही अहंकार के ही अन्तर्गत क्रोधाग्नि प्रज्वलित होती है कि मैं ऐसा हूँ, फिर इसने मुझे कुछ नहीं समझा! इत्यादि। फिर सम्पूर्ण हृदय को संतप्त करती है। उसमें मन रूपी घड़ा तप्त होता रहता है।

'लोभ सबै नट के…'—लोभ बहुत प्रकार का होता है, वही नट रूप है, सभी को नचाया करता है, भाव यह कि लोभवश भाँति-भाँति के कृत्य किये जाते हैं, वे ही अनेकों स्वांग बनाकर नृत्य करने के समान हैं। यथा—"साँच कहौं नाच कौन जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो॥" (वि० २७६)। नाच के विशेष अंग वि० ९१ में देखिये।

'नीके हैं साधु सबै…'—हरि शरण होकर सकाम भक्त भी उदार (श्रेष्ठ) ही कहे गये हैं; यथा—"राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ

उदारा ॥" (मा० बा० २१); तथा गीता ७।१६-१८ में भी ऐसा ही कहा गया है। 'तेई रघुबीर के सेवक साँचे'—शेष कामनाओं के भी दास रहते हैं। श्रीराम-भक्ति करते हुए मनोरथों पर लक्ष्य रखते हैं, उन्हें फल मानते हैं, राम-भक्ति को साधन का स्थान देते हैं, इसी से वे सच्चे सेवक नहीं हैं। जो क्रोध को विवेक से, काम को धैर्य से और लोभ को वैराग्य से जीत कर भक्ति करते हैं, वे ही सच्चे सेवक हैं। गीता में इसका भाव खोल दिया गया है; यथा—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥" (गीता ७।१७); अर्थात् उनमें नित्ययुक्त और एक (मुझमें) भक्ति वाला ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ। और वह मेरा प्रिय है। इसमें 'एक भक्तिः' पद से विशेषता कही गई है कि शेष एक-एक अपने प्रयोजन के भक्त हैं और श्रीरामजी के भी। अतः, वे द्वि-भक्तिः है। ज्ञानी केवल श्रीराम-जी को ही चाहता है, इससे यह विशेष है। कहा भी है; यथा—"जे लोलुप भये दास आस के ते सब ही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे ॥" (वि० १६८)।

कवित्त [११६]

वेष सुबनाइ सुचि बचन कहैं चुवाइ,
जाइ तौ न जरनि धरनि-धन-धाम की।
कोटिक उपाय करि लालि पालियत देह,
मुख कहियत गति राम ही के नाम की ॥
प्रगटैं उपासना, दुरावैं दुरबासनहिं,
मानस निवास-भूमि लोभ मोह काम की।
राग-रोष-ईरषा-कपट-कुटिलाई भरे,
तुलसी-से भगत भगति चहैं राम की ! ॥

अर्थ—जो सुन्दर साधुओं का-सा वेष बना कर पवित्र एवं अमृत चूते हुए से वचन बोलते हैं। परन्तु जिनके हृदय से पृथिवी, धन और घर की तृष्णारूपी आग नहीं जाती। जो करोड़ों उपाय करके शरीर का लालन-पालन करते हैं, पर मुख से कहते हैं कि मुझे तो श्रीरामजी के नाम का ही सहारा है। जो उपासना को तो प्रकट करते हैं, परन्तु अपने मन की दुरवासनाओं को छिपाये रखते हैं।

जिनका मन लोभ, मोह और काम की निवास-भूमि हो रहा है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे राग-द्वेष, ईर्ष्या, छल और कुटिलता से भरे हुए मेरे-जैसे भक्त भी श्रीरामजी की भक्ति चाहते हैं।

विशेष—'बेष सुबनाइ…'—अच्छे संत कुवेष रखते हैं; यथा—"कह नृप जे बिज्ञान निधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना॥ सदा रहहिं अपनपौ दुराए। सब बिधि कुसल कुबेष बनाए॥" (मा० बा० १६०); 'सुचि बचन कहैं चुवाइ'; यथा—"बोलहि मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥" (मा० उ० ३८); 'सुचि' इसका भाव यह कि हृदय के कपट को खुलने नहीं देते, सँभाल कर निष्कामता के वचन बोलते हैं, पर हृदय में दंभ से पुजाने की इच्छा रहती है; यथा—"लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि। बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि॥" (वि० १५८)।

'जाइ तौ न जरनि…'—हृदय को पृथिवी, धन और घर की वृद्धि की तृष्णा जलाया करती है। तृष्णा से ही चिन्ता भी होती है; यथा—"लोभाद्धि-जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्त्तते।" (महा० आश्वमेधिक पर्व ३१।१०); अर्थात् लोभ से तृष्णा और उससे चिन्ता होती है। इन पृथिवी आदि के सम्बन्ध में दूसरों में अधिक देख कर मत्सर (डाह) भी होता है, वह भी हृदय दाहक है।

'कोटिक उपाय करि…'—देह-पोषण वृत्ति अविवेक है; यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं॥" (मा० अ० १४१); इसी को महामोह कहते हैं; यथा—"अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः। ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः॥" (महा०आश्व० ३६।३२); अविवेक में रत हैं और कहते हैं कि परम विवेकियों का आधार रूप श्रीरामनाम ही मेरा आधार है; यथा—"दास रता एक नाम सों, उभय लोक सुख त्यागि। तुलसी न्यारे होइ रहै, दहै न दुख की आगि॥" (वैराग्य संदीपिनी ४२)।

'प्रगटैं उपासना'—उपासना छिपाना चाहिये; क्योंकि यह उत्तम पुण्य रूपा है। अतः कथन द्वारा एवं दंभ रूप में प्रकट करने से इसका क्षय होता है; यथा—"छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती। (मा० लं० ७०); "करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बर-बस दयानिधि दंभ लेन अँजोरि॥" (वि० १५७)। 'दुरावैं दुखासनहिं'—

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"देखा-देखी दंभ ते कि संग ते भई भलाई प्रगटि जनाई कियो दुरित दुराउ मैं ॥" (वि० २६१)। दुर्वासनाओं को कहने से उनका नाश होता है, छिपाने से वे बढ़ती रहती हैं: यथा—"यथा लवणमम्भोभिराप्लुतं प्रविलीयते। प्रायश्चित्तहतं पापं तथा सद्यः प्रणश्यति। तस्मात्पापं न गूहेत गूहमानं विवर्धयेत्। कृत्वा तत्साधुष्वाख्येयं ते तत्प्रशमयन्त्युत ॥" (महा० अनु० १६२।५८-५६); अर्थात् जैसे नमक जल में पड़ने से पिघल जाता है, वैसे ही प्रायश्चित्त के द्वारा पाप कर्म उसी समय नष्ट हो जाते हैं। इस लिये पाप कर्म न छिपाना चाहिये, छिपाने से वे और बढ़ते हैं। पाप करने पर साधुओं के निकट कहने पर वे लोग उस पाप को नष्ट किया करते हैं।

'राग रोष ईर्षा कपट…' ये सब दोष भक्ति के नाशक हैं; यथा—"सुक-सनकादि, प्रह्लाद-नारदादि कहैं, राम की भगति बड़ी बिरति निरत।" (वि० २५१); "हरि निर्मल मल ग्रसित हृदय असमंजस मोहिं जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत ॥" (वि० १८५)। "दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके।" (वि० १८४)। राम-भक्ति बड़ी दुर्लभ है; यथा—"ये कल्पकोटिसततं जप होमयोगैर्ध्यानैः समाधिभिरहो रत ब्रह्मज्ञानात्। ते देवि धन्य मनुजा हृदिवाह्यशुद्धा भक्तिस्तदा भवति तेष्वपि रामपादौ ॥" (महा रामायण), अर्थात् अनेक जन्मों तक जप, होम, योग, ध्यान समाधि एवं ब्रह्मज्ञान में निरंतर रत रहने पर श्रीराम-चरणों की भक्ति होती है।

१२०]

कालि ही तरुन तन, कालि ही धरनि धन,
कालि ही जितौं गो रन, कहत कुचालि है।
कालि ही साधौं गो काज, कालि ही राज-समाज,
मसक ह्वै कहैं 'भार मेरे मेरु हालि है' ॥
तुलसी यही कुभाँति घने घर घालि आई,
घने घर घालति है, घने घर घालि है।
देखत - सुनत - समुझतहू न सूझै सोंइ,
कबहूँ कह्यो न 'कालहू को काल कालि है' ॥

अर्थ—कुचाली लोग कहते हैं कि मुझे कल ही युवा शरीर प्राप्त हो जायगा,

कल ही भूमि और धन की प्राप्ति हो जायगी और कल ही मैं युद्ध में विजय भी प्राप्त कर लूँगा। कल ही मैं अपने समस्त कार्य साध लूँगा और कल ही मैं राज-समाज सम्पन्न कर लूँगा। मच्छड़ के समान होते हुए भी वे कहते हैं कि 'मेरे बोझ से सुमेरु पहाड़ भी हिल जायगा।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यही कुप्रवृत्ति बहुत-से घरों को नष्ट कर आई, बहुत-से घरों को नष्ट रही है और बहुत-से घरों को नष्ट करेगी। देखते, सुनते और समझते हुए भी स्वामी श्रीरामजी नहीं देख (समझ) पड़ते, कभी किसी ने नहीं कहा कि 'मृत्यु का समय भी कल ही है।'

विशेष—**'कालि ही तरुन तन,…'**—यहाँ उपर्युक्त दुर्वासनाओं के स्वरूप कहते हैं—'कालि ही तरुन तन'—इस मनोरथ में काम की दुर्वासना है कि मैं शीघ्र युवा हो जाऊँ, जिससे स्त्री मोहित हो। 'कालि ही धरनि धन'—इसमें लोभ की दुर्वासना है कि मुझे शीघ्र ही भूमि एवं धन की प्रचुर मात्रा में प्राप्ति हो जाय।

'कालि ही जितौं गो रन'—इसमें क्रोध की दुर्वासना है कि शत्रु को शीघ्र ही जीत लूँगा।

'कालि ही साधौं गो काज'—सत्कर्मों के द्वारा में अमुक-अमुक कार्य सिद्ध करूँगा, यह सत्वगुणी प्रवृत्ति है। 'कालि ही राज-समाज'—इसमें राजसी प्रवृत्ति है और 'मसक ह्वै कहैं…'—इसमें तामसी प्रवृत्ति है।

इसी प्रकार इन दुर्वासनाओं का वर्णन अन्यत्र भी है; यथा—"आशापाश-शतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥ इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥ असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।…इत्यज्ञान विमोहिताः ॥१५॥" (गीता १६) इत्यादि।

'तुलसी यही कुभाँति…'—यह कुत्सित प्रवृत्ति है, इससे तीनों काल में नाश होता है।

'देखत-सुनत-समुझतहू न सूझै साँइ'—उपर्युक्त कुभाँति के परिणाम को संसार में प्रत्यक्ष देखता है, पुराणों एवं गुरुजनों से सुनता है और स्वयं विचार करके समझता भी है। तब भी इसे जगत् प्रवर्त्तक स्वामी नहीं सूझता, जिसकी शरणागति से अपना कल्याण हो सकता है, जिसके शासन से मृत्यु भी दौड़ती

है, विवश होकर सब को मरना पड़ता है। इसी प्रमाण को अन्त में रखते हैं— 'कबहूँ कह्यो न कालिहू को काल कालि है' भाव यह कि जगत् की प्रवृत्ति यदि स्वतंत्र होती तो सब के सभी मनोरथ सिद्ध ही होते; अथवा, एक भी सिद्ध न होते। कुछ तो उद्योग से सिद्ध होते हैं और कुछ उद्योग से भी नहीं सिद्ध होते। इससे तो कोई प्रवर्तक सिद्ध ही है; यथा—"होती जो आपने बस रहती एक ही रस दुनी न हरष-सोक साँसति सहति। चहतो जो जोई-जोई लहतो सो सोई-सोई केहू भाँति काहू की न लालसा रहति॥" (वि० २४६)।

मृत्यु तो प्रायः कोई नहीं चाहता, पर वह भी बलात् होती है, वह जिसके शासन से होती है, वह हमसे परम समर्थ है और स्वामी है। अतः, हमें उसकी उपासना करनी चाहिये। जगत् की प्रवृत्ति उसी के द्वारा है। अतः, जगत् के द्वारा होने वाले उसके उपकारों को समझ-समझ कर उसमें प्रेम-भक्ति करनी चाहिये। यही इस छन्द का निष्कर्ष है।

आधुनिक प्रायः सभी प्रतियों में चौथे चरण के 'साँइ' पद के स्थान पर 'सोई' पाठ हो गया है, उक्त पाठ परंपरागत पुरानी भागवतदास की प्रति का है। 'साँइ' का 'सोई' हो जाने से छन्द का कुछ लक्ष्य ही नहीं रह गया।

[१२१]

भयो न तिकाल तिहूँ लोक तुलसी-सो मंद,
निंदैं सब साधु, सुनि मानौं न सकोचु हौं।
जानत न जोग, हिय हानि मानैं जानकीस,
काहे को परेखो, पातकी प्रपंची पोचु हौं॥
पेट भरिबे के काज महाराज को कहायो,
महाराज हू कह्यो है 'प्रनत-बिमोचु हौं'।
निज अघ जाल, कलिकाल की करालता
बिलोकि होत ब्याकुल, करत सोई सोचु हौं॥

शब्दार्थ—परेखो (सं० परीक्षा) = १ जाँच, २ विश्वास, ३ खेद, पछतावा।

अर्थ—भूत, भविष्यत् और वर्तमान—इन तीनों कालों में और स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—इन तीनों लोकों में इस तुलसीदास के समान बुरा कोई नहीं हुआ। समस्त साधु इसकी निन्दा करते हैं; परन्तु सुनकर भी यह संकोच नहीं मानता, (ऐसी निर्लज्जता

है)। श्रीजानकीनाथ श्रीरामजी मुझे अपने (सेवक होने) योग्य नहीं समझते, इससे (मुझे अपनाने में) वे हृदय में अपनी हानि (अकीर्ति) मानते हैं। इसका खेद मैं क्यों करूँ? मैं तो पापी, प्रपञ्ची और नीच हूँ। मैं पेट भरने के लिये महाराज श्रीरामजी का (शरणागत) कहलाया और महाराज ने भी कहा है कि "मैं शरणागतों का उद्धार करनेवाला हूँ।" (आपकी इस प्रतिज्ञा का मुझे भरोसा है); किन्तु अपने पापसमूहों को और फिर कलियुग की भयङ्करता को देखकर व्याकुल हो जाता हूँ, वही (अपने उद्धार होने के विषय की) चिन्ता करता हूँ।

विशेष—'भयो न तिकाल...'—इस चरण में ग्रन्थकार का अपने हृदय से कल्पित कार्पण्य है। परम शुद्ध भगवान् के समक्ष भक्त अपने को अत्यन्त तुच्छ एवं मलिन समझता ही है। जैसे भक्ति-निष्ठा में परम-निपुण श्रीहनुमान्जी ने शपथपूर्वक कहा है; यथा—"तापर मैं रघुबीर दोहाई। जानौं नहिं कछु भजन उपाई॥" (मा० कि० २); इत्यादि।

'जानत न जोग...'—भक्त की निष्ठा पुष्ट करने के लिये भगवान् किंचित् अनुभव करा-करा दूर हो जाते हैं; इससे भक्त व्याकुल हो-हो अपने को इष्ट से तिरस्कृत मान-मानकर ग्लानि करता है, फिर इसमें अपने पूर्वकृत पाप-समूहों को हेतु मान-मानकर झींखता है वही व्यवस्था यहाँ है; यथा—"आवत निकट हँसहिं प्रभु, भाजत रुदन कराहिं। जाउँ समीप गहन पद, फिरि-फिरि चितय पराहिं॥" (मा० उ० ७७); तथा—"यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम्। मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥" (भाग० १०।४७।३४); अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्ने उद्धवजी के द्वारा गोपियों से कहा है कि तुम्हारी आँखों का तारा (परम प्यारा) मैं तुमसे इसलिये दूर हूँ कि तुम सदैव मेरे ही ध्यान में लवलीन रहो। तुम्हारा मन सब समय मेरे ही निकट रहे (इस प्रकार मन शुद्ध कर तुम मुझे ही प्राप्त होगी)।

'पेट भरिबे के काज...'—श्रीरामजी का भक्त हो जाऊँगा तो साधु जान संसार भोजन वस्त्र देगा, इस लक्ष्य से तो मैं रामजी का शरणागत हुआ, मुमुक्षुता से नहीं। फिर भी श्रीरामजी ने कहा है कि जो मेरी शरण होता है, मैं उसका उद्धार कर देता हूँ—छन्द १०६ के विशेष में प्रमाण लिखे गये हैं। इसी का मुझे भारी भरोसा है।

'निज अघ जाल कलिकाल...'—अपने पाप समूहों को देखकर यह भय रहता है कि कलिकाल कुपित है ही। यह छली है इसने छल से परीक्षित पर घात किया है, ऐसे ही यदि श्रीरामजी अपनाने में देरी करेंगे तो यह मेरे पापों के साथ मिलकर छल से कहीं मेरी प्रपत्ति में ही दोष करा दे, यही चिन्ता है। अतः, अपनाने में शीघ्रता करने की कृपा हो।

[१२२]

धरम को सेतु, जग मंगल को हेतु, भूमि-
भार हरिबे को अवतार लियो नर को।
नीति औ प्रतीति-प्रीति-पाल चालि-प्रभु, मान
लोक-बेद राखिबे को पन रघुबर को॥
बानर बिभीषन की ओर के कनावड़े हैं,
सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै, बलि,
तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को॥

शब्दार्थ–चालि=रीति, स्वभाव। घर जायउ=गृहजात दास, घर का गुलाम।

अर्थ—श्रीरामजी धर्म की मर्यादा हैं, उन्होंने संसार का कल्याण करने के लिये और पृथिवी का भार उतारने के लिये मनुष्य का अवतार धारण किया है। नीति, प्रतीति और प्रीति का पालन करना तो प्रभु का स्वभाव ही है, लोक और वेद की मान-रक्षा करने का श्रीरघुनाथजी का प्रण है। आप वानर सुग्रीवजी और विभीषणजी के ऋणी हैं, यह कथा सुनकर मुझ सेवक का अंग-अंग जलता है (कि मुझ पर ऐसी कृपा क्यों नहीं करते ?)। मैं आपकी बलैया लेता हूँ, आप अपनी रीति की रक्षा करते हुए जो हो, वही कीजिये, मैं तो आपके घर का गृहजात नौकर हूँ।

विशेष—'धरम को सेतु'; यथा—"धरमसेतु करुनायतन..." (मा० अ० २४०); 'जग मंगल को हेतु'; यथा—"राम जनम जग-मंगल हेतू।" (मा० अ० २५३)।

'भूमि-भार हरबे को...'; यथा—"तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥" (मा० बा० २०५); "हरिहौं सकल भूमि गरु-

आई।" (मा० बा० १८८); भाव यह कि आप धर्म-मर्याद-रक्षण, जगत्-मंगल-करण और भूमि-भार-हरण के लिये अवतीर्ण हुए हैं।

'नीति औ प्रतीति-प्रीति···'; यथा—"नीति-प्रीति-पालक रघुराजू॥" (मा० अ० ३०२); प्रतीति का पालना यह कि जो आपका स्वभाव सुनकर विश्वासपूर्वक शरण होता है, उसके विश्वास के अनुसार आप उससे बर्तते हैं; यथा—"तेउ सुनि सरन सामुहें आये। सकृत प्रनाम किहें अपनाये॥" (मा० अ० २६८)।

'लोक बेद राखिबे को पन···'—लौकिक रीति एवं वैदिक रीति जिस किसी भी रीति के अनुसार कोई आपकी शरण होता है, उसका पालन उसके विश्वास के अनुसार ही करते हैं; यथा—"मातु-पितु-बंधु-हित, लोक-बेद-पाल को? बोल को अचल, नत करत निहाल को?" (वि० १८०)।

'बानर बिभीषन की ओर के कनावड़े हैं'; यथा—"तब रघुपति सब सखा बोलाए।···भगत-सुखद मृदु बचन उचारे॥ तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥ ताते मोहिं तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन-सुख त्यागे॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह-गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहहुँ मोर यह बाना॥" (मा० उ० १५); इन सखाओं में सुग्रीवजी और विभीषणजी प्रधान थे। इसी कृतज्ञता में मुग्ध होकर आपने इनकी चूकों पर दृष्टि नहीं दी है; यथा—"जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम-हिय हेरी॥" (मा० बा० ३८)।

'सो प्रसंग सुने···'—उस प्रसंग के सुनने पर मुझे जलन यह समझकर होती है कि मैं भी तो शरणागत हूँ। उनके दोषों पर तो आपने दृष्टि नहीं दी, मेरी बार इतने बड़े दीर्घदर्शी क्यों बने हैं कि मेरे पापों पर ही दृष्टि रखते हैं, उसी से मुझे अपनाने की इच्छा नहीं करते। एक पिता के कई पुत्र हों, वह यदि कई पुत्रों पर विशेष कृपा करे और एक पर न करे तो इसके हृदय में डाह एवं जलन होती ही है; यथा—"अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मोपै परिहँसै एते॥" (वि० २४१)।

'राखे रीति आपनी·····',—जिस प्रकार आपने सुग्रीव-विभीषण आदि के दोषों पर ध्यान नहीं दिया है, उस प्रकार की रीति मेरे प्रति भी वर्तिये, यही अपनी रीति की रक्षा है। मैं तो आपका गृहजात सेवक हूँ। अतः, अन्यत्र जा नहीं सकता, दोष भी देखेंगे तो सुधार करके तो रखना ही पड़ेगा। सुग्रीवजी और विभीषणजी आदि को तो पीछे अन्यत्र जाकर भी रहना पड़ा था।

[१२३]

नाम महाराज के निबाही नीकी कीजै उर,
सब ही सोहात मैं न लोगनि सोहात हौं।
कीजै राम बार एहि मेरी ओर चख कोर,
ताहि लगि रंक ज्यों सनेह को ललात हौं॥
तुलसी बिलोकि कलिकाल की करालता,
कृपालु को सुभाव समुझत सकुचात हौं।
लोक एक भाँति को तिलोकनाथ लोकबस,
आपनो न सोच, स्वामी सोच ही सुखात हौं॥

अर्थ—हे महाराज श्रीरामजी! आप यह भलीभाँति अपने हृदय में निश्चय करें कि आपकी नाम-निष्ठा का निर्वाह करने वाला सभी को सोहाता है, परन्तु मैं लोगों को नहीं सोहाता (यद्यपि मैं भी जैसे तैसे नाम जपता हूँ, पर मेरा शुद्ध-स्नेह नहीं है, इसी से मैं लोगों को नहीं सोहाता)। हे श्रीरामजी! इस बार मेरी ओर अपने नेत्रों की कोर से (कृपा दृष्टि से) देखिए; उसी कृपा दृष्टि (से नाम-स्नेह) के लिये मैं वैसा ही ललचाता हूँ, जैसे कोई दरिद्र स्नेह (घृत एवं घृतपक्व पदार्थों) के लिये ललचाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कलिकाल की भयंकरता को देख कर और हे कृपालु, आप के स्वभाव को समझ कर (कुछ स्पष्ट कहते) सकुचाता हूँ। इस समय सारा संसार एक प्रकार का (बुरे स्वभाव का) हो रहा है और आप तीनों लोकों के स्वामी होते हुए भी लोक के वश (हो गये-से) दीखते हैं (; अन्यथा अपने कृपामय स्वभाव से लोक सुधार अवश्य करते—ऐसी लोक धारणा हो सकती है)। अतः, हे स्वामी! मुझे अपना (अपने उद्धार का) शोच तो नहीं है किन्तु आपके शोच में मैं सूख जाता हूँ (कि लोक कहेगा कि कलिकाल में श्रीरामजी भी कृपा-रहित हो गये)।

विशेष—'नाम महाराज के निबाही···'—श्रीराम-नाम-निष्ठा वाला सभी को सोहाता है; यथा—"जपत जीह रघुनाथ को नाम नहिं अलसातो। बाजीगर के सूम ज्यों खल खेह न खातो॥ जौ तू मन मेरे कहे राम नाम कमातो। सीतापति सम्मुख सुखी सब ठाँव समातो॥ राम सोहाते तोहिं जौं तू सबहिं सोहातो। काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो॥ राम नाम अनुराग ही जिय जो रति आतो। स्वारथ-परमारथ-पथी तोहिं सब पतिआतो॥" (वि० १५१)। इस पद में—राम-नाम के अनुराग में यदि रति हो तो रामजी सोहाने लगेंगे, वे अनुकूल रहेंगे, फिर लोक-परलोक के सभी पात्र अनुकूल हो जायँगे—ऐसा कहा गया है। इस दृष्टि को आगे कर श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि अभी मेरा स्नेह श्रीराम-नाम में ठीक नहीं हो पाया, इसीसे मैं लोगों को नहीं सोहाता हूँ।

'कीजै राम बार यहि मेरी ओर···'—नाम-निष्ठा में शुद्ध स्नेह हो, इसके लिये श्रीराम-कृपा दृष्टि की याञ्चा कर रहे हैं; क्योंकि स्नेहपूर्वक नाम रत रहने पर उस पर आई हुई कुल-बाधाओं को स्वतः जान-जान कर भगवान् नाम द्वारा ही नाश करते हैं, इस रहस्य का विस्तृत विवेचन श्रीगोस्वामीजी ने मा० बा० १८-२७ में किया है। वहाँ प्रथम कहा है—"जीह जसोमति हरि-हलधर से।" इसमें बीज रूप में कह कर इसका विस्तार वन्दना के नवें दोहे में ('नाम राम को कल्पतरु···' से 'कालनेमि कलि···' तक) किया है। इसकी व्याख्या मेरे 'श्रीमन्मानस नाम वंदना' नामक ग्रंथ में है।

उसका सारांश यह है कि यदि जीभ यशोदाजी की भाँति कृष्ण-बलराम रूपी 'रा'–'म' का स्नेहपूर्वक लालन-पालन करती रहे तो पूतना-बाधा के समान काल बाधा, ब्रह्मा-मोह के समान कर्म बाधा और वरुणजी के यहाँ नन्दजी का बँधना, गोवर्धन-धारण एवं काली नाग-नाथने के समान त्रिगुण बाधा से नाम द्वारा रक्षा होती है, तथा जैसे कालनेमि कृत बाधा श्रीहनुमान्‌जी पर नहीं लगी, वैसे ही स्वभाव-बाधा नाम पर नहीं चलती।

इसीलिये श्रीगोस्वामीजी नाम-स्नेह के लिये ललचा रहे हैं; यथा—"मम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु। जनम-जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु॥६८॥ जनम-जनम ज -जहँ तनु तुलसिहि देहु। तहँ-तहँ राम निबाहिब नाम सनेहु॥६९॥

(बरवै रा०); "नाम सों निबाह नेह, दीन को दयालु ! देहु, दास तुलसी को बलि बड़ो बरु है।" (वि० ५५५)।

'तुलसी बिलोकि कलिकाल की...'—कराल कलिकाल में नाम ही एक परम समर्थ है, निर्विघ्न अपना निर्वाह कर लेता है और जापक का कल्याण कर देता है। यह ऊपर 'जीह जसोमति...' इसके प्रसंग से कहा गया तथा छंद ७१, ८२, ९० में भी प्रमाण दिये गये हैं। किन्तु अभी तक मुझ में वैसा नाम-स्नेह नहीं है, इससे मैं कलिकाल की करालता से डरता हूँ, जब कलि ने संसार भर पर विजय प्राप्त कर ली है तब कहीं आपकी यों ही उपेक्षा रही तो मैं नष्ट हो जाऊँ तो क्या संदेह ? आप कृपालु हैं, इस अपने स्वभावानुसार मेरी रक्षा करें।

'आपनो न सोच, स्वामि-सोच ही सुखात हौं।'; यथा—"मेरी तौ थोरी है, सुधरैगी बिगरियौ बलि, राम ! रावरी सौं, रही रावरी चहत ॥" (वि० २५६)।

[१२४]

तौ लौं लोलु लोलुप ललात लालची लबार
बार - बार, लालच धरनि-धन-धाम को।
तब लौं बियोग रोग सोग भोग जातना को,
जुग सम लागत जीवन जाम-जाम को ॥
तौ लौं दुख-दारिद दहत अति नित तनु,
तुलसी है किंकर बिमोह-कोह-काम को।
सब दुख आपने, निरापने सकल सुख,
जौ लौं जन भयो न बजाइ राजा राम को ॥

शब्दार्थ—लोल=परिवर्तनशील, क्षणभंगुर। निरापने=अपने नहीं, पराये। बजाइ=डंका पीट कर, खुल्लमखुल्ला।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जब तक मनुष्य खुल्लमखुल्ला श्रीराम-जी महाराज का भक्त नहीं हो जाता; तभी तक वह क्षणभंगुर इन्द्रिय विषयों का लोलुप, टुकड़े-टुकड़े को लालायित रहने वाला, मान-प्रतिष्ठा का लालची, बार-बार झूठ बोलने वाला और पृथिवी, धन तथा घर का लालची बना रहता है। तभी तक उसे वियोगों और रोगों का शोक एवं तभी तक उसे यातना भोगनी

पड़ती है, तथा तभी तक उसे (दुःखों के कारण) पहर-पहर का जीवन युग के समान प्रतीत होता है। तभी तक दुःख और दारिद्रय के कारण उसका शरीर सदा अत्यन्त जला करता है तथा तभी तक वह मोह, क्रोध एवं काम का दास रहता है। जिसमें सारे दुख उसके अपने (भाग में) रहते हैं और सारे सुख दूसरों के (भाग में) रहते हैं।

विशेष—'जन भयो न बजाइ'—वाह्य संस्कारों के साथ शरणागत होना खुल्लमखुल्ला भक्त होना है। सद्गुरु के द्वारा प्राप्त मन्त्र संस्कार उसके कान में गूँजता रहे, भाल पर ऊर्ध्वपुण्ड्र, बाहुओं पर धनुष-बाण, गले में कण्ठी और जगत् में उसका शरणागति का नाम ख्यात हो। इस प्रकार पञ्च संस्कार संपन्न हो।

'तौ लौं··तौ लौं···तौ लौं···'; यथा-"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ॥" (मा० सुं० ४६); "बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि-निरादर के फल ये ॥ भव सिंधु अगाध परे नर ते। पद-पंकज प्रेम न जे करते ॥ अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्ह के पद-पंकज प्रीति नहीं ॥" (मा० उ० १३)। "राम राम राम जीह जौं लौं तू न जपि है। तौ लौं तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपि है ॥"..." (वि० ६८)—यह पूरा पद देखने योग्य है।

[१२५]

तब लौं मलीन हीन दीन, सुख सपने न,
जहाँ-तहाँ दुखी जन भाजन कलेस को।
तब लौं उबेने पाये फिरत पेट खलाये,
बाये मुख सहत पराभौ देस-देस को ॥
तब लौं दयावने दुसह दुख दारिद को,
साथरी को सोइबो, ओढ़िबे झूने खेस को।
जब लौं न भजै जीह जानकी जीवन राम,
राजन को राजा सो तौ साहेब महेस को ॥

अर्थ—जो राजाओं के राजा और महादेव तक के स्वामी हैं, उन श्रीजानकी जी के जीवनाधार श्रीरामजी का जब तक जिह्वा से भजन नहीं करता, तभी तक मनुष्य मलिन, हीन और दीन रहता है, उसे स्वप्न में भी सुख नहीं रहता, वह

दुखी मनुष्य जहाँ-तहाँ क्लेश का पात्र होता रहता है। तभी तक वह नङ्गे पावों से पेट खलाये (भूखे) हुए और मुँह बाये हुए भटकता हुआ देश-देश में अपमान सहता फिरता है। तभी तक वह दयनीय दशा युक्त रहता है, उसे दरिद्रता का दुःसह दुःख रहता है, उसका साथरी पर सोना और बहुत मोटे सूत की लम्बी भीनी चादर का ओढ़ना रहता है।

विशेष—'राजन को राजा···'—भू मंडल के सभी राजाओं के श्रीरामजी राजा हैं; यथा—"भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।।" (मा० उ० २१); "राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।। पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ। रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ।।" (मा० बा० ११५-११६)। संसार भर के संहारकर्त्ता शिवजी के भी स्वामी हैं, ऐसा कह कर शिष्ट ग्रहीत कह कर उनमें उपास्य-योग्यता कही है। साथ ही 'जानकी जीवन राम' कह कर लंका में स्थित श्रीजानकीजी के जीवनाधार श्रीरामनाम-निष्ठा का लक्ष्य भी कहा है। श्रीशिवजी का लक्ष्य भी नाम-निष्ठा पर ही कहा गया है; क्योंकि ये दोनों निरन्तर नाम जप करने वाले हैं; यथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती।।" (मा० बा० १०७)। "नाम पाहरू राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट।।" (मा० सुं० ३०); "रटति निसि-बासर निरंतर राम राजिव नैन। जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बैन।।" (गी० सुं० २)। श्रीजानकीजी के लंका के नाम-जप का रहस्य छन्द ३६ में देखिये। वहाँ ही 'ब्रह्माम्भोधि समुद्भवं···' यह श्लोक भी लिखा गया है, उसमें भी श्रीशिवजी और श्रीजानकीजी के साथ-साथ लक्ष्य कहे गये हैं। इन दोनों के लक्ष्यों से नाम जप करने से उक्त सभी विपत्तियाँ दूर होती हैं और लोक में सुखी रह कर अंत में श्रीरामजी की प्राप्ति होती है।

[१२३]

ईसन के ईस, महाराजन के महाराज,
देवन के देव, देव! प्रानहु के प्रान हौ।
काल हू के काल, महाभूतन के महाभूत,
करम के करम, निदान के निदान हौ।।

निगम को अगम, सुगम तुलसिहू-से को,
एते मान सीलसिंधु करुना-निधान हौ।
महिमा अपार, काहू बोल को न पारावार,
बड़ी साहिबी में, नाथ! बड़े सावधान हौ ॥

शब्दार्थ—पारावार=दोनों तट, सीमा, समुद्र। एतेमान=इतने।

अर्थ—हे देव श्रीरामजी! आप ब्रह्मा आदि ईश्वरों के भी ईश्वर, महाराजों के महाराज, देवों के देव और प्राणों के भी प्राण हैं। आप काल के भी काल, महाभूतों के भी महाभूत, कर्मों के भी कर्म और कारणों के भी कारण हैं। वेदों के लिये अगम होते हुए भी आप तुलसीदास-सरीखे सामान्य व्यक्तियों के लिये भी सुगम हैं; क्योंकि आप इतने बड़े होते हुए भी शील के सागर और करुणा के भण्डार हैं। आपकी महिमा अपार है, वेद, पुराण, देव, मुनि और कवि आदि किसी भी वाणी उसकी सीमा नहीं पा सकती, फिर भी, इतनी बड़ी प्रभुता में आप बड़े ही सावधान रहते हैं (चींटी से ब्रह्मा तक सभी को उनके कर्मानुसार संयोग कर सबका पूर्ण सार-सँभार रखते हैं; तथा जो तुच्छ जीव भी शरण होता है, उसकी पूर्ण रक्षा करते हैं)।

विशेष—'**ईसन के ईस**'; यथा—"देखे सिव विधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (मा० बा० ५३); "जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥" (मा० अ० १२६)। 'महाराजनि को महाराज'; यथा—"राजनि को राजा" इस पर ऊपर प्रमाण लिखा गया। 'देवन को देव'—देवों के भी आराध्य हैं; यथा—"मोहिं जानिये निज दास। दे भक्ति रमा निवास।" (मा० लं० १११); "सिव-बिरंचि-सुर-मुनि-समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (मा० लं० २१); 'प्रानहू के प्रान हौ'; यथा—"प्रान-प्रान के जीव के, जिव···" (मा०अ०२६०)।

'काल हू के काल'; यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर काल हु कर काला॥" (मा० सुं० ३८); "जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥" (मा० सुं० २१)।

'महाभूतन के महाभूत'—पृथिवी आदि पाँचों तत्त्व महाभूत हैं; यथा—

"भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाश एव च। महाभूतानि भूतानां सागरस्योर्मयो यथा ॥" (महा० शान्ति० २४७।३); अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँचों महाभूत हैं। श्रीरामजी इनके कारण हैं; तथा—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥" (तैत्ति० २।१); अर्थात् उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जलों से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुआ, वही यह पुरुष अन्नरसमय है।

'करम के करम'—श्रुतियों में शास्त्रीय बुद्धि यही निश्चय करती है कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण और जीवात्मा जिसके उपकरण हैं, वह परमात्मा ही समस्त कर्मों का कर्त्ता है; यथा—"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥" (गीता० १८।१४–१५): अर्थात् शरीर, जीवात्मा, इन्द्रियाँ, प्राण की चेष्टाएँ और परमात्मा—ये पाँच ही सब कर्मों के हेतु हैं। इनमें शरीर, इन्द्रियाँ और प्राण ये तीन तो जड़ ही हैं। जीवात्मा का कर्तृत्व ईश्वर के नियाम्यत्व से रहता है। अतः, वास्तविक हेतु पाँचवाँ परमात्मा ही है।

'निदान के निदान हौ'—जगत् के कारण ब्रह्माजी हैं, ब्रह्माजी के कारण श्रीमन्नारायण हैं। श्रीरामजी उनके भी मूल रूप हैं; यथा—"वन्देहं तमशेषकारण परं रामाख्यमीशं हरिम्।" (मा० बा० मंगलश्लोक); अर्थात् श्रीरामजी समस्त कारणों से परे हैं। तथा—"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि। महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥" (वाल्मी० ७।१०४।४); अर्थात् पहले सृष्टि के प्रथम समस्त लोकों को संक्षिप्त रूप में, माया के द्वारा धारण करके आप महासमुद्र के जल में सो रहे थे, उसी समय आपने मुझे उत्पन्न किया है। ब्रह्माजी श्रीमन्नारायण की नाभि के कमल से उत्पन्न हुए हैं इस वचन से सिद्ध है कि श्रीरामजी ही नारायण रूप होते हैं। तथा—"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥" (मनु०

१।१०); अर्थात् जल को नार इससे कहते हैं कि यह नर से उत्पन्न हुआ है, वह नार जिसका अयन (स्थान) हुआ है, उसी से उसे नारायण कहते हैं। इससे सिद्ध है कि नर नाम का परमात्मा नारायण से पूर्व का है, वही नर श्रीरामजी हैं, यथा—"तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥" (वाल्मी० १।१।७–८)।

'निगम को अगम'; यथा—"निगम-अगम मूरति महेस मति जुवति बराय बरी। सोइ मूरति भइ जानि नयन पथ इक टक ते न टरी ॥" (गी० बा० ५५); "स एष नेति नेत्यात्मा" (बृह० ४।५।१५); अर्थात् वह ऐसा नहीं; ऐसा नहीं, आत्मा है। इससे सिद्ध है कि वेद ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पाता।

'सुगम तुलसीहू-से को'—यह कहकर इसका कारण रूप गुण कहते हैं कि आप शीलसागर हैं, इससे मेरे पापों से घृणा नहीं कर मेरी ओर दृष्टि देते हैं और फिर करुणा-निधान हैं, इससे करुणा करके मेरे पापों का नाश कर अपनी प्राप्ति करा देते हैं, इस प्रकार मुझ-सरीखों को भी सुलभ हो जाते हैं। शील के लक्षण छन्द १५ में लिखा गया। करुणा के लक्षण छंद १११ में लिखा गया।

श्रीप्रह्लादजी की नाम-निष्ठा

मत्तगयंद-सवैया [१२७]

आरतपाल कृपाल जो राम जेही सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
नाम प्रताप महा महिमा अँकरे किये खोटेउ, छोटे उबाढ़े ॥
सेवक एक ते एक अनेक भये तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रह्लादहि को, जिन्ह पाहन ते परमेश्वर काढ़े ॥

शब्दार्थ—अँकरे (सं० अक्रय) १–महँगा, बहुमूल्य, २–खरा, श्रेष्ठ, उत्तम। डाढ़े=जले हुए, दग्ध।

अर्थ—भगवान् श्रीरामजी दुखियों के पालक और कृपालु हैं, जिस किसी ने भी जिस स्थान पर उनका स्मरण किया, वहीं उसके लिये वे खड़े हो जाते हैं। उनके नाम के प्रताप की बड़ी भारी महिमा है, उसने खोटों को भी खरा और छोटों को भी बड़ा बना दिया है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यद्यपि श्रीरामजी के सेवक एक से एक श्रेष्ठ अनेक हुए हैं और वे (श्रीराम-कृपा से) तीनों

तापों से नहीं जले; तथापि प्रेम तो श्रीप्रह्लादजी का ही सराहनीय मानता हूँ, जिन्होंने पत्थर से परमेश्वर को प्रकट करा दिया है।

विशेष—श्रीप्रह्लादजी की कथा छन्द ८ में लिखी गई है।

'आरतपाल कृपाल....'—गजेन्द्र और द्रौपदी आदि आर्त्त भक्त हुए हैं। इनके स्मरण करने पर श्रीरामजी सर्वत्र पहुचे हैं; यथा—"तब तुम मोहू से सठनि को हठि गति देते। कैसेहु नाम लेहि कोउ पामर सुनि सादर आगे होइ लेते ॥ पाप-खानि जिय जानि अजामिल जमगन तमकि तये ताको भे ते। लियो छुड़ाइ, चले कर मींजत, पीसत दाँत गये रिस रेते ॥ गोतम-तिय, गज, गीध, विटप, कपि हैं नाथहि नीके मालुम जेते। तिन्हके काज साधु-समाज तजि कृपा-सिंधु तब-तब उठि गे ते ॥" (वि० २४१)।

'नाम-प्रताप महा महिमा....'—अजामिल आदि खोटे से खरे भक्त हो गये। वाल्मीकि आदि छोटे थे, वे बड़े हुए ब्रह्माजी के समान आदिकवि हुए। यवन की कथा में नाम का प्रताप स्पष्ट है—छंद ७६ में उसकी कथा देखिये। अजामिल की कथा छन्द ७ में और वाल्मीकिजी की कथा छन्द ८६ में दी गई हैं।

'प्रेम बदौं प्रह्लादहि को....'—पत्थर पसीजना प्रेम की ऊँची दशा पर कहा जाता है, पर यहाँ तो पत्थर से भगवान् ही प्रकट हुए हैं।

[१२८]

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
'राम कहाँ' 'सब ठाउँ है' 'खंभ में' 'हाँ' सुनि हाँक नृकेहरि जागे ॥
बैरि बिदारि भए बिकराल, कहे प्रह्लादहि के अनुरागे।
प्रीति-प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे ॥

अर्थ—(हिरण्यकशिपु ने श्रीप्रह्लादजी को मारने के लिये) कृपाण (द्विधारा खड्ग) निकाल ली, उसके हृदय में कहीं भी कृपा नहीं थी। परन्तु श्रीप्रह्लादजी काल के समान भयंकर पिता को देख कर भी नहीं भगे। जब उसने कहा—'तेरा (रक्षक) राम कहाँ है?' तब इन्होंने कहा-'सब स्थलों पर हैं' फिर उसने कहा—'क्या इस खम्भ में भी हैं?' तब इन्होंने कहा—'हाँ' इस हाँक को सुनकर श्रीनृसिंह भगवान् प्रगट हो गये। शत्रु को अपने नखों से विदीर्ण कर डाला और (उसकी आँतों को पहन कर) बड़े भयङ्कर हो गये (यहाँ तक कि ब्रह्मा आदि एवं

श्रीलक्ष्मीजी भी समीप नहीं जा सकीं), तब श्रीप्रह्लादजी के ही कहने पर (प्रार्थना करने पर) प्रीतियुक्त (शान्त) हुए। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह देख कर लोगों का भगवान् के प्रति प्रेम और विश्वास बढ़ गया, तब से लोग सभी पत्थरों को पूजने लग गये (इससे पहले पाँच प्रकार के अर्चा रूपों की ही पूजा होती थी)।

विशेष—'काढ़ि कृपान···'—यह सब घटना इनकी कथा में देखिये।

'हां सुनि हाँक···'—छन्द ८ में इनकी कथा में 'सत्यं विधातुं···' यह श्लोक इसी घटना पर है, भक्त की बात सत्य करने के लिये आप खंभे से ही प्रकट हुए हैं।

'तब ते सब पाहन···'-स्वयं व्यक्त,दिव्य, सैध्य और मानुष, ये चार प्रकार के अर्चा रूप हैं और शालग्राम आदि स्वतः प्रतिष्ठित विग्रह पाँचवाँ हैं—ये सब तो वैदिक विधि के सदा से प्रचलित थे। श्रीप्रह्लाद-चरित से जान कर सभी पत्थरों में लोगों ने पूज्य दृष्टि कर ली है, प्रायः कहीं पाँव पत्थर पर पड़ जाता है, तो लोग उसे प्रणाम कर क्षमा माँगते हैं। अतः, सभी पत्थरों को देव सम मानने लगे हैं।

[१२६]

अंतरजामिहु ते बड़ बाहेरजामि हैं राम, जे नाम लिये ते।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये ते॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये ते।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते, न हिये ते॥

शब्दार्थ—अंजरजामी (सं० अंतर्यामी) = अन्तःकरण में स्थिर होकर प्रेरणा करनेवाला, निर्गुण ब्रह्म। बाहरजामी = बाह्य जगत् में प्रेरणा करके संयोग द्वारा कर्मानुसार जीवों का पालन करनेवाला, सगुण ब्रह्म। लवाई = थोड़े दिनों की ब्याई हुई गाय। बिये ते=दूसरे से। पैज=प्रतिज्ञा।

अर्थ—श्रीरामजी अपने निर्गुण भाव की अपेक्षा सगुण भाव से बड़े हैं; क्योंकि सगुण भाव से वे नाम लेते ही अपने भक्त की ओर इस प्रकार दौड़ आते हैं, जिस प्रकार थोड़े दिनों की ब्याई हुई गाय दूर से अपने बछड़े का शब्द सुनते ही स्तनों में दूध उतार कर दौड़ आती है। यह तुलसीदास तो अपनी समझ की बात कहता है, यह इसकी बावली बात दूसरे से कहने की नहीं है कि

जो श्रीप्रह्लादजी के प्रसंग में प्रतिज्ञा पड़ने पर प्रभु श्रीरामजी पत्थर से ही प्रकट हुए, हृदय से नहीं (बाहर के पत्थर से ही प्रकट हुए, प्रह्लादजी के अन्तःकरण से नहीं)।

विशेष—'अंतरजामिहु ते बड़...'—अन्तर्यामी हृदय में रहता हुआ भी सुलभ नहीं है; यथा—"व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥" (मा०बा० २२)। सगुण अपने नाम द्वारा पुकारे जाने पर अत्यन्त वात्सल्य से रक्षार्थ दौड़ पड़ता है—उपर्युक्त छंद १२७ के 'आरत पाल कृपाल...' इसके विशेष में प्रमाण भी लिखे गये। गऊ जब पन्हा कर दौड़ती है तो मार-पीट कर रोकने पर भी नहीं मानती, वैसे ही नाम-जापक के पाप बाधक होते हैं, पर उन्हें न देखकर सगुण ब्रह्म जापक का कल्याण-विधान करता ही है। गजेन्द्र की रक्षार्थ दौड़े थे, उसने तो संकेत से ही नाम लिया था; क्योंकि उसके वैखरी बाणी नहीं थी; यथा—"तर्‌यो गयंद जाके अर्ध नाय।" (वि० ८३); "ज्यों धाये गजराज उधारन सपदि सुदर्सन पानि॥" (गी० लं० ६); ऐसे ही श्रीद्रौपदीजी की पुकार पर भी; यथा—"याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालु, कृपयाऽभ्यगात्॥" (महा० सभा० ६८।६५); अर्थात् द्रौपदीजी के वचन ('गोविन्द द्वारकावासिन...कृष्ण-कृष्ण महायोगिन...' आदि) सुनकर भगवान् कृष्ण करुणा से आर्द्र हो गये। अपनी शय्या एवं सवारी छोड़ कर वे कृपालु पैरों से ही दौड़ते हुए आ गये।

'आपनि बूझि कहैं...'—ग्रन्थकार की यह रीति है कि वे अपनी युक्ति की स्वयं सराहना नहीं करते, युक्ति स्वयं करा लेती है। यहाँ पर प्रमाण तो बड़ा पुष्ट है कि श्रीप्रह्लादजी ने तो प्रतिज्ञा में पहले सर्वत्र व्यापक निर्गुण का ही परिचय दिया था, रक्षार्थ बाहर से सगुण ही प्रस्तुत हुआ। नाम से आराधित होने पर वात्सल्याधिक्य से अत्यन्त प्रेमवश निर्गुण ब्रह्म सगुण हो ही गया; यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥" (मा० बा० ११५)। इस उदाहरण से सगुण ब्रह्म में सौलभ्य से बड़प्पन कहा गया है। प्रतिज्ञा आदि प्रसंग श्रीप्रह्लादजी की कथा में (छंद ८ में) देखिये।

[१३०]

बालक बोलि दियो बलि काल को, कायर कोटि कुचाल चलाई।

पापी है बाप, बड़े परिताप ते आपनी ओर ते खोरि न लाई॥
भूरि दई बिष मूरि, भई प्रह्लाद सुधाई सुधा की मलाई।
रामकृपा तुलसी जन की, जग होइ भले को भलोई भलाई॥

अर्थ—हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लादजी को बुलाकर काल को बलि दे दिया, उस कादर ने अपने पुत्र को मारने के लिये करोड़ों कुचालें चलाईं। पिता हिरण्यकशिपु बड़ा पापी था। अतः, अपने प्रतिकूल पुत्र प्रह्लादजी की श्रीराम भक्ति से उसे बड़ा परिताप हुआ, इससे उसने (पुत्र को कष्ट देने में) अपनी ओर से कोई त्रुटि (कसर) नहीं रक्खी। उसने श्रीप्रह्लादजी को बहुत-सी विषमूलें दीं; परन्तु श्रीप्रह्लादजी के सूधेपन के कारण वे अमृत की मलाई के समान गुण-कारी हो गईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी की कृपा से संसार में उनके अच्छे भक्त की भलाई ही भलाई होती है।

विशेष—'बालक बोलि···'—शिशु पुत्र को भी निष्ठुर होकर उसने काल को बलि दे दिया; अग्नि में जलाया, जल में डुबाया, पहाड़ से गिराया, हाथी से कुचलाया और सर्पों से कटवाया, इत्यादि। यह सब उसका कादरपना है; क्योंकि जो प्रतिकार नहीं करता एवं शिशु है, उस पर इतना अत्याचार करना उसका कादरपन है। उसने करोड़ों कुचालें कीं, इससे साथ ही उसे 'पापी है बाप' यह कहा गया है। पुनः, पापी है, इसीसे उसे प्रह्लादजी की राम-भक्ति प्रतिकूल लगी। उसीसे उसके हृदय में परिताप हुआ; यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥" (मा० सुं० ४३); "न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥" (गीता ७।१५); अर्थात् मूढ़, नाराधम, माया से हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी प्रकृतिवाले पापाचारी मनुष्य मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।

'भूरि दई बिष मूरि···'—उसने भोजन के साथ बहुत घोर विष दिया, पर वह इनके हृदय में पच गया, उस पर इन्हें और अधिक विश्वास और प्रीति बढ़ी, जिससे इनकी भक्ति-निष्ठा में तुष्टि और पुष्टि हुई, इससे उस विष से अमृत की मलाई का कार्य हुआ। यह श्रीप्रह्लादजी की सुधाई का परिणाम है। श्रीराम नाम ने विष को अमृत बना दिया; यथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥" (मा० बा० १८)।

श्रीकृष्ण-चरित

[१३१]

कंस करी ब्रज बासिन्ह सों करतूति कुभाँति, चली न चलाई।
पांडु के पूत सपूत, कुपूत सुजोधन भो कलि छोटो छलाई॥
कान्ह कृपाल बड़े नतपाल, गये खल खेचर खीस खलाई।
ठीक प्रतीति कहै तुलसी जग होइ भले को भलोई भलाई॥

शब्दार्थ—कलि छोटो = कलियुग का छोटा भाई। छलाई = छल में। खेचर=१ राक्षस, २ आकाश में चलनेवाले अर्थात् अत्यन्त घमंडी।

अर्थ—कंस ने ब्रजवासियों पर बड़ा बुरा व्यवहार किया, परन्तु उसकी चालें एक भी नहीं चलीं (क्योंकि कृपालु श्रीकृष्ण उनके रक्षक थे)। पांडु के पुत्र सुपुत्र थे और कुपुत्र दुर्योधन तो छल करने में कलियुग का छोटा भाई ही हुआ। परन्तु कृपालु श्रीकृष्ण भगवान् तो बड़े ही शरणागत-रक्षक हैं। अतः, दुष्ट राक्षस अपनी दुष्टता के कारण स्वयं नष्ट हो गये। श्रीतुलसीदासजी अपने ठीक विश्वास के साथ कहते हैं कि संसार में अच्छे लोगों को भली-भाँति भलाई ही होती है।

विशेष—'कंस करी…'—कंस ने ब्रजवासियों को नष्ट करने के लिये पूतना आदि को भेज-भेजकर बड़े-बड़े बुरे व्यवहार किये, परन्तु भगवान् कृष्ण ने स्वयं जान-जानकर सब विघ्नों का निवारण किया है। नन्द आदि गोप केवल श्रीकृष्ण में शुद्ध स्नेह करते थे, इससे भगवान् ने स्वयं उनकी अपेक्षित रक्षा स्वतः की है।

'पांडु के पूत सपूत'—युधिष्ठिर आदि पांडु के पुत्र सपूत (साधु) थे, और माता-पिता के भक्त, धर्मनिष्ठ एवं भगवान् कृष्ण के शरणागत थे; यथा—"ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः। भये महति मग्नाश्च पाति नित्यं जनार्दनः। स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत। सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम्। प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभु मीश्वरम्॥" (महा० भीष्म० ६७।२४–२५); अर्थात् जो भगवान् की शरण होते हैं, वे बड़े भारी भय में मग्न होने पर भी मोहित नहीं होते, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। हे राजन्! राजा युधिष्ठिर उन जगदीश्वर, केशव एवं योगेश्वर प्रभु के माहात्म्य को यथार्थ जानकर सर्व भाव से एवं सर्वात्मना उनके शरणागत हुए हैं।

'कुपूत सुजोधन भो कलि छोटो छलाई'—दुर्योधन छल विद्या में कलियुग का छोटा भाई; अर्थात् कलियुग के समान था। वास्तव में वह कलियुग का ही अंशभूत था; यथा—"कलेरंशः समुत्पन्नो गांधार्या जठरे नृपः। अमर्षी चपलश्चापि क्रोधनो दुष्प्रसाधनः (महा० स्त्री पर्व ८।३०); अर्थात् हे राजन्! तुम्हारा बेटा दुर्योधन जगत् का नाश करने के लिये गांधारी के पेट से उत्पन्न हुआ था, वह क्रोधी, चंचल, हठी और कलियुग के अंश से उत्पन्न था। तथा—"कलिं दुर्योधनं विद्धि शकुनिं द्वापरं तथा। दुःशासनादीन्विद्धि त्वं राक्षसान् शुभदर्शने ॥" (महा० आश्रमवासिक० ३१।१०); अर्थात् दुर्योधन को कलियुग और शकुनि को द्वापर तथा दुःशासन आदि को राक्षस जानो। कलियुग ने परीक्षित के साथ भी छल किया है। कहा भी है; यथा—"कालनेमि कलि कपट-निधानू।" (मा० बा० २६)। उसकी भी कुछ न चली; क्योंकि कृपाल एवं नतपाल भगवान् कृष्ण शरणागत पांडवों के रक्षक थे।

'ठीक प्रतीति...'—इन उदाहरणों से ठीक विश्वास है कि भले का भला ही होता है। यदि वह कृपालु एवं नतपाल भगवान् का शरणागत है; क्योंकि उपर्युक्त उदाहृत सभी हरिभक्त एवं शरणागत थे।

[१३२]

अवनीस अनेक भये अवनी, जिनके डर ते सुर सोच सुखाहीं।
मानव - दानव - देव सतावन रावन घाटि रच्यो जग माहीं ॥
ते मिलये धरि धूरि सुजोधन जे चलते बहु छत्र की छाँहीं।
वेद पुरान कह्यो जग जान गुमान गोबिंदहि भावत नाहीं ॥

अर्थ—इस पृथिवी में अनेक बड़े-बड़े राजा हुए हैं, जिनके भय से देवगण शोच से सूखे जाते थे। मनुष्यों, दैत्यों और देवताओं को दुःख देने के लिये रावण संसार में क्या किसी से कम रचा गया था? ये सब तथा दुर्योधन भी, जो बहुत से छत्रों की छाया में चलता था—इन सबको (अभिमान के कारण) भगवान् ने धूल में मिला दिया (नष्ट कर दिया)। वेद-पुराण कहते हैं और सारा संसार भी जानता है कि गोविन्द को अभिमान अच्छा नहीं लगता।

विशेष—'अवनीस अनेक भये...'—हिरण्यकशिपु आदि ऐसे ही प्रमादी हुए थे। जलंधर और वेन भी वैसे ही हुए हैं।

'मानव-दानव-देव-सतावन'....; यथा—"बिस्व दवन सुर-साधु-सतावन
रावन कियो आपनो पैहै।" (गी० सुं० ५०); "लंकेस अतिबल गर्व। किये
बस्य सुर गंधर्व॥ मुनि सिद्ध नर खग नाग। हठि पंथ सब के लाग॥"
(मा० लं० १११)।

'गुमान गोबिंदहिं भावत नाहीं'; यथा—"जब-जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥...असुर मारि थापहिं सुरन्ह..." (मा० बा०
१२०-१२१); "सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं
काऊ॥ संसृत मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक-दायक अभिमाना॥"
(मा० उ० ७३)।

भ्रमर-गीत-प्रसंग

जब नैनन प्रीति ठई ठग स्याम सों स्यानी सखी हठि हौं बरजी।
नहिं जानो बियोग-सो रोग है आगे झुकी तब हौं तेहि सों तरजी॥
अब देह भई पट नेह के घाले सो ब्योंत करै बिरहा दरजी।
ब्रजराज कुमार बिना सुनु भृंग अनंग भयो जिय को गरजी॥

अर्थ—[श्रीकृष्णचन्द्र के मथुरा चले जाने पर उनके विरह में गोपियाँ
व्यथित थीं, योग सिखाने के लिये आये हुए श्रीकृष्ण-सखा उद्धवजी को एक
भ्रमर की ओट से वे अपने हृदय के उद्गार कहती हैं—] हे भ्रमर! जिस
समय मेरे इन नेत्रों ने ठग श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण से प्रीति ठानी (जोड़ी) थी,
उसी समय मेरी चतुर सखी ने हठपूर्वक मुझे रोका था। मैं उस समय यह नहीं
जानती थी कि आगे इस प्रीति में वियोग-सरीखा रोग है; इससे उस समय मैं
उस पर क्रुद्ध हुई और मैंने उसे डाँटा था। अब स्नेह लगाने से मेरा शरीर
वस्त्र के समान हो गया है, उसे विरह रूपी दरजी ब्योंत (काट-छाँट)
करता है, हे भ्रमर! सुनो, उन ब्रजराज कुमार श्रीकृष्ण के बिना काम जी का
ग्राहक बन गया है।

विशेष—भगवान् अपने प्रिय भक्तों को अपना वियोग कर बार-बार स्मरण
करा उसके स्वविषयक-स्नेह को पुष्ट करते हैं। यह बात स्वयं भगवान् ने ही श्री
उद्धवजी के द्वारा संदेश रूप में कहा है। भागवत-भ्रमर-गीत के अंत में स्पष्ट कहा
गया है। इसी से संयोग शृंगार की अपेक्षा वियोग शृङ्गार का अधिक महत्त्व

माना जाता है; यथा—"प्रीतम-बिरह तो सनेह सर्वस, सुत !" (गी० सुं० ७);

यहाँ भगवान् की अत्यन्त प्रेयसी गोपियों के विरह-परक वचनों से उनका भगवान् के प्रति गाढ़ प्रेम कुछ प्रकट किया जाता है।

'जब नैनन प्रीति·····'—यहाँ श्याम को ठगिया कहती हैं; क्योंकि चलते समय उन्होंने शीघ्र आने को कहा था, किन्तु वैसा नहीं किया।

'अब देह भई पट•••' – जैसे दरजी वस्त्र के टुकड़े काटता है, वैसे मेरे शरीर के अंग-अंग विरहाग्नि में दग्ध होकर खंड-खंड से हो रहे हैं।

'अनंग'—काम से यहाँ मिलने की अभिलाषाओं से तात्पर्य है।

[१३४]

जोग-कथा पठई ब्रज को, सब सो सठ चेरी की चाल चलाकी।
ऊधौ जू! क्यों न कहै कुबरी जो बरी नट नागर हेरि हलाकी॥
जाहि लगै परिजानै सोई, तुलसी सो सोहागिनि नंदलला की।
जानी है जानपनी हरि की अब बाँधियैगी कछु मोट कला की॥

शब्दार्थ—हलाकी (अ० हलाकत=मारना) = मारनेवाला, हत्याकारी।

अर्थ—हे उद्धवजी! यह योग की कथा जो भेजी गई है, वह सब उस दुष्टा दासी की धूर्तता की चालें हैं। कुबड़ी ऐसा अब क्यों न कहे? जिसे नट-नागर और घातक श्रीकृष्ण ने खोज कर बरण किया है। विरह की व्यथा जिस पर बीतती है, वही जानता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि वह गोपी कहती है) कि वह कुबड़ी इस समय नन्द नन्दन श्रीकृष्ण की सौभाग्यवती है (उसे हमारी विरह-व्यथा का क्या पता?) इन कर्त्तव्यों से मैंने हरि श्रीकृष्ण की बुद्धिमानी जान ली है (कि वे उसके कूबड़ पर ही लुभा गये हैं, अच्छा—) अब हम सब भी अपनी अपनी पीठ पर बनावटी मोटरी बाँधा करेंगी (जिससे उनको कुबड़ी दिखाई दिया करें)।

विशेष—'जोग कथा पठई ब्रज को···'; यथा—"मधुप तुम्ह कान्ह ही की कही क्यों न कही है?। यह बतकही चपल चेरी की निपट चचेरी ऐ रही है॥" (कृ० गी० ४२); "हम हूँ कछुक लखी ही तब की औरेबें नन्दलला की। ये अब लही चतुर चेरी पै चोखी चालि चलाकी॥" (कृ० गी० ४३)।

'जो बरी नट नागर···'—श्रीकृष्ण ने अपने स्वभावानुकूल खोज कर इसे

पाया है। अतः, कुबड़ी भी वैसी ही हत्याकारिणी है, निष्ठुर हृदया होने से उसका ऐसा कहना योग्य ही है।

'जाहि लगै सोई परिजानै…'—वह तो इस समय संयोग का सुख पा रही है, तो विरह के दुःख की व्यवस्था कैसे समझे?

'जानी है जानपनी…'—व्यंग्य में मूर्खता कही है कि यहाँ सुन्दरी गोपियों को छोड़ कर कुबड़ी ही उन्हें रुची है, अतः, हम सब भी वैसी ही बने। 'कला की' युक्ति से बनावटी गठरी पीठ पर बाँध कर कुबड़ी बने।

कवित्त [१३५]

पठयो है छपद छबीले कान्ह कैहू कहूँ,
खोजि कै खवास खासो कूबरी-सी बाल को।
ज्ञान को गढ़ैया, बिनु गिरा को पढ़ैया, बार
खाल को कढ़ैया, सो बढ़ैया उर साल को॥
प्रीति को बधिक, रस रीति को अधिक, नीति-
निपुन, विवेक है निदेस देस काल को।
तुलसी कहे न बनै, सहे ही बनैगी सब,
जोग भयो जोग को, बियोग नंदलाल को॥

शब्दार्थ—छपद = भ्रमर। खवास = सेवक। बाल=युवती स्त्री। बाला साल = कष्ट। जोग=संयोग।

अर्थ—छबीले श्यामसुन्दर ने किसी प्रकार (बड़ी कठिनाई से) कहीं से ढूँढ़ कर कुबड़ी-जैसी बाला के उत्तम सेवक रूप भ्रमर को भेजा है। यह ज्ञान की बातें गढ़-गढ़ कर कहने वाला, बिना जिह्वा के बोलने वाला, बाल की खाल खींचने वाला और हृदय की पीड़ा का बढ़ाने वाला है। यह प्रीति का वध करनेवाला और इस (शृंगार) रस की रीति के लिये तो यह वधिक से भी अधिक है, यह नीति कुशल और विवेकी है, इसके द्वारा आया हुआ यह निदेश (आज्ञा) हमारे देश और काल के अनुसार है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अब कुछ प्रति-उत्तर रूप में कहने से कुछ बनने का नहीं है, सब कुछ सहन करने में ही ठीक है; क्योंकि जब नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण से वियोग हो गया है, तब योग धारण करने का संयोग आ ही गया है (भाव यह कि अब तो उनके वियोग में योगिनी बनना

ही है, उनके अतिरिक्त सांसारिक बातें चित्त से दूर हो गईं और उन्हीं में सदा चित्त रहता है, यही तो योग है)।

विशेष—'पठयो है छपद छबीले कान्ह···'—भ्रमर की ओट लेकर व्यंग्य से श्रीउद्धवजी पर कटाक्ष है। भ्रमर श्याम रंग का होता है, वैसे ही श्रीकृष्ण सखा उद्धव भी श्रीकृष्ण के समान ही श्यामवर्ण हैं। 'छ पद' शब्द में यह भी भाव है कि चार पाँव के पशु होते हैं, यह तो छः पाँव का है। अतः, पशु से भी बढ़ कर है, फिर यह किसी की विरह-व्यथा क्या जाने ? गोपी कहती कि यह भ्रमर उस कुबड़ी का खास-खवास है, तभी तो उसी की रुचि के अनुसार हम सपत्नियों को जलाने वाला सँदेश लेकर आया है। 'कूबरी-सी बाल को'—व्यंग्य से कहती हैं कि यह तो कूबड़ी कंस की दासी थी इसे रूप देकर कान्ह ने ही बाला (षोड़श वार्षिकी युवती) बनाया है। अतः, यह गर्व में चूर होकर हम सब के प्रति यह क्रूर बर्त्ताव करवा रही है।

'ज्ञान को गढ़ैया···'—ज्ञान को भाँति-भाँति की युक्तियों से प्रतिपादन करना ज्ञान-गढ़ना है। ब्रह्म को अकथ्य कह कर वाणी का अविषय कहता है और फिर उसके प्रतिपादन में 'शास्त्र-पुराण का आधार ले प्रतिपादन भी करता है। अतः, इस भ्रमर का भाषण विना वाणी वाले भ्रमर के गुंजार के समान है। निरर्थक है; यथा—"तुलसी अलखहिं का लखहि ?" (दोहावली १९); तथा—"मधुकर रसिक-सिरोमनि कहियत कौने यह रस रीति सिखाये। बिनु आखर को गीति गाय-गाय चाहत ग्वालिनि ग्वाल रिझाये ॥ फल पहिले ही लह्यो ब्रजबासिन्ह, अब साधन उपदेसन आये। तुलसी अलि, अजहूँ नहिं बूझत, कौन हेतु नँद-लाल पठाये ॥" (कृ० गी० ५०)।

'बाल खाल को कढ़ैया'—अत्यन्त सूक्ष्म निर्गुण ब्रह्म की अत्यन्त सूक्ष्मता का प्रतिपादन करनेवाला है। 'सो बढ़ैया उर साल को'—निर्गुण ब्रह्म की निरलेपता कह कर उसका आराधन और सगुण रूप प्यारे शृंगार-रस-रसिक श्रीकृष्ण से मन हटाना कहने में इन गोपियों के हृदय में पीड़ा बढ़ती है; क्योंकि इन्हें जो सुख सगुण से प्राप्त हो चुका है, वह निर्गुण से कभी नहीं मिल सकता; यथा—"मधुप ! समुझि देखहु मन माहीं। प्रेम पियूष रूप उडुपति बिनु कैसो हो ! अलि पैयत रवि पाहीं ॥ जद्यपि तुम हित लागि कहत सुनि स्रवन बचन

नहिं हृदय समाहीं। मिलहिं न पावक महँ तुषार कन जो खोजत सत कलप सिराहीं ॥ तुम कहि रहे, हमहु पचि हारी। लोचन हठी तजत हठ नाहीं। तुलसिदास सोइ जतन करहु कछु बारक स्याम इहाँ फिरि जाहीं ॥" (कृ० गी० ५८)।

'प्रीति को बधिक···'—प्रीत्यात्मक शृंगार रस के प्रति शान्त रसमयी ज्ञानवार्त्ता विरोधिनी है, इसी से शान्तरस शृंगार का विरोधी कहा जाता है। 'रस रीति को बधिक'—शृङ्गाररस की रीति में भगवान् रस लम्पट होकर परिकरों के प्रति बर्तते हैं, उन्हें निर्लिप्त आदि सिद्ध करना विशेष कर रस रीति पर आघात करना है; यथा—"हरि निर्गुन निरलेप निरपने निपट निठुर···" (कृ० गी० ३८)।

'नीति-निपुन, विवेक है···'—हमारा जैसा बुरा समय है, हम जैसे प्रियतम-रहित देश में हैं, तदनुसार; अर्थात् अभागिनियों के प्रति ऐसा निष्ठुर संदेश कहा जाना नीति के अनुसार है और विवेक की बातों से हमारे भाव पर आघात पहुँचाना भी युक्त ही है।

'तुलसी कहे न बनै···'—उद्धवजी प्रियतम के सखा होने से बड़े हैं। अतः, इनसे प्रति-उत्तर करना ठीक नहीं है; यथा—"ऊधो हैं बड़े, कहैं सोइ कीजै। अलि, पहिचानि प्रेम की परिमिति उतरु फेरि नहि दीजै ॥" (कृ० गी० ४६)।

'सहे ही बनैगी सब'; यथा—आली अति अनुचित उतरु न दीजै। सेवक सखा सनेही हरि के जो कछु कहहिं सो कीजै ॥ देस काल उपदेस सँदेसो सादर सब सुनि लीजै। कै समुझिबो, कै ये समुझैहैं हारेहु मानि सहीजै ॥ सखि सरोष प्रिय दोष बिचारत प्रेम पीन पन छीजै। खग मृग मीन सलभ सरसिज गति सुनि पाहनौ पसीजै ॥ ऊधौ परम हितू हित सिखवत परमिति पहुँचि पतीजै। तुलसिदास अपराध आपनो, नंदलाल बिनु जीजै ॥" (कृ० गी० ४५)।

'जोग भयो जोग को बियोग नंदलाल को'—उद्धवजी योगशास्त्र की रीति के हठयोग की शिक्षा देते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि योग की चरम अवस्था (समाधि) में जिस प्रकार जगत् से नितान्त चित्त का निरोध होकर ध्येय में तदाकार वृत्ति रहती है, वह दशा श्रीनन्दलाल के वियोग के कारण हम लोगों की स्वतः हो रही है। उनके वियोग में योग का संयोग हो गया है; यथा—

"योग को ओराहनों हमैं कहा कहत ऊधौ जू देखैं आइ इहाँ कैसो दिन भरियत हैं। नैन भये योगी नित्य रहत हैं वियोगी अरु पलक कपाट मूँदि ध्यान धरियतु हैं॥ रातो-दिन राधाकृष्ण-राधाकृष्ण रटि रहौं उन हीं को पाठ ध्यान सदा करियत हैं। तापर तुमहू कहौ योग लेव योग लेव और कहा योगी बिष खाय मरियत हैं॥" यह किसी ने कहा है।

अलङ्कार—हेतु (प्रथम)—'जोग भयो…' इसमें कारण रूप नन्दलाल का वियोग ही कार्य रूप जोग का संयोजक है, यह साथ ही कहा गया है।

प्रार्थना

[१३६]

हनूमान ह्वै कृपालु, लाड़िले लखन लाल,
भावतें भरत कीजै सेवक सहाय जू।
बिनती करत दीन दूबरो दयावनो सो,
बिगरे ते आपही सुधारि लीजै भाय जू॥
मेरी साहिबिनी सदा सीस पर बिलसति,
देवि ! क्यों न दास को देखाइयत पाय जू।
खीझहू में रीझबे की बानि, राम रीझत हैं,
रीझि ह्वै हैं राम की दुहाई रघुराय जू॥

अर्थ—हे श्रीहनुमान्‌जी ! हे दुलारे श्रीलक्ष्मणजी ! हे प्यारे श्रीभरतजी ! कृपालु होकर मुझ सेवक की सहायता कीजिये। यह दीन, दुर्बल और दया का पात्र आप सबसे विनती करता है, इससे यदि कोई भाव बिगड़ जाय तो आप ही सुधार लीजियेगा। मेरी स्वामिनी श्रीसीताजी (एवं श्रीतुलसीजी) ! आप तो सदा सब के (एवं प्रभु के) शिर पर (आराध्यरूप में) विराजमान् रहती हैं। हे देवि ! इस दास को अपने चरण क्यों नहीं दिखाती हैं ? स्वामी श्रीरामजी का तो स्वभाव ही ऐसा है कि उनके क्रोध में भी प्रसन्नता रहती है, वे तो सदा प्रसन्न ही रहते हैं। अतः, वे मुझ पर भी प्रसन्न ही होंगे; यह मैं श्रीरघुनाथजी की शपथ करके कहता हूँ (आप कृपा कर मेरे निमित्त प्रार्थना कर दें; जिससे मेरा उद्धार हो जाय)।

विशेष—'हनूमान ह्वै कृपालु····'—इसी प्रकार विनय-पत्रिका के अन्त में भी इन्हीं लोगों से प्रार्थना की गई है; यथा—"पवन सुवन, रिपुदवन, भरत लाल, लखन दीन की। निज-निज अवसर सुधि किये बलि जाउँ, दास आस पूजिहै खास खीन को॥" (वि० २७८) इन्होंने वहाँ अपने-अपने कर्त्तव्य भी दिखलाये हैं; यथा—"मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है॥···" (वि० २७६)।

'बिनती करत दीन····'—उपर्युक्त वि० २७६ में आगे इन सबने श्री-रामजी से प्रार्थना कर ग्रन्थकार का कल्याण कराया है।

'मेरी साहिबिनी सदा···'—श्रीजानकीजी जीवों की पुरुषकार स्वरूपा हैं, इनकी कृपा होने पर श्रीरामजी शीघ्र अपनाते हैं, इससे श्रीरामनाम के पहले सीता नाम की आराधना होती है, यही इनका सब के शिर पर विराजना है, आगे पद में स्पष्ट रूप से श्रीजानकीजी से ही प्रार्थना है।

अथवा, श्रीगोस्वामीजी का नाम 'तुलसीदास' है; अर्थात् आप तुलसी के दास हैं, इस अर्थ से तुलसी की साहिबिनी हैं। वे सदा श्रीरामजी के सभी अर्चा रूपों के शिर पर विराजमान रहती भी हैं; यथा—"श्रीपति सिर तुलसी लसति···" (दोहावली ३६५); ये श्रीराम-वल्लभा भी हैं; यथा—"अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।" (मा० अर० ५); तुलसी से जिस पदार्थ का सम्बन्ध हो जाता है, उसके भोक्ता श्रीरामजी होते हैं। इसीसे श्रीगोस्वामी श्रीतुलसीजी के चरण-दर्शन के उत्सुक हैं कि आपका सम्बन्ध पाकर मैं भी श्रीरामजी का भोग्यत्व पा जाऊँ, वे मुझे अपना भोग्य रूप परिकर (भक्त) बना लें।

'रामवल्लभा' होने से तुलसीजी श्रीजानकीजी से अभिन्न हैं, इस दृष्टि से इनसे भी पुरुषकारत्व के लिये प्रार्थना करनी युक्त ही है।

'खीजहू में रीझबे की बानि···'; यथा—"निर्बानदायक क्रोध जाकर भगति अवसहि बस करी।" (मा० अर० २५); अर्थात् उनकी खीझ में भी रीझ का भाव रहता है। रावणादि का वध कर उन्हें सदा के लिये जन्म-मरण से छुड़ा दिया है। ऐसा कृपामय स्वभाव है। 'रीझे ह्वै हैं···'—भाव यह कि आपको अनुकूल करने का बहुत प्रयास नहीं करना पड़ेगा। थोड़ा ही संकेत रूप में

स्वामी श्रीरामजी मेरी सहायता कर देंगे। सहायता किस प्रकार करें, यह आगे के छन्द में प्रकट करते हैं।

मत्तगयंद सवैया [१३७]

बेष बिराग को, राग भरो मन, माय! कहौं सतिभाय हौं तोसो।
तेरे ही नाथ को नाम लै बेंचि हौं पातकी पामर प्राननि पोसो॥
एते बड़े अपराधी अघी कहँ, तैं कहु, अंब! की मेरो तू मोसो।
स्वारथ को परमारथ को, परिपूरन भो फिरि घाटिन हौं सो॥

अर्थ—हे माता श्रीजानकीजी! मैं आपसे शुद्ध भाव से (ठीक-ठीक) कहता हूँ कि यद्यपि मेरा वेष तो वैराग्य (वैरागियों) का है; परन्तु मेरा मन राग (विषय-स्पृहा) से भरा हुआ रहता है। आपके ही स्वामी श्रीरामजी का नाम ले-लेकर उसे बेंच कर मैं पापी अपने प्राणों (प्राणों की नियाम्य भूता इंद्रियों) का पोषण करता हूँ। इतने बड़े अपराधी और पापी के लिये, हे माता! आप मुझ से यह कह दें कि 'तू मेरा है'। बस, इतने ही से मेरे स्वार्थ और परमार्थ सभी पूरे हो जायँगे, फिर मेरे प्रति किसी प्रकार की कमी न रह जायगी।

विशेष—'बेष बिराग को' इस वचन से श्रीगोस्वामीजी ने अपने स्पष्ट शब्दों में अपने को श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव (वैरागी) कहा है। कुछ लोग कहते हैं कि गोस्वामीजी स्मार्त थे, उन्हें आँख खोलकर यहाँ देखना चाहिये। वि० ७६ में वैष्णवीय पंचसंस्कार धारण की बात भी कही है। 'राग भरो मन'—माता के समक्ष अपने इस दोष को रखकर इससे रक्षणार्थ प्रार्थना प्रकट करते हैं।

'तेरे ही नाथ को नाम लै…'—'सीताराम' इस नाम का अर्थ 'सीताजी को रमानेवाले, श्रीसीताजी के स्वामी' यह होता है। 'सीताराम' यह नाम लेकर मैं द्रव्य एवं भिक्षान्न आदि माँगकर अपनी इन्द्रियों का पोषण करता हूँ; यथा—"भगति-बिराग-ज्ञान-साधन कहि बहु बिधि डहकत लोग फिरौं। सिव-सर्वस सुख-धाम नाम तव बेंचि नरक प्रद उदर भरौं॥" (वि० १४१); स्वार्थ-साधन के लक्ष्य से नाम लेना नाम का बेंचना है। प्राणों के द्वारा इन्द्रियों की चेष्टाएँ होती हैं, इन्द्रियों के द्वारा विषय-सेवन करना प्राणों का पोषण करना है। प्राणों

के अधीन इन्द्रियों की प्रवृत्ति जानकर छान्दोग्योपनिषत् में इन्द्रियों को भी प्राण संज्ञा से कहा है।

'एते बड़े अपराधी अघी कहँ...'—आपके स्वामी का नाम बेचने का अपचार करता हूँ, यह मैं अपराध करता हूँ। अघ के अर्थ में पाप, दुःख, शिकार, जुआ आदि व्यसन, विपदा और राग-द्वेष आदि भी रहते हैं, ऐसा अमरकोष में कहा है। अतः, उस वाच्य से इन्द्रियों को भोग दे राग-द्वेष आदि भी करता हूँ, यह भाव 'अघी' पद में है।

'तू मेरो'—इस पद में शरणागति का भाव है—छन्द १०६ में इसके प्रमाण लिखे गये हैं। श्रीजानकीजी से स्वीकृत कराने का भाव यह कि जीव स्वयं तो वाणी से कहता है कि 'मैं आपका हूँ' परन्तु यह अपने हृदय को इस वचन के अनुसार स्थिर नहीं रख सकता। अतः, इस स्थिति को दृढ़ करने के लिये उपाय स्वरूप इष्टदेव से इसकी याचना करता है। यदि वे अपना लें तो फिर यह निश्चिन्त हो जाता है; यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय बिषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥ सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै। अपनो सो स्वारथ स्वामी सों, चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै॥ हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै। हानि-लाभ दुख-सुख सबै समचित्त हित अनहित, कलि-कुचालि परिहरिहै॥ प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयनन्हि ढरिहै। तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनंद उमँगि उर भरिहै॥" (वि० २६८); इस परिस्थिति पर स्वार्थ-परमार्थ दोनों पूर्ण हो जाते हैं।

श्रीसीता वट का वर्णन

कवित्त [१३८]

जहाँ बालमीकि भये ब्याध ते मुनींद्र साधु,
'मरा, मरा' जपे सुनि सिख रिषि सात की।
सीय को निवास लवकुस को जनम थल,
तुलसी छुअत छाँह ताप गरै गात की॥
बारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि,
अंकित जो जानकी चरन जलजात की।

बिटप महीप सुरसरित समीप सोहै,
सीताबट पेखत पुनीत होत पातकी ॥

अर्थ—जहाँ पर सप्तर्षियों की शिक्षा सुनकर 'मरा, मरा' (इस प्रकार उलटे रामनाम) का जप करने पर श्रीवाल्मीकिजी साधु एवं मुनियों में श्रेष्ठ हो गये, जो स्थान श्रीसीताजी के रहने का और श्रीलव-कुशजी के जन्म का स्थल था, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जिस स्थान की छाया का स्पर्श करने पर भी शरीर के तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) ताप नष्ट हो जाते हैं; वह भूमि बारि पुर और दिगपुर इन दोनों ग्रामों के बीच में सुशोभित है, जो श्रीजानकीजी के चरण कमलों से चिह्नित है। वहाँ पर वृक्षराज सीताबट श्रीगङ्गाजी के तट पर शोभायमान है, उसके दर्शन से पापी पवित्र हो जाते हैं।

विशेष—'जहाँ वाल्मीकि भये···'—श्रीवाल्मीकिजी की कथा छन्द ८६ में लिखी गई। वहाँ मरा-मरा जपने पर व्याध से वाल्मीकि मुनि होना लिखा गया है।

'सीय को निवास···'—यह वही स्थल है, जहाँ पर श्रीजानकीजी ने वाल्मीकिजी के यहाँ अंत में निवास किया था। वहीं पर श्रीलवकुश का जन्म-स्थल है। छन्द ६ में इसका प्रसंग लिखा गया।

'बारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि···'—यह स्थल कहाँ है—(क) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "काशी प्रयाग के बीच श्रीगंगाजी के किनारे सीतामढ़ी नाम से प्रसिद्ध है।" (ख) प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी लिखते हैं—"यह स्थान झूँसी से कुछ दूर पूर्व 'भीटी' नामक स्टेशन के पास गंगातट पर है। 'दिगपुर' को अब 'दीघ' वा 'दिघउर' कहते हैं। बारिपुर का पता मुझे नहीं चला।"

उपर्युक्त दीनजी के शब्दों से जान पड़ता है कि उन्होंने वहाँ जाकर पता लगाया है। पर केवल 'दिगपुर' का पता चला है। झूँसी से भीटी २३ मिल काशी की ओर है।

कुछ लोगों का कहना है कि बिठूर में श्रीगंगा तट पर श्रीवाल्मीकिजी का आश्रम है। वहीं पर श्रीसीताजी ने अंत में निवास किया था। श्रीवाल्मीकीय रामायण के प्रसंगों से वह भी संगत है; क्योंकि श्रीशत्रुघ्नजी मथुरा जाते समय

उसी आश्रम पर ठहरे थे और श्रीजानकीजी को प्रणाम करके गये थे। १२ वर्ष पर मथुरा से लौटते समय भी वाल्मीकि-आश्रम पर होकर ही अयोध्याजी आये थे। वहाँ के मार्ग में तो बिठूर ही पड़ता है। यदि वहाँ 'वारिपुर-दिगपुर' की भी स्थिति हो तो वह विशेष संगत होगा; अन्यथा कल्पभेद मानना पड़ेगा।

'छुअत छाँह, ताप गरै गात की' और 'सीताबट पेखत पुनीत होत पातकी' इन वाक्यों से उस स्थल का माहात्म्य कहा गया है। आगे के छन्द में वहाँ के उस 'सीता वट' की शोभा एवं उसका माहात्म्य कहते हैं—

[१३६]

मरकत बरन परन, फल मानिक से,
लसै जटा जूट जनु रूख बेष हरु है।
सुषमा को ढेरु, कै धौं सुकृत सुमेरु, कै धौं
संपदा सकल मुद-मंगल को घरु है॥
देत अभिमत जो समेत प्रीति सेइये,
प्रतीति मानि तुलसी बिचारि काको थरु है?
सुरसरि निकट सोहावनी अवनि सोहै,
राम रवनी को बट कलि कामतरु है॥

अर्थ—(उस सीतावट के) पत्ते मरकत मणि के समान (नील वर्ण) और फल माणिक के समान (लालवर्ण) तथा उसके जटा समूह सुशोभित हैं, ऐसी शोभा है मानों उस वृक्ष के वेष में साक्षात् शिवजी ही हैं। वह वृक्ष महाशोभा का मानो ढेर है, अथवा पुण्य का सुमेरु (पर्वत) है, अथवा, संपत्ति और सम्पूर्ण आनन्द मंगल का घर है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यदि ऐसा विचार कर कि 'यह किसका स्थान है'; अर्थात् श्रीजानकीजी का निवास-स्थान है, इसका विश्वास मान कर प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाय तो यह वृक्ष सारी कामनाएँ देता है। श्रीगंगाजी के निकट (श्रीसीतामढ़ी संज्ञक स्थान की) सुहावनी भूमि पर यह वृक्ष सुशोभित है, श्रीराम-वल्लभा का यह बट वृक्ष कलियुग में कल्पवृक्ष के समान है।

विशेष—'मरकत बरन परन···'; यथा—"नील सघन पल्लव फल लाला।

अविरल छाँह सुखद सब काला ॥ मानहु तिमिर-अरुनमय रासी। बिरची विधि सकेलि सुषमा-सी ॥ ....बट छाया बेदिका बनाई।...." (मा० अ० २३६)।

'सुखमा को ढेरु...'—दर्शन से चित्त आकर्षित करता है, पुण्य के फल रूप में सम्पत्ति एवं मुद-मंगल प्रदान करता है।

'काल कामतरु है'—इस कलियुग में भी यह कामनाएँ पूर्ण करता ही है।

'सुषमा को ढेरु'—शोभा के नव अङ्ग होते हैं; यथा—"द्युति लावण्य स्वरूप सोइ, सुंदरता रमणीय। कान्ति मधुर मृदुता बहुरि, सुकुमारता गनीय॥" इस वृक्ष की सोभा में ये सब अङ्ग पूर्ण हैं—हरे नवीन दलों में चन्द्रमा की-सी द्युति है। बरोहों के शिरोभागों में मोती के पानी की-सी झलक लावण्यता है। विना भूषण के ही भूषित-सा देख पड़ता है, यह इसमें स्वरूपता है। इसके सब अङ्ग यथायोग्य बने हैं, यह इसमें सुन्दरता है। देखते हुए भी मानों देखा ही नहीं, यह भाव प्रकट करनेवाली इसमें रमणीयता है। इसके नवीन अरुण दलों में सोने की-सी ज्योति (कान्ति) है। इसके देखने में तृप्ति नहीं होती, यह इसमें माधुरी है। नवीन अरुण दलों में मृदुता है। बरोहों के शिरोभागों में सुकुमारता है।

[१४०]

देवधुनि पास, मुनिबास, श्री निवास जहाँ,
प्राकृतहु बट-बूट बसत पुरारि हैं।
जोग जप जाग को बिराग को पुनीत पीठ,
रागिन्ह पै सीठि, डीठि बाहरी निहारि हैं॥
'आयसु' 'आदेस' 'बाबू' 'भलो-भलो' 'भाव-सिद्ध'
तुलसी बिचारि जोगी कहत पुकारि हैं।
राम-भगतन को तौ कामतरु तें अधिक,
सियबट सेये करतल फल चारि हैं॥

शब्दार्थ—देवधुनि = देवनदी, गंगाजी। बूट=वृक्ष। पीठ=स्थान। सीठ= नीरस। डीठि=दृष्टि।

अर्थ—साधारण वटवृक्ष में भी श्रीशिवजी निवास करते हैं, फिर यह वट वृक्ष तो श्रीगङ्गजी के समीप है, इसके समीप मुनियें (वाल्मीकि आदि) का निवास

था और जहाँ पर श्री (सीता) जी का निवास-स्थान था। यह स्थान योग, जप और यज्ञ करने के लिये तथा वैराग्य-साधन करने के लिये पवित्र स्थान है; किन्तु रागी (विषयी) लोगों के लिये जो इसे बाहरी दृष्टि से देखने वाले हैं-यह नीरस जान पड़ता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यहाँ के लोग विचारपूर्वक 'आयसु' 'आदेश' 'बाबू !' 'भलो-भलो' 'भाव-सिद्ध' और 'योगी !' आदि शिष्ट शब्दों को पुकार कर (मुक्तकंठ से) कहते हैं (भाव यह कि वहाँ अब भी सभ्य सज्जनों का ही निवास है)। यह वटवृक्ष श्रीरामजी के भक्तों के लिये तो कल्प-वृक्ष से भी अधिक है। क्योंकि इस श्रीसीतावट का सेवन करने से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हथेली में प्राप्त के समान अत्यन्त सुलभ हो जाते हैं।

विशेष—'प्राकृत हू बट बूट बसत पुरारि हैं'—जैसे पीपल वासुदेव (विष्णु) रूप, पाकरि ब्रह्माजी का स्वरूप और आम काम का स्वरूप है, वैसे वट-वृक्ष श्रीशिवजी का स्वरूप है। यथा—"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्" (गीता १०।२६); तथा—"लसै जटा जूट मानो रूख वेष हरु है।" (छन्द १३६); तथा—"तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुन्दर सब काला॥ त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। सिव-विश्राम-बिटप श्रुति गाया॥" (मा० बा० १०५)। एवं "देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़्यो मदन मन माखा॥" (मा० बा० ८६)। 'जोग जप याग को बिराग को पुनीत पीठ'; क्योंकि वहाँ गंगाजी का तट और सिद्ध मुनियों का स्थान है और श्रीजानकीजी का स्थान था।

'रागिन्ह पै सीठि···'—वह स्थल श्रीजानकीजी का है, उनका स्मरण करने से स्वतः वैराग्य प्राप्त हो जाता है; यथा—"सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम बिषय बिलास। राम प्रिया जग जननि सिय, कछु न आचरज तासु॥" (मा० अ० १४०); इससे वहाँ योग, जप, यज्ञ एवं वैराग्य ही की वृत्तियाँ उद्दीप्त होती हैं। रागियों की प्रकृति के विरुद्ध होने से वहाँ उन्हें नीरसता ही प्रतीत होगी। कहा ही है; यथा—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥" (गीता २।६९)।

'राम भगतन को···'—श्रीराम भक्तों की पुरुषकार रूपा होकर श्रीजानकी जी उन्हें सहज में ही अपनी प्राप्ति रूपी मोक्ष भी देती हैं, कल्पवृक्ष में यह प्रभाव नहीं है।

अलङ्कार—प्रथम और द्वितीय चरणों में कई साधन मिलकर योग-जप आदि सद्‌गुणों के अंग हैं, इससे यहाँ 'समुच्चय' अलंकार का दूसरा भेद है और चौथे चरण में उपमान कल्पवृक्ष से उपमेय सीतावट में अधिकता कही गई है, इससे 'व्यतिरेक' अलंकार है।

श्रीचित्रकूट का वर्णन

[१४१]

जहाँ वन पावनो, सोहावनो बिहँग - मृग,
देखि अति लागत अनंद खेत-खूँट-सो।
सीताराम - लखन - निवास, बास मुनिन को,
सिद्ध - साधु - साधक सबै बिबेक-बूट सो॥
झरना झरत झारि सीतल पुनीत बारि,
मंदाकिनि मंजुल महेस जटाजूट सो।
तुलसी जौं राम सो सनेह साँचो चाहिये,
तौ सेइये सनेह सों बिचित्र चित्रकूट सो॥

शब्दार्थ—खेत-खूँट सो=खेत के भाग (टुकड़े) के समान अत्यन्त हरा भरा।

अर्थ—जहाँ वन पवित्र है और पक्षी-पशु बड़े शोभायमान हैं, जिसे देख कर अत्यन्त आनन्द होता है क्योंकि वह श्रीचित्रकूट क्षेत्र का विभाग (उपजाऊ) खेत-विभाग के समान है। वहाँ पर श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का नित्य निवास है तथा मुनियों (अत्रि-वाल्मीकि आदि) का निवास है। वहाँ के सिद्ध, साधु और साधक सभी विवेकमय वृक्ष के समान उस क्षेत्र से वृद्धि पाते हैं। वहाँ के समस्त झरने शीतल और पवित्र जल झड़ते रहते हैं और श्रीशिवजी के जटामंडल से निकली हुई सुन्दर मन्दाकिनी प्रवाहित रहती है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यदि श्रीरामजी से सच्चा स्नेह चाहते हो तो स्नेह-पूर्वक इस विचित्र चित्रकूट का सेवन करो।

विशेष—'जहाँ बन पावनो···'; यथा—"चित्रकूट-गिरि करहु निवासू। ···सैल सुहावन कानन चारू। करि-केहरि-मृग-बिहँग बिहारू।" (मा० अ० १३१); 'देखि अति लागत अनंद'; यथा—"देखत चित्रकूट वन मन अति

होत हुलास। सीताराम लखन प्रिय, तापस-वृन्द-निवास॥ सरित सोहावनि पावनि, पाप-हरनि पय नाम। सिद्ध-साधु-सुर-सेवित देति सकल मन काम॥" (गी० अ० ४७); इत्यादि।

'सीतराम-लखन निवास, बास मुनिन को'; यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत। रामनाम जप जागिकहि, तुलसी अभिमत देत॥" (दोहावली ४); "अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं।" (मा०अ० १३१)।

'सिद्ध-साधु-साधक सबै विवेक बूट सो'—ऊपर श्रीचित्रकूट को 'खेत खूँट सो' कहा गया है, यहाँ दिखाया गया कि उस उपजाऊ खेत में इन सिद्ध आदि का विवेक-साधन बहुत शीघ्र उपजता है, जैसे उपजाऊ खेत में वृक्ष बढ़ता है; यथा—"साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ॥ रस एक, रहित-गुन-कर्म-काल। सिय राम लखन पालक कृपाल॥" (वि० २३); तथा—"राम नाम जप जाग करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जल। करिहैं राम भावतो मन को, सुख साधन अनयास महाफल॥ कामद मन कामता कलपतरु सो जुग-जुग जागत जगती तल। तुलसी तोहिं विसेषि बूझिये एक प्रतीति, प्रीति, एकै बल॥" (वि० २४)।

'झरना झरत झारि···'; यथा—"झरना झरहिं सुधासम बारी।" (मा० अ० २४८); "मदाकिनिहिं मिलत झरना झरि-झरि भरि-भरि जल आछे। तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम-भगति के पाछे॥" (गी० अ० ५०); "नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि प्रिया निज तप बल आनी॥ सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक-पोतक डाकिनि॥" (मा० अ० १३१)।

'तुलसी जो राम सो सनेह साँचो···'; यथा—"तुलसी जो रामपद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम॥" (वि० २३); तथा—"यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः॥" (वाल्मी० २।५४।३०)।

[१४२]

मोह-बन कलिमल-पल-पीन जानि जिय,
साधु-गाय-बिप्रन के भय को नेवारिहै।

दीन्हीं है रजाइ राम, पाइ सो सहाइ लाल,
लखन समर्थ बीर हेरि-हेरि मारिहै ॥
मंदाकिनि मंजुल कमान असि, बान जहाँ
बारि-धार धीर धरि सुकर सुधारिहै।
चित्रकूट अचल-अहेरी बैठो घात मानो,
पातक के व्रात घोर सावज सँघारिहै ॥

शब्दार्थ—पल = मांस। व्रात=समूह। सावज = जंगली जानवर।

अर्थ—मोह रूपी वन में कलि कल्मष रूपी मांस से मोटे पाप के समूह रूपी हिंस्र जीवों का संहार करने के लिये हृदय से जानकर श्रीरघुनाथजी ने आज्ञा दी। श्रीरामजी की आज्ञा पाकर और समर्थ वीर श्रीलखन लाल की सहायता प्राप्त कर अचल-शिकारी हो श्रीचित्रकूट-अचल (पहाड़) उनकी ताक में बैठे हुए हैं। ये उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर मारेंगे। इस प्रकार ये साधुओं, गायों और ब्राह्मणों के भय का निवारण करेंगे। उनके लिये ये मन्दाकिनि ऐसी नदी रूपी सुन्दर धनुष और उसके जल की धार रूपी बाणों को अपने करकमलों से धैर्यपूर्वक धारण करेंगे, इस प्रकार उन पाप रूपी हिंस्र जीवों का संहार करेंगे।

विशेष—'मंदाकिनि मंजुल···चित्रकूट अचल अहेरी···'; यथा— "लखन दीख पय उतर करारा। चहुँदिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥ नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना ॥ चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी ॥" (मा० अ० १३२); इस रूपक से यहाँ के रूपक के कुछ अवशिष्ट अंश समझ में आ जायँगे।

इस छन्द में कुछ वाक्यों के हेर-फेर कर अन्वय करके अर्थ की संगति करनी पड़ी है।

अलङ्कार—रूपक।

मत्तगयंद सवैया [१४३]

लागि दवारि पहार टही टहकी कपि लंक जथा खर-खौकी।
चारु चुवा चहुँ ओर चलैं, लपटैं झपटैं सो तमीचर तौंकी ॥
क्यों कहि जाति महा सुषमा, उपमा तकि ताकत है कवि कौंकी।
मानो लसी तुलसी हनुमान हिए जग जीते जराय की चौकी ॥

शब्दार्थ—दवारि=दावानल, वनाग्नि। टही=जोड़ तोड़। टहकी = पिघल चली। खर-खौकी=तृण को खानेवाली, आग। चुवा (चौवा)=चौपाया, मृग आदि चौपाये। तौंकी=तौंककर, तपकर, आँच से तपकर। कौ की (कब्र की)= बहुत विलम्ब से। जराय की चौकी=जड़ाऊ चौकी।

अर्थ—[एक समय श्रीगोस्वामीजी के समय में श्रीचित्रकूट हनुमान धारा में दावाग्नि लगी हुई थी, उस दृश्य का इस छन्द में वर्णन है—] पहाड़ में जोड़-तोड़ की दावाग्नि लगी हुई है, जैसे लंका में आग लगने पर हनुमान्‌जी के द्वारा लंका पिघल कर जली थी। सुन्दर चौपाये चारों ओर ताप से तप कर इस प्रकार भगे जाते हैं, जिस प्रकार लङ्का में झपटती हुई आग की लपटों से तप कर राक्षस भगे थे। पहाड़ की यह महान् शोभा कैसे कही जा सकती है? उसकी उपमा विचारता हुआ कवि (तुलसीदास) बहुत विलम्ब से ताकता रह गया है (परन्तु योग्य उपमा नहीं मिलती)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसा जान पड़ता है मानों संसार भर का विजय करने पर (श्रीरामजी की ओर से दी हुई) जड़ाऊ पदिक (तमगा-पुरुषकार रूप) श्रीहनुमान्‌जी के हृदय पर शोभित है।

विशेष—श्रीचित्रकूट में श्रीहनुमान् धारा पहाड़ में अर्चारूप में श्रीहनुमान्‌जी का विशाल विग्रह विराजमान है। वहाँ प्रायः चैत-वैशाख में दावाग्नि लगती है। तब श्रीहनुमान्‌जी के सामने नीचे की ओर तीनों ओर से जलती हुई लपटें अर्द्धचन्द्राकार रात में विशेष शोभा देती हैं। वहाँ ऐसा जान पड़ता है, मानों हनुमान्‌जी सोने का पदक पहने हुए हैं।

उसी की उत्प्रेक्षा करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी ने लङ्क-विजय के साथ दुष्ट दलों से विजय पाया था। फिर श्रीअवध आने पर श्रीराम-राज्य होने पर 'बिधु महि पूरि मयूषन्ह···' आदि की व्यवस्था करा इन्होंने सज्जनों को भी अत्यन्त सुखी कर वश में कर लिया है, इस प्रकार जब सारे संसार को जीता है, तब आप को श्रीरामजी ने यह पदक पुरुषकार रूप में दिया है, ऐसा जान पड़ता है। अलंकार उत्प्रेक्षा।

प्रयाग-माहात्म्य

देव कहैं अपनी-अपना अवलोकन तीरथराज चलो रे।
देखि मिटैं अपराध अगाध, निमज्जत साधु-समाज भलो रे॥

सोहै सितासित को मिलिबो, तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे।
मानो हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे॥

शब्दार्थ—बगरे = फैले हुए। धौल = श्वेत, सफेद। कलोरे = बछड़े।

अर्थ—देवता परस्पर कहते हैं कि तीर्थराज प्रयाग के दर्शन करने चलो। उनके दर्शन से बड़े-बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं। वहाँ अच्छे-अच्छे साधुओं के समूह स्नान करते हैं। वहाँ पर श्वेत जल वाली श्रीगङ्गाजी और श्याम जल वाली श्रीयमुनाजी का संगम अत्यन्त शोभा देता है, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वहाँ की तरंगावली देख कर मेरा हृदय उल्लसित होता है, ऐसा जान पड़ता है, मानो इधर-उधर फैले हुए कामधेनु के श्वेत वर्ण सुन्दर बछड़े (श्रीगङ्गाजी तरंगें) हरे-हरे तृणों को (श्रीयमुनाजी की तरंगों को) चर रहे हैं।

विशेष—'देव कहैं···'—श्रीतीर्थराज प्रयाग भूमि पर हैं, इनकी महिमा पर देवगण स्वर्ग से मुग्ध हो जाते हैं, दर्शनार्थ लालायित होते हैं।

'देखि मिटैं अपराध···'—सब के अगाध अपराध पचाते-पचाते यदि प्रयाग में मलिनता आ जायगी तो उनकी शुद्धि कैसे होगी ? इसका समाधान साथ ही किया गया है—'निमज्जत साधु-समाज भलो रे।'; यथा—"साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥" (भाग० ९।९।६); अर्थात् श्रीभगीरथ महाराज ने श्रीगङ्गाजी से कहा है—हे माता ! सारे संसार को पवित्र करने वाले, विषय-त्यागी, शान्त स्वरूप और ब्रह्मनिष्ठ साधु गण आकर आपके जल में स्नान करेंगे तो उनके अंग-संग से आपके सारे पाप नष्ट हो जायँगे; क्योंकि उनके हृदय में समस्त-पाप-नाशक श्रीहरि निवास करते हैं। श्रीयुधिष्ठिरजी ने विदुरजी से कहा है; यथा—"भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो। तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता॥" (भाग० १।१३।१०); हे प्रभो ! आपके समान हरिभक्त स्वयं तीर्थ रूप हैं (पापियों के पापों से मलिन हुए) तीर्थों को आप लोग अपने हृदय में स्थित श्रीगदाधारी भगवान् के प्रभाव से पुनः तीर्थत्व प्रदान कर देते हैं। प्रचेताओं ने भगवान् से कहा है; यथा—"तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया। भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥" (भाग० ४।३०।३७);

अर्थात् आपके भक्त तीर्थों को पवित्र करने के लिये ही भूमि पर विचरण करते हैं, उनका समागम संसार भय से भीत पुरुष को कैसे प्रिय नहीं होगा ?

'सोहै सितासित···मानो हरे···'—त्रिवेणी-संगम में श्रीयमुनाजी की हरे रंग की लहरें श्रीगङ्गाजी की श्वेत लहरों में लीन हो जाती हैं। इसकी अनुपम शोभा है; यथा—"सन्निधि सितासित नीर नहाने। दिये दान महिसुर सनमाने॥ देखत स्यामल-धवल हिलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥" (मा० अ० २०३); "चँवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥" (मा० अ० १०४)। श्रीगोस्वामीजी इस शोभा पर मुग्ध हैं, इससे विचारपूर्वक उत्तम उत्प्रेक्षा करते हैं—लहरें श्रीगंगाजी की श्वेत हैं, वे कामधेनु के बछड़ों के समान हैं। हरी-हरी घास चरने से वे प्रसन्न हैं। अतः सारी कामनाएँ पूर्ण करते हैं। यमुनाजी की हरी-हरी लहरें श्रीगंगाजी की धवल लहरों में लीन हो जाती हैं, यही उनका चरा जाना है। प्रयाग सकल-कामप्रद हैं ही, उनकी लहरें भी दर्शकों के मनोरथ पूर्ण करती हैं। श्रीयमुनाजी सुकर्म रूपा हैं, उनका भक्ति रूपिणी गंगाजी में मिलना (पर्यवसान होना) योग्य ही है; यथा—"राम भगति जहँ सुरसरि धारा।···करम कथा रविनंदिनि बरनी॥" (मा० बा० १)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

श्रीगंगा-माहात्म्य

देव नदी कहँ जो जन जानि किये मनसा, कुल कोटि उधारे।
देखि चले झगरैं सुर नारि, सुरेस बनाइ बिमान सँवारे॥
पूजा को साज बिरंचि रचैं तुलसी, जे महातम जाननिहारे।
ओक की नींव परी हरिलोक बिलोकत गंग तरंग तिहारे॥

अर्थ—जिस मनुष्य ने श्रीगंगाजी का स्नान करने के लिये मन में विचार मात्र कर लिया, उसी समय उसकी करोड़ों पीढ़ियों का उद्धार हो गया (ऐसा समझना चाहिये)। उसको स्नानार्थ चलता देख कर, (उसको वरण करने के लिये) देवाङ्गनाएँ आपस में झगड़ने लगती हैं। देवराज इन्द्र उसके लिये विमान बनाकर सजाने लगते हैं (क्योंकि अर्चिरादि मार्ग से परधाम जाने में अपने लोक में इन्द्र जीव को विमान में चढ़ा कर ले चलते हैं, इन्द्र के पीछे जीव ब्रह्माजी के लोक होकर जाता है, इससे आगे ब्रह्माजी भी कहे जाते हैं)। श्रीगङ्गाजी के

माहात्म्य जानने वाले श्रीब्रह्माजी इस जीव की पूजा करने की सामग्री एकत्र करने लगते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हे श्रीगङ्गाजी! तुम्हारी तरंगों के दर्शन होते ही विष्णु लोक में (उस दर्शक के लिये) घर की नीव पड़ जाती है (तो पैठ कर स्नान कर लेने का माहात्म्य कैसे कहा जाय ?)।

विशेष—'देवनदी कहँ…'—इस चरण में मन के संकल्प मात्र का फल कहा गया है।

'देखि चले…'—इसमें कर्मेन्द्रिय चरण से चला, यदि सकामता से चलता है तो इसे स्वर्ग के सुख तक की प्राप्ति होती है, इससे इसको वरण करने के लिये देवाङ्गनाएँ झगड़ती हैं। यदि यह निष्काम भाव से चलता है तो हरि-चरण-प्रसूता श्रीगंगाजी की भक्ति के प्रभाव से यह परधाम की यात्रा का अधिकारी हो जाता है, इससे उस मार्ग के अंत के इन्द्र और ब्रह्मा इसकी पूजा कर इसे अपने-अपने लोकों की यात्रा कराने की व्यवस्था करने लगते हैं। उस मार्ग को अर्चिरादि मार्ग कहते हैं, उसके द्वादश मार्ग देव हैं, यथा—"अर्चिरहः सितः पक्ष उत्तरायणवत्सरौ। मरुद्रवीन्दवो विद्युद्वरुणेन्द्रचतुर्मुखाः। एते द्वादश धीराणां परधामातिवाहकाः। वैकुण्ठप्रापिकाविद्युद्वरुणादेस्त्वनिवर्तकाः॥" अर्थात् अग्नि, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, संवत्सर, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत, वरुण, इन्द्र और ब्रह्मा–ये द्वादश मार्गाभिमानी देवता इसे परधाम ले जाते हैं। इनका विशेष विचार ब्रह्मसूत्र अ० ४ में किया गया है। इनमें ग्यारहवाँ इन्द्र और बारहवाँ ब्रह्माजी पड़ते हैं। अपने लोक की सीमा पर ही ये आकर इस मुक्तात्मा की पूजा करके इसे लेते हैं और विमान पर अपने लोक का मार्ग गमन कराते हैं। उसी लक्ष्य से यहाँ इन्द्र का विमान सजना और ब्रह्माजी का पूजा की सामग्री इकट्ठी करना कहा गया है। वस्तुतः दोनों ही दोनों (पूजा और विमान) की व्यवस्थाएँ करते हैं।

'ओक की नींव…'—गंगा-दर्शन करते ही वैकुण्ठ में इसके घर की नींव पड़ जाती है; क्योंकि बस, थोड़े ही दिनों में यह वैकुण्ठ जायगा तो जिससे महल सम्पन्न रहे, अर्थात् इसकी परधाम-प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

'जे महातम जाननि हारे'—श्रीगंगाजी का माहात्म्य ब्रह्माजी जानते हैं यथा—"पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति। अवगाढ़ा च पीता च पुनात्या-

सप्तमं कुलम् ॥ यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्। तावत्स पुरुषो राजन्स्वर्गलोके महीयते ॥ यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च। उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ॥ न गङ्गा सदृशं तीर्थं न देवः केशवात्परम्। ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ॥ यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत्तपोवनम्। सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ॥" (महा० वन० ८५।९४-९८); अर्थात् श्रीगंगाजी कीर्तन ही से पापों का नाश करती हैं, दर्शन ही से कल्याण सम्पादन करती हैं। स्नान करने और जल पीने से सात कुल तक को पवित्र करती हैं। हे राजन्! पुरुष की हड्डी जब तक गंगाजी के जल में रहती है, तब तक वह स्वर्ग में रहता है। पवित्र तीर्थों और देवालयों में जाने से जो पुण्य होता है और उससे जो स्वर्ग मिलता है, वह उतना चिर-स्थायी नहीं होता, जितना गंगा-स्नान करने से होता है। श्रीगंगाजी के समान तीर्थ, विष्णु के समान देवता और ब्राह्मण के समान पूज्य दूसरा नहीं है। ऐसा ब्रह्माजी ने कहा है। हे महाराज! जहाँ गंगा जी हैं, वह देश तपोवन है। उसे ही सिद्धि क्षेत्र भी जानना चाहिये; जो देश गंगाजी के तट पर है।

तथा—"वाङ्मनः कर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह। वीक्ष्य गंगां भवेत्पूतो अत्र मे नास्ति संशयः ॥ सप्तावरान् सप्तपरान् पितृंस्तेभ्यश्च ये परे। पुमांस्तारयते गंगा वीक्ष्य स्पृष्ट्वाऽवगाह्य च। श्रुताऽभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता। गंगा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ॥ दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गंगेति कीर्तनात्। पुनात्यपुण्यान्पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥" (महा० अनु० २६।६१-६४); इत्यादि।

[१४६]

ब्रह्म जो व्यापक वेद कहै, गम नाहीं गिरा गुन ज्ञान गुनी को।
जो करता, भरता, हरता, सुर-साहिब, साहिब दीन-दुनी को ॥
सोई भयो द्रव रूप सही, जो है नाथ बिरंचि महेस मुनी को।
मानि प्रतीति सदा तुलसी जल काहे न सेवत देवधुनी को ॥

अर्थ—जिस परब्रह्म परमात्मा को वेद सर्वव्यापी कहते हैं, जिसके गुण और ज्ञान की थाह सरस्वती और गुणी लोग भी नहीं पा सकते। जो संसार की उत्पत्ति करनेवाला, पालन करनेवाला और प्रलय करनेवाला है; जो देवताओं का स्वामी और दीन-दुनियाँ का स्वामी है। जो ब्रह्माजी, शिवजी और मुनियों का

स्वामी है, ठीक वही परमात्मा जल रूप हुआ है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह विश्वास मानकर नित्य श्रीगंगाजी के जल का सेवन क्यों नहीं करते हो?

विशेष—'ब्रह्म जो व्यापक''सोई भयो द्रव रूप''''; यथा—"करहिं प्रनाम नगर नर नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥ (मा० अ० १९६)। 'गम नाहीं गिरा...'; यथा—"ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया-मन-गुन पार। सोइ सच्चिदानंद घन, कर नर चरित उदार॥" (मा० उ० २५); "राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।" (मा० अ० १२६)।

'जो करता, भरता, हरता'; यथा—"तासु भजन कीजिय तहँ भरता। जो करता पालक संहर्ता॥" (मा० लं० ६); "उतपति पालन प्रलय समीहा।" (मा० लं० १४)। 'साहिब दीन-दुनी को'—'दीन' पद अरबी का है, इसका अर्थ 'मत', 'मजहब' होता है। मत का अर्थ परलोक-सुख-साधन होता है। अतः, दुनियाँ (लोक) और परलोक दोनों का स्वामी (व्यवस्थापक) जो परमात्मा है।

'सोइ भयो'''—यहाँ ब्रह्मा और शिव का नाम है, पर त्रिदेवों में विष्णु का नहीं है। अतः, यहाँ परमात्मा विष्णु (व्यापक श्रीरामजी) ही ब्रह्म रूप एवं गंगाजल रूप हैं, ऐसा कहा गया है। ऊपर 'ब्रह्ममय वारि' कहा गया है। भगवान् का शरीर सच्चिदानन्द रूप है। अतः, उनके नख से उत्पन्न जल भी ब्रह्म रूप ही है। यथा—"धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र। स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्त्तिः॥" (भाग० ८।२१।४); अर्थात् वह ब्रह्माजी के कमंडलु का जल—जिससे ब्रह्माजी ने श्रीवामन भगवान् के चरण को स्नान कराया था—हरि चरण के स्पर्श से परम पवित्र होकर स्वर्ग की नदी आकाशगंगा हो गया, वह गंगाजल अब तक हरि की पवित्र कीर्ति के समान आकाश से भूमि पर गिर कर त्रिभुवन को पवित्र कर रहा है।

[१४७]

बारि तिहारो निहारि, मुरारि भये परसे पद पाप लहौंगो।
ईस ह्वै सीस धरौं पै डरौं, प्रभु की समता बड़े दोष दहौंगो॥
बरु बारहि बार सरीर धरौं, रघुबीर को ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागीरथी! बिनवौं कर जोरि, बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो॥

अर्थ—हे श्रीगङ्गाजी ! आपके जल के दर्शन करने पर यदि मैं विष्णु रूप हुआ तो अपने चरणों से आपका स्पर्श करने से मुझे पाप लगेगा (क्योंकि आपका जन्म विष्णु चरण से है, विष्णु होने पर उस रूप के भी चरण में आपकी स्थिति रहेगी ही)। तथा यदि मैं (आपके जल दर्शन से) शिवरूप हो गया तो (शिर पर आपका धारण करना अनिवार्य हो जायगा। अतः) शिर पर धारण तो करूँ पर डरता हूँ कि प्रभु शिवजी की बराबरी करने के बड़े भारी दोष से मैं भस्म हो जाऊँगा। इससे चाहे मैं बार-बार शरीर धारण करूँ, परन्तु श्रीरघुनाथ का (शरणागत) होकर आपके किनारे रहूँगा, इसके लिये, हे भागीरथी ! मैं आपसे हाथ जोड़कर विनती करता हूँ (इसकी पूर्ति कर दीजिये), फिर जिससे मुझे दोष न लगे, वैसा ही कहता रहूँगा।

विशेष—'बारि तिहारो निहारि···ईस ह्वै···' इन दो चरणों श्रीगंगाजी के जल-दर्शन के फल रूप में विष्णु रूप और शिव रूप की प्राप्ति कही गई है, किन्तु श्रीगोस्वामीजी उन फलों को नहीं चाहते। इससे उनमें दोष दिखाते हैं; कि जहाँ से जो वस्तु प्रकट होती है, वहाँ उसकी नित्य-स्थिति मानी जाती है। यदि मैं विष्णुरूप हो जाऊँगा तो अपने चरण से श्रीगंगाजी का स्पर्श होगा। यह पाप होगा, यह डर है। शिवजी ने श्रीगंगाजी को शिर पर धारण किया था। बहुत काल रहने पर श्रीगंगाजी एक रूप से वहीं नित्य रहती हैं; यथा—"जटा मुकुट सुर सरित सिर, लोचन नलिन बिसाल। नीलकंठ लावन्य निधि, सोह बालबिधु भाल ॥" (मा० बा० १०६)।

आपके दर्शन से यदि मैं शिव रूप हो जाऊँगा तो शिर पर श्रीगंगाजी भी रहेंगी इसमें प्रभु शिवजी की बराबरी करने की धृष्टता होगी, यह भारी दोष होगा। इस दोष से मैं भस्म हो जाऊँगा; क्योंकि कामदेव ने सामना करके वही फल पाया था।

'बरु बारहिं बार···'—उन दोषपरक फलों का निराकरण कर अनुकूल फल माँगते हैं कि मुझे चाहे बार-बार शरीर धारण करना पड़े। पर उन सब शरीरों से मैं श्रीराम-शरण होकर आपके तट पर ही रहूँ, बस, इसी फल के लिये मेरी आपसे बार-बार हाथ जोड़कर प्रार्थना है। ऐसा ही बाली ने भी माँगा है; यथा—"अब

नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ। जेहि जोनि जनमौं करम बस तहँ रामपद अनुरागऊँ ॥" (मा० कि० ६)।

श्रीगंगाजी से अन्यत्र भी आपने ऐसा ही वर माँगा है; यथा—"तुलसी तव तीर-तीर सुमिरत रघुबंस बीर बिचरत मति देहि मोह महिष कालिका ॥" (वि० १७)। तात्पर्य यह कि मैं आपके तट पर केवल श्रीराम-भक्ति ही करता हुआ रहूँ।

'बहोरि न खोरि लगै···'—जैसे पहले दो प्रकार के फलों की प्राप्ति-संभावना पर प्रार्थना कर उन फलों के निवारणार्थ प्रार्थना की है। वैसे ही अन्य किसी भी फल-प्राप्ति पर दोष की संभावना होगी तो फिर ऐसा ही कहूँगा।

श्रीअन्नपूर्णा-माहात्म्य

कवित्त [१४८]

लालची ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन,
बदन मलीन, मन मिटै ना बिसूरना।
ताकत सराध, कै बिवाह, कै उछाह कछू,
डोलै लोल, बूझत सबद ढोल-तूरना ॥
प्यासे हू न पावै बारि, भूखे न चनक चारि,
चाहत अहारन पहार, दारि कूरना।
सोक को अगार, दुख भार भरो तौ लौं जन,
जौलौं देवा द्रवै न भवानी अन्नपूरना ॥

अर्थ—जब तक श्रीअन्नपूर्णा देवी कृपा नहीं करतीं, तभी तक मनुष्य लालची होकर (टुकड़े-टुकड़े के लिये) लालायित हो द्वार-द्वार दीन और मलिनमुख होकर बिललाता (मारा-मारा फिरता) है, उसके मन की चिन्ता नहीं मिटती। कहीं श्राद्ध या विवाह या कोई उत्सव है क्या ? इसकी ताक (टोह) में चञ्चल चित्त से इधर-उधर फिरता रहता है और ढोल एवं तूर (तुरही) के शब्द सुन कर बूझता फिरता है (कि क्या कुछ उत्सव है, यहाँ कुछ खाने को मिलेगा ?)। प्यास लगने पर उसे जल नहीं मिलता और भूख लगने पर चार दाने चने भी नहीं मिलते। वह आहारों के पहाड़ चाहता (अपरिमित भोजन चाहता) है,

परन्तु उस क्रूर को दाल की भी प्राप्ति नहीं होती। तब तक वह शोकों का स्थान और दुःखों के भारों से भरा रहता है।

विशेष—श्रीगोस्वामीजी श्रीकाशीजी में अधिक रहते थे, काशीजी में श्रीअन्नपूर्णा देवी का विशाल मंदिर है। सम्भवतः वहीं पर यह कवित्त बना हो। सभी देवता श्रीरामजी के शरीर हैं, श्रीरामजी जिस अंग से जो बर्ताव करते हैं, उससे उस बर्ताव की भावना करनी भक्ति की अनन्यता में वाधा नहीं है; यथा—"येऽप्यन्य देवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय...." (गीता ९। २३-२४)—इन दोनों श्लोकों में समझाया गया है।

शिव-स्तुति

छप्पय [१४६]

भस्म अंग, मर्दन अनंग, संतत असंग हर।
सीस गंग, गिरिजा अधंग, भूषन भुजंग वर॥
मुंडमाल, बिधु बाल भाल, डमरू कपाल कर।
बिबुध-बृंद-नव-कुमुद-चंद, सुख कंद, सूल धर॥
त्रिपुरारि त्रिलोचन, दिगवसन, बिष भोजन, भव-भय-हरन।
कह तुलसिदास सेवत सुलभ सिव सिव सिव संकर सरन॥

अर्थ—श्रीशिवजी शरीर में भस्म रमाये रहते हैं, वे कामदेव का मान-मर्दन करने वाले और सदा एकाकी रहने वाले हैं। उनके शिर पर श्रीगंगाजी और आधे शरीर में श्रीपार्वतीजी विराजमान् रहती हैं। अच्छे-अच्छे साँप उनके भूषण हैं, उनके गले में मुण्डमाला, ललाट पर बाल चन्द्रमा और हाथों में डमरू एवं कपाल (खप्पर) विराजमान रहते हैं। देवगण रूपी नवीन कुमुदों को प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्रमा के समान त्रिशूलधारी श्रीशिवजी सुख की वर्षा करने वाले हैं। वे त्रिपुर दैत्य के शत्रु, तीन नेत्र वाले, दिगम्बर (नग्न स्वरूप)। कालकूट विष का भक्षण करने वाले और जन्म-मरण के भय का हरण करने वाले हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो सेवा करने पर बड़ी सुगमता से प्राप्त होने वाले हैं, तीनों लोकों और तीनों कालों में जो कल्याण स्वरूप हैं, उन कल्याणकारी श्रीशिवजी की मैं शरण हूँ (उनकी पुरी में पड़ा हूँ, आश्रित जानकर मेरी रक्षा करें)।

विशेष—श्रीशिवजी को "निराकारमोंकारमूलं तुरीयं। गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं" (मा० उ० १०७); ऐसा कहा है। उनका माहात्म्य कहते हैं कि वे 'भस्म अंग' के साथ ही 'सीस गंग', 'मर्दन अनंग' के साथ 'गिरिजाअधंग', 'संतत-असंग' के साथ 'भूषन भुजंग वर', 'मुंडमाल' के साथ 'बिधु-बाल भाल' हैं और उनके एक हाथ में 'डमरु' है तो साथ ही दूसरे हाथ में 'कपाल' का धारण करना कहा गया है। भाव यह कि चिता-भस्म-लेपन से वे अपावन नहीं होते और न श्रीगंगाजी के धारण में पावनता का ही गर्व करते हैं। काम-रहित ऐसे हैं कि उन्होंने काम को भस्म ही कर डाला है। साथ ही कामासक्त ऐसे दीखते हैं कि श्रीपार्वतीजी को सदा आधे अंग में रखते हैं। असंग ऐसे हैं कि सदा एकाकी रहते हैं और फिर कुटिल एवं क्रूर स्वभाव वाले साँपों को भूषण बना कर साथ रखते हैं, उनसे अपनी शोभा मानते हैं। मुण्डमाल धारण करने से कराल रूप हैं, साथ ही परम सौम्य दूज के चन्द्रमा को भाल में रख कर अपनी सौम्यता भी प्रकट करते हैं। एक हाथ में शुभ रूप डमरू लिये रहते हैं, जिसमें वेद नाद पूर्ण रहता है और साथ ही दूसरे हाथ में अपावन वस्तु भरा कपाल भी रखते हैं। इस प्रकार आपका ज्ञानमय स्वरूप है कि विरोधी वस्तुओं के धारण करने में विकार नहीं आता।

'बिबुध बृंद नव कुमुद चंद'—देवगण जब कालकूट से जलते थे, तब आपने उसे पान कर देवों की रक्षा की है, त्रिशूल धारण से सभी के तीनों तापों का हरण करते हैं, इस प्रकार सुखों की वर्षा कर देवगणों को सदा प्रफुल्ल रखते हैं तथा सारे संसार को सुखी रखते हैं।

'त्रिपुरारि त्रिलोचन...'—त्रिपुरदैत्य को मारने से आपने तीनों लोकों की रक्षा की है। अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा, ये तीनों आपके नेत्र हैं; यथा—"भारती बदन बिष-अदन सिव ससि-पतंग-पावक नयन॥" (छन्द १५२); तथा—"इंदु पावक भानु नयन" (वि० ११)। 'भव-भय-हरन' अपनी भक्ति से प्रसन्न होकर जीवों को श्रीराम-भक्ति दे उनका भव-भय निवृत्त करते हैं तथा काशी में चेतन मात्र को मरते समय श्रीराम मंत्र देकर उनका भव-भय हरण करते हैं।

'सेवत सुलभ'; यथा—"देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे। किए दूर

दुख सबनि के जिन-जिन कर जोरे ॥ सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे।
दियो जगत जहँ लगि सबै सुख गज रथ घोरे ॥" (वि० ८)।
'सिव, सिव, सिव'—तीन बार कह कर तीनों कालों और तीनों लोकों में
आपका शिव (कल्याण) स्वरूप होना सूचित किया है।

[१५०]

गरल-असन, दिगबसन, व्यसन-भंजन, जन-रंजन।
कुंद - इंदु - कर्पूर - गौर सच्चिदानंदघन ॥
बिकट बेष, उर सेष, सीस सुरसरित सहज सुचि।
सिव अकाम, अभिराम-धाम, नित रामनाम रुचि ॥
कंदर्प-दर्प-दुर्गम-दवन, उमा-रवन गुन-भवन हर।
तुलसीस त्रिलोचन, त्रिगुन पर, त्रिपुर-मथन जय त्रिदस बर ॥

अर्थ—जो शिवजी विष-भक्षण करनेवाले दिगम्बर, दुःख-नाशक, भक्त-मन-रंजन, कुन्द, चन्द्रमा और कर्पूर के समान गौरवर्ण, सच्चिदानन्दघन स्वरूप, भयंकर वेष धारण किये हुए, जिनके हृदय पर (जनेऊ रूप में) शेषजी और शिर पर स्वभाव से ही पवित्र श्रीगङ्गाजी विराजमान हैं। जो कल्याण स्वरूप, कामना रहित और सुन्दरता के स्थान हैं; तथा श्रीरामनाम में जिनकी नित्य रुचि रहती है। कामदेव के दुर्गम दर्प का दमन करनेवाले, श्रीपार्वतीजी के स्वामी, सारे सद्गुणों के स्थान, तोन नेत्रवाले, सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनो गुणों परे, त्रिपुर दैत्य का नाश करनेवाले और देवताओं में श्रेष्ठ तुलसीदास के स्वामी श्रीशिवजी की जय हो।

विशेष—'गरल-असन'—इससे अपार दया, 'दिगबसन' इससे त्याग, 'व्यसन-भंजन' इससे परोपकार वृत्ति और 'जन-रंजन' इससे आश्रित-रक्षण गुण प्रकट किये गये। 'कुंद' से कोमलता, 'इंदु' से शीतलता एवं सौम्य भाव और 'कर्पूर' से सौगंध गुण के साथ गौराङ्गस्वरूप कहा गया है।

'नित राम नाम रुचि'; यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिनराती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (मा० बा० १०७); "मरत महेस उपदेस हैं कहा करत, सुरसरि-तीर कासी धरम-धरनि। रामनाम को प्रताप हर कहैं जपैं आप,

जुग-जुग जाने जग, बेदहू बरनि ॥" (वि० १८४); "जासु नाम सर्बस सदा सिव पार्वती के ।" (गी० बा० १२) ।

'कंदर्प दर्प दुर्गम दवन'—जिस कामदेव के दर्प से ब्रह्मांड भर के प्राणी व्याकुल हो गये थे, उसके उस दुर्गम दर्प को आपने दृष्टिमात्र से भस्म कर दिया।

[१५१]

अर्ध-अंग अंगना, नाम जोगीस जोगपति ।
बिषम-असन, दिगबसन नाम बिस्वेस, बिस्वगति ॥
कर कपाल, सिरमाल ब्याल, बिष-भूति-बिभूषन ।
नाम सुद्ध, अबिरुद्ध, अमर, अनवद्य, अदूषन ॥
बिकराल-भूत-बैताल-प्रिय, भीम नाम, भव-भय-दमन ।
सब बिधि समर्थ, महिमा अकथ, तुलसिदास संसय-समन ॥

अर्थ—श्रीशिवजी के बाएँ आधे अंग में स्त्री (श्रीपार्वतीजी) रहती हैं; फिर भी उनका नाम योगीश एवं योगियों का स्वामी है । भाँग-धतूर आदि विषम पदार्थ उनका भोजन है और वे दिगम्बर हैं; फिर भी उनका नाम विश्वेश्वर और विश्व का आश्रय-स्थान है । उनके हाथ में खप्पर और शिर पर सर्पों की माला रहती है । कालकूट विष की गले में नीलिमा है और सर्वांग में भस्म ही विभूषण है; फिर भी उनके नाम शुद्ध एवं अविरुद्ध, अमर निन्दा के अयोग्य (स्तुत्य) और दोष-रहित हैं । विशेष भयंकर भूत और वैताल जिन्हें प्रिय हैं, जिनका नाम भीम है तथा जो जन्म-मरण के भय का निवारण करनेवाले हैं । जो सब प्रकार समर्थ हैं, जिनकी महिमा कही नहीं जा सकती, वे श्रीशिवजी मुझ तुलसीदास की आशङ्काओं का नाश करनेवाले हैं ।

विशेष—'अर्ध अंग अंगना···'—योगियों के लिये ब्रह्मचर्य पालन की बड़ी आवश्यकता है; इसीसे भगवान् ने श्रीनारदजी को स्त्री-सम्बन्ध छुड़ाने के प्रति 'जोगी' कहा है; यथा—"कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी । बैद न देइ सुनहुँ मुनि जोगी ॥ यहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ ॥" (मा० बा० १३२) । परन्तु शिवजी आधे अंग में स्त्री रखते हुए भी योगीश एवं योगपति कहाते हैं, यह उनमें असाधारण सामर्थ्य है ।

'विषम असन दिगबसन···'—स्वयं भाँग-धतूर आदि खाते हैं, उत्तम

अन्न नहीं खाते और वस्त्र भी नहीं पहनते; पर विश्वभर का पोषण करते हैं, वस्त्र देते हैं, इससे विश्वेश एवं विश्वगति कहाते हैं। यह भी वैसा ही असाधारण सामर्थ्य है।

'कर कपाल····'—हाथ में कपाल रखने से अशुद्ध नाम चाहिये, पर आपमें उसका अशुद्ध भाव नहीं आता, इससे शुद्ध ही कहाते हैं। सर्प सभी के विरुद्ध भाववाले होते हैं; इसीसे कहा है—"मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या।" (भाग० ७।६।१४); अर्थात् साधुजन भी साँप और बिच्छू की हत्या पर प्रसन्नता ही मानते हैं। इन साँपों के धारण से भी आप 'अविरुद्ध' ही कहाते हैं, क्योंकि आप उनके दोषों से अलिप्त हैं। 'बिष-बिभूषण' होने से आप अमर हैं; यथा—"खायो कालकूट भयो अजर-अमर तनु···" (छन्द १५८); तथा—"तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः। यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम्।।" (भाग० ८।७।४३); अर्थात् जल के दोष रूप उस विष ने श्रीशिवजी पर अपना प्रभाव दिखाया, उससे शिवजी के कण्ठ में नीलिमा आ गई, वे नीलकंठ कहाने लगे, वह भी साधु (परोपकारी) शिवजी के लिये आभूषण हो गया (उस चिह्न से परोपकार की कीर्ति प्रकट होती है, उससे शिवजी की शोभा बढ़ती है)—

'भूति-बिभूषन' होने से आप अनवद्य एवं अदूषण हैं; क्योंकि श्मशान भूमि की मृतकक्षार का लेपन कर उस पर दृष्टि रखते हुए संसार की अनित्यता का विवेक रखते हैं, इस उद्देश्य से उत्तम लक्ष्य के कारण आप स्तुत्य और निर्दोष है, यह भी आपका असाधारण ज्ञान-सामर्थ्य है।

'भीम नाम'—शिवजी की आठ मूर्त्तियों में से एक का यही नाम है–हिं० श० सा०। जगत्संहर्त्ता जान कर जगत् डरता है, इससे भी भीम कहते हैं। तथा—"व्योमकेशो भवो भीमः स्थाणू रुद्र उमापतिः।" (अमरकोष)।

'भव-भय-दमन'; यथा—"प्रचुर भव-भंजनं, प्रनत जन रंजनं···" (वि० १२); 'तुलसिदास संसय समन'; यथा—"सेस सर्वस आसीन आनंदवन, प्रनत तुलसीदास त्रासहारी।।" (वि० ११)।

[१५२]

भूतनाथ-भय हरन, भीम, भय-भवन भूमिधर।
भानुमन्त, भगवंत, भूति-भूषन-भुजंगवर।।

भव्य भाव-बल्लभ भवेस भव-भार-बिभंजन।
भूरि भोग, भैरव, कुजोग-गंजन, जन-रंजन॥
भारती - बदन बिष - अदन सिव ससि - पतंग-पावक-नयन।
कह तुलसिदास किन भजसि मन भद्र-सदन मर्दन-मयन॥

शब्दार्थ—भानुमन्त = प्रकाशमान्, सूर्य, दिव्य प्रभा से युक्त। भव्य = सुन्दर, रोबदार। अदन = भक्षक। भद्र = कल्याण।

अर्थ—हे भूतों के स्वामी श्रीशिवजी! आप (आश्रितों का) भय-हरण करनेवाले और (दुष्टों के लिये) भीम (संज्ञक भयंकर) रूप से भय के स्थान हैं तथा भूमि का धारण करनेवाले हैं। आप दिव्य प्रभा से युक्त, षडैश्वर्यपूर्ण, विभूति और श्रेष्ठ साँपों से भूषित रहनेवाले हैं। सुन्दर प्रेम आपको प्यारा है। आप संसार के स्वामी हैं और संसार के भार का नाश करनेवाले हैं। आप अनेक भोगों के भोक्ता, भैरव रूप, कुयोग का नाश करनेवाले और अपने भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं। आपके मुख पर सरस्वती का निवास है; अर्थात् आप बड़े वक्ता हैं, आप विष-भक्षण करनेवाले, कल्याण स्वरूप और चन्द्रमा, सूर्य एवं अग्नि नेत्र वाले हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अरे मन! तू कल्याण-स्थान और कामदेव का नाश करनेवाले श्रीशिवजी का भजन क्यों नहीं करता?

विशेष—'भूमिधर'—धर्म के द्वारा पृथिवी का धारण होता है, शिवजी धर्म ध्वज (वृषभ ध्वज) हैं, इससे पृथिवी का धारण करते हैं।

'भव-भार-बिभंजन'—पापी पृथिवी के भार रूप हैं, उनका आप नाश करते हैं। जैसे त्रिपुर एवं जलंधर आदि का संहार किया है।

'भगवंत'—भगवान् के षडैश्वर्य छन्द ६ में लिखे गये।

'भद्र-सदन मर्दन-मयन'—भजन करने पर भक्त के हृदय से कामादि विकारों का नाश कर कल्याण-गुण सम्पन्न कर देते हैं।

मत्तगयंद-सवैया [१५३]

नाँगो फिरै, कहै माँगनो देखि "न खाँगो कछू, जनि माँगिये थोरो"।
राँकनि नाकप रीझि करै, 'तुलसी' जग जो जुरै जाचक जोरो॥
"नाक सँवारत आये हौं नाकहिं, नाहिं पिनाकिहिं नेकु निहोरो"।

ब्रह्म कहैं "गिरिजा ! सिखवो, पति रावरो दानि है बावरो भोरो" ।।

अर्थ—श्रीब्रह्माजी श्रीपार्वतीजी से कहते हैं कि हे गिरिजा, अपने पति श्रीशिवजी को सिखलाओ, आपके पति दानी तो हैं, परन्तु बड़े पागल और भोले हैं। नंगे रूप से तो इधर-उधर फिरते रहते हैं; पर याचकों को देखकर कहते हैं—"कुछ कमी नहीं है। अतः, थोड़ा मत माँगना (परिपूर्ण माँग लो)।।" ये कंगालों को प्रसन्न होकर इन्द्र बना देते हैं, संसार में जितने भी याचक इकट्ठा करने पर एकत्र हो सकते हैं (उन सबको रंक से इन्द्र बना देते हैं)। उन बहुत इन्द्रों के लिये स्वर्ग रचते हुए मेरी नाक में दम आ गया है, परन्तु पिनाक-पाणि श्रीशिवजी को आप कुछ भी प्रार्थना कर उचित शिक्षा नहीं देतीं।

विशेष—इस छंद के भाव विनय-पत्रिका के एक पद से समझ में आ जायँगे, इसलिये उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"बावरो रावरो नाह, भवानी ! ।
दानि बड़ो दिन देत दए बिनु, बेद-बड़ाई भानी ।।
निज घर की घरबात बिलोकहु, हौ तुम्ह परम सयानी ।
सिव की दई संपदा देखत श्री-सारदा सिहानी ।।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी ।
तिन रंकन्ह को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी ।।
दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिये औरहि भीख भली मैं जानी ।।
प्रेम- प्रसंसा-बिनय-ब्यंग-जुत सुनि बिधि की बर बानी ।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन जगत मातु मुसुकानी ।।" (वि० ५)

'नागो फिरै···'—यही तो बावलापन है, स्वयं तो नंगे फिरते हैं, कुछ पास में नहीं है, फिर देते ही जाते हैं। भोलापन यह कि जीवों के प्रारब्ध आदि पर ध्यान नहीं देते, माँगने पर स्वर्ग तक दे डालते हैं।

'नाक सँवारत आया हौं नाकहिं'—इस लोक में जो मनुष्य सुकृत करता है, उसके लिये स्वर्ग में वैसा ही भोग-स्थान उसी समय सम्पन्न हो जाता है, वह प्राणी वहाँ जाने पर उसे भोगता है। परशुरामजी ने कहा है; यथा—"लोका-स्त्वप्रतिमा राम ! निर्जितास्तपसा मया। जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत्कालस्य पर्ययः

(वाल्मी० १।७६।१६); अर्थात् मैंने तपस्या से बहुत उत्तम-उत्तम लोक जीते हैं। हे श्रीरामजी ! इस बाण से आप उन्हीं का नाश कर दें।

यहाँ ब्रह्माजी कहते हैं कि जिनके लिये स्वर्ग में स्थान नहीं है। शिवजी एकाएक उन्हें स्वर्ग दे देते हैं, तब तुरत नये-नये लोक मुझे रचने पड़ते हैं, इसमें मुझे नाकोंदम आ गया है।

विनय-पत्रिका के उपर्युक्त पद ५ के सिद्धान्त-तिलक में इस व्यंगोक्ति पर विशेष रहस्य लिखे गये हैं।

अलङ्कार—व्याज स्तुति।

[१५४]

विष-पावक, व्याल-कराल गरे, सरनागत तौ तिहुँ ताप न डाढ़े
भूत बैताल सखा, भव नाम, दलै पल में भव के भय गाढ़े॥
तुलसीस दरिद्र-सिरोमनि सो सुमिरे दुख-दारिद होहिं न ठाढ़े।
भौन में भाँग; धतूरोइ आँगन, नाँगे के आगे हैं माँगने बाढ़े॥

अर्थ—श्रीशिवजी स्वयं तो गले में भयङ्कर विष (का चिह्न) तथा कराल साँप एवं (ललाट पर नेत्र रूप में) अग्नि धारण किये हुए रहते हैं (; अर्थात् ये सब जलाने वाले ही हैं); परन्तु इनके शरणागत तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों से जलने नहीं पाते। भूत और बैताल इनके सखा हैं और 'भव' यह इनका नाम भी है, किन्तु संसार के बड़े-बड़े भयों को पल भर में नष्ट कर देते हैं। श्री तुलसीदास के स्वामी श्रीशिवजी हैं तो दरिद्र-शिरोमणि-सरीखे; परन्तु इनका स्मरण करने पर दुःख और दरिद्रता पास खड़े भी नहीं हो सकते। यद्यपि इन (शिवजी) के घर में भाँग मात्र है और आँगन में धतूरे का वृक्ष मात्र; तथापि इन नंगे शिवजी के सामने याचक सदा बढ़ते ही रहते हैं।

विशेष—'बिष पावक व्याल···'—ये तीनों दाहक हैं, पर शिवजी इनको साथ रखते हुए भी इनकी आँच से नहीं जलते, वैसे अपने शरणागत को भी तीनों तापों का कर्मानुसार संयोग तो होता ही रहता है, पर वह उनसे दग्ध नहीं होता। विष की ताप के समान दैहिक ताप, पावक के समान दैविक ताप और सर्प की विष-ज्वाला के समान भौतिक ताप हैं।

'भूत-बैताल सखा···'—भूत और बैताल भयङ्कर होते हैं। शिवजी का

नाम भी 'भव' है; यथा—"व्योम केशो भवो भीमः स्थाणु रुद्र उमापतिः।" (अमर कोष)। 'भव' इस नाम के अर्थानुसार शिवजी संसार की उत्पत्ति और प्रलय के कारण हैं। संसार के आश्रय हैं, इससे संसार की भारी भयों से रक्षा करते हैं। यद्यपि भय देने वालों के साथी हैं। पर स्वयं आश्रितों के भय का हरण करते हैं।

'दरिद्र-सिरोमनि सो...'—देखने में महादरिद्र-से लगते हैं, पर आश्रितों के बड़े-बड़े दुःख-दरिद्र नष्ट कर देते हैं। यथा–"नास्ति शर्व समो दाने" (महा० अनु० १५।११); तथा—"दुख दीनता दुखी इनके दुख जाचकता अकुलानी ॥" (वि० ५)। "सुख संपति मति सुगति सुहाई। सकल सुलभ संकर सेवकाई ॥" (वि० ६)।

'भौन में भाँग...'—भाँग और धतूरा वन की चीजें हैं, इनका कुछ मोल नहीं, बस, यही घर की संपत्ति है, फिर भी याचकों की भीड़ नित्य बढ़ा ही करती है, यद्यपि अपने शरीर पर एक वस्त्र भी नहीं है—यहाँ अत्यन्त उदारता कही गई है।

इस छन्द में श्रीशिवजी के अशिव वेष में महान् शिवत्व (कल्याण प्रदत्व) कहा गया है।

[१५५]

सीस बसै बरदा, बरदानि, चढ़्यो बरदा, घरन्यो बरदा है।
धाम धतूरो, बिभूति को कूरो, निवास तहाँ सब लै मरे दाहै ॥
ब्याली कपाली है ख्याली, चहूँ दिसि भाँग की टाटिन्ह को परदा है।
राँक-सिरोमनि काकिनि भाक बिलोकत लोकप को करदा है ॥

शब्दार्थ—ख्याली = कौतुकी। बरदा = वर देने वाला, बैल। काकिनि भाक = एक कौड़ी पाने के योग्य। करदा=कर देने वाला।

अर्थ—श्रीशिवजी के शिर पर वर देने वाली श्रीगंगाजी निवास करती हैं। ये स्वयं भी वर देने वाले (एवं श्रेष्ठ दानी) हैं और (वर देने वाले) बैल पर चढ़े रहते हैं तथा इनकी स्त्री श्रीपार्वतीजी भी वर देने वाली हैं। परन्तु यदि इनका घर देखा जाय तो उसमें धतूर और विभूति के ही ढेर हैं। इनका निवास स्थान वहाँ रहता है, जहाँ मृतकों के शरीर ले जाकर जलाये जाते हैं, साँप और खप्पर

धारण करनेवाले श्रीशिवजी बड़े कौतुकी हैं। इनके (घर में) चारों ओर भाँग की टट्टियों के परदे लगे हुए हैं। परन्तु (आप दानी ऐसे हैं कि) जो एक कौड़ी पाने के योग्य दरिद्रों में श्रेष्ठ हैं, उनको भी एक बार देखते ही लोकपाल बना देने वाले हैं।

विशेष—'सीस बसै बरदा...'—अर्थात् श्रीशिवजी का सर्वांग साज वरदानियों से ही सम्पन्न है। नदीश्वर, गंगाजी और पार्वतीजी सभी वरदानी ही हैं। साथ ही स्वयं वरदानी तो हैं ही।

'धाम धतूरो...व्याली कपाली...'—घर में कुछ नहीं है, श्मशान-निवासी हैं, अशुभ बेष धारी हैं। मादक पदार्थ भंग से ही आवृत रहते हैं, ऐसे अशिव वेष में भी आप कटाक्ष मात्र से रङ्क-शिरोमणियों को लोकपाल बनाते हैं, ऐसी उदारता आपके ईश्वरत्व की महत्ता प्रकट करती है।

[१५६]

दानि जो चारि पदारथ को, त्रिपुरारि तिहूँ पुर में सिर टीको।
भोरो भलो, भले भाय को भूखो, भलोई कियो सुमिरे तुलसी को॥
ता बिन आस को दास भयो, कबहूँ न मिट्यो लघु लालच जी को।
साधो कहा करि साधन तैं, जो पै राधो नहीं पति पारबती को?॥

शब्दार्थ—साधो=सिद्ध किया, फल पाया। राधो=आराधना की।

अर्थ—तीनों लोकों (स्वर्ग, मर्त्य और पाताल) में जो-जो चारो पदार्थों (अर्थ धर्म, काम और मोक्ष) के देने वाले दानी हैं; त्रिपुरारि श्रीशिवजी उन सबके शिरोमणि हैं। आप बड़े भोले स्वभाव के हैं (इससे थोड़े ही में प्रसन्न हो जाते हैं), आश्रितों के हृदय के अच्छे भाव की ही कांक्षा रखते हैं (उनसे और कुछ नहीं चाहते)। आपने केवल स्मरण करने मात्र से भी मुझ तुलसीदास का भला ही किया है। उन श्रीशिवजी का आश्रय लिये विना जो आशाओं का दास हुआ, उसके हृदय की तुच्छ लालच भी कभी नहीं दूर हुई। यदि श्रीपार्वतीजी के पति श्रीशिवजी की आराधना नहीं की तो साधन करके भी तूने क्या फल पाया? (अर्थात् कुछ नहीं)।

विशेष—'दानि जो चारि पदारथ को...'—प्रयाग राज आदि चारो फल देनेवाले हैं, इनमें श्रीशिवजी श्रेष्ठ हैं। तथा—"दानी कहुँ संकर सम नाहीं।..."

ईस उदार उमापति परिहरि अनत जे जाँचन जाहीं। तुलसिदास ते मूढ़ माँगने कबहुँ न पेट अघाहीं ॥" (वि० ४)।

'भोरो भलो, भलें भाय को भूखो...'—भोलापन यह कि थोड़े में प्रसन्न होते हैं; यथा—"कवनि भगति कीन्हीं गुन-निधि द्विज। ह्वै प्रसन्न दीन्हेउ सिव पद निज ॥" (वि० ७); 'भले भाय को भूखो'; यथा—"तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहौं एहि पर कृपा बिसेखी ॥ छमासील जे पर-उपकारी। ते द्विज प्रिय मोहिं जथा खरारी ॥" (मा० उ० १०८)-यह श्रीशिवजी ने स्वयं कहा है।

'भलोइ कियो....'; यथा—"सुमिरि सिवासिव पाइ पसाऊ। बरनउँ राम चरित चित चाऊ ॥" से "सपनेहु साँचेहु मोहिं पर, जौ हर गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा-भनिति-प्रभाउ ॥" (मा० बा० १४-१५) तक।

'ता बिनु आस को दास....'; यथा—"ईस उदार उमापति परिहरि...." यह ऊपर लिखा गया।

[१५७]

जात जरे सब लोक बिलोकि त्रिलोचन सो बिष लोकि लियो है।
पान कियो बिष, भूषन भो, करुना-बरुनालय साँइ! हियो है॥
मेरोइ फोरिबे जोग कपार, किधौं कछु काहू लखाइ दियो है।
काहे न कान करौ बिनती, तुलसी कलिकाल बिहाल कियो है॥

अर्थ—समस्त लोक जले जा रहे हैं, यह देख कर त्रिलोचन श्रीशिवजी ने उस विष को लपक कर (फुर्ती से) ले लिया और उसे पी लिया, वह विष (कण्ठ का) भूषण हो गया। अतः, हे स्वामी ! आपका हृदय तो करुणा का सागर है। मेरा ही कपाल फोड़ने योग्य है (अभागा है), अथवा किसी ने आपको मेरा कुछ दोष दिखा दिया है (उसी से आप मुझ पर कृपा नहीं कर रहे हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कलिकाल ने मुझे व्याकुल कर दिया है, आप मेरी प्रार्थना पर ध्यान क्यों नहीं देते ?

विशेष—'जात जरे...'; यथा—"कालकूट जुर जरत सुरासुर निज पन लागि कियो बिष पान ॥" (वि० ३); "उपकारी को पर हर समान। सुर-असुर जरत कृत गरल पान ॥" (वि० १३)। "जरत सकल सुर बृंद बिषय गरल जेहि पान किय। तेहि न भजसि मन मंद, को कृपाल संकर सरिस ॥" (मा०

कि० १)। 'त्रिलोचन' इसे 'त्रिलोकि' के साथ रख कर यह भी ध्वनित किया है कि आपने तीनों नेत्रों से देखा, विशेष उत्साह एवं चाव से देखा है।

'करुना बरुनालय'''—विष पीने के कर्त्तृत्व से आपकी अपार करुणा देखी गई, इससे यहाँ आपके हृदय को करुणा-सागर कहा गया है।

'मेरोइ फोरइ जोग''काहे न कान करो'''—भाव यह कि कलिकाल ने प्रेरणा कर काम-क्रोध आदि के द्वारा मुझे व्याकुल कर दिया है। विषयिणी आयु मुझे हालाहल विष की भाँति जला रही है, इन्द्रियों के अधिष्ठातृ रूप से सुर वृंद उससे जल रहे हैं। आप वैसी ही करुणा से मेरा कल्याण कीजिये। वहाँ आपने श्रीरामानाम के साथ कालकूट को पीकर उसे अमृत बना लिया। उसी प्रकार मेरे हृदय में भी आप अहंकार के देव रूप से विराजमान हैं। वैसे ही विश्वासपूर्वक श्रीरामनामाराधन के साथ इस आयु रूपी विष का पान कराइये, जिससे यही आयु मुझे अमरत्व देनेवाली अमृत हो जाय; यथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमीको ॥" (मा० बा० १८); तथा—"खायो कालकूट भयो अजर-अमर तन।" (छन्द १५८); "नाम प्रसाद संभु अविनासी।" (मा० बा० २५)।

अभी मेरा अभाग्य है जो नाम में वैसी निष्ठा नहीं हो रही है। आप करुणा करके अनुकूल हों तो अहंकार द्वारा दृढ़ श्रद्धापूर्वक निष्ठा दृढ़ कर दें।

कवित्त [१५८]

खायो कालकूट भयो अजर-अमर तनु,
भवन मसान, गथ गाँठरी गरद की।
डमरू कपाल कर, भूषन कराल व्याल,
बावरे बड़े की रीझ बाहन-बरद की ॥
तुलसी बिसाल गोरे गात बिलसति भूति,
मानो हिमगिरि चारु चाँदनी सरद की।
अर्थ धर्म काम मोच्छ बसत बिलोकनि में,
कासी करामाति जोगी जागत मरद की ॥

अर्थ—श्रीशिवजी ने कालकूट विष का भक्षण (पान) किया। परन्तु (विष से जलने एवं मरने के विपरीत) वे अजर-अमर (जरा-मरण से रहित) शरीर-

वाले हो गये। श्मशान उनका घर है और विभूति की गँठरी ही उनके पास सम्पत्ति है। उनके हाथों में डमरू और कपाल हैं। भयानक साँप ही उनके भूषण हैं। उन बड़े बावले श्रीशिवजी की प्रसन्नता बैल (नन्दी) की सवारी पर रहती है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उनके अत्यन्त विशाल गौर शरीर पर विभूति इस प्रकार शोभा देती है मानो हिमालय पहाड़ पर शरदऋतु की सुन्दर चाँदनी छिटक रही है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारो फल तो उनकी दयादृष्टि में ही निवास करते हैं (उनकी दया से आश्रितों को प्राप्त हो जाते हैं)। उन मर्द (दान शूर) योगी की करामात (अद्भुत चमत्कार एवं सिद्धाई) श्रीकाशीजी में जगमगा रही है।

विशेष—'खायो कालकूट भयो···'; यथा—"नाम-प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमीको ॥" (मा० बा० १८); "नाम प्रसाद संभु अबिनासी (मा०बा०२५)। 'भवन मसान'; यथा —"कासीस मसान निवासी।" (वि० १८)।

'मानो हिमगिरि···'; यथा-"कंबु कुंदेंदु कर्पूर विग्रह रुचिर" (वि०१०)।

'अर्थ धर्म····'; यथा—"सेवहु सिव चरन सरोज रेनु। कल्यान अखिलप्रद कामधेनु ॥" (वि० १३); "ज्ञान वैराग्य धन धर्म कैवल्य सुख, सुभग सौभाग्य सिव सानुकूलं।" (वि० १०)।

'कासी करामाति जोगी···'—काशी क्षेत्र के कीट-पतंग तक को अंत में मोक्ष देते हैं, यही बड़ी भारी करामात है; यथा—"कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥" (मा० बा० ११८); "जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अविनासी ॥" (मा० कि० ९)।

[१५९]

पिंगल जटा कलाप, माथे पै पुनीत आप,
पावक नैना, प्रताप भ्रू पर बरत हैं।
लोचन बिसाल लाल, सोहैं बालचंद्र भाल,
कंठ कालकूट, ब्याल भूषन धरत हैं॥
सुंदर दिगंबर बिभूति गात, भाँग खात,
रूरे सृंगी पूरे काल कंटक हरत हैं।

देत न अघात, रीझि जात पात आकही के,
भोलानाथ जोगी जब औढर ढरत हैं ॥

अर्थ—उन (श्रीशिवजी) की भूरे रंग की जटाएँ हैं, मस्तक पर पवित्र जलवाली श्रीगङ्गाजी विराजमान हैं । उनके (ललाट पर स्थित) अग्नि नेत्र का प्रताप भौंहों पर दमकता है । उनकी बड़ी-बड़ी आँखें लाल रंग की हैं, द्वितीया का चन्द्रमा भाल पर सुशोभित हैं कण्ठ में कालकूट (का चिह्न) है और वे साँपों के गहने पहनते हैं । उनका दिगम्बर बेष बड़ा सुन्दर है, शरीर पर विभूति विराजमान हैं, भाँग खाते हैं और सुंदर सींग के मनोहर शब्द से काल रूपी कण्टक (बाधा) को हर लेते हैं । मदार के पत्ते मात्र पर प्रसन्न हो जाते हैं, जब वे भोलानाथ योगी मनमौजी प्रसन्न होते हैं, तब देने से तृप्त नहीं होते ।

विशेष—'औढर ढरत हैं'; यथा—"औढर दानि द्रवत पुनि थोरे । सकत न देखि दीन कर जोरे ॥" (वि० ६) । "सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी । बिनती सुनहु सदासिव मोरी ॥ आसुतोष तुम्ह अवढर दानी । आरति हरहु दीन जन जानी ॥" (मा० अ० ४३) । औढरदानी का अर्थ यह है कि मनमौजी जिधर प्रसन्न हो गये, उधर परिपूर्ण दान दे देते हैं, कुछ पात्रापात्र नहीं विचारते ।

[१६०]

देत संपदा समेत श्रीनिकेत जाचकनि,
भवन बिभूति, भाँग, बृषभ बहनु है ।
नाम बामदेव दाहिनो सदा असंग रंग,
अरध अंग अंगना, अनंग को महनु है ॥
तुलसी महेस को प्रभाव भाव ही सुगम,
निगम-अगमहू को जानिबो गहनु है ।
भेष तो भिखारि को भयंक रूप संकर,
दयालु दीनबंधु दानि दारिद दहनु है ॥

शब्दार्थ—श्रीनिकेत = श्रीलक्ष्मीजी का स्थान, वैकुंठ । असंग रंग=एकान्तनिष्ठ । अंगना=स्त्री । महनु (मथन)=नाशक । भयंक (भयंमर)=जिसे देखने पर डर लगती हो । अगमहू (आगमहू को)=शास्त्र को भी ।

अर्थ—जो याचकों को सम्पत्ति के साथ श्रीवैकुण्ठ लोक तक दे देते हैं;

परन्तु जिनके घर में केवल विभूति (भस्म) और भाँग है; तथा चढ़ने के लिये जिनके यहाँ एक बैल (नन्दी) मात्र है। जिनका नाम तो 'वामदेव' है, परन्तु जो सदा (आश्रितों के लिये) अनुकूल ही रहते हैं, जो सदा एकान्तनिष्ठ हैं, परन्तु जिनके अर्द्धाङ्ग में स्त्री श्रीपार्वतीजी विराजमान रहती हैं, फिर भी जो कामदेव का मथन (नाश) करनेवाले हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्री-शिवजी का प्रभाव उनकी भक्ति करने से ही सुगम हो सकता है; अन्यथा उस प्रभाव का जानना वेदों और शास्त्रों के लिये भी कठिन है। उनका वेष तो भिखारी का है और भयानक है; परन्तु वे कल्याण करनेवाले, दयालु, दीनबंधु, दानी और दरिद्रता के नाशक हैं।

विशेष—'देत संपदा समेत…'—घर में कुछ नहीं है और देते हैं वैकुंठ का ऐश्वर्य। 'नाम बामदेव…'—नाम के विरुद्ध गुण है। 'सदा असंग रंग' और 'अनंग को महनु' के मध्य में इन दोनों विरुद्ध भाव वाली स्त्री को विराजमान कराये हैं, यह आश्चर्य प्रभुत्व है।

'महेस को प्रभाव…'—इनका सौलभ्य गुण कहा गया है।

'भेष तो भिखारिको…'—वेष और रूप के विरुद्ध कल्याण कर्तृत्व एवं दयालुता आदि गुण हैं इसमें भी ईश्वरता है।

[१६१]

चाहै न अनंग-अरि एकौ अंग माँगने को,
देबोई पै जानिये सुभाव-सिद्ध बानि सो।
बारि बुंद चारि त्रिपुरारि पर डारिये तौ,
देत फल चारि, लेत साँची सेवा मानि सो।
तुलसी भरोसो न भवेस भोरानाथ को तौ,
कोटिक कलेस करौ, मरौ छार छानि सो।
दारिद - दमन दुख - दोष - दाह - दावानल,
दुनी न दयालु दूजो दानि सूलपानि सो॥

अर्थ—काम के शत्रु श्रीशिवजी भिक्षुक से (षोडशोपचार पूजन का) एक अंग भी नहीं चाहते। वे केवल देना ही जानते हैं, यह उनकी बानि स्वभाव-सिद्ध है। यदि उन त्रिपुर शत्रु श्रीशिवजी पर जल की चार बूँदें भी डाल दी

जायँ तो उसे ही वे अपनी सच्ची सेवा मान लेते हैं और उसके प्रति अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष रूप चारो फल दे डालते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यदि संसार के स्वामी भोलानाथ श्रीशिवजी का भरोसा नहीं है तो चाहे करोड़ों क्लेश करो और जहाँ-तहाँ की धूल छान-छान कर मर जाओ (पर कुछ हाथ लगने का नहीं है) सारे संसार में शूलपाणि श्रीशिवजी के समान दूसरा दरिद्रता-नाशक, दुःख और दोष एवं दैहिक आदि तापों के जलाने के लिये दावानल रूप तथा दयालु एवं दानी नहीं है।

विशेष—'चाहै न अनंग अरि...'—न चाहने के सम्बन्ध से 'अनंग अरि' कहा गया है कि वे कामनाओं के शत्रु हैं। अतः, आश्रितों से कुछ भी नहीं चाहते। 'सुभाव-सिद्ध'—स्वाभाविक, सहज-स्वभाव।

'देत फल चारि'; यथा—"अर्थ, धर्म, काम, मोच्छ बसत बिलोकनि में" (छन्द १५८)।

'मरौ छार छानि सो'—'भवेस' अर्थात् वे संसार भर की सार-सँभार रखते हैं। 'भोरानाथ'—थोड़ी ही सेवा पर प्रसन्न होकर बहुत देने वाले हैं, यदि ऐसे स्वामी का भरोसा नहीं तो वह कंगालों की भाँति जहाँ-तहाँ के मार्गों की धूल छानता भले ही फिरे कि कहीं किसी का कुछ गिरा हुआ पदार्थ तो नहीं है, पर उसे कुछ हाथ नहीं लगता। भाव यह कि उसके अन्य देवाराधन व्यर्थ से हैं।

'दुख-दोष-दाह दावानल'—कह कर 'सूलपानि' कहने का भाव यह कि त्रिशूलधारी ही इन दुःख, दोष और दाह रूपी तीनों शूलों का नाश करते हैं।

[१६२]

काहे को अनेक देव सेवत, जागै मसान,
खोवत अपान, सठ! होत हठि प्रेत रे।
काहे को कोटि उपाय करत मरत धाय,
जाचत नरेस देस-देस के अचेत रे॥
तुलसी प्रतीति बिनु त्यागै तैं प्रयाग तनु,
धन ही के हेत दान देत कुरुखेत रे।

पात द्वै धतूरे के दै, भोरे कै, भवेस सों,
सुरेस ही की संपदा सुभाय सों न लेत रे॥

अर्थ—अरे मूर्ख! तू अनेक देवों की सेवा क्यों करता है; मसान (श्मशान) क्यों जगाता है; आत्म-सम्मान क्यों खोता है और तू हठपूर्वक प्रेत क्यों होता है? अरे अचेत! तू अनेक उपाय करता हुआ इधर-उधर दौड़-दौड़ कर क्यों मरता है? देश-देश के राजाओं के यहाँ याचना क्यों करता है? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि बिना विश्वास के ही तू धन पाने के लिये प्रयागराज में शरीर त्याग करता है और धन पाने ही के लिये कुरुक्षेत्र में दान देता है (इन श्रम-साध्य उपायों में क्यों पचता है? अरे!) श्रीशिवजी को धतूरे के दो पत्ते चढ़ा कर उनको भोरा कर (भुलावा देकर) उन संसार के स्वामी से सहज में ही इन्द्र का ही ऐश्वर्य क्यों नहीं ले लेता?

विशेष—'काहे को अनेक देव···'—यदि एक महादेव के यहाँ ही सब मनोरथ पूर्ण हो सकते हैं तो अनेक तुच्छ देवों की सेवा क्यों करता है? इसमें अपनी प्रतिष्ठा क्यों खोता है? श्मशान जगाने की प्रक्रिया में पड़ कर हठात् प्रेत क्यों होता है? श्मशान जगाने वाले हठात् (अवश्य) प्रेत ही होते हैं; यथा—"भूतानि यान्ति भूतेज्या" (गीता ९।२५); अर्थात् जो यक्ष, राक्षस और पिशाच आदि प्राणियों की पूजा करते हैं, इस प्रकार भूत-पूजन-विषयक संकल्प वाले हैं, वे भूत योनि को प्राप्त होते हैं। अन्य तुच्छ देवों की पूजा में भी ईश्वरांश जीव की प्रतिष्ठा-हीनता है; यथा--"कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो? राम रावरो बिनु भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहू दिसि पायो॥ आस-बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो। हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार मुँह बायो॥ असन बसन बिनु बावरो जहँ-तहँ उठि धायो। मही मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु-खिनु पेट खलायो॥" (वि० २७६)।

इस प्रकार इस चरण के पूर्वार्द्ध में दो साधन कहे गये, उत्तरार्द्ध में उसी क्रम से उन दोनों साधनों की परिणाम दशायें कही गईं।

'प्रतीति बिनु···'—यदि पूर्ण विश्वासपूर्वक प्रयाग वास कर वहाँ शरीर त्याग किया जाय और कुरुक्षेत्र में द्रव्य एकत्र कर दान दिया जाय तो दूसरे जन्म

में वैसा फल अवश्य मिले। एक तो पूर्ण विश्वास होने की कठिनता है—और फिर जन्म भर प्रयाग वास कठिन है तथा कुरुक्षेत्र में दानार्थ द्रव्यार्जन कष्ट है ही।

'पात द्वै धतूरे के···'—धतूरा प्रायः किसी के काम का नहीं, इससे जहाँ-तहाँ बहुत रहता है, उसके दो पत्ते शिवजी पर डाल देने में कुछ भी श्रम नहीं है और फल इतना बड़ा है कि इन्द्र का ऐश्वर्य प्राप्त होता है जो स्वर्ग-सुखों में भी सबसे अधिक है, वह भोग की अवधि है; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करै बिलास।" (मा० लं० १२); "गुनातीत अरु भोग पुरंदर।" (मा० उ० २३)।

[१६३]

स्यंदन, गयंद, बाजि राजि, भले-भले भट,
धन, धाम-निकर, करनि हू न पूजै क्वै।
बनिता पुनीत, पूत पावन सोहावन औ,
बिनय, बिबेक, बिद्या सुलभ, सरीर ज्वै॥
इहाँ ऐसो सुख, परलोक सिवलोक ओक,
ताको फल तुलसी सो सुनो सावधान ह्वै।
जाने, बिनु जाने, कै रिसाने, केलि कबहुँक,
सिवहि चढ़ाये ह्वै हैं बेल के पतौआ द्वै॥

शब्दार्थ—क्वै = कोई। ज्वै = जो कुछ। राजि = पंक्ति। ओक = घर, महल।

अर्थ—रथ, हाथी, घोड़ों की पंक्तियाँ, अच्छे-अच्छे योद्धा, धन और घरों के समूह, करतूत भी ऐसी हो कि जिसकी बराबरी में कोई नहीं पहुँच सके; विनीत स्त्री, पवित्र और शोभायमान पुत्र तथा विनय, विवेक, विद्या (आदि सद्गुण) एवं सुन्दर शरीर आदि जो कुछ भी उत्तम विभव हैं (ये सब प्राप्त हों)। इस लोक में ऐसे सुख प्राप्त हों और परलोक में उसके लिये शिवलोक में महल बना हो। (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि) यह सब उस सुकृत का फल है, उसे सावधान होकर तुलसीदास से सुन लो। जान कर, वा विना जाने ही, अथवा रिसा कर तथा क्रीड़ात्मक रूप में कभी श्रीशिवजी पर बेल के दो पत्ते (इस उक्त विभव पाने वाले ने) चढ़ा दिये होंगे, (बस,)।

विशेष—इस छन्द में लौकिक-पारलौकि सुख दातृत्व में श्रीशिवजी में अत्यन्त सौलभ्य कहा गया है, आगे के छन्द में भी ऐसा ही वर्णन करते हैं।

अलंकार—परिवृत्ति क्योंकि यहाँ बहुत थोड़ा देकर बहुत अधिक लेना लिखा गया है।

[१६४]

रति-सी रवनि, सिंधु-मेखला-अवनिपति,
औनिप अनेक ठाढ़े हाथ जोरि हारि कै।
संपदा समाज देखि लाज सुरराज हूँ के,
सुख सब बिधि बिधि दीन्हें हैं सँवारि कै॥
इहाँ ऐसो सुख, सुरलोक सुरनाथ-पद,
ताको फल तुलसी सो कहै गो बिचारि कै।
आक के पतौआ चारि, फूल कै धतूरे के द्वै,
दीन्हे ह्वै हैं बारक पुरारि पर डारि कै॥

अर्थ—जिसके यहाँ रति के समान सुन्दरी स्त्री हो, जो चारों ओर के समुद्र से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी हो और जिसके सामने अनेक राजा हार कर हाथ जोड़े खड़े हों। जिसकी सम्पत्ति और साज-समाज को देख कर देवराज इन्द्र के हृदय में लज्जा लगती हो; इस प्रकार सब भाँति के सुख जिसे विधाता ने सजा कर दिये हों। इस लोक में तो इस प्रकार के सुख हों और देवलोक में जिसके लिये देवराज का पद भी प्रस्तुत हो, उसके ये सुख किस सुकृत के फल हैं, उसे तुलसीदास विचार कर कहता है—(उसने इस जन्म में अथवा, कभी पूर्व के जन्मों में) मदार के चार पत्ते अथवा, धतूर के दो फूल त्रिपुरारि श्रीशिवजी पर एक बार डाल दिये होंगे (बस,)।

अलङ्कार—परिवृत्ति।

[१६५]

देवसरि सेवौं बामदेव गाउँ रावरे ही,
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक,
लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं॥

एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै,
ताको जोर, देव दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइ कै उराहनो उराहनो न दीजै मोहिं,
कालि-काला कासीनाथ कहे निबरत हौं॥

शब्दार्थ—कालि-काला [कालि-काल] = कदाचित्, कभो, किसी समय—हिं० श० सा०।

अर्थ—हे वामदेव श्रीशिवजी ! मैं आपकी ही पुरी काशी में रहकर श्रीगङ्गाजी का सेवन करता हूँ और श्रीरामजी के ही नाम पर भिक्षा माँग कर पेट भरता हूँ। यह तुलसीदास किसी को कुछ देने योग्य नहीं है तो किसी का कुछ लेता भी नहीं। मेरे लालट पर किसी की भलाई करनी नहीं लिखी गई तो मैं किसी का बुरा भी नहीं करता। इतने पर भी जो कोई आपका (भक्त) होकर मुझ पर बल-प्रयोग करता है, उसका वह बल-प्रयोग, हे देव ! मैं दीन होकर आपके द्वार पर निवेदन किये देता हूँ। हे काशीनाथ ! कदाचित् मेरे स्वामी श्रीरामजी मेरी ओर से आपसे उलाहना दें तो आप उनसे उलाहना पाकर मुझे उलाहना मत देना (कि तूने अपने कष्ट पाने की सूचना मुझे क्यों नहीं दी थी ?) मैं आपसे कहकर छुट्टी लेता हूँ।

विशेष—किसो समय काशीपुरी के शैवों ने श्रीगोस्वामीजी को तंग किया; उनके ईर्ष्यात्मक कृत्यों से ऊब कर श्रीगोस्वामीजी ने यह कवित्त लिखकर श्रीशिवजी के कपाट पर लगा दिया और वे काशी से चले जाने पर उद्यत हो गये। इस पर श्रीशिवजी ने काशी के शैवोंको वैसी प्रेरणा की, उससे उन्होंने श्रीगोस्वामीजी से अपराध क्षमा करा इन्हें काशी में रहने का साग्रह अनुरोध किया।

'देवसरि सेवौं बामदेव ···'—कलिकाल में श्रीगंगाजी का सेवन और श्रीरामनाम का आराधन दोनों ही सफल साधन हैं; यथा—"कलि पाखंड-प्रचार, प्रबल पाप पाँवर पतित। तुलसी 'उभय अधार, रामनाम सुरसरि-सलिल॥" (दोहावली ५६६)। भिक्षा वृत्ति भी अन्य व्यवहारात्मक वृत्तियों से बहुत उत्तम है; यथा—"चरेन्माधूकरं भैक्ष्यं यतिभिः म्लेक्षकुलादपि। एकान्नं न भुंजीयात् बृहस्पतिसमो यतिः॥" (दक्ष स्मृति)।

'कासीनाथ'—इस सम्बोधन से सूचित करते हैं कि आप काशी के स्वामी

हैं। अतः, काशी-निवासियों के एवं मेरे भी स्वामी हैं; उनके द्वारा अन्याय से आपका रक्षा करना कर्तव्य है।

[१६६]

चेरो राम राय को, सुजस सुनि तेरो, हर !
पाइ तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं।
बामदेव ! राम को सुभाव-सील जानि जिय,
नातो नेह जानियत, रघुबीर भीर हौं॥
अधिभूत - बेदन बिषम होत भूतनाथ !
तुलसी बिकल, पाहि ! पचत कुपीर हौं।
मारिये तो अनायास कासीवास खास फल
ज्याइए तौ कृपा करि निरुज सरीर हौं॥

अर्थ—हे श्रीशिवजी ! मैं महाराज श्रीरामजी का दास हूँ, आपका सुयश सुनकर आपके चरणों के आश्रित श्रीगंगाजी के तट पर आकर रहता हूँ। हे श्रीशिवजी ! आप श्रीरामजी का शील-स्वभाव हृदय में जानते ही हैं और मेरे स्नेह का सम्बन्ध भी आप जानते हैं कि मैं श्रीरघुनाथजी का आश्रित हूँ। अतः, मेरे विषय की चिन्ता उनको है। हे भूतनाथ ! मेरी बाहु में आधिभौतिक पीड़ा हो रही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मैं कुत्सित पीड़ा से खपा जाता हूँ, व्याकुल हो उठा हूँ, इससे आप मेरी रक्षा कीजिये। यदि इस पीड़ा के द्वारा आप मुझे मार दें तो बिना श्रम ही काशीवास का मुख्य फल प्राप्त हो और यदि कृपा कर जिलाना चाहते हैं तो मेरा शरीर निरोग कर दें (बस, यही आपसे प्रार्थना है)।

विशेष—'सुजस सुनि तेरो हर !'; यथा—"कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥" (मा० बा० ११८); "जरत सकल सुर बृंद, बिषम गरल जेहि पान किय। तेहि न भजसि मन मंद, को कृपालु संकर सरिस॥" (मा० कि० १)।

'राम को सुभाउ सील···'; यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (मा० उ० १); "स्वामि सुजान की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥ प्रनतपाल पालइ सब काहू। देव दु

दिसि ओर निबाहू ॥" (मा० अ० ३१३); "गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥ सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची ॥" (मा० अ० ३१२); "तुलसी राम कृपालु को, बिरद गरीब निवाज ॥", "तुलसी प्रभु सरनागतहि, सब दिन आए पालि।" (दोहावली १५८–१५९)।

'नातो नेह जानियत...'—श्रीरघुनाथजी आश्रित-रक्षण में अद्वितीय हैं, मैं शरणागत हूँ। अतः, मेरी भीर उन्हें है। भीर का अर्थ चिन्ता (फिक्र) होता है; यथा—"कौन भीर जो नीरदहि जेहि लागि रटत बिहंग।" (कृष्ण-गीतावली ५४)।

'अधिभूत-बेदन बिषम...'—अधिभूत-बेदन का अर्थ आधिभौतिक बाधा है, यह बाधा बाहु-पीड़ा के रूप में हुई थी; यथा—"गाँव बसत, बामदेव, मैं कबहूँ न निहोरे। अधिभौतिक बाधा भई तेउ किंकर तोरे ॥ बेगि बोलि, बलि, बरजिये करतूति कठोरे। तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे ॥" (वि० ८); इस प्रसंग पर कहा जाता है कि काशी में भैरवजी के द्वारा श्रीगोस्वामीजी पर यह बाहु-पीड़ा की बाधा हुई थी। उस पर श्रीगोस्वामीजी ने पहले श्रीशिवजी से प्रार्थना की, फिर उनके द्वितीय विग्रह श्रीहनुमान्‌जी की प्रार्थना से वह पीड़ा निवृत्त हुई थी, वही प्रार्थना 'श्रीहनुमान-बाहुक' नामक ग्रंथ के नाम से प्रसिद्ध है।

'कासीबास खास फल'—काशीजी में मरने वालों को श्रीशिवजी श्रीराम नाम के द्वारा सद्‌गति देते हैं; यथा—"जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत, श्रुति सकल पुरान। सो गति मरनकाल अपने पुर, देत सदाशिव सबहिं समान ॥" (वि० ३); "जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं। बेद बिदित तेहि पद पुरारि-पुर, कीट पतंग समाहीं ॥" (वि० ४)।

[१६७]

जीबे की न लालसा दयालु, महादेव ! मोहिं,
मालुम है तोहि मरबेइ को रहतु हौं।
कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु,
अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं ॥

रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पद - पंकज गहतु हौं।
ज्याइए तौ जानकी जीवन जन जानि जिय,
मारिये तो माँगी मीचु सूधियै कहतु हौं॥

शब्दार्थ—कुसूत=कुप्रबन्ध, कुव्योंत, सुभीता न रहना।

अर्थ— हे दयालु महादेव ! मुझे जीने की इच्छा नहीं है। आपको ज्ञात ही है कि मैं काशीपुरी में मर कर सद्गति पाने के लिये ही रहता हूँ। हे कामारि श्री शिवजी ! आप श्रीरामजी के भक्तों की कामनाएँ पूरी करने के लिये कल्पवृक्ष के समान हैं, मैं जगदम्बा श्रीपार्वतीजी के साथ आपका सहारा चाहता हूँ। यह रोग (भूतनाथ भैरव की प्रेरणा से) मुझे भूत (बाधा) के समान पीड़ित कर रहा है। इससे मुझे सब भाँति के कुव्योंत आ पड़े हैं। अतः, हे भूतनाथ श्रीशिवजी ! मैं आपके चरण कमल पकड़ता हूँ। आप (इन भैरव आदि भूतों से) मेरी रक्षा कीजिये। यदि आप मुझे जिलाना चाहते हैं तो हृदय में श्रीजानकी जीवन का भक्त जान कर जिलाइये और यदि मारना है तो मुझे मुँह माँगी मृत्यु दीजिये, यह मैं साफ-साफ कहता हूँ।

विशेष—'जीबे की न लालसा…'—काशी में मरने पर सदा के लिये जन्म-मरण से छूट जाऊँगा; इस विचार से मैं काशी में वास करता हूँ। अतः, मेरी लालसा जीने की नहीं, प्रत्युत् काशी में मरने की है।

'कामरिपु राम के…'—जीते रहते में भी कामनाओं के द्वारा छहो विकार बाधक होते हैं। इनसे रक्षार्थ मैं आप कामारि की शरण में पड़ा हूँ कि आप विकारमूल काम से भी रक्षा करते हुए जीवन काल की आयु निर्विकार रक्खेंगे। मेरी कामना यही है कि मेरे हृदय में प्राकृत कामनाएँ न रहने पायें। इसकी पूर्त्ति कीजिये। श्रीपार्वतीजी के साथ सहारा चाहने का यह भाव है कि आपकी विष-पान-विरुद से मेरा नाम में विश्वास हो और पार्वतीजी की कृपा से उसके आराधन में श्रद्धा हो; यथा—"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्॥" (मा० बा० मं० श्लो० २)।

'रोग भयो भूत-सो…'—भैरव कृत बाधा से पहले बाहु-पीड़ा हुई, फिर सभी अंगों मे पीड़ा व्याप्त हो गई—हनु० बाहुक ३८। इससे शरीर कृत्य एवं

भजन के कृत्य, सभी के निर्वाह में भाँति-भाँति असुविधाएँ हो रही हैं। अतः, रक्षार्थ प्रार्थना करता हूँ।

'ज्याइए तो...'—श्रीरामजी के आप भक्त हैं। अतः, उन स्वामी के सम्बन्ध से जिलाइये। 'माँगी मीचु'—मैं तो प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु माँगता (चाहता) ही हूँ।

[१६८]

भूतभव ! भवत पिशाच-भूत-प्रेत-प्रिय,
आपनो समाज सिव आपु नीके जानिये।
नाना बेष, बाहन, बिभूषन, बसन, बास,
खान-पान बलि-पूजा-बिधि को बखानिये॥
राम के गुलामनि की रीति-प्रीति सूधी सब,
सब सों सनेह, सब ही को सनमानिये।
तुलसी की सुधरै सुधारे भूतनाथ ही के,
मेरे माय बाप गुरु संकर-भवानिये॥

शब्दार्थ—भूत-भव = पञ्चमहाभूतों को उत्पन्न करने वाले। भवत=आप।

अर्थ—हे भूत-भव श्रीशिवजी ! आपको पिशाच, भूत और प्रेत प्यारे हैं। अपने समाज को आप ही भली-भाँति जानते हैं। उनके वेष, वाहन, आभूषण, वस्त्र, निवास-स्थान, खान-पान, वलि और पूजा की विधियाँ, सब अनेक प्रकार के हैं (अतः, उन्हें प्रसन्न करने की व्यवस्था मुझसे कैसे हो सकती है ? क्योंकि-) श्रीरामजी के भक्तों की रीति (व्यवहार) और प्रीति सब सीधी-सादी होती है, ये सभी से स्नेह करते हैं और सभी का सम्मान करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मेरी व्यवस्था तो भूतनाथ श्रीशिवजी के ही सुधारने से सुधरेगी; क्योंकि मेरे माता, पिता और गुरु श्रीशिव-पार्वती ही हैं।

विशेष—'भूत भव भवत...'—'भूत भव' कह कर पिशाच आदि का प्रियत्व कहा है, भाव यह कि पृथिवी-जल आदि परस्पर विरुद्ध भाव वाले हैं। उनको उत्पन्न करने वाले आपको पिशाच आदि मानव-विरुद्ध स्वभाव वाले प्रिय हैं। शिवजी अहंकार के देवता हैं। अहङ्कार से पंच तन्मात्रा एवं पंचभूत होते हैं।

'नाना बेष बाहन...'—कपाली-दिगंबर आदि बेष, खर-शूकर-श्वान-शृगा-

कषाय एवं गीले बाघंबर
लादि वाहन, मुण्डमाल, सर्प, विभूति आदि आभूषण, कषाय एवं गीले बाघंबर
आदि वस्त्र, चिताभूमि आदि निवास स्थान, भाँग, धतूर और मांस आदि भोजन
और सुरा-रक्त एवं मदिरा आदि उनके पान की वस्तुएँ हैं। जीवों के वलिदान
और तामसी पूजा-विधियाँ हैं।

'राम के गुलामनि की रीति-प्रीति...', यथा—"उमा जे राम चरन
रत, बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत, केहि सन करहिं
बिरोध॥" (मा० उ० ११२); "सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥" (मा० कि० ३)। इन भक्ति-रीतियों
में स्वतः सबसे स्नेह एवं सबसे सम्मान का भाव रहता है।

'मेरे माय बाप गुरु संकर भवानियै'; यथा—"गुरु पितु मातु महेस
भवानी। प्रनवौं दीनबंधु दिन दानी॥ सेवक स्वामि सखा सिय-पीके। हित निरु-
पधि सब बिधि तुलसी के॥" (मा० बा० १४)। मेरे हित पर दृष्टि करके यदि
आप रोक दें तो भैरव आदि भूत शान्त हो जायँगे।

अलंकार—तुल्ययोगिता का प्रथम भेद (चौथे चरण में)।

काशी की महामारी का वर्णन

[१६६]

गौरीनाथ, भोरानाथ, भवत भवानी नाथ,
बिस्वनाथ पुर फिरि आन कलिकाल की।
संकर से नर, गिरिजा सी नारी कासी-बासी,
बेद कही, सही ससि सेखर कृपाल की॥
छमुख गनेस ते महेस के पियारे लोग,
बिकल बिलोकियत, नगरी बिहाल की।
पुरी-सुरबेलि, केलि काटत किरात कलि,
निठुर निहारिये उघारि डीठि भाल की॥

अर्थ—(हे शिवजी!) आप गौरीजी के पति, भोलानाथ और भवानी के
पति हैं। इस विश्वनाथपुरी काशी में इस समय कलियुग की दुहाई फिरी हुई
है। वेदों ने कहा है कि श्रीकाशीजी में रहने वाले पुरुष शिवजी के समान और

स्त्री गिरिजाजी के समान हैं, इस बात का कृपालु चन्द्रशेखर (आप) ने भी समर्थन किया है। जो लोग श्रीस्वामिकार्तिक और श्रीगणेशजी के समान श्रीशिवजी के प्यारे थे, वे सब बड़े व्याकुल देखे जाते हैं; इस कलिकाल ने सारी नगरी को व्याकुल कर दिया है। यह कलियुग रूपी किरात काशीपुरी रूपी कल्पलता को क्रीड़ा पूर्वक काट रहा है। हे शिवजी! आप इस कलिकाल की ओर ललाटवाली निष्ठुर दृष्टि (अग्नि नेत्र) उघार कर देखिये (कामदेव की भाँति इसे भस्म कर दीजिये)।

विशेष—'**गौरी नाथ भोरानाथ**....'—गौरी पृथिवी को भी कहते हैं, इस विशेषण से पृथिवी मात्र के नाथ कहा, भोलानाथ से अमित दानी और भवानी नाथ से दुष्ट संहार कर्ता कहा है, तत्पश्चात् विश्व भर के नाथ कह कर कहते हैं कि ऐसे समर्थ आपकी पुरी पर कलिकाल ने अपनी धाक जमा ली है, फिर इसके अन्याय का सहन आप कैसे करते हैं? आप विश्व भर के नाथ हैं, क्या अपनी पुरी की भी रक्षा नहीं कर सकते?

महामारी के प्रकोप पर कलिकाल का प्रकोप कहने का भाव यह कि कलिकाल की प्रेरणा से काशी वासी पाप-रत हो गये, उसके परिणाम रूप में यह भयंकर रोग हुआ है।

'**पुरी सुरबेलि**....'—पापाचार से पुरी की महिमा नष्ट होती है, यही इसका काटा जाना है, शिवजी से प्रार्थना है कि वे अग्नि दृष्टि से इस कलि वृत्ति को भस्म कर दें। लोगों का कष्ट दूर हो और फिर वे सदाचारी हों।

[१७०]

ठाकुर महेस, ठकुराइनि उमा-सी जह,
लोक-बेद हू बिदित महिमा ठहर की।
भट रुद्रगन, पूत गनपति-सेनापति,
कलिकाल की कुचालि काहू तौ न हर की॥
बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बड़ो बारानसी,
बूझिये न ऐसी गति संकर-सहर की।
कैसे कहै तुलसी, बृषासुर के बरदानि!
बानि जानि सुधा तजि पियनि जहर की॥

शब्दार्थ—सेनापति=स्वामिकार्तिक। हरकी=मना की, रोकी। बीसी विस्वनाथ की=ज्योतिष शास्त्र के अनुसार साठ संवत्सरों के तीन विभागों में (क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की बीसियों में) तीसरी बीसी विस्वनाथ (शिवजी) की कहलाती है। उस समय की रुद्रबीसी संवत् १६६५ से १६८५ तक थी। वृषासुर=भस्मासुर।

अर्थ—जहाँ श्रीशिवजी-सरीखे स्वामी और श्रीपार्वतीजी-सरीखी स्वामिनी हैं, तथा जिस स्थान की महिमा लोक और वेद में भी प्रसिद्ध है। जिनके योद्धा रुद्रगण और पुत्र गणनायक श्रीगणेशजी तथा सेनापति श्रीस्वामिकार्तिकजी हैं (उनकी पुरी में होती हुई) इस कलिकाल की कुचाल को किसी ने नहीं रोका। इस विश्वनाथ (श्रीशिवजी) की ही बीसी में श्रीशिवजी की पुरी काशी में बड़ा भारी विषाद छाया हुआ है; श्रीशङ्करजी के शहर (नगर) की ऐसी दशा क्यों हो रही है, कुछ समझ में नहीं आता। हे भस्मासुर के वर देने वाले श्रीशिवजी! अमृत छोड़ कर विष पीने की आपकी बानि जानकर यह तुलसीदास कैसे कुछ कहे? (कि आप अपने उसी स्वभाव से कलिकाल को पुरी में भी सम्मान दे उससे अपनी अङ्गभूता पुरी की दुर्दशा करा रहे हैं—बड़े की बात कहने का साहस भी तो नहीं पड़ता)।

विशेष—'संकर सहर की'—शङ्कर नाम का 'कल्याण करने वाला' अर्थ है। जो जगत् भर का कल्याण करने वाले हैं, उनके नगर की ही दुर्दशा हो, यह आश्चर्य है।

'वृषासुर के बरदानि'—भस्मासुर का नाम वृकासुर था, उसीको विकल्प से वृषासुर कहा गया है। इसकी कथा इस प्रकार है।

भस्मासुरका वरदान

शकुनि नामक असुर का पुत्र दुर्मति वृकासुर तप करने जा रहा था, मार्ग में श्रीनारदजी मिले। वृकासुर ने इनसे पूछा, त्रिदेवों में आशुतोष कौन है? नारदजी ने कहा—श्रीशिवजी, वे थोड़े ही में कुपित और थोड़े ही में प्रसन्न होते हैं। देखो, शंकरजी ने वन्दी के समान स्तुति करने वाले बाणासुर और रावण को वाञ्छित वर दिया है, अन्त में स्वयं संकट में भी पड़े थे (रावण ने कैलास

उठाया, वाणासुर के पुर का पहरा देना पड़ा था)। सुन कर वृकासुर केदार तीर्थ में जाकर अग्नि में अपने देह की मांस काट कर आहुति देने लगा और शिवजी की आराधना करता था। शिव-प्रतिमा के समक्ष उनके साक्षात् दर्शन न पाकर खिन्न हो उसने खड्ग लेकर अपना शिर काट कर हवन करना चाहा, तब शिवजी अग्नि से अग्नि की लपट की भाँति उसी प्रतिमा से प्रकट हुए और उन्होंने उसके हाथ पकड़ उसे शिर काटने से रोका। श्रीशिवजी के स्पर्श से उसका खण्डित शरीर भी सम्पन्न एवं बलिष्ठ हो गया। शिवजी ने उससे इच्छित वर माँगने को कहा। उसने माँगा—'मैं जिसके शिर पर हाथ रख दूँ, वह तत्क्षण भस्म हो जाय, सुनकर शिवजी ने उदास भाव से जैसे कोई सर्प को अमृत पिला दे, वैसे ही 'तथास्तु' कह दिया।

वह असुर वर की सत्यता जानने के लिये शिवजी के ही शिर पर हाथ रखने के लिये बढ़ा, शिवजी घबराये और अपनी चूक पर पश्चात्ताप करते हुए भयभीत हो प्राण लेकर वहाँ से भागे। दशो दिशाओं में भागते हुए शिवजी का उसने पीछा किया। समस्त देवगण असमर्थ होकर शिवजी की दुर्दशा देखते रह गये। तब शिवजी वैकुण्ठ पहुँचे। हरिजी ने हर को सान्त्वना दी। वे हरि ब्रह्मचारी रूप धारण कर असुर के सामने गये। उसने इनके ब्रह्मतेज पर चकित हो प्रणाम किया। भगवान् ने कहा, तुम श्रम से शिथिल से जान पड़ते हो, इस शरीर को ऐसा कष्ट क्यों देते हो ? किस काम के लिये दौड़ते हो, हमसे कहो, हम यथा-शक्ति सहायता करेंगे। भगवान् के प्रिय वचनों पर उसे बड़ा सुख हुआ, उसने सारी कथा कही।

भगवान् ने कहा, यदि ऐसा है तो भाई हम तो शिवजी की बात का विश्वास नहीं करते, अरे ! वे तो दक्ष के साप से पिशाच वृत्ति में हैं, पिशाचों के संग से विष खाने से और भाँग पीने से उनकी बुद्धि नष्ट हो गई है। हे दानवेन्द्र ! यदि तुम उन्हें जगद्गुरु मान कर उन पर श्रद्धा रखते हो तो शीघ्र अपने ही शिर पर हाथ रख कर परीक्षा क्यों नहीं कर लेते ? यदि शिवजी का वचन झूठा निकले तो उन्हें वंचकता का फल रूप कड़ा दंड देना। जिससे वे फिर ऐसा न करें।

भगवान् के इन बातों पर मोहित हो उसने अपने ही शिर पर हाथ रक्खा, बस, तुरत वह स्वयं भस्म हो गया, वज्राहत व्यक्ति के समान भूमि पर गिर पड़ा,

देख कर देवगण जय-जय कह कर पुष्प वर्षा करने लगे। शिवजी संकट से छूटे। हरिजी ने शिवजी से कहा, वह दुष्ट अपने ही पाप से नष्ट हुआ। यह कथा भाग० १०।८८ की है।

'पियनि जहर की'—समुद्र मंथन में अमृत भी निकला था, परन्तु शिव जी ने विष ही पान किया है। यथा—"खायो कालकूट भयो अजर-अमर तनु ...", (छंद १५६)-इस पर कुछ उदाहरण लिखे गये हैं, यह बहुत प्रसिद्ध है।

'कैसे कहै तुलसी....'—जैसे भस्मासुर को स्वयं वरदान देकर उसके द्वारा स्वयं तंग हुए तथा स्वयं कालकूट पीकर नीलकंठ हुए, वैसे इस कलिकाल को भी आप स्वयं महत्त्व देकर उसके कुटिल कर्त्तव्य से स्वयं तंग हो रहे हैं, अपने परिकरों की दुर्दशा देख रहे हैं। यह मैं कैसे कह सकता हूँ? बड़े के असंगत बर्त्ताव पर छोटा बोल भी तो नहीं सकता; यथा—"प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात्।" (वाल्मी० ४।१८।४६)। अर्थात् बड़े के समक्ष छोटे प्रति-उत्तर नहीं दे सकते, यह वाली ने श्रीरामजी से कहा है।

[१७१]

लोक-बेद हू बिदित बारानसी की बड़ाई,
बासी नर-नारि ईस अंबिका सरूप हैं।
काल नाथ कोतवाल, दंड कारि दंड पानि,
सभा सद गनप-से अमित अनूप हैं॥
तहाऊँ कुचालि कलिकालि की कुरीति, कै धौं
जानत न मूढ़, इहाँ भूतनाथ भूप हैं।
फलैं फूलैं फैलैं खल, सीदैं साधु पल-पल,
बाती दीपमालिका ठठाइयत सूप हैं॥

शब्दार्थ—कालनाथ = काल भैरवजी, श्रीशिवजी के मुख्यगणों में से एक। दंडकारि=दंड देने वाले। दंडपानि=दंडपाणि भैरवजी।

अर्थ—वाराणसी (काशी) पुरी की बड़ाई लोक और वेद में भी प्रसिद्ध है कि यहाँ के निवासी पुरुष और स्त्री सब श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजी के स्वरूप हैं। काल भैरव यहाँ कोतवाल हैं, और दंडपाणि भैरव यहाँ के दंड देने वाले (मजिस्ट्रेट) हैं तथा श्रीगणेशजी-सरीखे अनुपम सभासद असंख्य हैं। वहाँ भी

कुचाली कलिकाल ने अपनी कुत्सित रीति चला दी है। अथवा, यह मूर्ख जानता ही नहीं कि यहाँ के राजा साक्षात् भूतनाथ श्रीशिवजी हैं। इसीसे यहाँ दुष्ट लोग तो खूब फलते-फूलते एवं फैलते (मौज उड़ाते) हैं और साधु लोग क्षण-क्षण पर दुःख उठाते हैं, जैसे कहावतें हैं—'बाती दीपमालिका ठठाइयत सूप हैं' अर्थात् दीपावली के अवसर पर दीपों में रक्खी हुई बत्तियाँ तो घी एवं तेल जलाती हैं और निरपराधी बेचारा सूप पीटा जाता है।

विशेष—'लोक-वेद हूँ बिदित···'—लोक में प्रसिद्ध है कि काशी ज्ञान की खान और पाप-नाशक है। वेद में प्रसिद्ध मंत्र है—"काश्यां मरणान्मुक्तिः" 'बासी नर-नारि ईस अंबिका सरूप हैं', यथा—"देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः। स्त्री नाम्नी श्रीश्चविज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्।" (वि० पु० १।८।३५); अर्थात् देव तिर्यक् और मनुष्य आदि में पुरुषवाची भगवान् हरि हैं और स्त्रीवाची श्रीलक्ष्मीजी, इनके और कोई नहीं है।

'कालनाथ कोतवाल·····'—कोतवाल, मजिस्ट्रेट और सभासद (विधान-निर्माता) सब अति-उत्तम हैं।

'तहाऊँ कुचालि कलिकाल···'—ऐसे स्थल पर तो कलियुग ऐसे कुचाली का प्रवेश ही नहीं होना चाहिये। पर वह तो काशी में स्थिर स्थान बनाकर रह रहा है। इसका साहस कैसे पड़ा जो इसने प्रवेश किया है, इस पर अनुमान करते हैं कि क्या यह मूर्ख जानता ही नहीं कि भूतनाथ कालस्वरूप शिवजी यहाँ के राजा हैं। अतः, जानने पर कड़ा दंड देंगे। आगे शिवजी के प्रति कलि की कुरीति का परिचय कराते हैं—

'फलैं फूलैं फैलैं खल···'—यहाँ दृष्टान्त में 'फलै फूलै फैलैं खल' और दार्ष्टान्त रूप में 'बाती दीपमालिका' है तथा दृष्टान्त रूप में 'सीदैं साधु पल-पल' और दार्ष्टान्त रूप में 'ठठाइत सूप हैं' यह कहा गया है। भाव यह है कि कार्तिक अमावस्या में दीप-मालिका उत्सव होता है, उसमें दीपकों में बतियाँ [illegible] ल घी पीती हैं, यह उनका फलना है, लेसी जाती हैं, यह उनका फूलना है और प्रकाश फैलाकर उजाला करती हैं, यह उनका फैलना है। वैसे ही कलियुग के प्रभाव से काशी में भी दुष्ट लोग घी-दूध आदि पीते-खाते हैं, यह उनका फलना

है, सन्तानों और मित्रों से सम्पन्न होते हैं, यह उनका फूलना है और उन्हीं का यश फैलता है, यह उनका फैलना है।

पुनः उसी रात्रि के अवसान में दरिद्र निस्सारण की लोक रीति होती है, उसमें सूप पीटते हुए दरिद्र को घर से निकाला जाता है। उसी रीति पर यह लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गई कि खाय कोई और दंड पावै कोई और। यहाँ खल तो मौज करते हैं और साधु (सज्जन) भाँति-भाँति के दुःख पाते हैं। क्या यह कलिकाल की कुरीति उक्त सम्पन्न राजसत्ता से सह्य है ? कदापि नहीं। भूतनाथ भूप अवश्य इस कुरीति पर दृष्टि दें और तुरत इसका नाश करें: अन्यथा यही समझा जायगा कि भूतनाथ की साहिबी ही कलिकाल ने नष्ट कर दी, क्या यह सह्य होगा ?

कहीं-कहीं 'खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप हैं' ऐसा भी पाठ है। पर मुझे उक्त प्राचीन पाठ में 'बाती' पाठ में खाने का भाव 'फलैं' में आही गया है, खाने वाली बाती (बत्ती) भी आ गई है।

यह भी भाव है कि बत्ती फलते-फूलते एवं फैलते हुए भी जला ही करती है से दुष्ट विवेक दृष्टि से तो तीनों तापों में जला ही करते हैं, पर अपने दृष्टि में वे मौज उड़ाते हैं। सूप सार ग्राही और असार त्यागी होता है। वैसे साधु विवेकी होते हैं, वे कष्ट सहकर भी दूसरों के दरिद्र आदि दुःख दूर करते हैं; यथा—"जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जस पावा ॥" (मा० बा० १)।

अलंकार—छेकोक्ति है; क्योंकि यहाँ साभिप्राय कथन है, बत्ती और सूप के दृष्टान्त से खल और साधु कहे गये हैं।

[१७२]

पंचकोस पुन्यकोस, स्वारथ परारथ को,
जानि आप आपने सुपास बास दियो है।
नीच नर नारि न सँभारि सकैं आदर,
लहत फल कादर बिचारि जो न कियो है।
बारी बारानसी बिनु कहे चक्र चक्रपानि,
मानि हित हानि सो मुरारि मन भियो है।

रोष में भरोसो एक आसुतोष कहि जात,
बिकल बिलोकि लोक कालकूट पियो है ॥

शब्दार्थ—पंचकोस=बरुणा और असी की मध्यभूमि वाराणसी (काशी) का क्षेत्र कहा जाता है, उसकी परिक्रमा पाँच कोश की है। परारथ=परमार्थ। सुपास (स्व-पार्श्व)=अपने पास। बारी=जला दी। चक्रपानि=श्रीकृष्ण। मुरारि=मुर दैत्य के शत्रु श्रीकृष्ण।

अर्थ—पञ्चकोश में बसा हुआ काशी क्षेत्र पुण्य का भाण्डार है, यह क्षेत्र स्वार्थ और परमार्थ साधन के लिये उपयुक्त है ऐसा जानकर आपने अपने पास यहाँ के नर-नारियों को निवास दिया है, परन्तु ये ऐसे नीच हैं कि आपके इस आदर को सँभाल नहीं सकते, इससे इन्होंने जो विचार कर कर्म नहीं किये, उन्हीं कर्मों के फल ये कादर भोगते हैं। देखिये, श्रीकृष्ण की आज्ञा विना उनके चक्र ने (मिथ्या वासुदेव पौण्ड्रक का वध करने के पश्चात्) काशी पुरी जला दी थी, उस समय मुर दैत्य के शत्रु श्रीकृष्णचन्द्र भी आपसे प्रेम की हानि की संभावना कर मन से डर गये थे (तब क्या यह कलिकाल काशी की हानि करके नहीं डरेगा ? यदि आप यह कहें कि इन नीच नर-नारियों के कुकर्मों का फल देने के लिये मैंने ही क्रुद्ध होकर यह महामारी फैलाई है तो इस) क्रोध में भी मुझे एक भरोसा है जो आप आशुतोष कहे जाते हैं, आपने लोक को व्याकुल देखकर कालकूट पी लिया था (तो क्या आप इस महामारी रूपी विष को नहीं पी सकते ? शीघ्र मेरी प्रार्थना से प्रसन्न होकर इसे पी जाइये)

विशेष—'पंचकोस पुन्यकोस...'; यथा—"मुक्ति जनम महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर। जहँ बस संभु भवानि सोकासी सेइय कस न ॥" (मा० कि० १); तथा—"सुरसरि तीर कासी धरम-धरनि।" (वि० १८४)।

'नीच नर-नारि...'—अर्थात् यह महामारी यहाँ के लोगों के कर्मों का फल है।

'बारी बारानसी बिनु कहे....'—श्रीशिव-आश्रित काशी का कोई अनिष्ट नहीं कर सकता। इस पर एक कथा का उदाहरण देते हैं।

काशी-दहन की कथा

करुष देश के अधिपति पौण्ड्रक ने अज्ञान से मोहित होकर भगवान् कृष्ण

के पास दूत भेजकर उसके द्वारा कहलाया कि मैं ही एक वासुदेव हूँ, तुम मेरे
चिह्नों को छोड़ दो और मेरी शरण आओ; अन्यथा मुझसे युद्ध करो। श्रीकृष्णजी
कुछ सेना ले काशी चले। उधर से पौंड्रक दो अक्षौहिणी सेना ले पुर से बाहर
आया। काशिराज भी एक अक्षौहिणी सेना ले उसकी सहायतार्थ उसके साथ
हुए। श्रीकृष्ण ने उस पौण्ड्रक (मिथ्या वासुदेव) के अपने समान ही अस्त्र-शस्त्र
एवं वेष आदि देखे। युद्ध कर भगवान् कृष्ण ने उसे चक्र से सेना समेत मार
डाला। साथ ही एक बाण से काशिराज का शिर काटकर काशीपुरी में पहुँचा
दिया। पश्चात् लौटकर अपनी द्वारकापुरी आ गये।

वहाँ काशिराज का शिर देखकर प्रजावर्ग एवं काशिराज के पुत्र ने शोक
कर उसकी क्रिया की। फिर काशिराज के पुत्र सुदक्षिण ने श्रीशिवजी की आरा-
धना की, उसने यह वर माँगा कि मैं पिता के शत्रु का वध करूँ, ऐसा उपाय
बताइये। शिवजी ने अभिचार विधि से माहेश्वरी कृत्या का सिद्ध करना कहा
और यह भी कहा कि जो कोई विप्र-भक्त होगा, उस पर यह कृत्या नहीं लगेगी।
अग्नि रूपा कृत्या प्रकट होकर द्वारका को जलाने लगी। श्रीकृष्णचन्द्र ने सुदर्शन
चक्र को रक्षार्थ आज्ञा दी। वह उस कृत्या के सम्मुख चला, इससे वह कृत्यानल
प्रतिहत होकर लौट पड़ा। उसने उस सुदक्षिण को ऋत्विजों के साथ तुरत भस्म
कर डाला। किंतु सुदर्शन चक्र ने उस अग्नि का पीछा नहीं छोड़ा, उसके पीछे
उसने काशीपुरी में प्रवेश किया, चक्र ने सम्पूर्ण काशीपुरी को भस्म कर डाला
(क्योंकि पहले इधर से गये हुए कृत्यानल ने द्वारका भस्म करना चाहा था)।
सहज में ही लीलापूर्वक यह सब दुष्कर कर्म करके सुदर्शन चक्र लौटकर श्रीकृष्ण
भगवान् के निकट आ गया—भा० १०।६६।

श्रीगोस्वामीजी के वाक्यों से यहाँ इतना और लगा लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण
ने जब सुना कि मेरे चक्र ने काशीपुरी को भस्म कर दिया, तब वे श्रीशिवजी के
प्रति प्रीति भाव का अनुमान कर संकोच से डर गये थे कि मेरे प्यारे भक्त की
पुरी मेरे अस्त्र के द्वारा क्यों जला दी गई?

'आसुतोष कहि जात'; यथा—"बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥ आसुतोष
तुम्ह औढर दानी।" (मा० अ० ४३)। तथा—"स आह देवं गिरि शमुपाधा-
वाशु सिद्ध्यसि। योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशुतुष्यति कुप्यति॥" (भाग० १०।

८८।१५); अर्थात् शिवजी थोड़े ही गुण पर प्रसन्न और थोड़े ही दोष पर क्रुद्ध होते हैं।

[१७३]

रचत बिरंचि, हरि पालत, हरत हर,
तेरे ही प्रसाद जग, अग-जग-पालिके।
तोहि में बिकास बिस्व, तोहि में बिलास सब,
तोहि में समात मातु भूमिधर बालिके ॥
दीजै अवलंब जगदंब न बिलंब कीजै,
करुना तरंगिनि कृपातरंगमालिके।
रोष महामारी, परतोष महतारी दुनी
देखिये दुखारी मुनि-मानस-मरालिके ॥

अर्थ—हे चराचर जगत् का पालन करने वाली श्रीपार्वतीजी! आपकी ही कृपा से श्रीब्रह्माजी जगत् की रचना करते हैं, विष्णु भगवान् पालन करते हैं और श्रीशिवजी संहार करते हैं। हे हिमालय पुत्री! और हे माता! सारा संसार आप ही में विकसित (उन्नतिशील) होता है, आप ही में सब की क्रीड़ा होती है और आप ही में सब लीन हो जाता है। हे करुणा की नदी और कृपा-तरंग-माला जगदम्बा! अब सहारा दीजिये, विलम्ब न कीजिये। यह महामारी क्रुद्ध होकर सबको खाये जाती है और आप जगन्माता होती हुई भी परितुष्ट (बे फिक्र) बैठी हैं। हे मुनियों के मन रूपी मानस-सरोवर की हंसिनी! इस दुखारी दुनियाँ की ओर (कृपा दृष्टि से) देखिये।

विशेष—'रचत बिरंचि, हरि पालत···'—किसी कल्प में श्रीशिवजी से ही सृष्टि, पालन और संहार होते हैं, शिव रूप में ही परब्रह्म की स्थिति रहती है। उस कल्प में श्रीपार्वतीजी आदि शक्ति रहती हैं। यद्यपि श्रीगोस्वामी श्रीरामजी को परब्रह्म मानते हैं। पर स्तुतिवाद में देवी के उनके कल्प का महत्त्व लेकर स्तुति में यहाँ गिरिजाजी में आदिशक्ति के परत्व को कह कर उनकी स्तुति करते हैं; यथा—"भव भव विभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि ॥" (मा० बा० २३४; अर्थात् उत्पति, पालन और संहार के कारण त्रिदेव इन्हीं आदि शक्ति के द्वारा होते हैं'; यथा—"उत्पति पालन प्रलय समीहा। (मा०ल०

१४); त्रिवेदों के कार्य इन्हीं की सत्ता से होते हैं; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा ॥" (मा० सुं० २०); यथा—"उद्भवस्थिति-संहारकारिणीं···" (मा० बा० मं० ५)।

'ताहिं में बिकास बिस्व···'—यथा—"मयना सत्य सुनहुँ मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी ॥ अजा अनादिसक्ति अबिनासिनि। सदा संभु-अरधंग-निवासिनि ॥ जगसंभव-पालन-लय कारिनि। निज इच्छा लीला वपु धारिनि ॥" (मा० बा० ९७)।

पहले चरण में त्रिदेवों के द्वारा तीनों कार्य कराना कहा गया था, इस चरण में अपने में ही तीनों कार्यों का होना कहा गया है। जैसे विराट् रूप में कहा जाता है; यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानित शान्तमुपासीत" (छान्दो० ३।१४।१); अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म है, इसी में सब उत्पन्न होते हैं, इसी में लय होते हैं और इसी में चेष्टा करते हैं। अतः, शान्त होकर (सबको) इसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर 'अग-जग-पालिके' यह कह कर ऐश्वर्य रूप और यहाँ 'भूमिधर-बालिके' इस वाक्य में माधुर्य रूप कहा गया है।

'दीजै अवलंब जगदंब···'—माता कह कर सहारा चाहते हैं; साथ ही करुणा और कृपा गुण की अगाध नदी कह कर इन गुणों से सहारा चाहते हैं। करुणा की प्रथम आवश्यकता है, क्योंकि इससे आश्रित के दुःखों से व्याकुलता आ जायगी और समस्त दुःख मिटा कर उन्हें सुखी करने की वृत्ति उद्दीप्त होगी; यथा—"सेवक के दुख देखि कै, स्वामि विकल होइ जाइ। दलि दुख सुख साजै सकल, करुना गुन यह आहि ॥" तत्पश्चात् कृपा गुण की आवश्यकता है, इससे अपने सामर्थ्य के द्वारा आश्रित के दुःख निवारण को अपना कर्त्तव्य मान लेंगी। यथा—"रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परोविभुः। इति सामर्थ्य संधाना कृपा सा पारमेश्वरी ॥ स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीनः कालुष्यनाशनः। हार्दो भावविशेषो यः कृपा सा जगदीश्वरी ॥" (भगवद्गुण दर्पण)। इसी प्रकार क्रमशः दोनों गुण कहे गये हैं।

'मुनि मानस मरालिके'—यह कह कर प्रकट किया है कि आपके इन करुणा और कृपा की वृत्तियों पर मुग्ध होकर ही मुनियों ने आपको हृदय कमल

में बसा रक्खा है । सदा से इन गुणों से जगत् की रक्षा करती आती हैं । इस समय भी आप अपनी इन विरुदों की रक्षा करें ।

महामारी संहार करने वाली एक शक्ति विशेष है । अतः, संहारकर्त्ता शिवजी की आदि शक्ति से उसके निवारणार्थ प्रार्थना बहुत संगत है ।

[१७४]

निपट बसेरे अघ-औगुन घनेरे नर
नारिऊ अनेरे जगदंब चेरी-चेरे हैं ।
दारिदी-दुखारी देखि भूसुर भिखारी भीरु
लोभ मोह काम मोह कलिमल-घेरे हैं ॥
लोकरीति राखी राम, साखी बामदेव जानि
जन की बिनती मानि मातु ! कहि मेरे हैं ।
महामारी, महेसानि ! महिमा की खानि, मोद-
मंगल की रासि, दास कासीबासी तेरे हैं ॥

अर्थ—हे जगदंबा ! यहाँ के अन्यायी स्त्री-पुरुष यद्यपि पापों और अवगुणों के नितान्त निवास-स्थान हैं तथापि आपके ही तो दासी-दास हैं । ये दरिद्री और दुखी रहने वाले स्त्री-पुरुष भिखारी ब्राह्मण देखकर भी डरने वाले हैं (कि कहीं कुछ माँग न बैठें । अतः, इनमें पुण्य का अभाव ही है), इसी से ये लोभ, मोह, काम, क्रोध और पापों से घिरे हुए (आवृत) रहने वाले हैं । श्रीरामजी ने (दास-दासी का संरक्षण करना चाहिये, इस) लोकरीति की रक्षा की है, इसके साक्षी श्रीशिवजी हैं, ऐसा आप जानें (और आप भी उक्त लोकरीति की रक्षा करें) । मुझ दास की प्रार्थना मानकर, हे माता ! आप ऐसा कह दें— महामारी ! ये (काशीवासी नर-नारी) मेरे हैं । (अतः, इन्हें दुःख न दे) । हे महेश्वरि ! आप महिमा की खानि हैं और मोद-मंगल की राशि हैं तथा ये काशीवासी आपके ही सेवक हैं (तब इन पर दया करनी ही चाहिये; अन्यथा आपकी निंदा होगी कि आप कैसी जगदंबा हैं जो अपनी सन्तानों पर भी दया नहीं करतीं ?) ।

विशेष—प्रथम चरण में काशीवासियों के पापों और अन्यायों का वर्णन किया । दूसरे में उन्हें उसके फल से दरिद्री और दुखारी कहा । फिर 'भूसुर

भिखारी भीरु' कह कर इनमें नितान्त पुण्य-हीनता कही; क्योंकि—"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र-पद-पूजा ॥" (मा० उ० ४४); तब यह कहा कि द्विज-भक्ति-हीनता से ही इनमें लोभ-मोह आदि हैं; यथा—"दउ प्रथम महीसुर चरना। मोह-जनित-संसय सब हरना ॥" (मा० बा० १)। मोह से ही लोभ, काम आदि सब दोष आते हैं; यथा—"मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला ॥ तेहि ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥" (मा० उ० १२०)।

'लोक रीति राखी राम...'; यथा—"अनुज राज संपति बैदेही। देह-गेह परिवार सनेही ॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहहुँ मोर यह बाना ॥ सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (मा० उ० १५); "दासी-दास बोलाइ बहोरी। गुरुहि सौंपि बोले कर जोरी ॥ सब कै सार-सँभार गोसाइँ। करबि जनक जननी नाइँ ॥" (मा० अ० ७६)। कहीं-कहीं 'दारिदी दुखारी देखि...' के स्थान पर 'दारिदी दुखारी देवि...' ऐसा पाठ है, इसमें 'देवि !' यह सम्बोधन है। अतः, हे देवि ! ब्राह्मणगण दरिद्र दुखारी, भिक्षुक और डरपोक हो रहे हैं (धर्म-कर्म से डरते हैं) इसी से ये लोभ-मोह आदि से घिरे हैं, तब ये इन स्त्री-पुरुषों का सुधार कैसे कर सकते हैं, ऐसा भाव होगा।

अलङ्कार— परिकरांकुर [क्योंकि 'जगदंब' पद साभिप्राय है; यथा—"गुनहु लखन कर हम पर रोषू।" (मा० बा० २८०);-]

[१७५]

लोगनि को पाप, कैधौं सिद्ध-सुर-साप, कैधौं
काल के प्रताप कासी तिहूँ ताप तई है।
ऊँचे, नीचे, बीच के, धनिक, रंक, राजा, राय
हठनि बजाइ करि, डीठि पीठि दई है ॥
देवता निहोरे, महामारिन्ह सो कर जोरे,
भोरानाथ जानि भोरे आपनी-सी ठई है।
करुना-निधान हनुमान बीर बलवान्
जस रासि जहाँ-तहाँ तैं ही लूटि लई है ॥

अर्थ—यहाँ के लोगों का पाप (का फल) है, अथवा किसी सिद्ध और

देवता के शाप का परिणाम है अथवा समय (कलिकाल एवं दुर्दिन) के प्रताप से काशीपुरी दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापों से तप रही है। उत्तम, नीच और मध्य (वर्ग) के लोग, धनी, दरिद्र, बड़े-बड़े राजा और छोटे राजा सब लोगों ने हठपूर्वक, खुल्लम-खुल्ला सब कुछ देखते हुए भी धर्म-कर्म से पीठ दे दी है (जनता को सहायता किसी से नहीं मिल रही है)। मैंने देवताओं से इस महामारी के निवारणार्थ प्रार्थना की और महामारीगण से भी हाथ जोड़ कर विनती की (पर निराशा ही हाथ लगी)। (काशी के अधिनायक) श्री-शिवजी को भोला (सीधा-सादा) जान कर महामारी ने अपनी मनमानी ठान रक्खी है। हे करुणा-निधान बलवान् और वीर श्रीहनुमान्जी ! आपने ही जहाँ-तहाँ यश की राशि लूटी है (अब आप ही यहाँ की विपत्ति दूर कर भी यशस्वी हों)।

विशेष—'ऊँचे, नीचे, बीच के···'—ऊँचे ब्राह्मण आदि, नीच शूद्र आदि और मध्य के क्षत्रिय-वैश्य आदि। दान आदि धर्म-कर्म से विमुख हो गये हैं। अतः, धर्म-ह्रास हो गया है और किसी को सहायता नहीं मिल रही है।

'जस रासि जहाँ-तहाँ···'—समुद्र लाँघ कर श्रीजानकीजी के समाचार लाने का, श्रीलक्ष्मणजी को जिलाने का और असुरों के संहार करने का यश आपने ही प्राप्त किया है। जहाँ किसी से भी कार्य नहीं हो सका, वहाँ आपने ही सफलता पाई है, उसी प्रकार यहाँ भी आप ही महामारी रोक कर महान् यश प्राप्त करें।

[१७६]

संकर- सहर सर, नर-नारि बारिचर,
बिकल सकल, महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरिजात,
भभरि भगात जल-थल मीचु मई है॥
देव न दयालु, महिपाल न कृपालु चित्त,
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज ! पाहि कपिराज रामदूत !
राम हू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है॥

शब्दार्थ—माँजा=वर्षा के प्रारम्भ के जल का विषैला फेन, जिसे खाकर मछलियाँ तड़प-तड़प कर मर जाती हैं; यथा—"माँजा मनहुँ मीन कहुँ व्यापा ॥" (मा० अ० १५२); "नयन सजल तन थर-थर काँपी । माँजहिं खाय मीन जनु माँपी ॥" (मा० अ० ५३) । भभरि=घबरा कर ।

अर्थ—श्रीशिवजी का नगर (काशी) सरोवर के समान और उसमें रहने वाले स्त्री-पुरुष जलचर मछलियों के समान सब व्याकुल हैं, इनके लिये महामारी ही माँजा के समान हो गई है । (माँजा खाई हुई मछलियों के समान) लोग उछलते, उतराते, हहराते (हाय-हाय करते) मर जाते हैं, कोई घबरा कर भाग रहे हैं, जल-स्थल सब मृत्युमय हो रहा है । इस समय देवता दया नहीं कर रहे हैं और राजाओं के चित्त में कृपालुता नहीं रह गई है प्रत्युत उसकी ओर से काशीपुरी में नित्य नई-नई अनीतियाँ बढ़ रही हैं । हे श्रीरामजी ! आप रक्षा करें । हे कपिराज रामदूत श्रीहनुमानजी आप रक्षा करें; क्योंकि श्रीरामजी की भी बिगड़ी हुई बातों को आपने ही सुधारा है । (सीता-हरण पर उनका समाचार लाने एवं शक्ति लगने पर श्रीलक्ष्मणजी की प्राण-रक्षा करने आदि का श्रेय आपको ही है) ।

विशेष—'संकर सहर सर ...'—कल्याण कर जान कर यहाँ के नर-नारियों ने काशी का अनन्याश्रय ले रक्खा है, जैसे मछलियाँ जल से पृथक् नहीं रह सकतीं । अतः, इन अनन्य-आश्रितों की रक्षा करनी ही चाहिये ।

परन्तु इनकी दुर्दशा वैसी ही हो रही है, जैसे माँजा खाकर मछलियों की दशा होती है । मछलियाँ जल में उछलती हैं, उतराती हैं और फिर तड़प-तड़प कर मर जाती हैं, वैसे ही दशा सब की हो रही है ।

'देव न दयालु ...'—काशी में गली-गली में बहुत देवगण हैं, पर इस समय सब निष्ठुर हो रहे हैं । राजा की ओर से भी कृपालुता नहीं है वह कुछ प्रबन्ध नहीं करता, प्रत्युत उसकी ओर से नित नई अनीतियाँ बर्ती जाती हैं ।

'पाहि रघुराज, पाहि कपिराज ...'—जब सब ओर से कुछ सहायता की आशा नहीं रह गई, तब अंत में श्रीहनुमानजी से सफलता की आशा रख कर प्रार्थना करते हैं । ऊपर छंद में शिवजी को भोलानाथ कहकर उन्हें भोला स्वभाव जान उन्हीं के द्वितीय विग्रह श्रीहनुमान्‌जी से कहा । परन्तु अभी तक उन्होंने भी ध्यान नहीं दिया । अब पहले श्रीहनुमान् के उर प्रेरक रघुवंश- विभूषन से रक्षार्थ

प्रार्थना करते हैं कि आप श्रीहनुमान् को प्रेरित कर उनके द्वारा रक्षा करायें; क्योंकि आपको श्रीहनुमान्जी अत्यन्त प्यारे हैं। अतः, उनके द्वारा रक्षा करा उन्हें इसका श्रेय दे यशस्वी बनावें। शंकर-शहर की रक्षा हो तो शिवजी का भी कल्याण कर्तृत्व रह जाय। साथ ही श्रीहनुमान् को भी उनके पुरुषार्थों का स्मरण दिलाते हैं कि आपने ही श्रीरामजी की भी बिगड़ी बातों को सुधारा है। अब यहाँ क्षेत्रनायक शिवजी की भी बिगड़ी बातें सुधारिये, उनके आश्रितों का रक्षण हो।

[१७७]

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें,
कोढ़ में की खाजु-सी सनीचरी है मीन की।
बेद - धर्म दूरि गये, भूप चोर - भूप भये,
साधु सीद्यमान जानि रीति पापपीन की॥
दूबरे को दूसरो न द्वार, राम दयाधाम!
रावरीई गति, बल - विभव - बिहीन की।
लागैगी पै लाज वा बिराजमान बिरुदहिं,
महाराज! आजु जौ न देत दादि दीन की॥

शब्दार्थ—सनीचरी है मीन की = मीन राशि पर शनैश्चर की स्थिति की दशा, जिसका फल राजा-प्रजा का नाश होता है। यह योग संवत् १६६६ के प्रारंभ से १६७१ के मध्य तक पड़ा था (यह कवित्त उसी समय का बना हुआ है)। कोढ़ में की खाज=यह कहावतें हैं, कोढ़ स्वतः अधिक कष्टप्रद रोग है उसमें यदि खाज भी हो जाय तो उसमें अत्यन्त कष्ट बढ़ जाता है।

अर्थ—एक तो समस्त दुःखों का कारण रूप भयङ्कर कलिकाल (वर्त रहा) है, उसमें भी कोढ़ में खाज के समान मीन राशि पर शनैश्चर की स्थिति है। इसी से इस समय वैदिक धर्म (लोगों के आचरण से) दूर चले गये; राजा चोरों के सरदार हो रहे हैं। पाप-वृद्धि की रीति जानकर साधु (सज्जन) दुःखी हो रहे हैं। हे दयालु श्रीरामजी! दुर्बलों को आपके द्वार के अतिरिक्त दूसर द्वार नहीं है; बल और वैभव से हीन व्यक्तियों को तो एक आपकी ही गति है। हे महाराज! आज यदि आप इन दीनों का न्याय नहीं करते तो निश्चय ही

आपकी (सर्वोपरि) विराजमान उस विरुदावली को लज्जा लगेगी (; अर्थात् आपको दीनबंधु एवं प्रणतपाल आदि कहने में लोगों को लज्जा लगेगी)।

विशेष—'कोढ़ में की खाज-सी'; यथा—"कलि कराल दुकाल दारुन, सब कुभाँति कुसाजु। नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाजु॥" (वि० २१६)। यहाँ कलिकाल कराल कोढ़ के समान है, उसमें मीन की शनीचरी खाज रूपा है; यथा—"भवेद्दशायां ननु भानुसूनोर्मीनोपयातस्य च मानवानाम्। नाना पुरग्रामधनां गणाभ्यः सुखं तथोत्साहविहीनता च॥" (जातकाभरण); तथा—"मिथुनस्त्रीधनुर्मीनराशौ मन्दो यदा भवेत्। तदा भूपा विनश्यन्ति पृथिवी शोणितपूरिता॥" (मयूरचित्र); अर्थात् मिथुन, कन्या, धन और मीन—इन राशियों पर जब शनि आता है, तब राजा नष्ट होते हैं और भूमि रक्त से पूर्ण हो जाती है। इसका फल आगे चरण में कहते हैं—

'वेद धर्म दूरि गए···'—कलि के प्रभाव से चारों ओर विरोध रहता है, इससे वेद-धर्म दूर हो जाता है; यथा—"तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा॥" (मा० उ० १०३); खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी॥" (मा० कि० १४)। 'साधु सीद्यमान···'; यथा—"सीदत-साधु, साधुता-सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है।" (वि० १३९)।

'दूब सरो न द्वार···'; यथा—"कहाँ जाउँ, कासों कहौं, कौन सुनै दीन की। त्रिभुवन तुही गति सब अँग हीन की॥···" (वि० १७९); तथा वि० २१६, २१७ भी देखिये। पूर्वोक्त छन्द २३–२४ पर इस विषय के प्रमाण लिखे गये।

'लागै गी पै लाज···'; यथा—"बिरद की लाज करि दास तुलसिहि देव लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं॥" (वि० २०८)।

सम्बन्ध—अभी महामारी का प्रसंग चल रहा था, आगे कुछ अन्य विविध विषय भी आ रहे हैं। अन्त के छन्द में श्रीरामजी की करुणा से उस रोग की निवृत्ति भी कही जायगी—

विविध

रामनाम मातु-पितु, स्वामि, समरथ हितु,
आस रामनाम को भरोसो रामनाम को।
प्रेम रामनाम ही सों, नेम रामनाम ही को,
जानौं न मरम पद दाहिनो न बाम को॥
स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम,
रामनाम हीन तुलसी न काहू काम को।
राम की सपथ, सरबस मेरे रामनाम,
कामधेनु - कामतरु मोसे छीन - छाम को॥

अर्थ—श्रीरामनाम ही मेरा माता, पिता, स्वामी और समर्थ हितैषी है। श्रीरामनाम से ही मुझे सब भाँति की आशाएँ हैं और श्रीरामनाम का ही भरोसा है। श्रीरामनाम से ही मेरा प्रेम है, इसी से मैं श्रीराम नामाराधन का नियम धारण किये रहता हूँ। (इसके अतिरिक्त) मैं और किसी भी अनुकूल प्रतिकूल मार्ग के रहस्य के भेद नहीं जानता। मेरे स्वार्थ और परमार्थ का देने-वाला श्रीरामनाम ही है। श्रीरामनाम-निष्ठा से हीन तुलसीदास किसी काम का नहीं है। मैं श्रीरामजी की शपथ करके कहता हूँ कि श्रीरामनाम ही मेरा सर्वस्व है और यही मुझ-सरीखे दीन-दुर्बल के लिये कामधेनु और कल्पवृक्ष है।

विशेष—'राम नाम मातु-पितु···' यथा—"राम रावरो नाम मेरो मातु-पितु है। सुजन-सनेही, गुरु-साहिब, सखा-सुहृत, राम नाम प्रेम पन अविचल बितु है॥" (वि० २५४); "रामनाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥" (मा० बा० २६); "माय-बाप गुरु-स्वामि राम कर नाम। तुलसी जेहि न सोहाइ ताहि बिधि बाम॥" (बरवै रा० ५०)। 'आस रामनाम की'; क्योंकि यह अकेला ही सभी आशाओं की पूर्त्ति कर देता है; यथा—"राम रावरो नाम साधु सुरतरु है। सुमिरे त्रिबिधि घाम हरत, पूरत काम, सकल सुकृत सरसिज को सरु है॥" (वि० २५५); 'भरोसो रामनाम को'; यथा—"नाम भरोस, नामबल, नामसनेह। जनम-जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु॥" (बरवै रा० ६८)। तथा—वि० २२५,२२६ तथा १७३ भी रखना चाहिये।

'प्रेम रामनाम ही सों, नेम रामनाम ही को'; यथा—"रामनाम
पर तुलसी नेह निबाहु। यहि ते अधिक न, एहि सम जीवन लाहु ॥"'जनम-
जनम जहँ-जहँ तनु तुलसिहि देहु। तहँ-तहँ राम निबाहिब नाम-सनेहु ॥"
(बरवै रा० ५७,५६)। नेम-निर्वाह में चातक प्रवीण कहा गया है; यथा—
"जग जस-भाजन चातक-मीना। नेम-प्रेम निज निपुन नवीना ॥" (मा० अ०
२३३); तथा—"राम-राम रमु, राम-राम रटु, राम-राम जपु जीहा। राम नाम
नव नेह मेह को मन हठि होहि पपीहा ॥ सब साधन फल कूप सरित सर सागर
सलिल निरासा। रामनाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा ॥ गरजि,
तरजि, पाषान बरषि पवि, प्रीति परखि जिय जानै। अधिक-अधिक अनुराग उमँग
उर, पर परमिति पहिचानै ॥" (वि० ६५)।

'जानौं न मरम...'—इसी के बल पर मैंने सभी साधनों से आँख मूँद
ली है; यथा—"भरोसो जाहि सो करो। मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि
कल्यान करो ॥ करम, उपासन, ज्ञान बेदमत, सो सब भाँति खरो। मोहिं तो
सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो ॥" (वि० २२६)।

'स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम...'; यथा—"नामराम रावरोई
हित मेरे। स्वारथ-परमारथ-साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे ॥" (वि० २२७);
"स्वारथ-परमारथ सुलभ रामनाम के प्रेम ॥" (दोहावली १५)।

'रामनाम-हीन तुलसी न काहू काम को'; यथा—"नाम सों प्रीति-प्रतीति
बिहीन गिल्यो कलिकाल कराल न चूको।" (छंद ६०)—इसके विशेष में
प्रमाण लिखे गये।

'राम की सपथ सर्बस मेरे रामनाम'; यथा—"जासु नाम सर्बस सदा
सिवपार्वती को" (गी० बा० १२)। 'कामधेनु कामतरु...'; यथा—"कामधेनु
हरिनाम कामतरु राम। तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत राम ॥" (बरवै रा०
६२); "रामनाम कलि कामतरु, राम-भगति सुरधेनु।" (दोहावली २८)।

मत्तगयंद-सवैया [१७६]

मारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकर कोप सों पाप को दाम परीच्छित जाहि गो जारि कै हीयो ॥

कासी में कंटक जेते भये ते गे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो ।
आजु की कालि परौं कि नरौं जड़ जाहिं गे चाटि दिवारी को दीयो ।।

शब्दार्थ—दाम=धन । परीच्छित (सं० परीक्षित)=परीक्षा की हुई, निश्चित । जाहि गो = नष्ट हो जायगा ।

अर्थ—जिन्होंने पथिकों को लूट कर, ब्राह्मणों को मारकर और करोड़ों कुरीतियों के द्वारा धन प्राप्त किया है । उनका वह पाप से एकत्र किया हुआ धन भगवान् शङ्कर के क्रोध से हृदय को जलाकर चला जायगा, यह बात ठीक परीक्षा की हुई है; क्योंकि इस काशीपुरी में जितने भी बाधक हुए हैं, वे अपनी करनी के फल भली-भाँति पाकर नष्ट हो गये हैं । अतः, ये सब मूर्ख भी आज या कल, परसों या नरसों दीवाली के दीये चाटकर चले ही जायँगे (कहावतें हैं कि दीपावली के दिन के दीये चाटकर साँप एवं कीटपतंग आदि चले जाते हैं । वैसे ही ये पापी श्रीशङ्करकोप रूपी हिम के डर से तुरत नष्ट हो तितर-बितर हो जायेंगे) ।

विशेष—'मारग मारि··· संकर कोप सों····'—श्रीशिवजी पापियों के प्रति बड़े कठोर हैं; यथा—"तदपि साप सठ देहौं तोहीं । नीति-बिरोध सोहाइ न मोहीं ।। जौं नहिं दंड करौं खल तोरा । भ्रष्ट होइ श्रुति-मारग मोरा ।।" (मा० उ० १०६) । 'जारि कै हीयो'—राजदण्ड, चोरदंड एवं अग्नि दंड आदि के द्वारा इन कुमार्गियों के हृदय संतप्त कर वह पापोपार्जित धन नष्ट हो जायगा । भगवान् के शरीर रूपी जगत् को दुःख देनेवाले भगवान् के ही द्वेषी हैं, उन विमुखों को वे कड़े दंड से शुद्ध करते हैं; यथा—"राम बिमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनु पाई ।।" (मा० सुं० २२); तथा—"अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।। तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।" (गीता १६।१८-२०); अर्थात् अहंकार आदि दोषवाले यदि भगवान् के शरीर रूपी समस्त प्राणियों से द्वेष करते हैं, तो भगवान् उन्हें आसुरी योनियों में डाल-डालकर भाँति-भाँति के दंड देते हैं ।

'कासी में कंटक···'—इस चरण में उक्त बात को उदाहरण से पुष्ट किया है ।

'आजु की कालि...'—अल्पकाल में ही। कलिकाल रूपी पावस ऋतु के योग से जो कीड़े-मकोड़े एवं सर्प आदि की वृद्धि के समान पापियों की वृद्धि हुई है, ये सब हिमऋतु रूपी शंकरजी के जाड़ा रूपी कोप से नष्ट हो जायँगे; क्योंकि शिवजी अनीति नहीं सह सकते। वेद मर्याद के रक्षक हैं।

[१८०]

कुंकुम रंग सुअंग जितो, मुख चंद सों चंद सों होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच बिषाद हरी है॥
गौरी कि गंग बिहंगिनि बेष, कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेम करी है॥

शब्दार्थ—होड़ = शर्त, बाजी। छेमकरी (सं० क्षेमकरी) = एक चील जो कत्थई रंग या ललाई लिए हुये पीले रंग की होती है, इसकी चोंच श्वेत रंग की होती है। यात्रा में इसके दर्शन शुभ माने जाते हैं। यह दक्षिण में कारमंडल के किनारे अधिक होती है। इसका गुण नामार्थ में ही स्पष्ट है—क्षेम (कुशल) करने वाली—यह इसका शब्दार्थ है।

अर्थ—इस क्षेमकरी ने अपने सुन्दर शरीर के रंग से कुंकुम (केसर) को भी जीत लिया है, इसका मुखचन्द्र (चोंच) ऐसा सुन्दर है कि इससे आकाश-स्थिति चन्द्रमा से सुन्दरता की हार जीत की बाजी लगी है। इसके वचन बोलने में सब भाँति की समृद्धि (बहुत अधिक सम्पन्नता एवं धन संपत्ति) चूने लगती है, यह देखते ही सब भाँति की चिन्ता और दुःख का हरण कर लेती है। पक्षी के वेष में यह श्रीपार्वतीजी का रूप है, या श्रीगङ्गाजी का रूप है और या आनन्द से भरी किसी अन्य देवी की सुन्दर मूर्ति है ? यात्रा के समय इस क्षेमकरी को प्रेमपूर्वक देखने से यह सब प्रकार के शोकों का निवारण करती है।

विशेष—श्रीगोस्वामीजी को किसी यात्रा में इस क्षेमकरी के दर्शन हुए, उस पर आपने यह सवैया बनाई है। तन्त्रसार में इसके नमस्कार का श्लोक यह है—"कुङ्कुमारुण सर्वाङ्गि ! कुन्देन्दुधवलानने। मत्स्यमांसप्रिये देवि, क्षेमंकरि नमोस्तु ते॥" अर्थात् कुंकुम के समान रंग के सर्बाङ्ग शरीर वाली और कुन्द और चन्द्रमा के समान श्वेत मुख वाली, मांस, मछली खाने के स्वभाव वाली, दर्शन से कल्याण करने वाली, हे क्षेमकरी ! तुझे नमस्कार है।

अलङ्कार—'मुखचंद सो···' इसमें 'ललितोपमा' है और 'गौरी की गंग ····' इस चरण में 'सन्देहालङ्कार' है।

महामारी प्रसंग

कवित्त [१८१]

मंगल की रासि, परमारथ की खानि, जानि,
बिरचि बनाई बिधि, केसव बसाई है।
प्रलय हू काल राखी सूलपानि सूल पर,
मीचु बस नीच सोऊ चहत खसाई है॥
छाँड़ि छितिपाल जो परीछित भये कृपाल,
भलो कियो खल को, निकाई सो नसाई है।
पाहि हनुमान! करुना-निधान राम पाहि!
कासी कामधेनु कलि कुहत कसाई है॥

शब्दार्थ—कुहत=मारता है, कुत्सित रीति से मारता है।

अर्थ—ब्रह्माजी ने इस काशीपुरी को मङ्गल की राशि और परमार्थ (मोक्ष एवं ज्ञान आदि सद्गुणों) की खानि जान कर विशेष रीति से रच कर बनाया है और विष्णु भगवान् ने इसे बसाया है। प्रलयकाल में भी भगवान् श्रीशिवजी ने इसे अपने त्रिशूल पर रख कर इसकी रक्षा की है। उसी काशी को मृत्यु के वशीभूत नीच कलियुग गिराना (विपद्ग्रस्त करना) चाहता है। राजा परीक्षित ने इसे छोड़कर (इसे न मार कर) इस पर कृपालुता की है, इस खल का उन्होंने भला किया है, उनकी उस भलाई को इस (कृतघ्न) ने नष्ट कर दिया है (नहीं माना है, प्रत्युत् उन्हीं का भारी अपकार किया है)। अतः, हे श्रीहनुमान्जी! रक्षा कीजिये, हे करुणासागर श्रीरामजी! रक्षा कीजिये। काशीपुरी रूपी कामधेनु को कसाई (अत्यन्त निष्ठुर) कलिकाल कुत्सित रीति से मारता है।

विशेष—'मंगल की रासि ···'; यथा—"मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान-खानि अघ हानि कर। जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइअ कस न॥" (मा० कि० १)। 'प्रलय हू काल···'—प्रलयकाल में भी जिसका नाश नहीं होने पाता, भाव जो काशी त्रिदेवों के द्वारा सुरक्षित है।

'मीचु बस नीच…',—ऐसी पुरी का अनिष्ट करना उसकी नीचता है, फिर त्रिदेवों से सुरक्षित पुरी का अनिष्ठ कर वह अवश्य मृत्युवश होगा, पर इसे नष्ट नहीं कर सकेगा।

'छाड़ि छितिपाल जो परीछित…'—नीच विना दंड नहीं मानता, देखिये, राजा परीक्षित ने इस पर कृपा की थी, पर इस नीच ने छल कर उनका ही भारी अनिष्ट किया है, कहा ही है—"जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हति ताहि नसावा॥" (मा० उ० १०५)। इस पर उपकार करके राजा परीक्षित वैकुण्ठ में भी पछताते हैं; यथा—"अकनि याके कपट-करतब अमित अनय-अपाय। सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहि पछिताय॥" (वि०२२०)। राजा परीक्षित पछताते हैं कि इसे पकड़ कर भी मैंने जीता क्यों छोड़ दिया?

श्रीमद्भागवत स्कंध १ अ० १६–१८ में कथा है कि राजा परीक्षित ने धर्म और पृथिवी को कलियुग से पीड़ित देखा, तब इन्होंने तलवार निकाल कर कलियुग को मारना चाहा। वह इनके चरणों पर गिर पड़ा। शरणागत जान कर राजा ने उसे नहीं मारा। फिर उसने अपने लिये स्थल माँगे। राजा ने द्यूत, पान (मद्यपान), स्त्री और हिंसा—ये चार स्थल बतलाये। फिर कलियुग ने प्रार्थना की (कि एक भी तो अच्छा स्थल दीजिये), तब राजा ने सुवर्ण भी कह दिया।

राजा परीक्षित एक समय मृगया करने गये, उनके शिर पर सोने का मुकुट था। इस कलियुग ने उन्हीं से छल किया और उनके शिर पर जा बैठा। तब इसके अधीन होकर राजा ने ऋषि के गले में मृत-सर्प लपेट दिया। जिसके कारण उस ऋषि के पुत्र ने राजा को शाप दिया कि "आज के सातवें दिन इस राजा को तक्षक नाग काटेगा।" वैसा ही हुआ।

यदि श्रीशुकदेवजी ने राजा को हरि-कथा सुनाकर मुक्ति का संयोग न किया होता तो इस छली कलियुग ने उन्हें नष्ट ही कर डाला था।

'पाहि हनुमान करुना-निधान…'—श्रीरामजी को करुणानिधान कहकर और पाहि कहकर उनमें करुणा जाग्रत किया है, साथ ही श्रीहनुमान्‌जी से भी पाहि कहा है। भाव यह कि श्रीरामजी करुणा करके श्रीहनुमान्‌जी को प्रेरित कर उनके द्वारा काशीजी की रक्षा करें, संकट का मोचन करें। कसाई के हाथ से

सामान्य गाय की भी रक्षा करनी चाहिये, काशीपुरी तो कामधेनु रूपा है; यथा—"सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी ॥" (वि० २२)। धर्मात्मा श्रीरामजी एवं उनके परम प्यारे भक्त श्रीहनुमान्‌जी भला कामधेनु रूपिणी काशी की रक्षा कैसे न करेंगे? अवश्य करेंगे। अत्यन्त करुणा उद्दीप्त करने के लिये ऐसा कहा जाता है; यथा—"गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यों त्यों पर-हाथ परी हौं ॥" (गी० अर० ७)—यह हरण समय श्रीसीताजी ने कहा है।

[१८२]

बिरची बिरंचि की, बसति बिस्वनाथ की जो,
प्रानहू ते प्यारी पुरी केसव कृपाल की।
ज्योति रूप - लिंगमई, अगनित - लिंगमई,
मोच्छ - बितरनि, बिदरनि जगजाल की ॥
देवी देव देवसरि सिद्ध मुनिबर बास,
लोपति बिलोकत कुलिपि भोंड़े भाल की।
हा हा करै तुलसी दयानिधान राम ! ऐसी
कासी की कदर्थना कराल कलिकाल की ॥

शब्दार्थ—बसति (सं० वसति)=(१) बस्ती, निवास, (२) जनपद। ज्योति रूप लिंगमई=द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में एक लिंग (श्रीविश्वनाथजी के रूप में) काशीजी में भी है। कदर्थना=दुर्दशा।

अर्थ—जो काशीपुरी श्रीब्रह्माजी की बनाई हुई और श्रीविश्वनाथ शिव-जी की पुरी एवं राजधानी है तथा जो कृपालु विष्णु भगवान् की प्राणों से भी प्यारी पुरी है। जहाँ पर ज्योतिर्लिङ्गों में से एक लिंग विश्वनाथ रूप विद्यमान है और जहाँ पर असंख्य शिव-लिंग हैं, जो मोक्ष बाँटने वाली और जगज्जाल को नष्ट करने वाली है। जहाँ देवी, देव, गंगाजी, सिद्ध और श्रेष्ठ मुनि निवास करते हैं। जो दर्शनमात्र से ही अभागों के ललाट पर लिखी हुई दुर्भाग्य-रेखा को लुप्त कर (मिटा) देती है; ऐसी काशीजी की दुर्दशा भयंकर कलिकाल ने कर दी है। अतएव, हे दयासागर श्रीरामजी ! यह तुलसीदास हा-हा खाकर (अत्यन्त गिड़गिड़ाकर) विनती करता है (आप इस काशीपुरी की रक्षा करें)।

विशेष—बिरची बिरंचि की'''—ब्रह्मा के हाथ की रची होने से शिव-

जी की पुरी एवं राजधानी होने से तथा विष्णुजी की प्राणप्यारी होने से इन
तीनों के द्वारा रक्ष्य है।

'ज्योति रूप लिंग मई.....'—श्रेष्ठ रूप से एवं अगणित रूप से यह शिव-
जी का निवास-स्थान है। तथा—"तीरथ सब सुभ अंग रोम सिव लिंग अमित
अविनासी।" (वि० २२)। मोक्ष ऐसे परम पुरुषार्थ कीट पर्यन्त को देती है,
यह ऐसी उदार है। जगज्जाल के हेतुभूत मोह आदि का नाश करती है।

'देवी देव...'—इन श्रेष्ठों की मनोरथ-सिद्धि देती है, इसी से ये सब यहाँ
रहते हैं। पुनः इनके निवास से इस काशी की शोभा है।

'लोपति बिलोकति...'—काशी के दर्शन से सुकृत बढ़ते हैं; क्योंकि यहाँ
के भूमि धर्ममय है; यथा—"सुरसिर तीर कासी धरम धरनि।" (वि० १८४),
इससे अभाग्य के अंक लुप्त हो जाते हैं।

[१८३]

आश्रम-बरन कलि-बिबस बिकल भये,
निज-निज मरजाद मोटरी-सी डार दी।
संकर सरोष महामारिही ते जानियत,
साहिब-सरोष दुनी दिन-दिन दारदी॥
नारि-नर आरत पुकारत, सुनै न कोउ,
काहू देवतनि मिलि मोटी मूठि मार दी।
तुलसी सभीत-पाल सुमिरे कृपालुराम,
समय सुकरुना सराहि सनकार दी॥

शब्दार्थ—मोटी=अधिक, बड़ा भारी। मूठि मार दी=(मुहावरा) जादू डाल
दिया। सनकार दी=संकेत कर दिया, इशारा कर दिया।

अर्थ—आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) तथा वर्ण
(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) कलिकाल के विशेष वश होने से व्याकुल
हो गये हैं। इन सबने (इनके अनुयायी लोगों ने) अपनी-अपनी मर्यादा को
मोटरी के समान (भार रूप समझ कर) त्याग दिया। श्रीशिवजी क्रुद्ध हैं, यह
इस महामारी ही से प्रकट है, स्वामी के क्रुद्ध होने से संसार दिनोदिन दरिद्र होता
जाता है। काशीपुरी के स्त्री-पुरुष आर्त्त होकर पुकारते हैं, परन्तु कोई उनकी

पुकार नहीं सुनता । (जान पड़ता है कि) किन्हीं देवताओं ने मिल कर बड़ा भारी जादू कर दिया है (अभिचार प्रयोग कर दिया है) । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि स्मरण करने पर भयभीतों का पालन करने वाले कृपालु श्रीरामजी ने अपनी करुणा की प्रशंसा करके ठीक समय पर उसे अपना काम (जन-रक्षण) करने का संकेत कर दिया (उससे काशीजी की वह महामारी बात की बात में चली गई) ।

विशेष—**'आश्रम-बरन कलि-बिबस···'**; यथा—"बरन धरम नहिं आश्रम चारी । श्रुति बिरोध रत सब नर नारी ।।" (मा० उ० ६७) ।

'सभीत पाल'; यथा—"जौं सभीत आवा सरनाई । रखिहौं ताहि प्रान की नाईं ।।" (मा० सुं० ४३); "आवइ सभय सरन तकि मोहीं ।···करौं सद्य तेहि साधु समाना ।" (मा० सुं० ४७) ।

'सुमिरे कृपालु राम समय सुकरुना···'—कृपा गुण के अनुसार श्रीरामजी ने आश्रित-रक्षण को अपना कर्त्तव्य माना है । करुणा से प्रेरित हो आप आश्रितों के दुःखों पर स्वयं विकल हो गये हैं और अत्यन्त शीघ्रता में आपने आश्रित काशी-वासियों की विपत्ति दूर दी है । श्रीगोस्वामीजी की प्रार्थना सफल हुई ।

दोहा—संवत अंक सुब्योम नभ, चख, माधव बुधवार ।
असित सप्तमी तिलक कह, कवितावली तयार ।।

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

शुभमस्तु

———